श्रीनेत्रतन्त्रम्

(मृत्युञ्जयभट्टारकः)

आचार्य राधेश्याम चतुर्वेदी

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

३६७

श्रीनेत्रतन्त्रम्

(मृत्युञ्जयभट्टारकः)

श्रीमदाचार्यक्षेमराजकृत**नेत्रोद्योत**व्याख्यानेन

ज्ञानवतीहिन्दीभाष्येण च विभूषितम्

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

आचार्य राधेश्याम चतुर्वेदी

व्याकरणाचार्यः

एम० ए० (संस्कृत), पी-एच्०डी०, (लब्धस्वर्णपदक)

संस्कृतविभागः, कलासङ्कायः,

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

The

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHMALA

367

ŚRĪNETRATANTRAM

(MṚTYUÑJAYABHAṬṬĀRAKAH)

With the Commentary **Netrodyota**

by

Ācārya Śrī Kṣemarāja

and **Jñānavatī** Hindi Commentary

Commented & Edited by

Prof. RADHESHYAM CHATURVEDI

Vyākaraṇācārya, M.A., Ph.D., (Gold medalist)

Department of Sanskrit, Faculty of Arts,

Banaras Hindu University

CHOWKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

ॐ

याऽहमित्युदितवाक् परा च सा
यः प्रकाशलुलितात्मविग्रहः ।
यौ मिथः समुदिताविहोन्मुखौ
तौ षडध्वपितरौ श्रये शिवौ ॥

—चिद्गगनचन्द्रिका

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

—शिवमहिम्नस्तोत्र

पुरोवाक्

शिवमुखोद्भूत आगमशास्त्र की त्रिवेणी अपनी महनीय परम्परा के अनादि प्रवाह से मानव जाति को अनवरत आप्यायित करती आ रही है । शिवाद्वयवाद इस त्रिवेणी की अन्यतम धारा है, नव करोड़ श्लोकों वाले सिद्धयोगीश्वरीतन्त्र का सारभूत मालिनीविजयतन्त्र, विज्ञानभैरव, स्वच्छन्दतन्त्र आदि इस धारा की विशाल एवं गम्भीर कुल्यायें हैं । नेत्रतन्त्र ऐसी ही एक उपकारकारिणी कुल्या है । इसे मृत्युञ्जयभट्टारक के भी नाम से जाना जाता है इसका अन्य नाम अमृतेश-भट्टारक भी है ।

शिवद्वयवाद के आधारभूत ग्रन्थों में नेत्रतन्त्र अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अर्वाचीन है । आचार्य क्षेमराज ने इस पर 'उद्योत' अथवा 'नेत्रोद्योत' नामक टीका की रचना की है । तत्कालीन परम्परा के अनुसार सटीक इस ग्रन्थ का प्रणयन देववाणी में हुआ है । आधुनिक परिवेश में जबकि देश-विदेश में सर्वत्र भूमण्डलीय परिवार (Global family) की मान्यता प्रबल रूप में प्रसृत हो रही है, देववाणी में उपनिबद्ध ग्रन्थों को प्रचलित भाषा में अनूदित एवं व्याख्यात करने की महती आवश्यकता का अनुभव हो रहा है । इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए सोद्योत नेत्रतन्त्र की हिन्दी टीका लिखने की दिशा में यह एक लघु प्रयास है ।

नेत्रतन्त्र के जिज्ञासु पाठकों के सौविध्य को ध्यान में रखते हुए उनका ध्यान निम्नलिखित बिन्दुओं पर आकृष्ट करना असमीचीन नहीं होगा—

१. टीका करते समय यह ध्यान रखा गया है कि सुधी पाठकगण प्रत्येक पद एवं वाक्य का अर्थावबोध करते हुए विषय का ज्ञान करें । एतदर्थ आक्षरिक अनुवाद पद्धति को वरीयता दी गयी है ।

२. अस्पष्ट एवं क्लिष्ट पदों को बोधगम्य बनाने के लिये उनकी व्याख्या कोष्ठकों (=) में दी गयी है ।

३. प्रत्येक अधिकार के आरम्भ में एक श्लोक का संयोजन है जो स्तुति के साथ उस अधिकार की विषय वस्तु को संकेतित करता है ।

४. ग्रन्थगत वाक्यों के आशय को स्पष्ट करने के लिए अपनी ओर से कुछ शब्दों की संयोजना की गयी है ।

५. अनेक स्थलों पर आचार्य क्षेमराज ने एक शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उसके पर्यायवाची शब्द का भी उल्लेख किया है । इसे स्पष्ट करने के लिए दो पर्यायवाची शब्दों के बीच में = चिन्ह का प्रयोग किया गया है ।

६. ग्रन्थ के आरम्भ में भूमिका का संश्लेषण है जो तीन खण्डों में विभक्त है । यद्यपि पूर्वप्रकाशित 'तन्त्रालोक' की भूमिका में 'तन्त्रशास्त्र का उद्भव और विकास' का संक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है तथापि पाठकों के सौविध्य को ध्यान में रखते हुए यहाँ भूमिका के प्रथम खण्ड में तन्त्र का स्वरूप बतलाया गया है । द्वितीय खण्ड में नेत्रतन्त्र में वर्ण्य प्रमुख विषयों पर एक विहंगम दृष्टि डाली गयी है । तृतीय खण्ड में प्रत्येक अध्याय का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है ।

इस ग्रन्थ को सार्वजनीन करने में जिनका योगदान है उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन को अपना कर्त्तव्य समझते हुए पहले मैं अपने गुरुवर्य श्री६ शिवचैतन्यजी वर्णी को नमन करता हूँ जिनके शुभाशीर्वाद से पाठकगण इस ग्रन्थ को नवीन रूप में देख रहे हैं । इसकी रचना में जिन श्रुतियों अथवा विद्वानों के ग्रन्थ के उद्धरण या विषय की सहायता ली गयी है उन ऋग्वेदादि श्रुतियों तथा महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज आदि विद्वदजनों के प्रति हृदय से आभारी हूँ। सम्प्रति तन्त्र और आगम के अप्रतिम विद्वान् आचार्य व्रजवल्लभ द्विवेदी जी का मैं अधमर्ण हूँ । उनके बिना इस ग्रन्थ का इतना शुद्ध संस्करण सम्भव नहीं था।

श्रीरामरञ्जन मालवीय (मालवीय कम्प्यूटर्स) को मैं हृदय से आशीर्वाद देता हूँ जिन्होंने अपने कम्प्यूटर के द्वारा इस ग्रन्थ के कलेवर को सर्वथा परिमार्जित करने का भारवहन किया । चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन के अधिष्ठाता श्रीबल्लभदास गुप्त, जिन्होंने इस पुस्तक को प्रकाशित करने के उत्तरदायित्व का निर्वाह किया, के प्रति हार्दिक शुभकामनायें प्रकट करता हूँ ।

आगम या तन्त्र अनुभव ग्रन्थ हैं । इसमें सिद्धान्त के ज्ञान की अपेक्षा प्रक्रिया का महत्त्व अधिक है । बाबा विश्वनाथ एवं माता अन्नपूर्णा की कृपा से मुद्रित एवं प्रकाशित इस ग्रन्थ के अध्ययन से यदि किसी को सत्प्रेरणा मिलती है या उत्कर्ष-लाभ होता है तो मैं अपने इस प्रयास को सफल समझूँगा ।

विद्वद्वशंवद

राधेश्याम चतुर्वेदी

मकरसंक्रान्ति सं० २०५९
१४ जनवरी, २००३
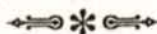
भूमिका

(१)

तन्त्र का स्वरूप

'तन्त्र' शब्द विस्तार का बोधक है—'तनु' विस्तारे । प्रश्न है कि यह विस्तार किसका? कौन है जिसका विस्तार वाञ्छित है? उस विस्तार का स्वरूप क्या है? विस्तृत होने की प्रक्रिया या पद्धति क्या है? इस विस्तारण क्रिया का साध्य और साधन क्या है? इन समस्त प्रश्नों का उत्तर ही तन्त्र है । एक अन्य व्याख्या के अनुसार 'तन्त्र' शब्द नियन्त्रण का भी बोधक है—'तत्रि' बन्धने । बिना नियन्त्रण प्रतिबन्ध या संयम के विस्तार सम्भव नहीं है । इसलिए तन्त्र जहाँ एक ओर आत्मा के विस्तार की बात करता है वहीं दूसरी ओर इस विस्तार की प्राप्ति के लिये नियमों का प्रावधान भी करता है । इस विस्तार के दो आयाम है—'तत्' और उससे भिन्न समस्त पदार्थ 'त्वम्' । भगवान् शङ्कराचार्य ने अध्यासभाष्य के प्रारम्भ मे 'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिणोः तमः-प्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सुतरां तद्धर्माणामितरेतरभावानुपपत्तिः' कह कर 'तत्' और 'त्वम्' विषयों का अन्तर स्पष्ट किया है । 'तत्' अर्थात् परमतत्त्व का 'त्वम्' के रूप में विस्तृत अर्थात् आभासित होना और पुनः 'त्वम्' का 'तत्' के रूप में विस्तृत अर्थात् स्वरूपस्थ होना ही तन्त्र है ।

विश्व की जो सर्वोच्च सत्ता है तान्त्रिक दृष्टि से सामान्यतया उसको परमशिव के नाम से जाना जाता है । जिस प्रकार अग्नि में दाहकता शक्ति है और बिना इस दाहकता शक्ति के अग्नि की सत्ता या कल्पना सम्भव नहीं है अथवा जैसे सूर्य की उष्ण रश्मियाँ है और बिना उनके सूर्य की सत्ता या कल्पना असम्भव है, उसी प्रकार परमशिव की सत्ता या कल्पना बिना परमाशक्ति के सम्भव नहीं है । शक्ति और शिव का यामल रूप ही 'परमशिव' पद का वाच्य है । परम शिव या परमाशक्ति एक ही परमतत्त्व के दो नाम हैं । जब हम शक्ति को गौण और शिव को मुख्य दृष्टि से देखते हैं तब उनका नाम परमशिव होता है । उस स्थिति में शक्ति इसमें प्रच्छन्न या सुप्त रहती है । परमा शक्ति कहने पर शक्ति

मुख्य होती है और शिवभाव गौण हो जाता है अर्थात् इस दशा में शिव तत्त्व प्रच्छन्न या सुप्त रहता है । अपने मूल रूप में दोनों एक ही हैं; कोई किसी से कभी भी रहित या पृथक् नहीं है ।[१] ऊपर जिस यामल स्वरूप की चर्चा की गयी है वह परमशिव की विश्वोत्तीर्ण दशा है । इस दशा में प्रकाशस्वरूप शिव के अन्दर विमर्शरूपा शक्ति प्रच्छन्न या सुप्त रहती है फलतः यह विश्व उस परमेश्वर के अन्दर मयूराण्डरसन्यायेन अनुद्भूत स्थिति में रहता है । यही बात परात्रीशिका में कही गयी है—

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः ।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ॥ (प०त्री० श्लो० २५)

'हृदय' शब्द से यहाँ शक्ति समझना चाहिये । इससे यह नहीं समझना चाहिये कि शिव जब विश्वोत्तीर्ण अवस्था में रहते हैं तब वे विश्वमय नहीं रहते। वे एक साथ विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दोनों रहते हैं । यद्यपि तान्त्रिक लोग उसे विश्वोत्तीर्ण तथा कौलमतावलम्बी उसे केवल विश्वमय मानते हैं किन्तु त्रिक आदि शिवाद्वयवादी दार्शनिक उसे विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दोनों मानते हैं ।[२] यही बात पुरुषसूक्त में कही गयी है—

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ (पु०सू० ३)

उस पुरुष अर्थात् परमेश्वर की इतनी बड़ी महिमा है कि (वह एक साथ विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दोनों है) इसीलिये वह अत्यन्त प्रशस्य है । उसका एक चौथाई अंश विश्वमय है और शेष तीन चौथाई अमृत अर्थात् विश्वोत्तीर्ण है । तात्पर्य यह है कि दोनों अवस्थायें उसमें साथ-साथ चलती हैं—'सदा सृष्टि-विनोदाय' वचन भी है । उसका कारण यह है कि क्रम की स्थिति केवल समना पर्यन्त है । चूँकि क्रम काल का परिणाम है और काल की सीमा समना तक ही है—

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् ।' (ने०तं० २२.४८)

उन्मना के स्तर पर काल नहीं रहता और इसलिए क्रम का भी वहाँ अभाव है। परमेश्वर तो उन्मना शक्ति के भी ऊपर है अतः क्रम का अभाव होने से वहाँ

---

१. न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी । (शि०दृ० ३।२)
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते । (शि०दृ० ३।३)

२. 'विश्वोत्तीर्णमात्मतत्त्वमिति तान्त्रिकाः; विश्वमयमिति कुलाद्याम्नायनिविष्टाः; विश्वोत्तीर्णं विश्वमयमिति त्रिकादिदर्शनविदः ।' (प्र०हृ० ८)

विश्वोत्तीर्णता और विश्वमयता क्रमरहित होकर अर्थात् एक साथ रहती हैं । अपनी विश्वमयता की स्थिति में वह मात्र लीला के लिये अपनी शक्ति के माध्यम से विश्व की रचना आदि करता रहता है । भगवान् वेदव्यास के—'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (ब्र.सू. २।१।३३) तथा शङ्कराचार्य के—'ईश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किञ्चित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति' (ब्र०सू०शां०भा० २।१।३३) में उक्त आशय की स्पष्ट झलक मिलती है । यह नहीं समझना चाहिये कि परमेश्वर की विश्वोत्तीर्णता और विश्वमयता कादाचित्क है । जिस प्रकार वे अनादि और अनन्त हैं उसी प्रकार उनकी ये दोनों अवस्थायें भी अनादि और अनन्त हैं । 'सदा सृष्टिविनोदाय' तथा 'पञ्चकृत्यविधायिने (प्र०हृ० १) वाक्यों के द्वारा तत्त्वज्ञ महानुभावों ने इसका सङ्केत किया है । परमेश्वर की विश्वोत्तीर्ण अवस्था में भी सृष्टि आदि कार्य प्रच्छन्न रूप से चलते रहते हैं केवल बाहरी भाव से वे विश्वोत्तीर्ण माने जाते और योगियों के द्वारा अनुभूत होते हैं । वृहदारण्यक तथा छान्दोग्य उपनिषदों में—'स वै नैव रेमे, तस्मात् एकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत् (वृ०उ० १।४।३) तथा 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, तदैक्षत्, एकोऽहं वहु स्याम् प्रजायेय' (छा०उ० ६।२।१-२) वचनों का सङ्केतार्थ यह है कि जब वह परमेश्वर विश्वोत्तीर्णता से विश्वमय अवस्था में आना चाहता है अर्थात् अपने एकाकीपन से ऊब जाता है तब वह अपने आप में ही आनन्दित होकर सृष्टि की ओर उन्मुख होता है ।

परमेश्वर की पाँच शक्तियाँ हैं—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया । इनमें पूर्व-पूर्व उसकी अन्तरङ्गा शक्ति है और उत्तरोत्तर बहिरङ्गा । विश्वोत्तीर्णता दशा में उत्तरोत्तर सारी शक्तियाँ पूर्व-पूर्व शक्तियों में निगूढ़ रहती हैं और शिव की शक्ति के साथ केवल यामलावस्था रहती है । यामलावस्था का दृष्टान्त वृहदाण्यक उपनिषद् में—'यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपम्' (जैसे अपनी प्रियतमा स्त्री के साथ पूर्ण आलिङ्गन करने वाले पुरुष को न बाहरी कुछ ज्ञान रहता है न आन्तरिक, वह इस (पुरुष) का आप्तकाम आत्मकाम निष्काम रूप है—वृ०उ० ९०।३।२१) कहकर दिया गया है । इस दशा में शिव अपने स्वरूप में स्थित रहता है, अर्थात् उसकी प्रकाशमयता स्फुट रहती है और विमर्शमयता अस्फुट । तात्पर्य यह है कि उस समय वह अपना विमर्श नहीं करता अथ च अस्फुट रूप से करता भी है । जब उसी के स्वातन्त्र्यवश उसकी आनन्द शक्ति स्फुरित होती है तब वह अपने विश्वमय रूप का विमर्श करता है । तब सृष्टि भी स्फुटतोन्मुखी होती है । अभिनवगुप्त पादाचार्य ने मालिनीविजयवार्त्तिक में इसका वर्णन किया है—

'स एव भगवानन्तर्नित्यं प्रस्फुरणात्मकः ।
अन्तःस्थसर्वमावेद्य पूर्णमध्यमशक्तिकः ॥'
स्वेच्छाक्षोभस्वभावोद्यज्जगदानन्दसुन्दरः ।
नित्यं स्फुरति सम्पूर्णविसर्गरसनिर्भरः ॥
शिवशक्त्योः स सङ्घट्टः स्नेह इत्यभिधीयते ॥

(मा०वि०वि० ८९३-८९६)

सृष्टि के विषय में शिवाद्वयवाद की संक्षिप्त चर्चा के बाद द्वैतवादी शैवसिद्धान्त आदि के मत का भी एक क्षीण परिचय देना अनावश्यक नहीं है । इनके अनुसार इस विश्व की मूल सत्ता तीन है—शिव, शक्ति और बिन्दु । शिव अधिष्ठाता और शक्तिमान् है; शक्ति और बिन्दु दोनों शिव के द्वारा अधिष्ठित और शिव में आश्रित हैं । शक्ति, जिसे चित्शक्ति भी कहा जाता है, शिव में सर्वदा समवाय सम्बन्ध से अर्थात् नित्यसमवाय रूप में रहती है । दोनों में अविनाभाव रूप सम्बन्ध है अर्थात् एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता । शिव का शक्ति से सम्बन्ध साक्षात् रूप से है किन्तु बिन्दु अचित् है इसलिये उसका सम्बन्ध आश्रयाश्रयी रूप से रहता है अर्थात् बिन्दु का शिव से सम्बन्ध शक्ति के माध्यम से होता है । बिन्दु सृष्टि का उपादान कारण है क्योंकि वह जड़ है और जड़ ही उपादान कारण बनता है । चूँकि शक्ति चित् रूप है अतः वह सृष्टि का निमित्त कारण है । शक्ति जब सक्रिय होती है तब बिन्दु क्षुब्ध होता है । शक्ति की निष्क्रिय अवस्था में बिन्दु अक्षुब्ध रहता है । तात्पर्य यह है कि इस दर्शन के अनुसार सृष्टि अनादि नहीं है उसका प्रारम्भ होता है और इसमें स्वातन्त्र्यमयी इच्छा का बहिर्मुख होना मूल कारण है । इच्छा जब मूलशक्ति के अन्दर निगूढ़ रहती है तब न तो उसमें क्रिया होती है और न उसके फलस्वरूप बिन्दु में क्षोभ उत्पन्न होता है । उस स्थिति में यद्यपि शिवशक्ति और बिन्दु तीनों की सत्ता रहती है किन्तु शिव को शक्ति तथा बिन्दु की सत्ता का भान नहीं रहता इसलिये शिव प्रकाशात्मक होते हुए भी अप्रकाशवत् अद्वयवत् रहता है । इच्छा के उन्मेष से क्रियाशक्ति का उदय होता है और उससे बिन्दु क्षुब्ध होता है चूँकि बिन्दु जड़ होते हुए भी शुद्ध है अतः इस बिन्दु से जिस सृष्टि का विकास होता है वह शुद्ध सृष्टि होती है । त्रिक दर्शन में यही सृष्टि शुद्ध अध्वा कहलाती है जिसके अन्दर शिव से लेकर शुद्ध विद्या तक का समावेश होता है । बिन्दु का दूसरा नाम महामाया चिदाकाश या कुण्डलिनी भी है जो कि शुद्ध अध्वा का उपादान है । इसके अतिरिक्त एक अशुद्ध अध्वा या सृष्टि भी है जिसका उपादान माया है । वस्तुतः माया और महामाया एक ही उपादान के दो आयाम हैं । अशुद्ध सृष्टि के लिये शुद्ध सृष्टि का होना आवश्यक है । परमेश्वर की इच्छा से

चित् शक्ति जब सक्रिय होती है और महामाया को क्षुब्ध करती है तब महामाया या बिन्दु से शिव शक्ति सदाशिव ईश्वर और शुद्धविद्या के रूप में पाँच तत्त्वों की सृष्टि होती है । यही शुद्ध पञ्चतत्त्व है । इस पञ्चतत्त्व की सृष्टि का मूलकारण है—परमशिव की दृष्टि । ऊपर जिसे चित् शक्ति कहा गया है वही शिव की इच्छा ज्ञान क्रिया शक्ति है । सच पूछा जाय तो शक्ति मूलतः एक ही है । उसके आयामों को दृष्टि में रखकर उसके चित् आनन्द इच्छा ज्ञान और क्रिया नामक पाँच भेद किये गये हैं ।

शैवदर्शन की अद्वैत और द्वैत दृष्टि से मूल तत्त्वों के विचारक्रम में ध्यान देने योग्य मुख्य बिन्दु निम्नलिखित हैं—द्वैतवादी सृष्टि का प्रारम्भ मानते हैं जब कि शिवाद्वयवाद में सृष्टि अनादि नित्य और सदा चलने वाली है । द्वैतवादी भले ही मूल में तीन तत्त्व मानते हैं किन्तु वहाँ भी परमार्थतः मूल तत्त्व एकमात्र परमेश्वर ही है । शक्ति और बिन्दु उसमें आश्रित होने के कारण अप्रधान हैं । सृष्टिरचना की दृष्टि से न्याय वैशेषिक में जो स्थान परमाणुओं का है अथवा वेदान्त में जो स्थान माया का है द्वैतवाद में वही स्थान बिन्दु का है । सूक्ष्म अन्तर तो तीनों में है ही जिसका वर्णन यहाँ अनावश्यक है । यह सृष्टि चाहे नित्य हो या अनित्य एक तथ्य उभयत्र रहता है । मनु ने उसका वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है—

'आसीदिहं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥' (म०स्मृ० १.५)

यहाँ 'प्रसुप्तमिव' वचन पर ध्यान देना चाहिये । उसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में मेढक जमीन के अन्दर सुप्त जैसे रहते हैं और वर्षा होने पर ऊपर आ जाते हैं उसी प्रकार प्रलयकाल में असंख्य जीव या अणु महामाया या माया के अन्दर सुप्त जैसे रहते हैं । उनका मल या कर्माशय जिस क्रम से फल देने के लिये परिपक्व होता है उसी क्रम से वे प्रबुद्ध होते हैं और सृष्टि चल पड़ती है ।

उपर्युक्त विवरण को ध्यान में रखते हुए यह जानना अप्रासङ्गिक नहीं है कि 'तत्' का 'त्वम्' या 'इदम्' के रूप में विस्तार कैसे हुआ । इस विषय में तान्त्रिक दृष्टि से दो सिद्धान्त हमारे सामने स्पष्टतया आते हैं—(१) शैव सिद्धान्त, और (२) शाक्त सिद्धान्त । यद्यपि आपाततः दोनों समान प्रतीत होते हैं तथापि उनमें कुछ मौलिक अन्तर अवश्य होता है । हम यहाँ पहले शैव दृष्टि से संक्षिप्त चर्चा करेंगे ।

शैव सिद्धान्त—

यद्यपि शिवदृष्टि की भूमिका में तत्त्वनिरूपण के अवसर पर हमने सृष्टि के अन्दर वर्त्तमान तत्त्वों की चर्चा करते हुए प्रकारान्तर से शैव सृष्टि की एक क्षीण झलक प्रस्तुत की है तथापि इस ग्रन्थ के पाठकों को असुविधा न हो इसलिये यहाँ सृष्टिप्रक्रिया का निरूपण करने का प्रयास किया जा रहा है । सृष्टि के विषय में अनेक मत मतान्तर तत्तत् शास्त्रों में वर्णित हैं किन्तु यहाँ शिवाद्वयवाद की दृष्टि से विचार किया जा रहा है । ऊपर यह कहा जा चुका है कि त्रिक दर्शन के अनुसार परमशिव एक ही साथ विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दोनों हैं । वे लीलावश अपने स्वरूप को छिपाकर नानारूपों में अपने को आभासित या प्रकट करते हैं । इस आभासरूपी अभिनय के सूत्रधार और अभिनेता दोनों वही हैं साथ ही अपने द्वारा किये जा रहे अभिनय के द्रष्टा भी वही हैं । पक्षान्तर में इन सबसे परे अपने मूल अर्थात् विश्वोत्तीर्णरूप में वे विश्राम भी कर रहे हैं । परमेश्वर का दोनों रूप शाश्वत है । उनकी चित् आनन्द इच्छा ज्ञान और क्रिया नामक पाँच शक्तियाँ उनकी विश्वोत्तीर्ण अवस्था में सुप्त रहती हैं किन्तु विश्वमयता की अवस्था में उन शक्तियों का क्रमिक व्युत्थान अथवा जागरण होता है । जब उनकी आनन्द शक्ति प्रबुद्ध होती है अर्थात् जब वे परमानन्द से उच्छलित होते हैं तब वे इच्छा करते हैं । इच्छा के साथ ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ भी उच्छलत्ता को प्राप्त होती हैं । यह सर्वदा ध्यान रखना चाहिये कि वहाँ क्रम नहीं है । विभिन्न शक्तियों की उच्छलत्तायें एक साथ घटित होती हैं । उत्पलस्तोत्रावली में इसका बहुत सुन्दर वर्णन है—

'स्फारयस्यखिलमात्मना स्फुरन् विश्वमामृशसि रूपमामृशन् ।
यत् स्वयं निजरसेन घूर्णसे तत्समुल्लसति भावमण्डलम् ॥'

(उ०स्तो० १३।१५)

उनका अपने स्वरूप का विमर्शन, घूर्णन और भावमण्डल का उल्लास एक साथ होता है ।

सिसृक्षा की इस स्थिति में वह अपनी शक्ति को अपने से पृथक् कर देते हैं और स्वयं एकाकी बनकर शिव या अनाश्रित शिव के नाम से प्रसिद्ध होते हैं । परमशिव का यह पहला स्पन्द ही शिव तत्त्व कहा जाता है—

यदयमनुत्तरमूर्त्तिर्निजेच्छयाऽखिलमिदं जगत् स्रष्टुम् ।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः ॥

(ष०त्रि०त०सं०)

इस शिवतत्त्व में परमेश्वर की चित्शक्ति का प्राधान्य रहता है । इस तत्त्व में ठहरे हुए प्राणी 'अकल' कहलाते हैं क्योंकि इनमें माया की एक भी कला नहीं रहती । उत्कृष्टतर कर्म करने वाले ऐसे प्राणियों को सर्वदा शुद्ध 'अहम्' का विमर्श होता रहता है । कुछ प्राणी ऐसे भी होते हैं जो शक्तितत्त्व में ठहरते हैं वे भी 'अकल' कहे जाते हैं । उनकी भी स्थिति शिवतत्त्व के 'अकल' प्राणियों जैसी होती है । दोनों तत्त्वों की सृष्टि के बाद आगे का प्रपञ्च इसी शक्ति का होता है । यह शक्ति और कुछ नहीं मात्र परमेश्वर का स्वातन्त्र्य है । इसके अनेक नाम हैं—

'सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥'

(ई०प्र० १।३।१५)

तथा—

'स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा ।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः ॥'

(ई०प्र० १.५.११)

इत्यादि कारिकाओं से ज्ञात होता है कि प्रकाशस्वरूप परमेश्वर की यह शक्ति स्वभाव, हृदय, सार, स्फुरत्ता, महासत्ता इत्यादि अनेक नामों से जानी जाती है। यह निषेधव्यापार रूपा है । शिवतत्त्व में 'इदम्' का निषेध यही करती है । अपनी इसी शक्ति के कारण परम शिव अपने को 'अहम्' और 'इदम्' रूप में विभक्त करता है । इसके विषय में कहा गया है कि—

'तत्तत् सृष्ट्यादिभेदान् उद्वमन्ती संहरन्ती च सदा पूर्णा कृशा च उभयरूपा अनुभयरूपा चाक्रममेव स्फुरन्ती स्थिता ।'

शिव और शक्ति के सङ्घट्ट से परवर्ती सृष्टि का प्रसार होता है । इसका पहला प्रसरण सदाशिव नाम से जाना जाता है । यह परमेश्वर का अन्तर्निमेष है—

'निमेषोऽन्तः सदाशिवः ।'

सदाशिव तत्त्व में परमेश्वर की इच्छाशक्ति का प्राधान्य रहता है जब कि शक्तितत्त्व में आनन्द का और शिवतत्त्व में चित् शक्ति का प्राधान्य रहता है जिस प्रकार शिव तत्त्व के अधिष्ठाता का नाम शिव और शक्तितत्त्व की अधिष्ठात्री का नाम शक्ति है उसी प्रकार सदाशिव तत्त्व के अधिष्ठाता का नाम भी सदाशिव

ही है । जैसे इस पृथिवी पर हम लोग रहते हैं उसी प्रकार इस सदाशिव तत्त्व में भी जीव रहते हैं । इनको मन्त्रमहेश्वर की संज्ञा प्राप्त है । ये अनवरत अस्पष्ट रूप मे 'अहम्' का अनुभव करते रहते हैं अर्थात् इस अवस्था में परम शिव अपने द्वारा अपने ही अन्दर अपने को अपने से भिन्न किसी प्रमेय के रूप में देखते हैं । इस स्वदर्शन का कारण है—अपने द्वारा अपने पूर्णरूप का आंशिक गोपन। इस अनुभव में 'अहम्' अंश स्पष्ट रहता है और 'इदम्' अंश बिल्कुल क्षीण । भगवान् सदाशिव एवं मन्त्रमहेश्वर प्राणियों का अनुभव समान होता है।

सदाशिव के बाद अग्रिम सृष्टि 'ईश्वर' तत्त्व के नाम से जानी जाती है । यह परमेश्वर का बाह्य उन्मेष है—

'ईश्वरो वहिरुन्मेषो ।'

इस तत्त्व के आभासन में परमेश्वर की ज्ञानशक्ति काम करती है ईश्वर तत्त्व के अधिष्ठाता का नाम भी ईश्वर है । इसमें जो उच्च प्राणी निवास करते हैं उनको 'मन्त्रेश्वर' कहा जाता है । इनका और ईश्वर का अनुभव समान होता है जिसका स्वरूप है—'अहम् इदम्' । यहाँ 'इदम्' का स्वरूप थोड़ा स्पष्ट रहता है पर प्रधानता 'अहम्' की ही रहती है । यह ईश्वर माया से दो स्तर ऊपर का तत्त्व है ।

ईश्वर के बाद शुद्धविद्या तत्त्व की रचना होती है । इसमें 'अहम्' और 'इदम्' दोनों का भेदानुभव स्पष्ट हो जाता है । समधृततुलापुट न्याय से 'अहम्' और 'इदम्' दोनों का अनुभव समानरूप से होता है । यहाँ परमेश्वर की क्रियाशक्ति मुख्य रूप से काम करती है । शुद्धविद्या ही एक ऐसा तत्त्व है जिसके द्वारा उपर्युक्त सभी तत्त्वों की अधिष्ठात्री देवतायें अपने-अपने स्वरूपों का अनुभव करती हैं । शुद्ध विद्या को छोड़कर सम्पूर्ण विश्व मे आत्मसंवेदन का कोई दूसरा साधन नहीं है । यद्यपि यहाँ 'अहम्' और 'इदम्' दोनों का भेद स्पष्ट प्रतीत होता है तथापि इस अनुभव में 'अहम्' अङ्गी और 'इदम्' अङ्ग के रूप में प्रतीत होता है। इस तत्त्व में ठहरे हुए उत्कृष्ट प्राणी 'मन्त्र' या 'विद्येश्वर' कहे जाते हैं और इस तत्त्व का अधिष्ठाता भी ईश्वर ही है । यह तथ्य सदैव ध्यान में रखना चाहिये कि परमशिव असीम हैं; उनकी शक्ति भी अनन्त है इसलिये यहाँ तक की सृष्टि उनके द्वारा रचित होने पर भी उनका आनन्त्य ज्यों का त्यों अर्थात् अक्षुण्ण रहता है ।

शुद्धविद्या तत्त्व के बाद महामाया तत्त्व की रचना होती है । शुद्धविद्या शुद्धसत्त्वप्रधाना है जब कि महामाया मलिनसत्त्वप्रधाना । इसमें रजस् एवं तमोगुण का लेशमात्र भी नहीं रहता । इस तत्त्व में रहने वाले प्राणी 'विज्ञानाकल' या

'विज्ञानकेवली' कहे जाते हैं। इनमें प्रकाश तो रहता है पर उनको इस प्रकार का विमर्श नहीं होता। ये वेदान्त के ब्रह्म जैसे हैं जो कि सच्चिदानन्दस्वरूप तो हैं पर उसे अपने स्वरूप का आभास नहीं होता। यहाँ तक की सृष्टि शुद्ध अध्वा के नाम से जानी जाती है। इस अध्वा में रहने वाले प्राणिवर्ग को अपने स्वरूप के विषय में विपरीत अध्यास नहीं होता। वे अपने को सदा शुद्ध संवित्-स्वरूप समझते हैं। इस अध्वा की सम्पूर्ण सृष्टि केवल तुरीय दशा में ठहरती है जाग्रत आदि से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यहाँ तक परमेश्वर अपने स्वरूप में स्फुट रहते हैं अर्थात् उनके स्वरूप का पूर्ण गोपन नहीं होता।

इसके बाद की सृष्टि के कर्त्ता परमेश्वर स्वयं नहीं होते। वे अपने ही स्वरूपांश भगवान् अनन्तनाथ को नियुक्त करते हैं और आगे की सृष्टि उन्हीं के द्वारा की जाती है क्योंकि यह सृष्टि अशुद्ध होती है। माया तत्त्व से लेकर पृथिवी तक की रचना के लिये भगवान् अनन्तनाथ पहले माया को उत्पन्न कर उसको क्षुब्द कर देते हैं। उस क्षोभ के परिणामस्वरूप माया में ५ कञ्चुक या आवरण उत्पन्न हो जाते हैं जिनके नाम हैं—कला, विद्या, राग, काल और नियति। इस कञ्चुकसमूह से आवृत होने के कारण शिव अपने सर्वकर्तृ, सर्वज्ञातृ, सर्वतृप्त, नित्य एवं स्वच्छन्द स्वरूप को भूलकर स्वयं को किञ्चित्कर्त्ता, अल्पज्ञ, अतृप्त, अनित्य और विशिष्ट कारण कार्य से सम्बद्ध समझते हैं और बन्धन में पड़ जाते हैं। माया तत्त्व में रहने वाले प्राणी को 'प्रलयाकल' या 'प्रलयकेवली' तथा प्रकृति तत्त्व से लेकर पृथ्वी तक के साधारण मनुष्य आदि को 'सकल' कहा जाता है। उपर्युक्त शिव शक्ति आदि ११ तत्त्वों की रचना के बाद की सृष्टि सांख्यदर्शनसम्मत सृष्टि के समान है जिससे २५ तत्त्व हैं। संक्षेप में उनका परिचय इस प्रकार है—पुरुष (जीव) प्रकृति, महत् (या बुद्धि), अहङ्कार, पाँच कर्मेन्द्रिय पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पञ्चतन्मात्रायें एवं पञ्चमहाभूत। अन्तर केवल इतना है कि सांख्य प्रकृति को एक मानता है जबकि आगम अनेक। सांख्य इस सृष्टि को प्रकृतिपुरुष संयोगज मानता है जब कि आगम परमेश्वर के स्वातन्त्र्य से उत्पन्न।

शैवसिद्धान्त के अनुसार सृष्टिविकास को अगले पृष्ठ पर दिये गये रेखाचित्र से स्पष्ट समझा जा सकता है—

शाक्तसिद्धान्त—

सृष्टि के विषय में शैवसिद्धान्त हो या शाक्त सिद्धान्त शिव और शक्ति के बिना विश्वसृष्टि की कल्पना आगम या तन्त्रशास्त्र में असम्भव है। प्रकाशस्वरूप शिव विमर्शरूपिणी शक्ति के बिना जड़ है—

शैवसिद्धान्त के अनुसार सृष्टिविकास
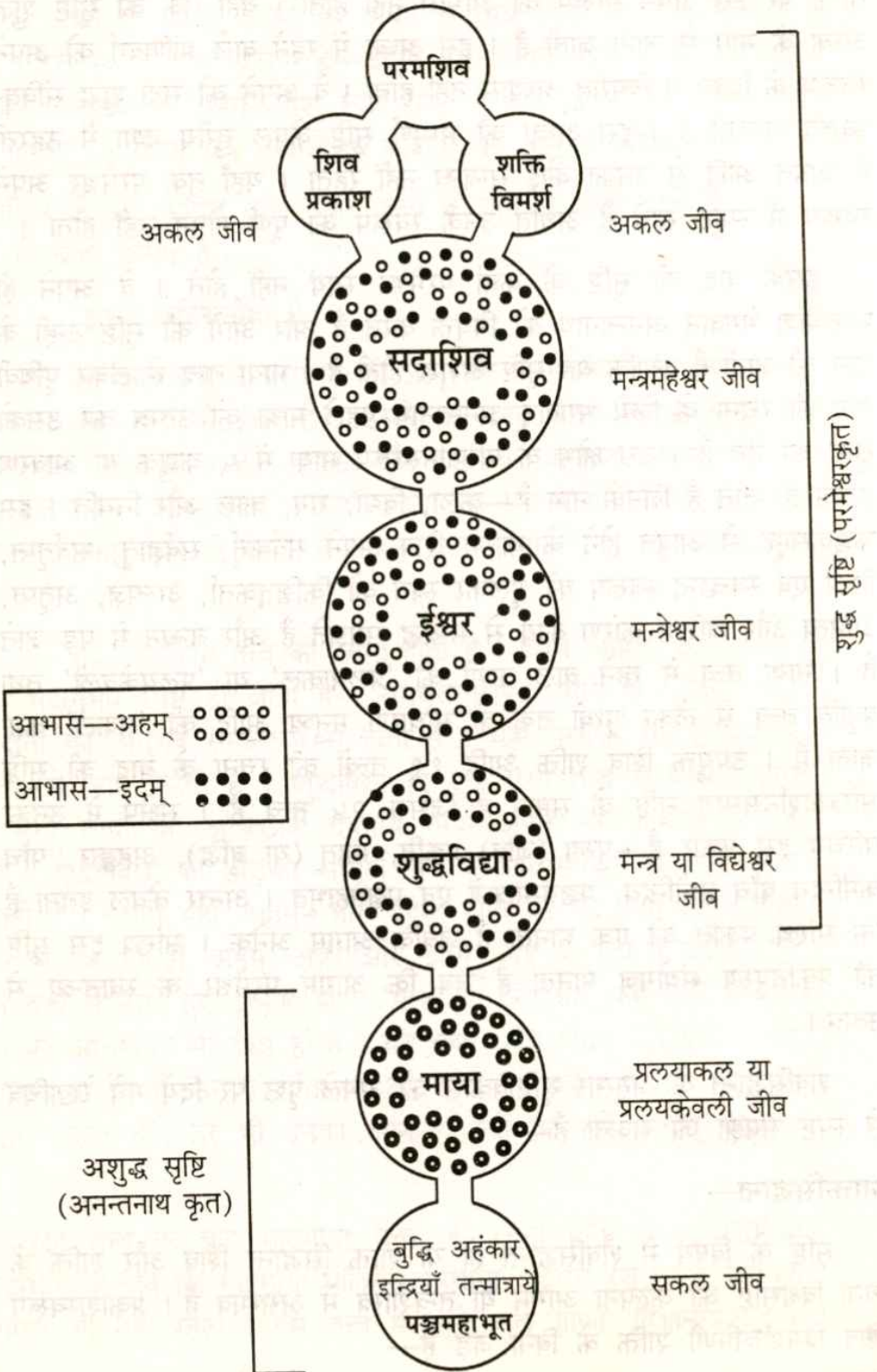
'स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा ।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः ॥'
(ई०प्र० १।५।११)

समस्त प्रपञ्चविस्तार का कारण एक मात्र शक्ति ही है यद्यपि वह शक्तिमान् के बिना नहीं रह सकती—

'नैसर्गिकी स्फुरत्ता विमर्शरूपाऽस्य वर्त्तते शक्तिः ।
तद्योगादेव शिवो जगदुत्पादयति पाति संहरति ॥' (वरि०)

इस प्रकार शक्ति के प्रति अधिक श्रद्धावान् मनीषिगण शक्ति को ही समस्त विश्वप्रपञ्च का आधार मानते हैं—

'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः ।' (प्र०हृ०सू० १)

इसी शक्ति के कारण विश्व का आसूत्रण होता है—

'सा स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ।' (प्र०हृ०सू० २)

तथा—

'यदा सा परमाशक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी ।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य सम्भवः ॥'

तथा—

'मेदिनीप्रमुखमाशिवं मतं तत्त्वचक्रमिह चक्रमुत्तमम् ।
स्वस्वभावसमयावभासिनी देवता भवति सांविदी कला ॥'
(चि०वि०)

शाक्त मत में भी सम्प्रदाय-भेद से सृष्टिरचना के विभिन्न दृष्टिकोण हैं । चूँकि नेत्रतन्त्र अद्वयवाद का समर्थक है इसलिये यहाँ अद्वैत दृष्टि से शाक्तमत की चर्चा अभिप्रेत है । समग्र जगत् के मूल में जो अखण्ड सत्ता है वह अनादि, निर्विकार, अनन्त, चिदानन्द स्वरूप है । इस स्थिति का नाम है—शिवशक्ति सामरस्य । यह एक ही तत्त्व गजवृषभन्याय से जब शिवरूपी होता है तब निरपेक्ष, निष्क्रिय, उदासीन, तटस्थ प्रकाशस्वरूप द्रष्टामात्र होता है । वही जब शक्तिरूपी होता है तब भावी विश्व का उपादान, पूर्ण स्वातन्त्र्यमयी, विमर्शरूपिणी, सङ्कोच-विस्तार वाली शक्ति कहा जाता है । स्थूल दृष्टि से सृष्टि का अर्थ है—शक्ति के ही दो विपरीत स्वरूपों का खेल । ये दोनों शक्तियाँ एक ओर समरस, अद्वय भाव में अविभक्त रूप में विद्यमान रहती हैं । यह उनकी विश्वोत्तीर्ण अवस्था

है। दूसरी ओर ये परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाली हो कर एक दूसरे के ऊपर क्रिया करने लगती हैं। इनमें से एक शक्ति को सोम और दूसरी को अग्नि कहा जा सकता है। सोम शीतल आनन्दमय और आनन्दप्रद है। यह अमृतरूप है। अग्नि उष्ण दु:खमय दु:खप्रद मृत्युरूप काल है। यह संहारक है तथा अविभक्त को विभक्त करता है जबकि सोम विभक्त को संहत करता है। ये दोनों तत्त्व जब साम्यावस्था में रहते हैं तब निष्क्रिय रहते हैं। इस अवस्था का परिभाषिक नाम है—सूर्य अर्थात् सृष्टि एवं संहार के मूल में वर्त्तमान अखण्ड सत्ता। इसको तन्त्रसाहित्य में 'काम' कहा गया है।

'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि'। (ऋ०वे०सं० १०।१२९।४)

मन्त्र में 'काम' शब्द का यही अर्थ है। 'कामाख्यो रवि:' तन्त्र का वाक्य है। अग्नि और सोम इसी की एक-एक कलायें हैं।

रवि जब अपने एकाकी स्वरूप में रहते हुए

'स वै नैव रेमे ..... स द्वितीयमैच्छत्।' (बृ०उ० १।४।३)

के अनुसार इस अवस्था में परिवर्त्तन चाहता है तब

'तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेय।' (छा०उ०५।२।३)

वचन के अनुसार वह प्रकाश अथवा सोम नामक बिन्दु विमर्श शक्ति या अग्नि नामक बिन्दु से संस्पृष्ट होता है या उसमें 'प्रविष्ट हो जाता है। इसके विपरीत अग्नि बिन्दु भी सोम बिन्दु में प्रविष्ट होता है। इस पारस्परिक प्रवेश का फल यह होता है कि विमर्श बिन्दु में उच्छूनता या शोथ (Swelling) उत्पन्न हो जाती है क्योंकि अग्नि के स्पर्श से सोम का अग्नि में क्षरण होने लगता है। परिणामस्वरूप इस उच्छ्न बिन्दु से नाद का आविर्भाव होता है। यह नाद समस्त तत्त्व का समवायी है। इसे ही 'शब्द ब्रह्म' कहते हैं। विज्ञानभैरव आदि में इसी को 'सदाशिव' कहा गया है—

'स नादो देवदेवेश प्रोक्तश्चैव सदाशिव:।' (वि०भै०)

तथा—

'ध्वनिरूपो यदा स्फोटस्त्वदृष्टाच्छिवविग्रहात्॥
प्रसरत्यतिवेगेन ध्वनिनापूरयन् जगत्।
स नादो देवदेवेश प्रोक्तश्चैव सदाशिव:॥'

(ने०तं० २१।६२-६३)

कौलज्ञाननिर्णय में बिन्दु को महालिङ्ग की शक्ति कहा गया है। जिस प्रकार ज्यामिति में बिन्दु के सरकने से रेखा बनती है उसी प्रकार उस बिन्दु से उत्पन्न नाद जब प्रसृत होता है तब त्रिकोण बनता है। इस त्रिकोण की तीनों रेखायें और तीनों कोण समान होते हैं। इसके बाद अष्टकोण दशार की रचना होती है। यह दशार दो हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। उसके बाद चतुर्दश कोण तथा अष्टदल और षोडशदल वाले कमलों का प्रादुर्भाव होता है। इन सबके अन्त में तीन वृत्त और एक चतुष्कोण है। यह चतुष्कोण या चतुरस्र सृष्टि के बाहर का प्राचीर है जिसे भूपुर कहते हैं। यह प्राचीर सृष्टि की अन्तिम सीमा है। यही क्रम श्रीचक्र का है जिसे निम्नलिखित श्लोक में संगृहीत किया गया है—

बिन्दुत्रिकोणवसुकोणदशारयुग्म-,
मन्वस्रनागदलसम्मितषोडशारम्।
वृत्तत्रयञ्च धरणीसदनत्रयञ्च,
श्रीचक्रमेतदुदितं परदेवतायाः॥ (त्रि०ता०उ०)

इस चक्र में जो बिन्दु है वह सर्वानन्दमय है क्योंकि परमेश्वर की चित्-स्वरूपिणी अन्तरङ्गा शक्ति का स्फार ही आनन्दस्वरूपिणी बहिंरगा शक्ति है। इस बिन्दु का प्रसरणस्वरूप त्रिकोण ही योगिजनों का मूलाधार चक्र है। जिसके अन्य पर्यायवाची शब्द, जन्मस्थान, कन्दस्थान, कूर्मस्थान, स्थानपञ्चक, मत्स्योदर आदि हैं। इसी प्रकार अष्टकोण, अन्तर्दशार, वहिर्दशार, चतुर्दशार अष्टदलकमल षोडशदल कमल एवं भूपुर क्रमशः योगियों के स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, शाकिनी, आज्ञाचक्र, गुरुचक्र एवं सहस्रार हैं। बिन्दु से लेकर भूपुर तक की आकृतियों को भी चक्र ही कहा जाता है पर उनके नाम भिन्न है—बिन्दु को सर्वानन्दमय, त्रिकोण को सर्वसिद्धिप्रद, इसी प्रकार अष्टकोण आदि को क्रमशः सर्वरोगहर, सर्वरक्षाकर, सर्वार्थसाधक, सर्वसौभाग्यदायक, सर्वसंक्षोभण, सर्वाशा-परिपूरक एवं त्रैलोक्यमोहन चक्र कहा गया है। उपर्युक्त विवरण को इस प्रकार समझा जा सकता है—

श्रीयन्त्र का नाम			योगसम्मत नाम
१. त्रैलोक्यमोहन	=	भूपुर	सहस्रार
२. सर्वाशापरिपूरक	=	षोडशदल कमल	गुरु चक्र
३. सर्वसंक्षोभण	=	अष्टदल कमल	आज्ञा चक्र
४. सर्वसौभाग्यदायक	=	चतुर्दशार	विशुद्ध चक्र

५. सर्वार्थसाधक	=	बहिर्दशार	अनाहत चक्र
६. सर्वरक्षाकर	=	अन्तर्दशार	मणिपूर चक्र
७. सर्वरोगहर	=	अष्टकोण	स्वाधिष्ठान चक्र
८. सर्वसिद्धिप्रद	=	त्रिकोण	मूलाधार चक्र
९. सर्वानन्दमय	=	बिन्दु	—

इसमें स्वर व्यञ्जन के माध्यम ३६ तत्त्वों का से समावेश है। उसमें ५-५ अक्षरों के तीन कूट हैं । प्रथम कूट में ६ स्वर और ८ व्यञ्जन हैं । द्वितीय कूट में ५ स्वर और ७ व्यञ्जन । तृतीयकूट में ४ स्वर और ६ व्यञ्जन हैं । इस प्रकार ५+७+६+८+४+६ = ३६ तत्त्वों का समवाय यह त्रिकूट हादिमत या हादिविद्या कहलाता है क्योंकि इसका प्रारम्भ 'ह' से होता है ।

श्रीचक्र के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि इस यन्त्र का प्रारम्भ केन्द्रबिन्दु से होता है और समाप्ति 'भूपुर' में । यह नवयोन्यात्मक महाचक्र है जिसमें चार शिवचक्र और पाँच शक्तिचक्र अनुस्यूत हैं । दो दशार, चतुर्दशार, त्रिकोण एवं अष्ट कोण शक्ति के तथा बिन्दु, अष्टकोण, षोडशदल कमल और भूपुर—ये चार शिव के प्रतीक हैं । भगवती ललिता या महात्रिपुरसुन्दरी का पञ्चदशाक्षर मन्त्र भी इसी यन्त्र में निहित है । वह मन्त्र है—क ए ई ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, स क ल ह्रीं । यह इस मन्त्र का एक स्वरूप है । इसे कादिमन्त्र या कादि विद्या कहा जाता है । ऊपर जिस हादि मन्त्र या हादि विद्या की चर्चा की गयी है वह इस पञ्चदशाक्षर मन्त्र का दूसरा रूप है । वह है—ह स क ह ल ह्रीं, स क ल ह्रीं, क ए ई ल ह्रीं । यह लोपामुद्राविद्या है । इसे ऋषिणी लोपामुद्रा ने भगमालिनी के उपासक अपने पिता से प्राप्त किया था। बाद में अगस्त्य ऋषि ने इसे लोपामुद्रा से प्राप्त किया । श्रीचक्र ब्रह्माण्डाकार है—

'चक्रं त्रिपुरसुन्दर्या ब्रह्माण्डाकारमीश्वरि ।' (भै०या०तं०)

चूँकि पिण्ड और ब्रह्माण्ड समान हैं इसलिये प्रत्येक मनुष्य के शरीर में भी यह चक्र विराजमान है ।

सृष्टिसम्बन्धी शाक्तदृष्टि की प्रक्रिया का आगम शास्त्रों में प्रकारान्तर से भी वर्णन मिलता है । इसके अनुसर समष्टि रूप में स्थित एक ही बिन्दु को व्यष्टिदृष्टि से तीन बिन्दुओं में परिणत माना जाता है । मूल बिन्दु के प्रकाशांश

इस दृष्टि से सृष्टिक्रम को इस प्रकार समझा जा सकता है—
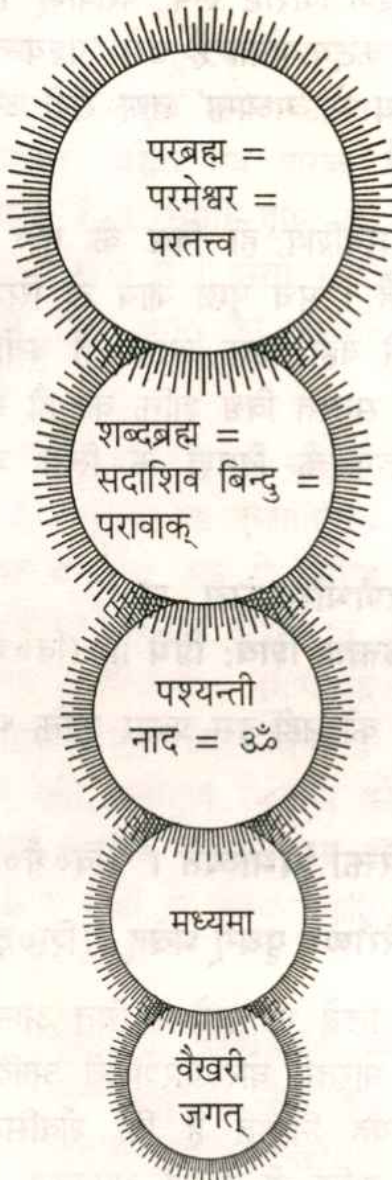
ज्ञानैकाश्रया अर्थसामान्याप्रकाशिका

मयूराण्डरसवत् अविभक्तवर्णार्थविशेष-बोधनाक्षमा

वुद्ध्युपारुढवर्णा तत्क्रमविशेषणोपेता प्राणवृत्त्यगोचरीभूता

प्राणवृत्त्याभिव्यक्ता श्रोत्रग्राह्यार्थ-विशेषबोधनक्षमा[१]

---

१. शैवपरिभाषा (योगीन्द्रज्ञान शिवाचार्य)

को अम्बिका तथा विमर्शांश को शान्ता नाम दिया गया है । अम्बिका शक्ति वामा, ज्येष्ठा और रौद्री तीन रूपों में प्रकाशित होती है । शान्ता अर्थात् विमर्शांश इच्छा ज्ञान एवं क्रिया रूपों में अभिव्यक्त होती है । यह ध्यान रखना चाहिये कि अम्बिका और शान्ता की साम्यावस्था ही मूल बिन्दु है । इसे समष्टि बिन्दु करके भी समझा जा सकता है । इसी प्रकार वामा आदि तथा इच्छा आदि का भी साम्य समझना चाहिये । त्रिकोण वाले तीन बिन्दुओं से पहला वामा तथा इच्छा का, दूसरा ज्येष्ठा तथा ज्ञान का एवं तीसरा रौद्री तथा क्रिया का साम्य है । पहले शिव शक्ति या प्रकाश विमर्श के परस्पर आभिमुख्य से जिस सदाशिव तत्त्व के आविर्भाव की बात कही गयी वह यही मूल बिन्दु है जो कि अम्बिका में शान्ता के साम्य का फल है । जो लोग शब्द या नाद से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं उनके अनुसार इस बिन्दु का ही एक विशिष्ट रूप 'परावाक्' है । वामा और इच्छा के साम्य से जिस बिन्दु का प्राकट्य होता है उसे 'पश्यन्ती' कहते है । इसी प्रकार ज्येष्ठा और ज्ञान के साम्य से 'मध्यमा' तथा रौद्री और क्रिया के साम्य से 'वैखरी' वाणी उत्पन्न होती है ।

शैवागम के अनुसार सर्वोच्च सत्ता परमशिव ही विश्व के मूल में हैं । शाक्तमत के अनुसार शक्ति सर्वोच्च सत्ता है । सच पूछा जाय तो सिद्धान्त की दृष्टि से जो शैवागम है प्रयोग की दृष्टि से वही शाक्त आगम है क्योंकि विना शक्ति के शिव कुछ भी नहीं कर सकता । समस्त विश्व शक्ति का ही स्फार है। यहाँ तक कि शिव को भी अपने स्वरूप के विमर्श के लिये शक्ति का अवलम्बन करना पड़ता है—

'यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य च ।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः प्रिये ॥' (वि०भै० २१)

किन्तु वह शक्ति शिव की ही है अन्य की नहीं इस प्रकार शक्ति भी स्वतन्त्र नहीं है—

'न वह्नेर्दाहिका शक्तिर्व्यतिरिक्ता विभाव्यते ।' (वि०भै० १९)

'न हिमस्य पृथक् शैत्यं नाग्नेरौष्ण्यं पृथग् भवेत् ।'(शि०दृ० ३.७)

विश्व के अवभासन सञ्चालन आदि के लिये भी परमेश्वर चित् आनन्द इच्छा ज्ञान क्रिया, विद्या महामाया, अघोरा घोरा घोरतरी घोर करणेश्वरी आदि शक्तियों का ही सहारा लेता है । इस प्रकार यह निश्चित है कि शैवसिद्धान्त या शाक्तसिद्धान्त दोनों के मूल में शिव और शक्ति ही है जो आपाततः दो प्रतीत होते हुए भी एक हैं ।

अनेक दृष्टि से सृष्टिक्रम का परिचय प्राप्त करने के बाद निष्कर्ष रूप में इतना ही समझ में आता है कि सृष्टि के मूल में वर्त्तमान तत्त्व एक है । वह लीलावश अपनी इच्छा से अनेक प्रकार से विश्व का विस्तार करता रहता है । सृष्टि स्थिति संहार का क्रम निरन्तर प्रवाहित हो रहा है—यह उसकी लीला है। शिव-शक्ति प्रकाश-विमर्श, कामेश्वर-कामेश्वरी, समयी-समया आदि के रूप में विश्व का आसूत्रण प्रसरण उपबृंहण वही कराते हैं और अन्त में धीरे-धीरे क्रमशः अपने प्रसार या अवभासन को क्षीण करते हुए अपने स्वरूप में परावृत होते हैं। यही संहार-प्रक्रिया है जिस पर एक विहङ्गम दृष्टि डालने का प्रयास किया जा रहा है ।

प्रलय-संहार—

संहार या प्रलय अपरपर्यायवाची हैं । व्यष्टि दृष्टि से देखने पर प्रारब्ध कर्मों का क्षय होने पर स्थूल शरीर का नाश होता है । विज्ञान योग संन्यास आदि के द्वारा समस्त सञ्चित एवं प्रारब्ध कर्मों का नाश होने पर सूक्ष्म देह का क्षय हो जाता है । समष्टि-दृष्टि से भूर्लोक आदि त्रिलोकी का नाश प्रलय शब्द का वाच्य होता है । इसमें भी अशुद्ध जगत् का नाश या विलय माया में होता है और शुद्ध जगत् का कुण्डलिनी में । त्रिलोकी के विनाश का कारण कालाग्नि है ।

आगम शास्त्र की दृष्टि से सृष्टियों की संख्या नहीं है, परिणामस्वरूप प्रलय भी असंख्य हैं । पुराणों या तन्त्रातिरिक्त अन्य शास्त्रों में सृष्टि-प्रलय का जो वर्णन मिलता है वह ब्रह्माण्ड तक ही सीमित है । ब्रह्माण्ड के रचयिता ब्रह्मा हैं जिन्हें दूसरे शब्दों में परमेश्वर का अंशावतार श्रीकण्ठ कहा जाता है । इस ब्रह्माण्ड का नाश कालाग्नि से होता है । पुराणों के अनुसार प्रलय के चार प्रकार हैं—नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत एवं आत्यन्तिक । सुषुप्ति नित्यप्रलय है जिसमें रजोगुण सत्त्वगुण को और तमोगुण रजोगुण को आत्मसात् कर लेता है । चार हजार युगों वाले एक ब्रह्मदिन के बाद जब ब्रह्मा की रात्रि होती है तब उसे कल्पप्रलय कहा जाता है । पृथ्वी से लेकर प्रकृतिपर्यन्त समस्त कार्यों के अन्त को प्राकृत प्रलय कहते हैं—

'द्विपरार्द्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय हि ॥
एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयते ।'

(भा०म०पु० १२।४।५-६)

ब्रह्मा जब समस्त चराचर को आत्मसात् कर शयन करते हैं और विष्णु भी अनन्तशय्या पर नित्यशयन करते हैं तब नैमित्तिक प्रलय होता है—

'एष नैमित्तिक प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक् ।
शेतेऽनन्तासने नित्यमात्मसात्कृत्य चाखिलम् ॥'

(भा०म०पु० १२।४।६)

सभी जीवों की एक साथ मुक्ति का नाम आत्यन्तिक प्रलय है । उक्त चार प्रलयों के अतिरिक्त एक मन्वन्तर प्रलय भी है जो एक मनु के शासनकाल का अन्त होने पर होता है जबकि १४ मनुओं के शासनकाल का अन्त उपर्युक्त कल्पप्रलय कहा जाता है ।

ऊपर जिस ब्रह्माण्ड के प्रलय का वर्णन किया गया है वह विश्वविस्तार की एक लघु इकाई है । आगम के अनुसार तत्त्वों की संख्या ३६ है । इनका वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है—अण्डचतुष्टयात्मक और पञ्चकलात्मक । प्रथम वर्ग के अनुसार पहला अण्ड ब्रह्माण्ड है। विश्वव्यापी इस महा शून्य में असंख्य ब्रह्माण्ड हवा में धूल के कण की भाँति तैर रहे हैं । 'रोम रोम मंहं व्यापेउ कोटि कोटि ब्रह्मण्ड'—रामचरित मानस । इन ब्रह्माण्डों के अधिष्ठाता ब्रह्मा भी असंख्य है । इन ब्रह्माण्डों का मूल प्राकृताण्ड है । इन प्राकृताण्डों की भी संख्या नहीं है । पृथक्-पृथक् प्रकृत्यण्ड के अधिष्ठाता पृथक्-पृथक् विष्णु हैं । ये भी अनन्त है । इन प्राकृताण्डों का मूल मायाण्ड है । मायाण्ड भी अनेक हैं और इनके अधिष्ठातृ रुद्रों की भी संख्या नहीं है । मायाण्ड के ऊपर शाक्ताण्ड हैं। इन शाक्ताण्डों के अधिष्ठाता ईश्वर और सदाशिव दो हैं। पहला परमेश्वर के निग्रह या तिरोधान शक्ति का प्रतीक है दूसरा उसके अनुग्रह या मोक्ष का । अण्डचतुष्टयात्मक इस साकार विश्व का इतना बड़ा विस्तार है और उसके ऊपर नियन्त्रण करने वाली शक्ति है पराम्बा जो कि निराकार है । इस शक्ति का राज्य भी निराकार है ।

अब पञ्चकलात्मक दृष्टि से विश्व का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है । ऊपर जिन चार अण्डों का संक्षिप्त वर्णन किया गया उनमें एक-एक अण्ड एक-एक कला से व्याप्त है । भूर्लोक से लेकर सत्यलोक पर्यन्त सभी सात भुवन पृथ्वी कहलाते हैं । जो इन भुवनों में अपने गणों में अण्डवृत्त और दूसरे गणों से व्यावृत्त हैं उसे तत्त्व कहा जाता है । इसी प्रकार जो सब तत्त्वों में अपने वर्गों में अनुवृत्त हैं तथा दूसरे वर्गों से व्यावृत्त है उसे कला कहते हैं । कुछ विद्वानों के अनुसार तत्त्वों की सूक्ष्म शक्ति का नाम कला है । ये कलायें पाँच हैं—निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ता और शान्त्यतीता । निवृत्ति कला के भीतर पृथ्वी

तत्त्व को लेकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना हुइ है। अर्थात् ब्रह्माण्ड का उपादान पृथ्वीतत्तव है इसीलिये भूर्लोक से लेकर सत्यलोक तक सभी भुवन पृथिवी कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्माण्ड तथा नीचे के तल अतल आदि सात भुवनों में सर्वत्र निवृत्ति कला व्याप्त है। जिसे पहले प्रकृत्यण्ड कहा गया है उसमें अर्थात् जल से लेकर प्रकृति पर्यन्त प्रतिष्ठा कला व्याप्त है। पुरुष से लेकर माया तत्त्व अर्थात सम्पूर्ण मायाण्ड के विद्या कला से ओतप्रोत है। शान्ता कला शुद्धविद्या से लेकर शक्तिपर्यन्त व्याप्त है। यही शाक्ताण्ड के नाम से जाना जाता है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि एक-एक अण्ड एक-एक कला से व्याप्त है। अण्डों की समाप्ति के बाद भी कला शेष रहती है। क्योंकि शक्ति के बाद शिव शेष बचते हैं। वहाँ शान्त्यतीता कला विराजमान है। इसके आगे वर्त्तमान परमशिव में कला नहीं है। इसलिए उसको 'निष्कल' कहते हैं। जहाँ तक कलाओं की व्याप्ति है वहाँ तक भुवन भी हैं। शक्ति के बाद तीन तत्त्व शेष बचते हैं—व्यापिनी, समना और उन्मना। उन्मना का अर्थ है शिव। ये तीनों विश्वातीत हैं अर्थात् व्यापिनी के पहले पृथ्वी से लेकर शक्ति तक ही विश्व की सीमा है। अण्डचतुष्टयात्मक और पञ्चकलात्मक विश्व विस्तार के इस संक्षिप्त परिचय के बाद इसके संहार की प्रक्रिया को समझना आसान होगा।

संहार या प्रलय का अर्थ है—नाश या विलय। उपर्युक्त अण्डों की सत्ता की दृष्टि से प्रलय के मुख्यत: चार प्रकार माने जा सकते हैं—ब्राह्म, प्राकृत, मायीय और शाक्त। पूर्ववर्णित नित्य आदि प्रलय का समावेश ब्राह्म प्रलय में मान लेना चाहिए।

'चतुर्युगसहस्त्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते।'

के अनुसार ब्रह्मा की उतने ही परिमाण की रात्रि भी होती है जो एक प्रकार का प्रलय है। इसकी चर्चा विष्णु पुराण में मिलती है—

'जगत् प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
तेजस्याप: प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते॥
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते।
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निष्कले सम्प्रलीयते॥'

किन्तु वास्तविक रूप से एक ब्रह्मा जिसकी आयु उसके दिन के परिमाण से १०० वर्ष की होती है, जब मरता है तब उसके ब्रह्माण्ड का प्रलय हो जाता है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड का प्रलय अलग-अलग होता है। इसकी चर्चा पुराणों में नहीं मिलती।

ब्रह्मा के १०० वर्षों का विष्णु का एक दिन होता है। इस परिमाण से जब एक विष्णु की आयु के १०० वर्ष पूरे होते हैं तब वह विष्णु मर जाता है उसके प्राकृताण्ड का प्रलय हो जाता है। साथ ही प्राकृताण्ड अनेक हैं फलतः उसके अधिष्ठाता विष्णु भी असंख्य हैं। इस प्रकार विष्णुओं की मृत्यु और प्राकृताण्डों का मायाण्ड में प्रलय भी असंख्य है। विष्णु का १०० वर्ष रुद्र का एक दिन होता है। इस परिमाण से अपनी आयु के १०० वर्ष पूरे करने पर रुद्र भी मरता है और उसके मायाण्ड का शाक्ताण्ड में विलय हो जाता है। पूर्व की भाँति मायीय प्रलय भी असंख्य है। इसी प्रकार शाक्ताण्डों का भी विलय होता है। आगम के अनुसार यही महाप्रलय है जब कि शुद्ध अध्वा या शाक्ताण्ड की सृष्टि महासृष्टि कही जाती है। रुद्र का १०० वर्ष ईश्वर का एक दिन और इस परिमाण से ईश्वर का १०० वर्ष सदाशिव का एक दिन होता है। परमेश्वर के बाह्य उन्मेष या निग्रह स्वरूप ईश्वर के समाप्त होने पर उनके अन्तर्निमेष रूप या अनुग्रहरूपी सदाशिव शेष बचते हैं। यह भी अपने दिनपरिमाण के हिसाब से १०० वर्ष तक शाक्ताण्ड का शासन करते हैं। सृष्टि की सीमा शाक्ताण्ड तक ही है। इसके बाद सृष्टि नहीं रहती किन्तु तत्त्व रहते हैं। सदाशिव अपने काल के अन्त में बिन्दु, अर्धचन्द्र और रोधिनी का अतिक्रमण करते हुए चराचरग्रहणपूर्वक 'नाद' में पहुँच जाते हैं। नाद को पार कर पुनः वे 'शक्ति' में लीन हो जाते हैं। सदाशिव की सम्पूर्ण आयु शक्ति का एक दिन है। शक्ति भी अपनी आयु पूर्ण कर व्यापिनी में लीन हो जाती है। शक्ति का सम्पूर्ण आयुष्काल 'व्यापिनी' का एक दिन होता है। यह व्यापिनी भी अपना काल पूरा कर 'अनाश्रित' शिव में प्रलीन होती है। इसी प्रकार अनाश्रित भी अपना काल जो कि एक परार्ध वर्ष होता है, पूरा कर समना में लीन हो जाते हैं। प्रलय की प्रक्रिया यही रुक जाती है क्योंकि काल की सीमा समना पर्यन्त ही है। 'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम्।' पाश का अर्थ ही है— काल, और जहाँ तक काल है वहीं तक प्रलय की प्रक्रिया भी चलती है। समना परमशिव की शक्ति है।

पञ्चकलातमक विश्व के प्रलय की प्रक्रिया भी वही है जो अण्डचतुष्टय की है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक अण्ड किसी न किसी कला से व्याप्त है। प्रश्न होता है कि शान्ताकला के बाद शान्त्यतीता कला के स्तर पर प्रलय होता है या नहीं ? उत्तर में कहा जा सकता है कि 'नहीं'। अनाश्रित शिव जिनका एक दिन शक्ति के एक करोड़ परार्द्ध काल के बराबर होता है, अपने मान से अपने एक परार्द्धकाल तक स्थित रहते हैं। उसके बाद उनका समना में लय हो जाता है। समना, जो कि काल की अन्तिम सीमा है, तक ही प्रलय है।

पृथ्वी से लेकर अनाश्रित शिवपर्यन्त ३६ तत्त्वात्मक विश्व समना में अभिन्न रूप से स्थित या लीन रहता है । यहाँ न तो भेद का स्फुरण है न किसी प्रकार की कलना या रचना है । यह समना नित्य है । पृथ्वी से लेकर अनाश्रित शिव पर्यन्त ३६ तत्त्वों की इसमें क्रमशः अभिन्न रूप से स्थिति हो जाती है । शाक्त दृष्टि से यही प्रलय की प्रक्रिया है ।

मोक्ष—

आगमशास्त्र में 'पिण्डब्रह्माण्ड-सिद्धान्त की मान्यता है । इसका तात्पर्य यह है कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह सब इस पिण्ड अर्थात् शरीर में है । थोड़ा गम्भीर विचार करने पर प्रतीत होता है कि केवल ब्रह्माण्ड ही नहीं उससे आगे के भी तत्त्व इस मानव देह में वर्त्तमान हैं । अनादि काल से अज्ञानावृत अत एव मलिन यह जीव चैतन्य इस शरीर की महत्ता से अपरिचित होने के कारण इसे मात्र अस्थि मांस आदि का निचय मानता है और इसके साथ दूध और पानी की भाँति तादात्म्य स्थापित किये हुए हैं । यह शरीर जड़ और चेतन दोनों का सङ्घात है और ये दोनों तत्त्व इसमें परस्पर तादात्म्य स्थापित किये हुए हैं । जब तक इन दोनों का पार्थक्य नहीं होता और जीव या अणु या बद्ध शिव अपने स्वभाव रूप पूर्ण अहन्ता में स्थित नहीं होता तब तक उसे पूर्ण मुक्त नहीं कहा जा सकता । यह ध्यान रखना चाहिये कि मुक्ति की यह अवस्था अकस्मात् नहीं उपलब्ध होती; इसकी प्राप्ति में क्रम होता है । यह उपलब्धि एक काल या एक जन्म की नहीं वरन् अनेक जन्मों के प्रयास की होती है—

'अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गातिम् ।' (भ०गी० ६।४५)

मुक्ति का क्षुद्र स्वरूप जिसे हम मुक्त्याभास कह सकते हैं प्रतिदिन हमारे अनुभव में आता है । जब हम किसी समस्या, रोग आदि से ग्रस्त होते हैं और कालान्तर में उसका समाधान हो जाता है तब हम अपने को उन समस्या आदि से मुक्त समझते हैं । इसी प्रकार अनेक उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर अथवा जीविकोपार्जनसम्बन्धी सेवाकाल समाप्त होने पर अपने को उत्तरदायित्वों या सेवाकार्य से मुक्त समझने या होने का अनुभव हमें जीवन में होता है । वस्तुतः यह सब मुक्त्याभास हैं । वास्तविक मुक्तिमार्ग पर चलने की प्रक्रिया का प्रारम्भ चैतन्य के जागरण से होता है । यहाँ यह बतला देना अनावश्यक नहीं है कि चैतन्यजागरण या षट्चक्रभेदन के अतिरिक्त और भी अनेक प्रणालियाँ हैं जिनसे शिवत्व-लाभ होता है किन्तु यहाँ केवल षट्चक्र-भेदन का ही संक्षिप्त परिचय दिया जायेगा । चैतन्य का जागरण या कुण्डलिनी का उद्बोधन एक ही बात है । सांख्य वेदान्त आदि दर्शनों या पुराण आदि में यम नियम आदि, इष्ट पूर्त

आदि अथवा मीमांसा में वर्णित याग अग्निहोत्र आदि के द्वारा चित्तशुद्धि होने के बाद मन की विषयप्रवणा अधोमुखी गति रुक कर धीरे-धीरे ऊर्ध्वमुखी अर्थात् परमात्मतत्त्व की ओर प्रवाहित होने लगती है । यह प्रवाह जब तीव्रसंवेग वाला हो जाय तब समझना चाहिये कि चैतन्य के जागरण का प्रारम्भ होने वाला है। यह जागरण गुरु की कृपा अर्थात् उनके द्वारा प्रदत्त मन्त्र आदि के जप आदि से अथवा अपने अत्यन्त दृढ़ पुरुषकार से भी सम्पन्न होता है । हमारे गुरुदेव श्रीशिवचैतन्य जी वर्णी का कोई गुरु न होने पर भी उनके पुरुषकार से चैतन्य जागरण हुआ है । प्रत्यक्ष गुरु की अप्राप्ति में महाशक्ति स्वयं प्रच्छन्न रूप से गुरु का कार्य करती है । इस प्रकार के व्यक्ति का प्रथम लक्षण है शिव में दृढ़ भक्ति—

'तस्यैतत् प्रथमं चिह्नं देवे भक्तिः सुनिश्चला ।'

ऐसे व्यक्ति के अन्दर एक ओर शैवी भक्ति का उदय होता है और दूसरी ओर संसार के प्रति वैरस्य उत्पन्न होता है ऐसा पूर्व जन्म के मोक्षाभिमुखी संस्कार के उद्बुद्ध होने पर होता है । फलतः उसे दीक्षा प्राप्त होती है और वह साधनापथ पर अग्रसर होता है । इस क्रम में सबसे पहले उसकी कुण्डलिनी अत्यल्प मात्रा में उद्बुद्ध होती है । यह कुण्डलिनी मूलाधार में सुप्त रहती है। मनुष्य शरीर के अन्दर रीढ़ की हड्डी नीचे की ओर जहाँ समाप्त होती है वहाँ पर नाभि के नीचे और मेढ़्र (= जननेन्द्रिय) के ऊपर अर्थात् दोनों के बीच में मूलाधार चक्र है । पिण्डब्रह्माण्ड सिद्धान्त के अनुसार यह मूलाधार चक्र और पृथिवी दोनों एक ही हैं । चैतन्य का जागरण होने पर मूलाधार में वर्त्तमान चैतन्य जडांश से अलग हो जाता है । इसे विस्तृत रूप में इस प्रकार समझना चाहिये—

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, शाकिनी और आज्ञा—ये छः चक्र अथवा कमल 'अ' से लेकर 'क्ष' तक के ५० वर्णों द्वारा निर्मित एक प्रकार के यन्त्र हैं । मूलाधार आदि के क्रम से इनके दलों में अलग-अलग वर्णों की संख्या क्रमशः ४,६,१०,१२,१६ और २ है । अर्थात् मूलाधार में ४ वर्ण और इसी क्रम से आज्ञाचक्र में २ वर्ण है । इस कुण्डलिनी को, जिसे चिदग्नि या चैतन्य भी कहा जाता है, जिस किसी प्रक्रिया से उद्बुद्ध कर गुरुनिर्दिष्ट विशिष्ट प्रक्रिया या स्वोद्भूत भावना के द्वारा प्राण और मन को एक साथ मिलाना पड़ता है । प्राण सूर्य, मन चन्द्र और कुण्डलिनी रूपा वाक्शक्ति अग्नि है । ये तीन शक्तियाँ जब एक शक्ति के रूप में परिणत होकर ताप उत्पन्न करती हैं तब मूलाधार के चार वर्ण विगलित होकर नादरूप में परिणत हो जाते हैं । फिर ये

चारो नाद एक रूप होकर मूलाधार चक्र के केन्द्र या कर्णिका में स्थित बिन्दु में पहुँच जाते हैं और वहाँ से ऊर्ध्वमुखी सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर-अन्दर ऊपर उठ जाते हैं और मूलाधार चक्र शून्य हो जाता है अर्थात् उस स्थान में चैतन्य जड़ से अलग हो जाता है । इसी को मूलाधार चक्र का भेदन कहते हैं । चूँकि मूलाधार और पृथ्वी तत्त्व एक है इसलिये मूलाधार का भेदन होने से जीव का पृथिवी तत्त्व से अज्ञानात्मक सम्बन्ध कट जाता है । अर्थात् वह जीव पार्थिवत्व से मुक्त हो जाता है । यहाँ यह स्मरणीय है कि विश्व के मूल में विद्यमान ३६ तत्त्वों का दो प्रकार का वर्गीकरण पहले बतलाया गया । उनमें प्रथम वर्ग अण्डचतुष्टय का क्षीण परिचय पहले दिया जा चुका है । पञ्चकलात्मक वर्गिकरण में पहली कला निवृत्ति नाम वाली है । यह पृथ्वी तत्त्व को व्याप्त करके रहती है । दूसरी प्रतिष्ठा कला का क्षेत्र जल से लेकर प्रकृति तक है । पुरुष से लेकर माया तक विद्या कला का क्षेत्र है । शुद्धविद्या से लेकर शक्ति तक शान्ता एवं शिव तत्त्व शान्त्यतीता कला से ओतप्रोत है । मूलाधार का भेदन करने वाला योगी या साधक मूलाधार चक्र के भेदन के कारण पृथ्वी तत्त्व को व्याप्त करने वाली निवृत्ति कला से मुक्त हो जाता है । शाक्तदृष्टि से यह जीव की मुक्ति का प्रथम चरण है ।

साधना रूपी कर्म को करता हुआ साधक जब पूर्वोक्त प्रक्रिया से स्वाधिष्ठान चक्र का भेदन करता है तब जल तत्त्व से उसका चैतन्य पृथक् हो जाता है । आगे इसी प्रक्रिया से मणिपूर, अनाहत और शाकिनी का भेदन कर योगी तेज वायु और आकाश तत्त्व से अपने चैतन्य को मुक्त करते हुए पञ्चमहाभूत से मुक्ति-लाभ कर लेता है । इस प्रकार आज्ञा चक्र तक संस्कार करने पर पचास वर्णों की पहले नाद रूप में फिर चक्र केन्द्रस्थ छह बिन्दुओं के रूप में और अन्त में सबकी एक बिन्दु के रूप में परिणति होती है । यह बिन्दु आज्ञाचक्र के ऊपर भ्रूमध्य में स्थित रहता है । यही तृतीय नेत्र है । इसका उन्मीलन आज्ञाचक्र का उन्मीलन कहा जाता है । यह उन्मीलन गुरुशक्ति के द्वारा सम्पादित होता है । साधक के प्राण मन और जागृत कुण्डलिनी इस उन्मीलन में सहायक होते हैं । इसी अभिप्राय से कहा गया—

'अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥'

यहाँ शलाका पद का तात्पर्य गुरु शक्ति से है । स्वाधिष्ठान आदि क्रमिक चक्रों का भेदन बद्ध जीव की मुक्ति के द्वितीय तृतीय आदि चरण हैं । इस प्रक्रिया का अन्तिम चरण उक्त तृतीय नेत्र का उन्मीलन है । इसके बाद जीव-जीव नहीं वरन् शिव हो जाता है ।

आगमिक सन्दर्भ में मुक्ति की प्रक्रिया का यहीं अवसान नहीं है। यहाँ पहुँचने के बाद जीव का केवल देहात्मबोध नष्ट होता है और उसकी शिवभाव में स्थिति होती है। इसका स्पष्टार्थ यह है कि कर्मों का अवसान होने से अहङ्कार हट जाता है फलत: देहात्मभाव मिट जाने से जीव की अप्राकृत रूप में स्थिति हो जाती है। शिवत्वलाभ के बाद यह जीव शिव सहस्रार की ओर चलता है और उसका भी भेदन कर आगे बढ़ जाता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि ३६ तत्त्वों का भेदन अर्थात् चैतन्य को उनसे अलग करना एक प्रकार से मुक्ति की एक उच्चतर अवस्था है जो कि आगमातिरिक्त दर्शनों की पहुँच के बाहर है। आगमिक दृष्टि से यह साधक की मुक्ति यात्रा की पराकाष्ठा है। साधक यहाँ आकर रुक जाता है किन्तु योगी के लिये इसके बाद भी बहुत से कर्म शेष रहते हैं।

साधक की यात्रा का जहाँ अन्त होता है योगी की वास्तविक यात्रा का वहीं से प्रारम्भ होता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि साधक और योगी के लक्ष्य चूँकि भिन्न होते हैं इसलिये दोनों के कर्म भी पृथक् होते हैं। साधक का कर्म है वासना कर्म संस्कार और उनके बीज को निर्मल करना। साधक के प्रयास के परिणामस्वरूप उपर्युक्त वासना आदि का विरोधी स्वभाव मिट जाता है और वे चैतन्य के साथ मिल जाते हैं। साधक की आत्मा उदासीन अथवा तटस्थ हो जाती है। यही साधक की मुक्ति या विदेह कैवल्य है क्योंकि अशुद्धि शुद्ध होकर निर्मल चित्स्वरूप हो जाती है। योगी का लक्ष्य होता है कामना वासना आदि शत्रुओं के शत्रुभाव को दूर अर्थात् शुद्ध कर उन्हें मित्र के रूप में रूपान्तरित करना। यह साकार पिण्डसिद्धि है अर्थात् योगी के शरीर का साधारण मानव शरीर की भाँति मृत्यु का आखेट न बनना। इस लक्ष्य के फलस्वरूप योगी का मलिन काम शुद्ध होकर विशुद्ध भगवत्प्रेम के रूप में परिणत हो जाता है।

दीक्षाप्रक्रिया के दो लक्ष्य होते हैं—पाश का नाश और शिवत्वयोजना। साधक का केवल पाशक्षय होता है शिवत्व योजन नहीं किन्तु योगी का पाशक्षय और शिवत्वयोजन दोनों होता है। इस कार्य को केवल गुरु ही करता है। उच्च कोटि का गुरु विशिष्ट शक्तिसम्पन्न होता है। वह शिष्य के साथ आत्मिक रूप से ऐक्य स्थापित कर शिष्य के अन्दर योगक्रिया का आरम्भ करता है। भगवदनुग्रह के परिणामस्वरूप शिष्य के अन्दर वर्त्तमान जड़त्व का निवर्त्तन होता है। तत्पश्चात् पाशों का नाश एवं अचित् सत्ता से उसकी आत्मा का पृथक्-करण हो जाता है। अचित् सत्ता के दूर होने के पश्चात् शिष्यचैतन्य का भगवत्-सत्ता के साथ योग होता है। केवल मायिक कर्मों के करने पर विज्ञान कैवल्य

प्राप्त होता है पर वह कैवल्य अशुद्ध होता है । इस कैवल्य के फलस्वरूप जन्म-मृत्यु का चक्कर तो छूट जाता है परन्तु पाश या पशुत्व की निवृत्ति नहीं होती । जब गुरु की कृपा से पाशच्छेद होता है तब विशुद्धविज्ञानकैवल्य नामक परमदशा का अभ्युदय होता है । यह कैवल्य यद्यपि निर्मल आत्मस्वरूप है तथापि अभी भी परमेश्वर के साथ ऐक्यलाभ नहीं होता । इस ऐक्य अथवा सामरस्य के लाभ के लिये अनेक सम्प्रदायों में अनेक विधियाँ वर्णित हैं । बौद्धतन्त्र, नाथयोग सम्प्रदाय, कामकलाविलास नामक ग्रन्थ और यहाँ तक कि वेदान्त में भी सामरस्य की बात कही गयी है किन्तु सबसे उत्तम सामरस्य की प्रक्रिया तब तक शुरु नहीं होती जब तक कि योगी श्वासक्रियासञ्चार का परिमाण, प्राणवायुसञ्चार, प्राणस्थितमार्ग का सूक्ष्मातिसूक्ष्मविभागज्ञान, हंसोच्चार, वर्णसमूह से उत्पन्न कारणों का परिहार, काल का त्याग और शून्यभाव की प्राप्ति भूमिकाओं को क्रमशः पार नहीं कर लेता । इन भूमिकाओं का सन्तरण करने के पश्चात् योगी आत्मा, मन्त्र, नाड़ीचक्र, शक्ति, व्यापिनी और समना में क्रमशः सामरस्य को प्राप्त कर अन्त में उन्मना या शिव तत्त्व के साथ समरस या अभिन्न हो जाता है । तब सर्वत्र एक मात्र शिव ही विराजमान रहता है—

'यत्र यत्र मनो याति ज्ञेयं तत्रैव चिन्तयेत् ।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः ॥' (स्व०तं०)

सामरस्य के सम्बन्ध में महासिद्ध स्वतन्त्रानन्द नाथ का कथन है कि वह एक ऐसी स्थिति है जहाँ चित् अचित् एकरसस्वभाव में रहते हैं । यहाँ परस्पर विरुद्ध जड और अजड का सामरस्य है—

मायाबलात् प्रथमभासि जडस्वभावं
विद्योदयादथ विकस्वरचिन्मयत्वम् ।
सुप्त्याह्वयं किमपि विश्रमणं विभाति
चित्रक्रमं चिदचिदेकरसस्वभावम् ॥ (मा०च०वि० २।१)

अब तक के वर्णन से यह स्पष्ट हो गया कि तन्त्र का प्रतिपाद्य है—(१) विश्व का परिचय कराना (२) विश्वसृष्टि की प्रक्रिया को स्पष्ट करना (३) साधक तथा योगी के द्वारा पिण्डब्रह्माण्ड-सिद्धान्त के आधार पर ब्रह्माण्ड के साथ पिण्ड का तादात्म्य स्थापित करना (४) इस तादात्म्य के द्वारा पृथिवी से लेकर शिव तक वर्त्तमान षडध्वा का भेदन करना । किन्तु तन्त्र के प्रतिपाद्य का यहीं अवसान नहीं होता । इसके आगे भी योगी के कुछ अवशिष्ट कर्त्तव्यों का वर्णन भी तन्त्र शास्त्र की सीमा में आता है । यह प्रायः सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जीव परमेश्वर का अंश है । यह भी माना जाता है कि सृष्टिक्रम में मनुष्य शरीर की रचना

सबसे बाद में हुई है और उसमें जीव के साथ आणवमल भी साथ-साथ आया। फलतः मनुष्य पशुभाव को प्राप्त हुआ । फिर कर्म के फलस्वरूप ८४ लाख योनियों में भ्रमण करता हुआ करोड़ों मनुष्य-जन्म बिताने के बाद गुरु आदि की कृपा से धीरे-धीरे उसका स्वकर्तृत्वाभिमान शिथिल होने लगता है और वह अध्यात्म जीवन जीने लगता है जिससे कर्तृत्वाभिमान मिट जाता है । तब वह केवल द्रष्टा मात्र हो जाता है अन्यान्य दर्शनों में यही दशा मुक्ति के नाम से जानी जाती है—

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।' (पा०यो०सू० २)

तथा—

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः ॥

(सा०का० ६५)

किन्तु योगी का कर्त्तव्य यहीं समाप्त नहीं होता । इस द्रष्टृभाव को प्राप्त कर योगी आगे बढ़ता है और उसके अन्दर से जागतिक पदार्थों का आकर्षण छूट जाता है । ईश्वर या गुरु की कृपा से उसके अन्दर विवेक और ज्ञान का उदय होने के फलस्वरूप वह अपने को अपने स्वयं को स्थूल-शरीर, सूक्ष्म-शरीर तथा कारण शरीर से पृथक् समझने लगता है और अन्त में वह अपने मन से भी पृथक् हो जाता है । इस पृथक्करण की प्रक्रिया में एक ओर जिस क्रम से पृथक् करण होता है दूसरी ओर उसी क्रम से योगी के अन्दर ईश्वरीय भाव का विकास भी होता जाता है । इस क्रम में वह अपने को भगवान् समझने लगता है अर्थात् वह यह अनुभव करने लगता है कि—'मैं ही विश्व का अधिपति हूँ ।' इस आध्यात्मिक जीवन का पूर्ण विकास होने पर योगी आनन्दमय कोष में पहुँच कर उसके दिव्य जीवन का लाभ करता है । यहाँ पहुँच कर उसकी भगवत्प्राप्ति स्थायी हो जाती है । इसका परिणाम यह होता है कि योगी उस दिव्य भगवत् स्वरूप में निरन्तर चलता रहता है फलस्वरूप इस अवस्था में उसको अनन्त वैचित्र्य को अनुभव होता रहता है । चूँकि भगवान् का स्वरूप अनन्त वैचित्र्यपूर्ण तथा आनन्दमय है और योगी उसके अन्दर प्रवेशलाभ कर चुका है अतः वह निरन्तर उसका अनुभव करता रहता है । सिद्ध महात्मा मेहेर बाबा इस स्थिति का वर्णन कभी-कभी किया करते थे । अद्वैत शाक्त सम्प्रदाय के शिखर पुरुष महाशक्ति के भीतर इस परम स्थिति का परमगति के रूप में दर्शन करते रहते हैं । यही योगी का परम लक्ष्य और उसके कर्त्तव्य की पराकाष्ठा है ।

'तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम् ।'

(ऋ०वे०सं० १।२२।२०)

यही वास्तविक मुक्ति है ।

शिवाद्वयवाद के स्तम्भभूत नेत्रतन्त्र का सामान्य अध्ययन करने से आपाततः लगता है कि यह ग्रन्थ ऐहलौकिक सिद्धियों को देने वाला और भूत डामर डामरिका आदि विघ्नों का अपसारण करने वाला है । किन्तु परमार्थतः गम्भीर अध्ययन करने पर पता चलता है इसमें जो षट् चक्र सोलह आधार आदि की विद्वत्तारूप सूक्ष्म योग तथा पर योग का वर्णन है वह साङ्केतिक रूप में यही बतलाता है कि परामुक्ति ही मनुष्य का एक मात्र लक्ष्य होना चाहिये। परामुक्ति और महाशक्ति के भीतर परमस्थिति का परमगति के रूप में दर्शन एक ही बात है ।

⁕
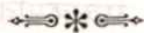
(२)

नेत्रतन्त्र के प्रमुख वर्ण्य विषय

शिवाद्वयवाद—

शैवागम की तीन धारायें हैं—(१) भेदप्रधान धारा जिसका अन्य नाम शैव सिद्धान्त है और प्रचलन मुख्यतया तमिलनाडु में है। (२) भेदाभेदप्रधान धारा जिसका अन्य नाम वीरशैव है और मुख्यरूप से कर्णाटक प्रदेश में प्रचलित है। (३) अभेदप्रधान धारा जिसका एक नाम काश्मीर शैवागम भी है और मुख्य प्रचलनस्थान कश्मीर है। शिवाद्वयवाद के मूल ग्रन्थ ६४ भैरवागम है—

'चतुःषष्ट्या तन्त्रैः सकलमतिसन्धाय भुवनम्।' (सौ०ल० ३१)

नेत्रतन्त्र भैरवागम के इसी अद्वैत सिद्धान्त का उपबृंहण है। इसे त्रिक सम्प्रदाय भी कहते हैं क्योंकि यह नर शक्ति और शिव नामक तीन तत्त्वों को आधार बनाकर विवरण प्रस्तुत करता है। शिवाद्वयवाद के अनुसार परमशिव ही एक मात्र सर्वोच्च सत्ता है। यह समस्त उपाधि से रहित चित्स्वरूप है। जिस प्रकार सूर्य का ज्ञान उसकी रश्मियों के अभाव में सम्भव नहीं होता उसी प्रकार इस सत्ता का ज्ञान उसकी अनुग्रह रूपी शक्ति के बिना असम्भव है। इसीलिये शक्ति को शैवी मुख कहा गया है—

'शैवीमुखमिहोच्यते' (वि०भै० ३०) जो लोग दीक्षा ज्ञान आदि के द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध कर लेते हैं; अपने अन्दर प्रच्छन्न सर्वज्ञता तृप्ति आदि षाड्गुण्य का उन्मीलन करने वाली शक्ति का उद्भावन कर लेते हैं वे ही परमशिव के साथ अद्वयभाव प्राप्त करते हैं। यदि पूछा जाय कि यह शक्ति क्या है? तो उत्तर में कहा गया है—इन्द्रियसमूह का संयमन कर साधक परमात्मा के आद्य उन्मेषरूपिणी जिस अवस्था में स्थित होकर समस्त अतीत अनागत को जान लेता है वही शक्ति या प्रतिभा कही जाती है। यह प्रतिभा पातञ्जल योगसूत्र के प्रातिभ ज्ञान से श्रेष्ठ है। परमशिव की दो शक्तियाँ हैं—चित् और आनन्द। चित् उनकी अन्तरङ्गा शक्ति है और आनन्द बहिरङ्गा। उपर्युक्त प्रतिभा उसकी बहिरङ्गा शक्ति है। परमेश्वर के सर्वज्ञता तृप्ति आदि छः गुण शास्त्रों में वर्णित हैं। उक्त शक्ति की कृपा या सहायता से ये छः गुण साधक में विकसित हो जाते हैं और वह शिव के साभासरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसी क्रम

से आगे बढ़ने पर साधक शिव के निराभास स्वरूप में लीन हो जाता है । उस समय उसका 'मैं हूँ' 'कोई दूसरा है' 'यहाँ ध्यान के योग्य कोई वस्तु है' इत्यादि रूप समस्त ज्ञान मिट जाता है । उसका मन आनन्दपद में लीन शिवसामरस्य वाला हो जाता है । इस प्रकार एक पारमार्थिक तत्त्व जिसे नेत्रतन्त्र में 'अमृतेश' या 'मृत्युञ्जयभट्टारक' के नाम से अभिहित किया गया है, पृथिवी से लेकर अनाश्रित शिवपर्यन्त व्याप्त है । उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ शिवाद्वयवाद का समर्थक एवं पोषक है ।

नेत्र का स्वरूप—

नेत्र शब्द 'णीञ्' (नी) प्रापणे धातु से 'दाम्नीशसयु युजस्तुतुद-सिचमिहपतदशनहः करणे' (पा०सू० ३.२.१८२) से करण अर्थ में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय जोड़कर बना है । नीयते अनेन इति नेत्रम् । किन्तु यहाँ उपर्युक्त अर्थ को गौण कर नयनात् त्राणनात् नेत्रम् इस व्युत्पत्ति से 'नी' एवं 'त्रै' दो धातुओं से इस शब्द की निष्पत्ति मानी गयी है । इसका तात्पर्य यह है कि यह मोक्ष की ओर ले जाता है और दुःखों से त्राण करता है । एक तीसरी व्याख्या भी ग्रन्थ में की गयी है—

'नियन्त्रितानां बद्धानां त्राणं तन्नेत्रमुच्यते ।' (ने०तं० १।१२)

जो नियन्त्रित या बद्ध जीव का बन्धन से त्राण (= मोक्ष प्रदान करता है उसे नेत्र कहा जाता है)

इस नेत्रतत्त्व के अन्य नाम हैं—मृत्युजित्, अमृतेश, भैरव ।

'मृत्योरुत्तारयेद्यस्मान् मृत्युजित् तेन चोच्यते ।
अमृतत्त्वं ददात्येवममृतेश इति स्मृतः ॥' (ने०तं० १।१३)

उक्त श्लोकों के द्वारा उसके 'मृत्युजित्' एवं 'अमृतेश' नामों की सार्थकता बतलायी गयी है ।

'भरणात् प्रक्रियाण्डानां स भैरव इति स्मृतः' । (ने०तं० १।१३)

के द्वारा श्लोक में इसके 'भैरव' नाम का सार्थक्य प्रदर्शित है अर्थात् यह ब्रह्माण्ड प्राकृताण्ड मायाण्ड एवं शाक्ताण्ड का भरण करता है इसलिये उसे भैरव कहा गया है । इस प्रकार 'नेत्र' शब्द परमेश्वर अथवा स्वसंवेद्य शिव तत्त्व का वाचक है । यह शुद्ध व्यापक और सर्वतोमुख है । सभी प्राणियों की अन्तरात्मा में स्थित यह सबके अन्दर बल वीर्य और ओज का सञ्चार करता है । अत एव यह सबका जीवन है । अग्नि के साथ दाहकता, सूर्य के साथ किरणों के समान

इस नेत्र तत्त्व के साथ इसकी इच्छा शक्ति जुड़ी हुई है । सर्वज्ञता आदि गुण इसमें व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूपों में रहते हैं । यह इच्छा शक्ति ही आगे चलकर ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति का रूप धारण करती है । सर्वज्ञता आदि गुण क्रिया शक्ति में स्पष्ट भासित होते हैं । इच्छा ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ ही क्रमश: सूर्य सोम और अग्नि के तथा शिव के तीन नेत्रों के रूप में प्रसिद्ध हैं । भगवान् शिव काल काम आदि का दहन तथा जगत् का आप्यायन प्रकाशन करते हैं । ये समस्त आधिव्याधि को दूर करने वाले तथा दारिद्र्य के नाशक हैं । अमोघ, निर्मल, शान्त, करोड़ों सूर्यों और अग्नियों से अधिक तेजस्वी—ये सबके प्रकाशक हैं । ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और उनके ब्रह्मदण्ड, सुदर्शनचक्र तथा पाशुपत अस्त्रों के स्वरूप भी यही हैं । त्रिविध मलों से आच्छन्न अणुओं के उद्धारक ये छाया दोष, भूत-प्रेत आदि से भीत, मानसिक बाधाओं से ग्रस्त, पशुओं से पीड़ित की रक्षा करते हैं । साथ ही साथ ध्रुवपद अर्थात् मोक्ष के ज्ञाता भी यही हैं । ऐश्वर्य एवं उर्जा से ओत-प्रोत इस संसार के समस्त पदार्थ एवं जीव इस नेत्र तत्त्व के ही स्वरूप हैं ।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भैरवावतार भगवान् मृत्युञ्जय भट्टारक के ही दूसरे नाम नेत्र, मृत्युजित्, अमृतेश आदि हैं । इस स्वरूप को जानने और प्राप्त करने का उपाय इनका मन्त्र है । शास्त्रों में मन्त्र को देवता का शरीर माना गया है । मृत्युजित् भट्टारक का मन्त्र (= ॐ जूं (जुं) स:) सब मन्त्रों में श्रेष्ठ है । इसी कारण इसे मन्त्रराज कहा गया है । उपर्युक्त मन्त्र का वर्णन मन्त्रमहोदधि, रुद्रयामल तन्त्र आदि ग्रन्थों में मिलता है ।

तीन तत्त्व—

यद्यपि शिवाद्वयवाद में परमशिव ही एक मात्र मूल तत्त्व है तथापि उसी की स्फुरत्ता के रूप में तीन तत्त्वों की भी स्थिति स्वीकृत की गयी है । नर शक्ति और शिव के प्राधान्य के कारण इसे त्रिकदर्शन कहा जाता है ।

नर (आत्मा)— पूर्ण परमेश्वर अपनी इच्छा से अपने को माया से आवृत कर सङ्कुचित कर लेता है । फलस्वरूप माया के पाँच कञ्चुक—कला विद्या राग काल और नियति—इस परमेश्वर को आवृत कर इसे परतन्त्र, अल्पज्ञ, रागद्वेष-युक्त, अनित्य और नियमों से आबद्ध, बना देते हैं । तब वही परमेश्वर नर जीव अणु या आत्मा कहलाने लगता है । नेत्रतन्त्र के अनुसार पुरुष व्यापक, सूक्ष्म, निर्गुण, निष्क्रिय और अचल है किन्तु अनादि आणव मायीय और कार्म मलों से सम्बद्ध होने के कारण वह मलिन अस्वतन्त्र अल्पशक्तिमान् और अशुद्ध हो जाता है—(ने०तं० १९।१४५-४६) । इन पुरुषों की संख्या अनन्त है । मलिन

होने के कारण ये पुरुष सांसारिक भोगों में आसक्त रहते हैं । बहुत दिनों तक भोगों को भोगने के बाद परमेश्वर का अनुग्रह प्राप्त कर वे अपने मौलिक स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान करते हैं । जिन भोगों को जीव भोगते हैं वे भोग विकल्पात्मक संसार की देन है । निर्मल आत्मा भोगों में आसक्त नहीं होता किन्तु मलिन पुरुष इन्हीं मलों के कारण अपने को परतन्त्र आदि मानता हुआ संसार के मायाजाल में फँस जाता है । ऐसा पुरुष बद्ध जीव कहलाता है । बन्धन का कारण त्रिविध मल या पाश हैं । जिस प्रकार रेशम का कीड़ा अपने को वेष्टित तो कर लेता है पर उस कोश में से बाहर नहीं निकल पाता । बाहर आने के लिये उसे किसी अन्य का सहारा लेना पड़ता है उसी प्रकार यह जीव कार्मपाशों से अपने को वेष्टित तो स्वयं करता है परन्तु इस पाशजाल से बाहर आने के लिये उसे परमेश्वर की अनुग्रह शक्ति का आश्रयण करना पड़ता है ।

शक्ति—

परमेश्वर का स्वातन्त्र्य ही उसकी शक्ति है । यह उसका ऐश्वर्य है—

'चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥'
(ई०प्र० १।५।१३)

यह शक्ति अप्रमेय तथा आदिमध्यान्तहीन है । इसका देश और काल नहीं है—

'सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।' (ई०प्र० १।५।१४)

इसका ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है । सूर्य तथा उसकी किरणों अग्नि तथा उसकी ऊष्मा, के समान यह शक्ति शिव के साथ अविनाभावेन सम्बद्ध अर्थात् नित्य समवायिनी है । संसार की कारणभूता यह शक्ति एक होने पर भी अनेक रूपों में स्थित है । कार्य के भेद से यह इच्छा-ज्ञान-क्रिया रूपों वाली हो जाती है । (ने०तं० १९।१५७-१६०) शिव के सभी धर्मों से युक्त यह सदा अनुग्रहपरा रहती है । यह समस्त विश्व शिव का आभास है । दर्पण में दृश्यमान नगर की भाँति सम्पूर्ण विश्व की दर्पण स्थानीय आभासिका यही है । परमेश्वर के अन्दर मयूराण्डरसन्यायेन प्रच्छन्न सर्वज्ञता आदि छः गुण तथा विश्व इसी की महिमा से प्रकट होते हैं ।

व्यापिका तथा समवायिनी यह शक्ति जब इच्छा का रूप धारण करती है तब इसे अघोरा, ज्ञानरूपिणी होने पर घोरा तथा क्रियारूप धारण करने पर घोरघोरतरा कहा जाता है । इसका घोरघोरतररूप ही विश्व में अ क च ट त प य श नामक

८ वर्ग, अकारादि क्षकारान्त ५० वर्ण, स्फोट आदि ध्वनि तथा समस्त वाक् के रूप में प्रसृप्त होता है । प्रमाताओं में कर्तृत्व का कारण यह शक्ति ही है । इसके कारण ही शिव विश्वरूप में भासित होते हैं । इसके बिना शिव का स्पन्दन भी असम्भव है—

'शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभावितुं
न चेदेवं देवः न खलु शक्तः स्पन्दितुमपि ॥ (सौ०ल० १)

शिव—

नेत्रतन्त्र के प्रथम अष्टम नवम आदि अधिकारों में प्रकीर्ण रूप से शिव के स्वरूप का वर्णन मिलता है । वह शुद्ध व्यापक (१-२२) परम धाम, परम पद, परम अमृत, परम तेज (२।२५-२६) अनामय, व्यापक, शाश्वत, ध्रुव, सर्वगत (९।५-६) अनुपम, निराभास, सर्वावयवरहित, सर्वतोभद्र, सर्वज्ञता आदि छः गुणों से युक्त, अपने आनन्द से आनन्दित, निरानन्द, निर्विकल्प, निराधार, अद्वय, नित्योदित, निर्विकार, निर्मल, सर्वोपमानरहित, निरुपप्लव, सर्वभावरहित, सबका अन्तरात्मा, सबका प्रेरक तत्त्व है । इसके अतिरिक्त संसार में कुछ नही है । उसके अन्दर वर्तमान सर्वज्ञता आदि छः गुण ही उसको महेश्वरत्व प्रदान करते हैं । पूर्ववर्णित शक्ति इसी की समवायिनी है ।

त्रिविध शक्ति—

शक्ति की परिभाषा बतलाते हुए कहा गया—

'फलभेदादारोपितभेदः पदार्थात्मा शक्तिः ।' (ई०प्र०वि०)

शक्ति पदार्थ की आत्मा है । मूलतः वह एक है किन्तु फल के भेद से उसमें पृथक्त्व और नानात्व का आरोप होता है ।

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' (शि०सू० ३।३०) के द्वारा भी यही तथ्य सङ्केतित है कि परमात्मा की मूल शक्ति एक ही है । उपचारात् यह शिव से भिन्न मानी जाती है । यह संसार उसी का प्रचय है । इसे तीन प्रकार का माना गया है—वामा ज्येष्ठा और रौद्री । वामा के द्वारा संसार की सृष्टि होती है—'वामा संसारवमनात्' । इस वामा का दूसरा नाम क्रिया शक्ति है—'क्रियाशक्त्या तु सृजति ।' (ने०तं० २१।४३) इसी प्रकार ज्येष्ठा शक्ति के द्वारा संसार का रक्षण या पालन होता है । इसे ज्ञान शक्ति भी कहते हैं—'ज्ञानशक्त्या जगत् स्थितिम्' (ने०तं० २१।४३) रौद्री शक्ति की सहायता से परमेश्वर इस सृष्टि का संहार करता है—'संहारं रुद्रशक्त्या तु' (ने०तं० २१।४४) । ईश्वर के पञ्च कृत्यों में

से तीन कृत्यों को करने वाली तीन शक्तियों में से निग्रह कार्य वामा और अनुग्रह कार्य ज्येष्ठा शक्ति के द्वारा सम्पादित होता है—(ने०तं० २१।४४)। परमेश्वर की शक्ति का एक और वर्गीकरण है—उसकी इच्छा शक्ति सबसे पहले जब सूक्ष्मतम रूप धारण करती है तब उसका नाम 'उन्मना' होता है। उन्मना ही शिव है। प्रकाशरूपिणी यह शक्ति जब संसार का विमर्श कर सृष्ट्युन्मुखी होती है तब इसे 'समना' कहते हैं। यही काल अथवा पाश जाल की अन्तिम सीमा है। संसार की सम्पूर्ण लीला इसी 'समना' की महिमा है। उपर्युक्त दोनों शक्तियों के अतिरिक्त एक तीसरी शक्ति भी है जिसका नाम 'कुण्डला' है। क्षेमराज के अनुसार व्यापिनी की पूर्ववर्त्तिनी शक्ति का ही दूसरा नाम कुण्डला है। कुण्डला तक की सृष्टि शिवात्मक, बिन्दु या महामायापर्यन्त तत्त्व की सृष्टि शक्त्यात्मक और ओंकारगत मकार उकार अकार की सृष्टि आणवात्मक मानी गयी है—(ने०तं० २२।२१)। उपर्युक्त त्रिविध शक्तियों की अनेक कलायें हैं। तारा सुतारा आदि, ज्योत्स्ना ज्योत्स्नावती इत्यादि तथा रुन्धनी रोधिनी आदि के नामों से इनकी संख्या अनेक है।

त्रिविध योग—

अमृतेश भट्टारक की आराधना विधि का नाम योग है। यह तीन प्रकार का है—स्थूल सूक्ष्म और पर।

स्थूल योग—

इस ग्रन्थ के षष्ठ अधिकार में स्थूल योग का विस्तृत वर्णन है। याग होम जप ध्यान मुद्रा यन्त्र आदि स्थूल योग के रूप में परिगणित होते हैं। याग के सन्दर्भ में कहा गया है कि मिश्री एवं अन्य श्वेतपदार्थों के द्वारा पवित्र लकड़ी (= चन्दन पलाश आम इत्यादि) की अग्नि में मृत्युञ्जय मन्त्र से हवन करने पर अपमृत्यु एवं रोग की महाशान्ति होती है। नेत्रतन्त्र के अनुसार मृत्यु १०१ प्रकार की है जिनमें एक प्रकार की मृत्यु स्वाभाविक मृत्यु है और १०० प्रकार की मृत्यु अपमृत्यु है। इसी प्रकार जप आदि स्थूल उपायों को अपना कर रक्षा, शान्ति, पुष्टि, राजरक्षा आदि लक्ष्यों की प्राप्ति की जा सकती है। १५ से लेकर १९ अधिकार तक स्थूल योग के अनेक स्वरूप दृष्टिगत होते हैं। राई, गाय का दूध, तिल इत्यादि से हवन राक्षसों को दूर भगाता एवं राजपरिवार की रक्षा करता है। जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न मनोवाञ्छित फल देता है उसी प्रकार होम आदि से प्रसन्न मृत्युञ्जय महादेव अभीष्ट सिद्धि प्रदान करते हैं—(ने०तं० १९।२०६-२१७)। इस योग में मन्त्रों का उद्धार भी करणीय होता है। योगिनी आदि स्थूल शरीर में वर्त्तमान जीव के पुर्यष्टक वाले सूक्ष्मशरीर को प्रतिकृति,

मन्त्र, मुद्रा, पांशव विधि, ध्यानयोग, छुम्मक विधि आदि के द्वारा स्थूल शरीर से अलग कर देती हैं । स्थूल योग ही इससे बचने का उपाय है (ने०तं० २०।५८-६२) ।

सूक्ष्मयोग—

सूक्ष्म योग या सूक्ष्म ध्यान उसे कहा गया है जिससे स्थूल वस्तुओं का सहारा न लेकर केवल शरीर के संस्थान के ज्ञान के माध्यम से इष्टलाभ होता है । छ: चक्र, सोलह आधार, तीन लक्ष्य, पाँच व्योम, बारह ग्रन्थि, तीन धाम, तीन नाड़ी, दश नाड़ी बहत्तर हजार नाड़ी और साढ़े तीन करोड़ नाड़ी समूह वाले इस मलिन शरीर को सूक्ष्म ध्यान से जानने वाला योगी सर्वव्याधिविनिर्मुक्त होकर दिव्यदेह वाला हो जाता है । (ने०तं० ७।१-५)

छह चक्र—

नाड़ी माया, योग, भेदन, दीप्ति, और शान्त नामक छह चक्रों की चर्चा इस ग्रन्थ में है । (छ: चक्रों के स्थान-जन्मस्थान, नाभि, हृदय, तालु, बिन्दु और नाद हैं) तत्त्वचिन्तामणि एवं सौन्दर्यलहरी आदि ग्रन्थों में वर्णित मूलाधार आदि छ: चक्रों एवं उपर्युक्त छ: चक्रों के स्थानों में कोई विशेष अन्तर नहीं है । क्षेमराज ने छ: चक्रों के नाड़ी आदि नामों की सार्थकता का वर्णन नेत्र तन्त्र में किया है—

चक्र नाम		सार्थक्य का कारण
१. नाडी	—	समस्त नाड़ियों के प्रसार का प्रमुख कारण ।
२. माया	—	समस्त जागतिक प्रपञ्च का कारण तथा नाभिचक्र में संयम करने से काय-व्यूह के ज्ञान का कारण ।
३. योग	—	इस चक्र में स्थित योगी की चित्तैकाग्रता का कारण ।
४. भेदन	—	प्रयत्नपूर्वक इस चक्र का भेदन करने से आगे बढ़ने का कारण ।
५. दीप्ति	—	ज्योतिस्वरूप होने के कारण ।
६. शान्त	—	शान्तिप्रद होने के कारण ।

सोलह आधार—अंगुष्ठ, गुल्फ, जानु, मेढ्र (= जननेन्द्रिय), पायु, कन्द, नाड़ी, जठर, हृदय, कूर्मनाड़ी, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र, द्वादशान्त ।

(कुलप्रक्रिया के अनुसार सोलह आधार निम्नलिखित है—कुल, विष, अग्नि, घट, सर्वकाम, सञ्जीवनी, कूर्म, लाल, लम्भक, सौम्य, विद्याकमल, रौद्र, चिन्तामणि, तुर्याधार और नाड्याधार)

तीन लक्ष्य—बाह्य आभ्यन्तर और उभयात्मक ।

पाँच व्योम—जन्मस्थान, नाभि, हृदय, बिन्दु और नाद ।

बारह पाश (ग्रन्थि)—माया, पांशव, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, इन्धिका, दीपिका, वैन्दव, नाद और शक्ति ।

तीन शक्ति—इच्छा, ज्ञान और क्रिया ।

तीन धाम—सोम, सूर्य और अग्नि ।

तीन नाड़ियाँ—इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना ।

दश नाड़ियाँ—गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू, शंखिनी तथा इडा आदि तीन ।

दश वायु—प्राण अपान, समान, उदान, व्यान तथा नाग, कूर्म कृकर, देवदत्त, धनञ्जय ।

उपर्युक्त दश नाड़ियों के माध्यम से दश प्राण सम्पूर्ण शरीर में धावन करते रहते हैं । शरीर के अन्दर दशों दिशाओं में फैली ये दश नाड़ियाँ ही मुख्य हैं । इनकी शाखा प्रशाखा का विस्तार ७२००० तथा ३५०००००० है । ये नाड़ियाँ सम्पूर्ण स्थूल शरीर में व्याप्त हैं । यह शरीर आणव मायीय एवं कार्म नामक त्रिविध मलों से आवृत होने के कारण मलिन हो जाता है । इसकी मलिनता का अपसारण सूक्ष्मयोग के द्वारा ही सम्भव है ।

परमशिव के साथ अविनाभाव से सम्बद्ध शिवसमवायिनी चित्शक्ति को सुषुम्ना नाड़ी में स्थित उदानवायु से ऊपर उठाना योगी का पहला कर्त्तव्य है । नेत्रमन्त्र का जप करने वाला साधक मन्त्रवीर्य के प्रभाव से सबसे पहले जन्मस्थान अर्थात् मूलाधार में प्रतिष्ठित होता है । उसके बाद नादसूची की सहायता से वह १६ आधार और बाह्यग्रन्थियों का भेदन कर सुषुम्ना मार्ग से ध्रुवपद (= ऊर्ध्व द्वादशान्त) में पहुँच जाता है । यह स्थान नित्योदित पराशक्ति और परमशिव के निष्कलरूप का विश्राम-स्थल है । अपने हृदयकमल में इस स्वरूप का ध्यान करने से परानन्दस्वरूप अद्भुत रसायन का लाभ होता है । योगी को चाहिये कि वह इस रसायन को अपने सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हुआ ध्यान करे । सूक्ष्म योग की इस विधि से योगी अजर अमर होता हुआ साक्षात् मृत्युञ्जय भट्टारक

हो जाता है । क्षेमराज ने उपर्युक्त प्रक्रिया को कौलमार्गानुसारिणी बतलाया है ।

सप्तम अधिकार के १६वें श्लोक से आगे तन्त्रप्रक्रिया के परिप्रेक्ष्य में सूक्ष्म ध्यान का वर्णन किया गया है । इसके अनुसार साधक का प्रथम अनुष्ठान होता है चित्त को कन्दभूमि में स्पन्दशील प्राणशक्ति के साथ एकाकार करना । गर्दभी या बडवा की भाँति मत्तगन्धस्थान (= मलद्वार) के सङ्कोच-विकास के द्वारा प्राणशक्ति को अत्यन्त सूक्ष्म बनाकर योगी उसे ऊर्ध्वमुखी करे । प्राणशक्ति जब कन्दभूमि में जाग उठती है तब योगी खेचरी अवस्था को प्राप्त कर लेता है (ने०तं० ७।३२) । मन्त्रवीर्य से सम्पन्न साधक अपने ज्ञानशूल से छह चक्र सोलह आधार और बारह ग्रन्थियों का भेदन कर ऊर्ध्व द्वादशान्त धाम में प्रविष्ट हो जाता है । यहाँ परमशिव का साक्षात् कर साधक उनको समना पद में उतार देता है। योगी को चाहिये कि वह इस समना पद मे उतर कर आये परमशिव को विक्षुब्ध कर अपान के उल्लास की प्रतीक्षा करे । अपान का उल्लास (= चन्द्रोदय) होने पर उससे शुद्ध अमृत प्राप्त कर अपनी अन्तर्मुखी शक्ति को सुषुम्ना मार्ग से नीचे उतारे और उस शुद्ध अमृत से अपने सभी चक्रों का सिञ्चन करे । इस प्रक्रिया से वह अमृत साधक के रोम-राम तक पहुँच जाता है फलतः साधक परम शिव से अभिन्न हो जाता है ।

यह सूक्ष्म योग शक्तिमय ज्ञान है । इसकी प्राप्ति ज्ञानशक्ति (= शाक्तोपाय) से होती है । यह ज्ञानशक्ति अरावरावराविणी (= सहज अनाहत नाद) रूपा है। (ने०तं० २०।२२-२३) । सिद्ध और योगिनियाँ इसी ज्ञान के सहारे मल से आवृत अज्ञानी जीवों अर्थात् पशुओं को अभिभूत कर देती हैं । कभी-कभी ये उनके प्राणों का हरण भी करती हैं । क्षेमराज ने अपनी टीका उद्योत से एक श्लोक उद्धृत किया है—

'सञ्चारो वायुतत्त्वस्थो वायुतत्त्वं च बुद्धिगम् ।
अहङ्कारगताबुद्धिः स चित्तत्त्वं समाश्रितः ॥'

(ने०तं०उ० २०।२८)

(प्राण का सञ्चार वायुतत्त्व के सहारे होता है । वायुतत्त्व की स्थिति बुद्धि में, बुद्धि की स्थिति अहङ्कार में होती है और अहङ्कार चित्तत्त्व में ठहरा हुआ है)। इसे गोलक सिद्धान्त कहा जाता है । इस सिद्धान्त के अनुसार योगी यदि परकायप्रवेश करना चाहता है तो सबसे पहले वह उस परशरीर में अहंप्रतीति को दृढ़ करता है । १०० मात्रा कालपर्यन्त उस स्थिति में रहकर वह प्रतीति उस पर-पुरुष के प्राणों को क्षुब्ध कर देती है । तत्पश्चात् अपनी इन्द्रियशक्तियों के द्वारा उसकी इन्द्रियों को अपने अधीन बनाकर साध्य के पूरे स्थूल शरीर को अपने

स्पन्दन व्यापार से आवृत कर उसके सूक्ष्म शरीर को अपनी प्राण शक्ति से आवृत कर लेता है । इस प्रक्रिया से वह व्यक्ति पूरी तरह योगी के वश में हो जाता है । फलस्वरूप योगी जो चाहता है उस व्यक्ति से करा लेता है । योगिनियाँ इसी विधि से अज्ञ जीवों के प्राणों का अपहरण करती हैं । ऐसे प्राणियों की रक्षा का एक मात्र साधन सूक्ष्मयोग ही है । योगी को चाहिये कि वह कौलिक और तान्त्रिक विधि में से किसी एक प्रक्रिया के द्वारा अपनी शक्ति को उद्बुद्ध कर चक्र ग्रन्थि आदि का भेदन करता हुआ अभीष्ट प्राणी की रक्षा के उद्देश्य से उसको सभी दोषों से मुक्त करा दे ।

पर योग—

नेत्र तन्त्र में यम नियम आदि अष्टाङ्ग योग को ही परयोग कहा गया है किन्तु यह अष्टाङ्गयोग पातञ्जल अष्टाङ्गयोग से भिन्न है । इसका स्वरूप निम्नलिखित है—

यम—संसार से वैराग्य । नियम-परतत्त्व की नित्य भावना । आसन—प्राण और अपान के मध्यवर्त्ती उदानपथ से ऊपर उठती हुई प्राणशक्ति और संविद्रूपा ज्ञानशक्ति में स्वयं को प्रतिष्ठापित करना । प्राणायाम—प्राण अपान आदि से सम्पन्न होने वाले कुम्भक रेचक आदि स्थूल भेदों तथा सुषुम्ना में सम्पन्न होने वाले आन्तर प्राणायाम, दोनों को छोड़ देने पर सूक्ष्मातीत परासंवित् की स्फुरत्ता का अनुभव । प्रत्याहार—शब्द स्पर्श आदि विषयों और उनके सात्त्विक राजस आदि रूपों की विकल्पात्मक वृत्तियों से चित्त को हटाकर उस चित्त को शुद्ध संवित् में प्रतिष्ठित करना । ध्यान—बुद्धि के गुणों से ऊपर उठकर निष्कल, अव्यय, व्यापक, स्वसंवेद्य परम शिव का स्मरण । धारणा—अपने चैतन्यस्वरूप में समाविष्ट होकर अपनी चित्तवृत्ति को इसी शुद्ध विमर्श में स्थिर करना । समाधि—सभी प्राणियों में समता की दृष्टि । ऐसी दृष्टि तभी सम्भव है जब योगी 'अहन्ता' और 'इदन्ता' को एक कर शुद्ध विकल्पों के माध्यम से सबको शिवमय देखता है—

यत्र यत्र मनो याति ज्ञेयं तत्रैव चिन्तयेत् ।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः ॥ (स्व०तं०)

अष्टाङ्गयोग का अभ्यासी साधक शिवसमावेश प्राप्त कर कालजयी हो जाता है । वह ३६ तत्त्वों, सर्वाधोवर्त्ती कालाग्निभुवन से लेकर अनाश्रित भुवन तक २२४ भुवनों, ८१ पदों, ५० वर्णों, ईशान आदि की ३८ कलाओं से परे तथा आदि मध्यान्तहीन, प्रपञ्चातीत परम पद को प्राप्त कर लेता है । परयोग के लक्ष्यभूत सर्वात्मक, अनन्त, व्यापक, निर्मल, सभी प्राणियों की अन्तरात्मा में

रहने वाला, परात्पर, कारणों का भी कारण इस परमेश्वर में सभी योगिनियाँ नित्य समाविष्ट रहती हैं। (ने०तं० २०।११) परमशिव की स्वातन्त्र्यशक्ति में लीन ये योगिनियाँ इसकी इच्छा ज्ञान और क्रिया शक्ति से युक्त होकर याग और योग में संलिप्त रहती हैं। इस स्थिति में वे जिस पशु का प्रोक्षण करती हैं वह शिवस्वरूप हो जाता है। योगिनियों के इस आक्रमण से बचने के लिये यह आवश्यक है कि आचार्य मृत्युञ्जय भट्टारक के व्यापक मन्त्रमय स्वरूप से परिचित हो तभी वह अपनी शुभेच्छा से योगप्रक्रिया के द्वारा पशु के प्राणों की रक्षा कर सकता है। रक्षा के पहले योगिनियों के विषय में सब प्रकार की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। (ने०तं० २०।४१-४३)

मन्त्र एवं उनकी सिद्धि—

अब मृत्युञ्जयभट्टारक के जिस मन्त्रमय स्वरूप की ऊपर चर्चा की गयी उसके स्वरूप का निर्वचन प्रस्तुत है। कुछ मन्त्र शक्तिहीन, कीलित, वर्ण-मात्रारहित, गुरुपरम्परा या आगमपरम्परा से वर्जित, भ्रष्ट आम्नायवाले, विघ्नित आदि होते हैं। वे जप करने पर भी फल नहीं देते। इसके अतिरिक्त कुछ असिद्ध और रिपु मन्त्र भी होते हैं। इस प्रकार के जितने मन्त्र हैं सबके सब मृत्युजंय मन्त्र से सम्पुटित करने पर सजीव हो उठते हैं और अनायास फल देने लगते हैं। (ने०तं० ८।५९-६३)

मन्त्र चार प्रकार के होते हैं—बीजमन्त्र, पिण्डमन्त्र, मालामन्त्र तथा कूटमन्त्र। बीज मन्त्र परावाणी के, पिण्डमन्त्र पश्यन्ती के, माला मन्त्र मध्यमा के तथा कूटमन्त्र पश्यन्ती मध्यमा के वाचक माने जाते हैं (ने०तं० १६।७, ३३-३६)। शत्रुओं का समूह मन्त्रों में दश प्रकार के दोष उत्पन्न कर देता है। ये दोष हैं— कीलन, भेदन, मोहन, सन्त्रास, ताडन, जम्भन, स्तम्भन, रिपुत्वकरण, प्रत्यङ्गिरत्व और सर्वहानिविधायित्व। इन दोषों से बचने के लिये साधक को होम आदि अत्यन्त गुप्त रीति से करना चाहिये। यदि संयोगवश मन्त्र दूषित हो गये हों तो उनके दोषों के परिहार के लिये मन्त्रों का दीपन, बोधन, ताडन, अभिषेक, विमलीकरण, इन्धननिवेश, सन्तर्पण, गोपन और आप्यायन करना चाहिये (ने०तं० १८।६-८)। साधक के लिये यह भी आवश्यक है कि वह मन्त्रों के विनियोगों को जाने। इन विनियोगों के नाम हैं—सम्पुट, ग्रथित, ग्रस्त, समस्त, विदर्भित, आक्रान्त, आद्यन्त, गर्भस्थ, सर्वतोवृत, युक्तिविदर्भ और विदर्भग्रथित (ने०तं० १८।१९-१५)। मन्त्रों का एक भेदप्रकार और है—सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध और शत्रु (ने०तं० १८।१२)। इसके अतिरिक्त अन्यान्य भी तथ्य हैं जिनका ज्ञान होने पर साधक सिद्धिलाभ करता है।

आराधकों की रक्षा करने वाले मन्त्रों में भगवान् की ज्ञानशक्ति वीर्य का सञ्चार करती है । जब साधक का चित्त अपने आराध्य मन्त्र से सम्बद्ध बल वीर्य के अनुसन्धान में संलग्न होकर उसका अभ्यास करने लगता है तब उस साधक के चित्त का रजोमय एवं तमोमय अंश विगलित हो जाता है तथा शुद्ध सात्त्विक भाव का उदय होता है । ऐसी स्थिति में मन्त्र निर्मल होकर सिद्धि प्रदान करते हैं ।

विज्ञानभैरव में शक्ति को शिव का मुख कहा गया है—

'शैवीमुखमिहोच्यते ।' (वि०भै० २०)

मन्त्रशिव के मुख से निकले हैं अर्थात् अचिन्त्य शक्ति से सम्पन्न हैं । ऐसे मन्त्रों का साक्षात्कार करने वाला साधक इनकी सहायता से शान्तिक पौष्टिक आदि कृत्यों को कर सकता है, साथ ही साथ विष भूत ग्रह आदि से जनित बाधाओं को दूर भी कर सकता है (ने०तं० १६।७०-७३) । मन्त्रों की सृष्टि का प्रथम उद्देश्य भूत पिशाच आदि तथा क्रूर प्राणी आदि से जीवों की रक्षा करना है । जो इन मन्त्रों का मनन आदि करता है हिंस्र जन्तु उसके पास नहीं फटकते । एक बात ध्यान में रखनी चाहिये कि मन्त्रों की सहायता सर्वत्र लेना निषिद्ध है । यदि सहायता लेनी ही है । तो अनुग्रह दृष्टि रखते हुए अपने कुटुम्ब, राजपरिवार के विषय में मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये । क्योंकि परमेश्वर ने सात करोड़ अमोघ मन्त्रों तथा औषधि एवं क्रियायोग की रचना दुष्टों से रक्षा के लिये की है । अत: धन-सम्पत्ति या किसी प्रकार के लौकिक लाभ के लिये मन्त्रों का प्रयोग करने वाला नष्ट होकर नरक में जाता है ऐसी परमेश्वर की आज्ञा है । (ने०तं० २०।६७-७४)

प्रश्न है कि शिव शक्ति और नर के अतिरिक्त संसार में किसी और तत्त्व का अस्तित्व तन्त्र में स्वीकृत नहीं है, फिर ये मन्त्र क्या है? ये साकार हैं या निराकार? उत्तर में कहा गया कि मन्त्र तत्त्वत्रयात्मक हैं । मन्त्र के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया—

'मोचयन्ति च संसाराद् योजयन्ति परे शिवे ।
मननत्राणधर्मित्वात् तेन मन्त्रा इति स्मृताः ॥'

(ने०तं० २१।७५-७६)

मनन एवं त्राण धर्म वाले मन्त्रों का दो कार्य हैं—(१) संसार सागर से मुक्त कराकर परमशिव से युक्त करना । (२) मनन एवं आराधना करने वालों का संसार की भीतियों से त्राण करना । इनमें से पहला कृत्य परमेश्वर की

अनुग्रहशक्ति का व्यापार है । राजराजभट्टारक में कहा गया है कि मन्त्र सङ्कल्प की पूर्वकोटि में उठे हुए नाद के उल्लास हैं अत एव मन्त्रजप के साथ किया गया नादानुसन्धान ही वास्तविक मन्त्रजप है । इसीलिये सर्वज्ञानोत्तरतन्त्र में कहा गया कि ईख को चूसते समय उसका रस पेट में चला जाता है और खोई मुँह में रह जाती है अर्थात् उच्चरित मन्त्र ईख की खोई के समान निरर्थक होते हैं । जो साधक मन्त्रों की तत्त्वत्रयात्मकता को जानता है वह मन्त्र को वीर्यवान् बना सकता है । वीर्यसम्पन्न ही ये मन्त्र भोगमोक्षप्रद होते हैं । मन्त्रों की उदयास्तव्याप्ति के ज्ञाता के समक्ष ये मन्त्र नतमस्तक किङ्कर के समान कार्य करते हैं ।

नित्याषोडशिकार्णव की ऋजुविमर्शिनी व्याख्या में उत्तरषट्क के श्लोक को उद्धृत करते हुए कहा गया है—

स्पर्शनं चावलोकश्च सम्भाषा बिन्दुदर्शनम् ।
स्वयमावेशनं चैव मन्त्राणां पञ्चलक्षणम् ॥ (नि०षो०टी० ४।५५)

साधक को मन्त्रों का साक्षात्कार क्रमश: पाँच प्रकार से पाँच विभिन्न स्थानों में होता है इसके फलस्वरूप शरीर की स्थितियाँ भी भिन्न प्रकार की होती है—

प्रकार	स्थान	शारीरिक स्थिति
१. स्पर्शन	हृदय	कम्पन
२. अवलोकन	कण्ठ	स्पन्दन या गति
३. सम्भाषा (वार्त्ता)	(मुख)	आश्चर्य, विद्याओं और मन्त्रों का साक्षात्कार
४. बिन्दुदर्शन	भ्रूमध्य	अणिमा आदि अष्टसिद्धियों की उपलब्धि
५. स्वयमावेशन	सम्पूर्णशरीर	शरीर का मन्त्रमय होना

मन्त्र की देवता को मन्त्रचैतन्य कहा जाता है । मीमांसा शास्त्र के अनुसार मन्त्र देवता का शरीर होता है । स्वच्छन्द तन्त्र की टीका में क्षेमराज ने कहा है कि मन्त्र मणि के समान और उसकी देवता मणि की प्रभा के समान होते हैं (स्व०तं० २।१३९) । उत्तर षट्क में कहा गया कि मन्त्रोच्चार के समय देवता के सामने योनिमुद्रा का प्रदर्शन अवश्य करना चाहिये । इससे मन्त्रोंच्चारणगत दोषों का परिहार हो जाता है । गुरुपरम्परा और आगमपरम्परा से उपलब्ध मन्त्र

ही सिद्धिदायक होते हैं, पुस्तक आदि अन्य साधनों से उपलब्ध मन्त्रों का अनुष्ठान निरर्थक होता है ।

बन्ध (त्रिविध मल)—

त्रिकदर्शन या शैवतन्त्र के अनुसार अज्ञान ही बन्ध है—

'अज्ञानं बन्धः ।' (शि०सू० २)

यह अज्ञान ज्ञानाभाव नहीं है बल्कि मल का दूसरा नाम है—

'मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ।' (मा०वि०तं० १.२३)

'अज्ञान' शब्द का अर्थ है—अपूर्ण ज्ञान या अल्प ज्ञान । 'अज्ञान' शब्द में 'नञ्' का प्रयोग अल्प अर्थ में किया गया है । चूँकि अज्ञान के दो आश्रय होते हैं इसलिये अज्ञान भी दो प्रकार का होता है—पौरुष अज्ञान और बौद्ध अज्ञान । पौरुष अज्ञान का आश्रय पुरुष या जीव होता है जोकि अनादि काल से आणव आदि त्रिविध मलों से आवृत रहता है । मल ही जीव का अज्ञान है। अज्ञान का दूसरा आश्रय है—पुरुष की बुद्धि । पौरुष अज्ञान से प्रभावित जीव की बुद्धि ज्ञान-सङ्कोच का आश्रय बनकर तदनुसार ही अशुद्ध विकल्पों की रचना करती रहती है । वस्तुओं को शिव समझना शुद्धविकल्प और प्रमेय समझना अशुद्ध विकल्प है । इसी प्रकार शिव को प्रमेय समझना भी अशुद्ध विकल्प है। अशुद्ध विकल्पों की रचना करते रहना पुरुष के बौद्ध अज्ञान का फल है । यह बौद्ध अज्ञान लौकिक दृष्टि से ज्ञान कहा जाता है । यह कहने सुनने पढ़ने लिखने आदि के काम आता है । दोनों प्रकार के अज्ञान बन्धन हैं ।

परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्यवश अपने को सङ्कुचित कर स्वयं को अल्पज्ञ समझता है । यही उसका अज्ञान है । इसको मल कहते हैं । यह मल तीन प्रकार का है—आणव, मायीय और कार्म । आणव मल अनादि और अत्यन्त सूक्ष्म है । अभिलाषा अर्थात् सांसारिक विषयों के प्रति अनुराग के द्वारा इसका अनुमान किया जाता है—

'अभिलाषो मलोऽत्र तु'

इसी के कारण जीवात्मा भोगों के प्रति आकृष्ट होता है । प्रकारान्तर से अभिलाषा ही आणव मल है । ज्ञान और क्रिया नामक द्विविध सङ्कोच के कारण यह दो प्रकार का है—

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।

द्विधाऽऽणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥ (ई०प्र० २।२।५)

मायीय मल भेदज्ञान का दूसरा नाम है । संसार की सभी वस्तुयें या सब कुछ शिवमय है—'सर्वं शिवमयं यतः' । किन्तु यह मायीय मल है जिसके कारण 'अहम्' 'इदम्' रूप भेदज्ञान होता है—

'भिन्नवेद्यप्रथाऽत्रैव मायाख्यं...............।' (ई०प्र० २।२।५)

काल से लेकर पृथिवी तक के ३० तत्त्व मायीय मल के अन्तर्गत है । परमात्मा का सङ्कोच जब अधिक घनीभूत हो जाता है तब जीव अपने को अपने द्वारा किये गये कर्मों का कर्त्ता लगता है । फलतः उन कर्मों के संस्कार के रूप में वासनायें जीव में छायी रहती हैं । इन वासनाओं के कारण वह जीव बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्कर में पड़ता रहता है । इस प्रकार शिव को कर्त्ता न मानने से संकुचित कर्तृत्वाभिमान और कर्मवासना जीव का कार्ममल कहा जाता है—

'कर्त्तर्यबोधे कार्मं तु ।'

जीवात्मा का विशिष्ट देश विशिष्ट काल आदि में शरीर धारण अनादि काल से चले आ रहे कार्म मल के ही कारण होता है । सुख दुःख आदि के अनुभव का भी कारण यही कार्म मल है । यही बन्धन है ।

कृत्या छाया छिद्र आदि—

नेत्रतन्त्र का प्रणयन मुख्यतः सांसारिक दुःखों की निवृत्ति के उपायों को बतलाने के लिये हुआ है । आमुष्मिक फल की प्राप्ति के उपायों का वर्णन अल्पमात्रा में हुआ है । इसीलिये नेत्रतन्त्र के १८,१९,२० अधिकारों में कृत्या आदि का वर्णन किया गया है । शत्रु के नाश के लिये स्त्रीशरीर में प्रवेश करायी गयी वेताली का नाम कृत्या है । मृत्युकारक या उच्चाटनकारी यन्त्र को खाखोंद कहते हैं । प्राचीनकाल में स्वच्छन्द रूप महाभैरव की महिमा से भूत, योगिनियाँ, मातायें आदि उत्पन्न होकर उनकी आज्ञा से दैत्यों का वध और देवों की रक्षा करते थे । देवतागण के निर्भय हो जाने पर वे बलवान् भूत आदि स्वतन्त्र हो गये और देवता बालक स्त्री आदि का वध करने लगे । तब देवताओं द्वारा प्रार्थना किये जाने पर स्वच्छन्द भैरव ने उनको नष्ट करने के लिये करोड़ों मन्त्रों की अवतारणा की । इन मन्त्रों से भयभीत वे भूत आदि पुनः भगवान् शिव के पास गये और अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना की । परमेश्वर ने उनको आज्ञा दी कि अशास्त्रीय आचरण करने वाले निम्नकोटि के व्यक्तियों को बाधित कर वे अपनी इष्टसिद्धि कर सकते हैं । फलतः वे भूत पापी व्यभिचारी आदि पुरुषों, राजाओं, अशुद्ध स्त्री, बालकों आदि के शरीर पर निवास कर अपनी तृप्ति करते

हैं। नेत्रतन्त्र इन दुष्ट आत्माओं से रक्षा का विशद वर्णन करता है।

गुरु—

अन्धकार अर्थात् अज्ञान का निगरण करने वाला ही गुरु कहलाने के योग्य होता है। गुरु के अन्दर दो विशेषतायें होनी चाहिये—(१) वह स्वयं परमतत्त्व का ज्ञानी हो (२) दूसरे के अज्ञान को दूर करने की क्षमता रखता हो। यह क्षमता उस गुरु में तभी आती है जब वह तन्त्रसम्मत षडध्वा अर्थात् संसार के यथार्थरूप का ज्ञाता हो। अज्ञानी गुरु को शिष्य बनाने का अधिकार नहीं है। यदि वह ऐसा करता है तो स्वयं नष्ट होते हुए दूसरों को भी नष्ट करता है—'अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः'। ज्ञानी अर्थात् तत्त्ववेत्ता और अध्ववेत्ता गुरु शिवतुल्य होता है। परमेश्वर की क्रियाशक्ति के अनुग्रह से उसकी कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है फलतः वह परमशिव का साक्षात् कर षडध्वपतित पशुओं की पाशों से मुक्ति दिलाने में समर्थ होता है।

आचार्य के तीन प्रकार होते हैं—कर्मी योगी और ज्ञानी।

'कर्मी योगी तथा ज्ञानी आचार्यस्त्रिविधो मतः।'

(ने०तं० २०।६६)

यहाँ कर्म का अर्थ है—स्थूल और सूक्ष्म योग। लेकिन जो ज्ञानरूप, अवधूती अर्थात् कम्पन (= सन्देह) को दूर करने वाली उन्मना नामक पराशक्ति है वही उत्कृष्ट या परयोग है—

'उन्मना तु पराशक्तिः ज्ञानरूपावधूतिका।
सा क्रियेत्यभिधीयेत....................।।' (ने०तं० १६।७८)

तथा—

'तस्मादाचार्यमुख्यस्तु ज्ञानवान् सर्वदो भवेत्।' (ने०तं० २०।६८)

इसी कारण वह आचार्य शिवशक्ति के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है। ऐसा ही गुरु दीक्षा देने का अधिकारी होता है। उसके द्वारा प्रदत्त दीक्षा—

'क्षयं नयत्यसौ पाशान् ददात्येव परं पदम्।' (ने०तं० १६।७४)

के अनुसार शिष्य को परमपद में प्रतिष्ठित करती है। ऐसे शक्तिसम्पन्न गुरु के द्वारा किये गये शान्ति पौष्टिक आदि कर्म उत्तम फल देते हैं। दीक्षा देने वाले गुरु की जाति लिङ्ग आदि का विचार नहीं करना चाहिये। कोई भी तत्त्ववेत्ता मनुष्य गुरु हो सकता है। इसी प्रकार शिष्य भी यदि सत्पात्र है तो किसी भी

वर्ग का हो, दीक्ष्य होता है (ने०तं०उ० २२।७२)। ज्ञानी गुरु ही ऐसे शिष्य की परीक्षा कर सकता है। तत्त्ववित् और अध्ववित् गुरु ही सप्तसत्री का प्रवर्त्तक होता है—

'दीक्षा व्याख्या कृपा मैत्री शास्त्रचिन्ता शिवैकता।
अन्नादिदानमित्येतत् पालयेत् सप्तसत्रकम्॥'
(तं०आ० २३.२२)

ऐसे आचार्य के द्वारा प्रदत्त मन्त्र में अन्विन्त्य शक्ति विद्यमान रहती है। इसके कारण वह आचार्य मन्त्र देवता का साक्षात्कार कर लेता है और साक्षात् शिव हो जाता है। ऐसा ही आचार्य योजनिका दीक्षा के द्वारा शिष्य को परमपद में प्रतिष्ठित करने का अधिकारी होता है।

मोक्ष—

'मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि तत्।' (तं०आ० १।१५)

तन्त्रशास्त्र में मोक्ष का अर्थ है—अपने वास्तविक स्वरूप का विस्तार या बोध। त्रिविध मलों से आवृत होकर जीव अपने को रेशम के कीड़े की भाँति स्वयं बन्धन में डाल लेता है। ये बन्धन या मल अज्ञान-स्वरूप है। यह पहले कहा चुका है। अज्ञान के कारण पुरुष 'अहङ्कार' और 'ममकार' के बीच में फँसा हुआ अपने को कर्त्ता समझ कर भोक्ता भी समझता है और कोल्हू के बैल की तरह कर्मबन्धन में फँस कर जन्ममृत्यु के चक्कर में पड़कर घूमता रहता है। परमेश्वर की अनुग्रह शक्ति, जो कि परमेश्वर से उसी प्रकार अभिन्न है जैसे सूर्य से उसकी किरणें, का पात्र होने पर उसके अन्दर अकृत्रिम अहंविमर्श का उदय होता है। यह एक प्रकार की अव्यवहित अपरोक्षानुभूति है। जब इस प्रकार की अनुभूति होती है तब अपने वास्तविक स्वरूप का बोध होता है। यही मोक्ष है।

ईश्वर की निग्रह सृष्टि स्थिति संहार शक्तियों के द्वारा जीव का बन्धन होता है और अनुग्रहशक्ति के द्वारा मोक्ष। पहले जिस बौद्ध ज्ञान की चर्चा की गयी है उससे बौद्ध अज्ञान, जिसे वेदान्त में लौकिक अध्यास कहा जाता है, का नाश होता है। इसके लिये भी किसी उपदेष्टा की आवश्यकता होती है और यह भी एक प्रकार से लौकिक मोक्ष है। किन्तु बौद्ध ज्ञान अथवा अशुद्धविकल्पों का तिरस्कार शक्तिपात और उसके बाद होने वाली दीक्षा से होता है। इसके फलस्वरूप पौरुष अज्ञान नष्ट हो जाता है। सच पूछिये तो बौद्ध ज्ञान ही पौरुष अज्ञान है। यह पौरुष अज्ञान तब तक दूर नहीं होता जब तक त्रिविध मलों

को धोया न जाय । यह धुलाई गुरुकृपा अथवा शक्तिपात या अनुग्रह ही करती है । तर्क या बौद्धिक आतिशबाजी से यह मोक्ष मिलने वाला नहीं है—

'नैषा तर्केण मतिरापनेया ।' (क०उ०१।२।९)

तथा—

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।' (पु०सू० १८)

इसी तथ्य की ओर सङ्केत करते हैं । गुरु के द्वारा सिखाये गये रहस्यमय उपायों के अभ्यास से ये मल धीरे-धीरे शिथिल होकर शनैःशनै पूर्णतया धुल जाते हैं । मलों का अपसरण, अकृत्रिम अहंविमर्श का उदय, मोक्ष, अपरोक्षानुभूति एक ही बात है ।

*

(३)
नेत्रतन्त्र : संक्षिप्त परिचय

आगमशास्त्र शिवपार्वतीसंवाद रूप हैं । नेत्रतन्त्र इसका अपवाद नहीं । इस ग्रन्थ में २२ अधिकार हैं । यहाँ प्रत्येक अधिकार की विषयवस्तु का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है—

प्रथम अधिकार—

पार्वती ने नेत्र के विषय में प्रश्न किया कि भगवन् ! नेत्र तो जलमय होता है फिर उससे कालाग्नि कैसे उत्पन्न होती है? उत्तर में भगवान् का कथन है कि उनके नेत्रों में कालाग्नि और अमृत दोनों रहते हैं । इच्छा ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ ही सूर्य अग्नि और शिव के तीनों नेत्रों का रूप धारण करती हैं । परमेश्वर ही ब्रह्मा विष्णु और रुद्र के रूप में सृष्टि स्थिति और संहार करते रहते हैं । नेत्राग्नि से समस्त संसार भस्म हो जाता है और फिर उन ब्रह्मा आदि तीन के सामरस्य से यह संसार तृप्त किया जाता है । नेत्र ही मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। इसीलिये नेत्र का नाम मृत्युञ्जय या मृत्युजित् है । इस अमोघ मृत्युञ्जय मन्त्र की सहायता से साधक सब कुछ प्राप्त कर सकता है ।

द्वितीय अधिकार—

इस अधिकार में नेत्र का स्वरूप स्पष्ट किया गया है साथ ही मन्त्र (= ऊँ जूं जुं स:[१]) तथा योग और ज्ञान के द्वारा उस नेत्र मन्त्र के ज्ञान का वर्णन है। इस मन्त्र की आराधना से सभी प्रकार के कायिक वाचिक और मानसिक कष्ट दूर हो जाते हैं । मन्त्र के उद्धार की विधि बतलाते हुए इस अधिकार में मृत्युञ्जय मन्त्र के बीजाक्षर, उसके हृदय, शिर, शिखा, कवच; वौषट् और फट् अङ्गों का निरूपण प्रस्तुत है ।

तृतीय अधिकार—

इस अधिकार का विषय विशिष्ट याग है । इस याग के द्वारा मन्त्रों की सिद्धि होती है । साधक को चाहिये कि वह स्नान सन्ध्या आदि नित्य कर्मों से निवृत्त

१. इस मन्त्र के द्रष्टा ऋषि कहोल, छन्द देव्यादि गायत्री, देवता मृत्युञ्जय महादेव, शक्ति जूं और कीलक क्लीं है ।

होकर यागमण्डप में गणेश आदि की पूजा करें । तत्पश्चात् विघ्नों का अपसारण करते हुए प्राणायाम आदि के द्वारा अपने अन्त:करण को शुद्ध करे । इसके बाद अपने इष्टदेव का ध्यान करते हुए सौम्य रौद्र और भीम आकृतिवाले सदाशिव तुम्बुरु और भैरव का ध्यान, उनकी मानस पूजा और ब्रह्मपूजन करना चाहिये । तदनन्तर मण्डल में भगवान् का आवाहन, हवन आदि तथा कुण्डनिर्माण और उसका संस्कार, वागीशी का आवाहन, वह्निसंस्कार, स्रुक्, स्रुवा, पीठ वेदी के निर्माण की विधि इस अधिकार में बतलायी गयी है । अन्त में हवनीय घृत का संस्कार बतलाते हुए कतिपय काम्य होमों का वर्णन किया गया है ।

चतुर्थ अधिकार—

इसका विषय भोग-मोक्षप्रदायिनी दीक्षाविधि है । वर्ण मन्त्र पद कला तत्त्व और भुवन की दीक्षा का उल्लेख तथा दीक्षाविधि का संक्षिप्त परिचय देने के बाद दीक्षाविधि के विस्तृत परिचय को अन्यत्र अर्थात् स्वच्छन्द तन्त्र में देखने की बात कही गयी है ।

पञ्चम अधिकार—

यहाँ अभिषेक विधि की प्रस्तावना के बाद आठ, पाँच, तीन और एक कलश की स्थापना की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है । मन्त्रसाधन की विधि को बतलाते हुए मन्त्र के जप द्वारा अनेक सिद्धियाँ इस अधिकार का अवशिष्ट वर्ण्य विषय है ।

षष्ठ अधिकार—

इस अधिकार में भगवान् मृत्युञ्जय की आराधना के स्थूल सूक्ष्म और पर उपाय या योग का वर्णन है । इसके अतिरिक्त याग होम जप ध्यान मुद्रा आदि स्थूल उपायों की भी चर्चा की गयी है ।

सप्तम अधिकार—

सूक्ष्म उपायों के वर्णन में यहाँ छह चक्र, सोलह आधार, तीन लक्ष्य, पाँच व्योम, बारह ग्रन्थि, तीन शक्ति, तीन धाम, तीन नाड़ी, दश नाड़ी, बहत्तर हजार एवं साढ़े तीन करोड़ नाड़ियों की चर्चा की गयी है । इनका ज्ञाता साधक दिव्य देह को प्राप्त करता है । वह मृत्युञ्जयी हो जाता है । शक्ति का आरोहावरोहक्रम, खेचरी मुद्रा और शिव-शक्ति की सामरस्यमयी स्थिति को बतलाते हुए अन्त में कहा गया कि यह सूक्ष्म उपाय कालजयी है । इसके अनुसार जीवनयापन करने वाले योगी से मृत्यु बहुत दूर रहती है ।

ये चार उस यामल स्वरूप के द्वारपालक हैं । अन्त में विभिन्न प्रयोगों को दृष्टि से रखकर विभिन्न द्रव्यों के स्वरूपों का वर्णन किया गया है ।

एकादश अधिकार—

उत्तर तन्त्र (= वाममार्ग) के अनुसार भगवान् के तुम्बुरु स्वरूप की आराधना इस अधिकार का वर्ण्य विषय है । उनके ध्येयस्वरूप की चर्चा करने के बाद यह बतलाया गया कि उनकी चारों दिशाओं में जम्भिनी, मोहिनी, सुभगा और दुर्भगा नामक दूतियाँ, क्रोधन, वृन्तक, गजकर्ण और महाबल नामक किङ्करसमूह, दायें बायें क्रमशः गायत्री और सावित्री की स्थापना करनी चाहिये । जया विजया अजिता और अपराजिता नामक देवीकुल तथा उपर्युक्त दूती आदि के ध्यान का वर्णन करते हुए उनके वाहन, अस्त्र आदि की चर्चा भी कही गयी है । अन्त में रक्षा और शान्ति के लिये महाबली चक्रराज के विधान का वर्णन है ।

द्वादश अधिकार—

यहाँ कुलाम्नाय (= कौल) पद्धति से याग होम जप आदि का विधान बतलाने के बाद कमल के मध्य में भैरव और पूर्व आदि दिशाओं में ब्रह्मा आदि की ब्राह्मी आदि आठ देवियों का स्वरूप, आयुध, और आसन के साथ वर्णन किया गया है । इनकी आराधना से राजा सहित कृषक आदि सभी वर्ग के लोग इष्ट फल प्राप्त करते हैं । अधिकार के अन्त में काम्य होम के लिये विशिष्ट द्रव्यों का उल्लेख है ।

त्रयोदश अधिकार—

इसमें जयाख्यसंहिता की पद्धति से नारायण के स्वरूप तथा जया लक्ष्मी कीर्त्ति और माया नामक इनकी देवियों का विधान उल्लिखित है । उसके बाद सौर संहिता की रीति से सूर्य आदि का ध्यानपूजन वर्णित है । गारुड, भूततन्त्र आदि तथा न्याय जैन योग आदि सम्प्रदायों में वर्णित देवतायें तथा कार्त्तिकेय काम आदि सभी उपास्य देवता एक ही भगवान् के अनेक आकार हैं । इनकी पूजा सन्देहरहित होकर करनी चाहिये । यह सावधानी रखनी चाहिये कि पूजाविधि का साङ्कर्य न होने पाये । अधिकार के अन्त में कहा गया कि मृत्युञ्जय के एक बार के ध्यान पूजन आदि से सब प्रकार की सिद्धि हस्तगत होती है और राष्ट्र श्रीवृद्धि को प्राप्त करता है ।

चतुर्दश अधिकार—

इस अधिकार में यह प्रश्न उठाया गया कि यदि एक ही मन्त्र से सब सिद्ध

ये चार उस यामल स्वरूप के द्वारपालक हैं । अन्त में विभिन्न प्रयोगों को दृष्टि से रखकर विभिन्न द्रव्यों के स्वरूपों का वर्णन किया गया है ।

एकादश अधिकार—

उत्तर तन्त्र (= वाममार्ग) के अनुसार भगवान् के तुम्बुरु स्वरूप की आराधना इस अधिकार का वर्ण्य विषय है । उनके ध्येयस्वरूप की चर्चा करने के बाद यह बतलाया गया कि उनकी चारों दिशाओं में जम्भिनी, मोहिनी, सुभगा और दुर्भगा नामक दूतियाँ, क्रोधन, वृन्तक, गजकर्ण और महाबल नामक किङ्करसमूह, दायें बायें क्रमशः गायत्री और सावित्री की स्थापना करनी चाहिये । जया विजया अजिता और अपराजिता नामक देवीकुल तथा उपर्युक्त दूती आदि के ध्यान का वर्णन करते हुए उनके वाहन, अस्त्र आदि की चर्चा भी कही गयी है । अन्त में रक्षा और शान्ति के लिये महाबली चक्रराज के विधान का वर्णन है ।

द्वादश अधिकार—

यहाँ कुलाम्नाय (= कौल) पद्धति से याग होम जप आदि का विधान बतलाने के बाद कमल के मध्य में भैरव और पूर्व आदि दिशाओं में ब्रह्मा आदि की ब्राह्मी आदि आठ देवियों का स्वरूप, आयुध, और आसन के साथ वर्णन किया गया है । इनकी आराधना से राजा सहित कृषक आदि सभी वर्ग के लोग इष्ट फल प्राप्त करते हैं । अधिकार के अन्त में काम्य होम के लिये विशिष्ट द्रव्यों का उल्लेख है ।

त्रयोदश अधिकार—

इसमें जयाख्यसंहिता की पद्धति से नारायण के स्वरूप तथा जया लक्ष्मी कीर्त्ति और माया नामक इनकी देवियों का विधान उल्लिखित है । उसके बाद सौर संहिता की रीति से सूर्य आदि का ध्यानपूजन वर्णित है । गारुड, भूततन्त्र आदि तथा न्याय जैन योग आदि सम्प्रदायों में वर्णित देवतायें तथा कार्त्तिकेय काम आदि सभी उपास्य देवता एक ही भगवान् के अनेक आकार हैं । इनकी पूजा सन्देहरहित होकर करनी चाहिये । यह सावधानी रखनी चाहिये कि पूजाविधि का साङ्कर्य न होने पाये । अधिकार के अन्त में कहा गया कि मृत्युञ्जय के एक बार के ध्यान पूजन आदि से सब प्रकार की सिद्धि हस्तगत होती है और राष्ट्र श्रीवृद्धि को प्राप्त करता है ।

चतुर्दश अधिकार—

इस अधिकार में यह प्रश्न उठाया गया कि यदि एक ही मन्त्र से सब सिद्ध

हो जाता है तो शास्त्रान्तरीय मन्त्रों की क्या आवश्यकता है? उत्तर में कहा गया कि परमेश्वर ने सर्वप्रथम अपने को यामलरूप में रचित किया। तत्पश्चात् इसी यामल रूप से मन्त्रों की सृष्टि हुई। यह सम्पूर्ण सृष्टि मन्त्रनाथ का विलास है। सात करोड़ मन्त्र इस महामन्त्र के द्वारा आद्यन्त निरोधित हैं। जब ये समस्त मन्त्र मन्त्रराज से सम्पुटित होते हैं तब वीर्यवान् बनते हैं। यह रहस्य परम गोपनीय है।

पञ्चदश अधिकार—

रक्षोघ्न धूप की चर्चा से इस अधिकार का प्रारम्भ किया गया। रक्षोघ्न धूप का आधार-द्रव्य सरसो है। 'सर्षप' पद की व्युत्पत्ति बतलाते हुए इसके 'सिद्धार्थक' 'नीराजन' नामों की भी चर्चा की गयी है। यह सर्षप चतुर्युगानुरूप श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण भेद से चार प्रकार का होता है। वर्त्तमान में इसके पीत और रक्त रूप ही मिलते हैं। आगे कुछ काम्यप्रयोगों का वर्णन कर अन्त में मन्त्रराज के माहात्म्य का वर्णन करते हुए यह बतलाया गया कि मन्त्र सभी प्रकार की सिद्धियों को किस प्रकार देते हैं।

षोडश अधिकार—

कलिकाल में अनेक प्रकार के दुःखों से त्रस्त मानवों की मुक्तिहेतु सरल उपाय पूछे जाने पर यह बतलाया गया कि मृत्युञ्जय मन्त्रराज ही समस्त सङ्कटों का एकमात्र निवारक हैं। मृत्युञ्जय की यजनविधि को बतलाते हुए यागस्थान का वर्णन कर उसको गुप्त रखने का आदेश दिया गया है क्योंकि हिंसक लोग मन्त्र में दश प्रकार की बाधाएँ डालते हैं। वे बाधायें हैं—'मन्त्रों का कीलन, भेदन आदि। आगे चलकर ग्रन्थ में आचार्य या गुरु की विशेषताओं का वर्णन करते हुए यह कहा गया कि योग्य आचार्य द्वारा प्रदत्त मन्त्र ही भोग-मोक्षप्रद होते हैं। आचार्य तीन प्रकार के होते हैं—कर्मी, योगी और ज्ञानी। इनमें ज्ञानी गुरु सर्वश्रेष्ठ होता है। ऐसे गुरु के द्वारा दीक्षित शिष्य के समस्त पाप धुल जाते हैं और वह परमपद को प्राप्त होता है। निर्मल आचार्य के द्वारा प्रदत्त मन्त्र भी निर्मल होते हैं। फलतः वीर्यसम्पन्न वे मन्त्र इष्टसिद्धि प्रदान करते हैं। ऐसे ही मन्त्र शान्ति, पौष्टिक आदि कर्मों को सफल बनाते हैं। अन्त में अनेक काम्य प्रयोगों का वर्णन कर बताया गया कि शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह भक्तिभाव से अपने गुरु की पूजा करें।

सप्तदश अधिकार—

यहाँ चक्रराज के लेखन और पूजन की विधि बतलायी गयी है। इस

चक्रराज का प्रयोग सर्वविध रक्षा और पुष्टि आदि के लिये करना चाहिये । अन्त में कतिपय काम्य प्रयोगों का वर्णन किया गया है ।

अष्टादश अधिकार—

इस अधिकार में मन्त्रसिद्धि से सम्बद्ध बाधाओं, कृत्या, खाखोंद आदि के निवारण के सन्दर्भ में उपाय तथा प्रत्यङ्गिरा के प्रयोग के सम्बन्ध में देवी पार्वती के द्वारा प्रश्न किया गया है । उत्तर में भगवान् ने कहा कि मन्त्रवाद का सम्यक् ज्ञान कर सिद्ध किये गये मन्त्रों की सहायता से समस्त कार्य सम्पन्न होते हैं । मन्त्रों में शक्ति के आधान की विधियाँ निम्नलिखित रूप में बतलायी गयी है—

मन्त्र के ९ प्रकार — दीपन, बोधन, ताडन आदि ।

मन्त्र के ११ प्रयोग — सम्पुट, ग्रथित, ग्रस्त, समस्त आदि ।

मन्त्र के ४ भेद — सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध अरि ।

इसके अतिरिक्त मन्त्रों के उदय, अस्त, व्याप्ति, ध्यान, मुद्रा आदि के स्वरूप का ज्ञान करके ही मन्त्रों में शक्ति का आधान करना चाहिये । इसके बाद श्रीयाग के विधान का विस्तृत वर्णन है । इसमें चौकोर मण्डल आदि बनाने को कहा गया है । श्रीयाग की फलश्रुति का सविस्तर वर्णन करते हुए यह बतलाया गया कि युद्धकाल में इसका प्रयोग विजय दिलाता है और शत्रुओं के द्वारा उपस्थापित सभी बाधायें दूर हो जाती हैं । इसका अनुष्ठान अत्यन्त गोपनीय तथा अपनी श्रद्धा के अनुसार शैव वैष्णव आदि किसी भी पद्धति से किया जा सकता है । मोक्ष के लिये एकवीर पद्धति अर्थात् एकमात्र अमृतेश की उपासना अपनानी चाहिये । यह महालक्ष्मी याग चिन्तामणि रत्न के समान सर्वकामपरिपूरक है । भोगेच्छु के भोग की सिद्धि के लिये लक्ष्मीयाग का अलग प्रकार बतलाया गया है । प्रसङ्गवश यह कहा गया कि जैसे सभी नदियाँ समुद्र में पहुँच कर समरस हो जाती हैं उसी प्रकार पशु भी नाना भोगों का रसास्वादन कर अन्त में शिव के साथ समरस हो जाता है । अधिकार के अन्त में विषदान आदि के कारण घटित अपमृत्यु की शान्ति के लिये कतिपय आनुष्ठानिक प्रयोग वर्णित हैं ।

ऊनविंश अधिकार—

यहाँ देवी के द्वारा प्रश्न किया गया कि मातायें, योगिनियाँ आदि मनुष्यों स्त्रियों और विशेषतया बालकों को जो पीड़ित करती हैं तो उनसे रक्षा का उपाय क्या है? उत्तर में कहा गया कि दैत्यों ने जब देवताओं को सताना शुरु किया तब इन्द आदि देवताओं की प्रार्थना पर परमेश्वर ने स्वच्छन्द भैरव का रूप धारण कर राक्षसों के विनाश के लिये माताओं आदि की सृष्टि की । दैत्यों का नाश

करने के बाद भैरव से प्राप्त अजेय वरदान से उन्मत्त मातायें आदि स्थावर जङ्गमात्मक जगत् को पीड़ित करने लगीं। पुनः देवताओं आदि की प्रार्थना पर परमेश्वर ने माताओं आदि के कृत्यों के सम्पादनार्थ सीमा बाँध दी। जिस स्थान में अशास्त्रीय कृत्य सम्पादित किये जाते हों, अनेक प्रकार के अनाचार होते हों; जहाँ सन्ध्या-वन्दन आदि नित्यकर्मों से रहित द्विजाति के लोग रहते हों वहाँ पहुँच कर वे मातायें पीड़ा पहुँचा सकती हैं। परमेश्वर ने आगे बतलाया कि छायाछिद्र आदि से ग्रस्त होने पर उसका तुरन्त उपचार करना चाहिये। इस क्रम में मातृगण विनायक आदि की तुष्टि के लिये याग पूजन बलि आदि का विधान करना आवश्यक है। इस परिस्थिति में मृत्युञ्जय मन्त्र का अनुष्ठान श्रेयस्कर होता है। अनुष्ठान के समय सामान्य नियमों का पालन करते हुए अपने परिवार, राज्य के राजा आदि भिन्न-भिन्न वर्ग के लिये भिन्न-भिन्न विशिष्ट अनुष्ठान की चर्चा की गयी है। आगे चलकर इस अधिकार में अस्त्रयाग, नीराजन प्रयोगों को बतलाते हुए गो अश्व आदि की रक्षा तथा दुर्भिक्ष आदि उपद्रवों की शान्ति एवं राष्ट्र की श्रीवृद्धि के लिये अनेक उपायों का वर्णन किया गया है।

प्रश्न है कि यह किसकी रक्षा का विधान है? आत्मा की रक्षा का हो नहीं सकता क्योंकि वह नित्य है ? शरीर तो नश्वर ही है फिर उसकी रक्षा का प्रयास ही व्यर्थ है? उत्तर में कहा गया कि पुरुष यद्यपि सूक्ष्म निर्गुण नित्य है तथापि आणव मायीय और कार्म मलों से युक्त होने के कारण वह अशुद्ध हो गया है। इसीलिये वह पीड़ित होता है। अतः वह रक्षणीय है। आगे शिव की अनुग्रह शक्ति तथा उसके अनेक स्वरूपों का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि दीक्षा के द्वारा त्रिविध मलों का शोधन कर उसकी रक्षा की जा सकती है। इसी बीच यह भी बतलाया गया कि जीवरक्षा शरीररक्षा दोनों आवश्यक है। उक्त रक्षा-द्वय के अतिरिक्त आधार, बीज आदि आठ वस्तुओं की भी रक्षा अवश्य करणीय है। नेत्रनाथ के ऊपर सत्ययुग त्रेता आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जिस किसी भी समय अपनी-अपनी भावना के अनुरूप इस नेत्रनाथ का भजन करने से यह चिन्तामणि की भाँति अभीष्ट फल देता है। अतः सब लोगों को इस मन्त्र की उपासना करनी चाहिये।

विंश अधिकार—

पिछले अधिकार में योगिनी, माता आदि के द्वारा पशुओं के प्राणहरण की बात कही गयी। प्रश्न है कि किस प्रयोजन को दृष्टि में रखकर वे ऐसा करती हैं? उत्तर में ईश्वर ने कहा कि इस क्रूर कर्म में इनका कोई स्वार्थ नहीं है। वे मात्र मेरी आज्ञा का पालन करती हैं। उनका यह कृत्य राग या द्वेष के कारण

नहीं होता । यह ध्यान रखना चाहिये कि इस ब्रह्माण्ड में एक महायज्ञ निरन्तर चल रहा है । सृष्टि स्वयं एक यज्ञ है । इसमें भगवान् की आज्ञानुसार बलि दी जाती है । जिन पशुओं (= मनुष्यों) की बलि योगिनी आदि के द्वारा दी जाती है वे अनेक प्रकार के पाशों से मुक्त होकर ऊर्ध्व लोकों में पहुँच जाते हैं । योगिनी आदि का यह कृत्य त्रिविध योग-पर सूक्ष्म स्थूल-के द्वारा सम्पादित होता है । परयोग की प्रक्रिया से जिनका वध होता है वे मलत्रय से रहित होकर व्यापक शिव तत्त्व में विलीन होते हैं । उनका शरीर-धारण नहीं होता । इसी क्रम में यहाँ त्रिविध योग की व्याख्या की गयी है और कहा गया है कि इनमें से किसी भी एक योग से शरीरत्याग होने पर प्राणी का कल्याण ही होता है । मन्त्र का प्रयोग शास्त्रनिर्दिष्ट उचित स्थान में ही करना चाहिये । अनुचित स्थान में एवं लोभ क्रोध आदि के कारण प्रयोग करने वाला नरक में जाता है । इसलिये अत्यन्त सावधान होकर इसका प्रयोग करना चाहिये । इस मन्त्र का प्रयोग लोकमङ्गल के लिये ही करना चाहिये । मोक्षेच्छु साधक को चाहिये कि वह मन्त्रपद्धति का सहारा न ले । शाकिनी आदि हिंस्त्र जीवात्मायें अनेक उपायों से इस पाञ्चभौतिक शरीर का नाश करती हैं । स्थूल शरीर को स्थूल योग से और सूक्ष्म शरीर को सूक्ष्म योग के द्वारा मुक्त कराना चाहिये । आगे चल कर भगवान् ने मन्त्रों की रचना का उद्देश्य बतलाते हुए कहा कि इस विषय में अत्यन्त सावधान रहना चाहिये । मन्त्रों के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करते हुए अन्त में मृत्युञ्जय मन्त्र का माहात्म्य बतलाया गया है ।

एकविंश अधिकार—

प्रश्न है कि मन्त्र न शिवात्मक हो सकते हैं और न शक्त्यात्मक । वे आणवात्मक भी नहीं हो सकते । इन विकल्पों के अतिरिक्त कोई चौथा विकल्प है नहीं फिर मन्त्रों की अद्‌भुत शक्तिसम्पन्न कैसे कहा गया? उत्तर में शिव का वचन है कि शिव आदि तीन तत्त्वों के अतिरिक्त संसार में और कुछ है ही नहीं इसलिये मन्त्र त्रितत्त्वात्मक ही हैं । आगे चलकर इस जगत् की त्रितत्त्वात्मकता का विस्तृत वर्णन किया गया है । आपाततः शिव शक्ति और अणु ये तीन तत्त्व दृष्ट होते हैं किन्तु परमार्थतः एक ही तत्त्व है । शक्ति जगत् का उपादान कारण है और शिव निमित्त कारण । यह परा शक्ति सूर्य और उसकी उष्मा की भाँति शिव से अभिन्न है । शक्ति सानन्द है और शिव निरानन्द । इसी प्रकार उन दोनों में और भी अपारमार्थिक भेद हैं । मन्त्र भी चित्तत्त्वात्मक हैं । इसके बाद उन्मना समना आदि तथा नादरूपी शब्द ब्रह्म की अनेक अवस्थाओं का वर्णन करते हुए यह बतलाया गया कि मन्त्रों का स्वरूप शिवात्मक है । इनका शक्त्यात्मक रूप 'अ' से लेकर 'क्ष' तक ५० वर्णों वाली सूक्ष्मा मध्यमा वाक् है । इसी मध्यमा

से सारे मन्त्र उद्भूत होते हैं । इतना वर्णन करने के बाद इस अधिकार में अमृतेश, मृत्युञ्जय और भैरव पदों की निरुक्ति बतलाते हुए मन्त्रपद का निर्वचन किया गया है । मन्त्रों की शिवात्मकता आदि की पुन: पुष्टि करते हुए उनकी आणवात्मकता का निरूपण किया गया । अन्त में मन्त्रों की सिद्धि के उपायों— मन्त्र, ध्यान, मुद्रा, दीक्षा, मण्डल आदि का सविस्तर वर्णन प्रस्तुत है ।

द्वाविंश अधिकार—

यहाँ देवी ने प्रश्न किया कि परमेश्वर के ही द्वारा असंख्य मन्त्रों का उपदेश दिये जाने पर भी मृत्युञ्जय मन्त्र ही सर्वोत्तम क्यों माना गया? उत्तर में भगवान् ने नेत्रतन्त्रात्मक मृत्युञ्जय मन्त्र की उत्कृष्टता का कारण बतलाते हुए नेत्र पद की व्याख्या की और कहा कि नेत्र तत्त्व से ही समस्त मन्त्रों की उत्पत्ति होती है। इसी कारण मन्त्र भी अमोघशक्ति से सम्पन्न होते हैं । मन्त्रनाथ के अनेक अक्षरों की व्याप्ति का वर्णन करते हुए षडध्व, षट्कारण, प्रणव, कला आदि को बतलाकर लयावस्था साभास-निराभास अवस्था का वर्णन किया गया है । इसके बाद अकार से लेकर उन्मना पर्यन्त नादकलाओं, सद्योजात से लेकर ईशानपर्यन्त पञ्चवक्त्रकलाओं तथा इनके स्वरूप का वर्णन प्रस्तुत है । समनापर्यन्त पाशजाल का भेदन करने वाला ही शिवपद की प्राप्ति का अधिकारी है । शिव की निराभास दशा का ज्ञाता ही मन्त्रों के रहस्य को जान सकता है । मन्त्रों का उदय, उनकी व्याप्ति आदि को जो जानते हैं, मन्त्र उनके किङ्कर हो जाते हैं । उन ज्ञानी जनों के सामर्थ्य से वे मन्त्र भोग-मोक्षप्रद होते हैं । यह सब एक मात्र मृत्युञ्जय मन्त्र की आराधना से सम्भाव्य है । अधिकार के अन्त में नेत्रतन्त्र के अधिकारी और अनधिकारी पुरुषों का उल्लेख है ।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य नेत्रतत्त्व है । इसके अन्य नाम मृत्युजित् तथा अमृतेश भी हैं । इस नेत्रतत्त्व को जानने के तीन उपाय हैं—मन्त्र योग और ज्ञान । इनमें ज्ञानोपाय सर्वश्रेष्ठ हैं । इसके अनुसार आचरण करने वाला साधक या योगी ऐहिक और आमुष्मिक दोनों फलों को प्राप्त करता है ।

विषयानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका

ग्रहरक्षाविधानम्, रक्षातत्त्वनिर्णयः, त्रिविधो मलः, विकल्पमात्रः संसारः, मलत्रयोपेतः पशुः, शक्त्याऽवियुक्तः शिवः, कृत्यभेदेन शक्तेरघोरादयो भेदाः, रक्षा-दीक्षापद-निरुक्तिः, जीवरक्षादिकम्, भूतविनिर्णयः, अष्टविधा रक्षा, मृत्युजिन्माहात्म्यम् ।

विंशाधिकारे ४२४-४५२

योगिनीशाकिन्यादिविषयकः प्रश्नः, पशवः पतियागार्थं सृष्टाः, त्रिविधेन योगेन पशूनां योजनम्, परयोगेन दीक्षायाः शिवत्वमुपलभ्यते, मरणलक्षणम्, सूक्ष्म-योगेन पशूनां मोक्षणम्, स्थूलयोगेन पाशवपुरपातनम्, सिद्धमन्त्रो योगी परेषामपि मोचकः, उत्तमां सिद्धिं मोक्षं वेच्छता मन्त्रवादो न कर्त्तव्यः, जीवानां नृपत्या-दीनामनुग्रहार्थमेव मन्त्रवादः कार्यः, जगतां रक्षणाय परमेशेन मन्त्रौषधक्रियायोगा उपदिष्टाः, मृत्युजित् सर्वमन्त्रेश्वरः समाख्यातः ।

एकविंशाधिकारे ४५३-५०१

मन्त्राः किमात्मका इत्यादिकाः प्रश्नाः, तत्त्वत्रयं विना मन्त्रो वक्तुं न शक्यते, शिवात्मकाः शक्तिरूपा आण्वाश्च मन्त्राः, शक्तित्रयनिरूपणम्, मातृका-स्वरूपविमर्शः, शिवस्य पञ्चविधं कृत्यम्, शक्तिपञ्चकम्, त्रितत्त्वविमर्शः, षड्विधा चतुर्भेदा च सृष्टिः, निमित्तकारणं देवः शक्तिश्चोपादानकारणम्, अकामतः सर्वं चराचरं शक्तिसहचरितः शिवः सृजेत्, सर्वे मन्त्रास्त्रितत्त्वजा इति विषयोपसंहारः, उन्मना, समना, कुण्डला च शक्तिः, ध्वनिरूपः स्फोट एव नादः, निरोधिनी, बिन्दुरर्धचन्द्रश्च, मातृका, मृत्युजिद्भैरवपदयोर्निरुक्तिः, मननत्राणधर्माणो मन्त्राः, मन्त्राणां शिवशक्त्यात्मरूपत्वम्, मन्त्रो ध्यानं मुद्रा च, दीक्षामण्डलादिकमस्यैव प्रपञ्चः ।

द्वाविंशाधिकारे ५०२-५३८

मृत्युञ्जयमन्त्रस्य श्रेष्ठत्वविषयकः प्रश्नः, शिवस्वरूपनिरूपणम्, अस्मादेवा-मोघशक्तयो मन्त्राः समुत्पन्नाः, नेत्रमन्त्रनिर्वचनम्, मन्त्रनाथस्याक्षरव्याप्त्या श्रेष्ठत्वनिरूपणम्, कारणषट्कनिर्देशः, षट्त्यागात् सप्तमे लयः, प्रणवस्य सामयाः कलाः, निराभासमनुत्तमं परतत्त्वम्, कारणलयप्रकारः, सद्योजातादिकलानिरूपणम्, स्थूलाध्वनिरूपणम्, सूक्ष्माध्वनिरूपणम्, अर्धचन्द्र-निरोधिका-नाद-शक्ति-व्यापिनी-समनाकलाः, तत्त्वत्रयव्याप्तिः, आत्मभूता मन्त्राः, शक्तिस्था मन्त्रा भोगमोक्षप्रदाः, शिवीभूताः शिवप्रदाः, अमृतेशस्य मृत्युजिद्भैरवस्य माहात्म्यम्, साधकस्यामृतेशत्वा-वाप्तिः, पात्रापात्रनिर्णयः, फलश्रुतिः ।

संकेत-सूची

ने०तं०उ०	नेत्रतन्त्र उद्योत
प०त्री०श्लो०	परात्रींशिका श्लोक
पु०सू०	पुरुष सूक्त
ने०तं०	नेत्रतन्त्र
शि०दृ०	शिवदृष्टि
प्र०हृ०	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
ब्र०सू०	ब्रह्मसूत्र
ब्र०सू०शां०भा०	ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
वृ०उ०	वृहदारण्यक उपनिषद्
छा०उ०	छान्दोग्य उपनिषत्
मा०वि०वा०	मालिनीविजयवार्त्तिक
म०स्मृ०	मनुस्मृति
उ०स्तो०	उत्पल स्तोत्रावली
ष०त्रि०त०सं०	षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह
ई०प्र०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा
वरि०	वरिवस्यारहस्य
चि०वि०	चिद्विलास
ऋ०वे०सं०	ऋग्वेद संहिता
वि०भै०	विज्ञानभैरव
त्रि०ता०उ०	त्रिपुरातापिन्युपनिषत्
भै०या०तं०	भैरवयामलतन्त्र
भा०म०पु०	भागवत महापुराण
भ०गी०	भगवद्गीता
मा०च०वि०	मातृकाचक्र विवेक
पा०यो०सू०	पातञ्जलयोगसूत्र
सां०का०	सांख्यकारिका
सौ०ल०	सौन्दर्यलहरी
पा०सू०	पाणिनीसूत्र

महामाहेश्वरश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितम्

श्रीनेत्रतन्त्रम्

(मृत्युञ्जयभट्टारकः)

॥ श्रीः ॥

श्रीनेत्रतन्त्रम्

(मृत्युञ्जयभट्टारकः)

श्रीमत्क्षेमराजविरचितनेत्रोद्द्योताख्यव्याख्योपेतम्

तथा च

आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदिकृत'ज्ञानवती'भाषाटीकासहितम्

प्रथमोऽधिकारः

* नेत्रोद्योतः *

द्वारेशा नवरन्ध्रगा हृदयगो वास्तुर्गणेशो मनः
शब्दाद्या गुरवः समीरदशकं त्वाधारशक्त्यात्मकम् ।
चिद्देवोऽथ विमर्शशक्तिसहितः षाड्गुण्यमङ्गावलि-
र्लोकेशः करणानि यस्य महिमा तं नेत्रनाथं स्तुमः ॥ १ ॥

---

* ज्ञानवती *

यस्येच्छावशवर्त्ति विश्वमखिलं जन्मस्थितिध्वंसवद्
यश्चानादिरनन्तज्ञानकृतिमान् यश्चैषणायुक् सदा ।
यः सृष्टिस्थितिध्वंसकृत्यनिरतो यो निग्रहानुग्रही
'राधेश्याम' कृती प्रणौति चरणौ तस्येशितुः सादरम् ॥ १ ॥
वागीश्वरीं नमस्कृत्य गुरुं चैतन्यवर्णिनम् ।
क्रियते नेत्रतन्त्रस्य टीका 'ज्ञानवती' मया ॥ २ ॥

नवरन्ध्र (= २ आँख, २ कान, २ नाक, मुख, मल और मूत्रत्याग के स्थान) ये ही नवरन्ध्र = नवछिद्र, नवद्वार हैं । इन नवद्वारों के ईश = रक्षक, हृदय (रूपी गृह) में वर्त्तमान वास्तुदेवता, इन्द्रियगण के स्वामी मन, शब्द आदि (पाँचविषय) गुरुवर्ग, आधारशक्ति रूप दश वायु (= प्राण अपान समान उदान और

यन्मन्त्रावलिनायकं भवति यत् स्वं वीर्यमन्तर्बहि-
र्यन्त्राणां भविनां विभूतिकृदणौ यद्विश्वरक्षाकरम् ।
ज्योतिस्तत्परमं परामृतमयं विश्वात्म तुर्यं त्रिकं
नेत्रं पञ्चकसप्तकात्म शिवयोर्नौम्येकवीरं मृडम् ॥ २ ॥
योऽन्तर्विश्वं झटिति कलयन्नक्षचक्रेश्वरीभिः
स्वात्मैकात्म्यं गमयति निरानन्दधाराधिरूढेः ।
यः पूर्णत्वाद्बहिरपि तथैवोच्छलत्स्वात्मरूपो
बोधोल्लासो जयति स गुरुः कोऽप्यपूर्वो रहस्यः ॥ ३ ॥
सर्वाभासविकासि चिन्मयमहः स्वच्छस्वतन्त्रस्फुरद्
यद्द्वैतेन्धनदाहि यच्च परमाद्वैतामृतेनोच्छलत् ।

व्यान नामक प्रधान वायु + नाग कूर्म कृकर देवदत्त और धनञ्जय नामक उपवायु), विमर्शसहित चिद्देव (= प्रकाशस्वरूप शिव), षाड्गुण्य—

'सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञा आहुः षडङ्गानि महेश्वरस्य॥'

के अनुसार छह गुण रूपी अङ्गसमूह, लोकेश (= भुवनेश इत्यादि), करण (= इन्द्रियाँ), ये सब जिसकी महिमा (= ऐश्वर्य, विभूति) हैं उस नेत्रनाथ को हम नमस्कार करते हैं ॥ १ ॥

जो मन्त्रसमूह के नायक हैं, जो बाहर और भीतर अपना वीर्य है (अर्थात् बाहर भीतर वर्त्तमान सबकुछ जिनकी अपनी महिमा है), जो भवी (= संसारी) लोगों का त्राण (= रक्षक) हैं, जो अणुओं (= जीवों) को विभूति (= ऐश्वर्य) प्रदान करते हैं, जो विश्व की रक्षा करने वाले हैं, जो परमज्योति, परामृतमय, विश्वरूप, तुर्य (= तुरीय अवस्था) और त्रिक (= जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति अथवा सृष्टि स्थिति, सिद्धा, वामक अर्थात् वामकेश्वर और मालिनी तन्त्र) हैं ऐसे शिवशिवा के पाँच (= ईशान तत्पुरुष सद्योजात वामदेव और अघोर) रूप तथा सप्तक (= आयुर्वेद के अनुसार रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र) वाले हैं ऐसे एकवीर (एक = प्रधान या प्रथम या अकेला, वीर = इन्द्रियनिग्रही) मृड को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

जो अक्ष (= इन्द्रिय) चक्र की ईश्वरियों के द्वारा अपने ही अन्दर समस्त विश्व की झटिति रचना करते हैं, तत्पश्चात् निरानन्द (= शैवागम सम्मत निजानन्द, जगदानन्द आदि आनन्द के अनेक प्रकारों में से अन्यतम) की धारा पर अधिरूढ़ होने से अपने ही अन्दर उसे अन्तर्भूत कर लेते हैं, जो पूर्ण होने के कारण बाहर भी उसी प्रकार अपने रूप से उच्छलत्ता को प्राप्त होते हैं, ऐसे कोई अद्भुत, रहस्य स्वरूप एवं बोधोल्लासयुक्त गुरु (= परमेश्वर नेत्रनाथ) सबसे बढ़कर हैं ॥ ३ ॥

जो समस्त आभासों का विकास करने वाला है; चिन्मय तेजःस्वरूप, स्वच्छ,

द्वैताद्वैतदृगन्धकारहरणं धामत्रयैकात्मकं
शैवं नेत्रमनुग्रहाय जगतोऽमुत्रैदुद्योतते ॥ ४ ॥
अभिनवबोधादित्यद्युतिविकसितहृत्सरोजान्मे
रसयत सरसा: परिमलमसारसंसारवासनाशान्त्यै ॥ ५ ॥

इहानुजिघृक्षामना: परसंविद्देवीप्रबोधितोऽवतितारयिषितसर्वागमरहस्यैतच्छासनानुगुण्येन नमस्कार्यनमस्कारं कश्चित्तन्त्रावतारक आह—

त्रिधा तिसृष्ववस्थासु रूपमास्थाय शक्तिमान् ।
उद्भवस्थितिसंहारान् कृत्स्नविश्वस्य शक्तित: ॥ १ ॥
विधाता यो नमस्तस्मै शुद्धामृतमयात्मने ।
शिवाय ब्रह्मविष्ण्वीशपराय परमात्मने ॥ २ ॥

तस्मै शिवाय चिदानन्दघनश्रेयोरूपाय परमात्मने नमो देहप्राणादिमितात्मप्रह्वीभावेन तं समाविशामि । कीदृशे ?—ब्रह्मविष्ण्वीशेभ्यो ब्रह्माद्यनाश्रितान्तेभ्य: पराय प्रकृष्टाय एतत्पालनपूरणकर्त्रे च । ईशशब्द: सामान्येन रुद्रेश्वरसदाशिवानाश्रितान्तानाह । परत्वादेव शुद्धो महामाययाप्यकलुषोऽतश्चामृतमयो जगदानन्दात्मा

स्वतन्त्र, स्फुरणायुक्त है; जो द्वैतरूपी इन्धन का दाहक है; जो परमाद्वैतामृत से परिपूर्ण हैं; जो द्वैताद्वैतदृक् के अन्धकार का हरण करने वाला तथा तीनों तेजों (= सूर्य चन्द्र और अग्नि) का पुञ्ज है ऐसा शैव नेत्र संसार के ऊपर अनुग्रह करने के लिये प्रकाशमान है ॥ ४ ॥

हे सरस मनुष्य लोग ! असार संसार की वासना की शान्ति के लिये अभिनव (= नवीन अथवा अभिनवगुप्त के) बोध रूपी सूर्य के प्रकाश से विकसित मेरे हृदयकमल से नि:सृत परिमल का आस्वादन करें ॥ ५ ॥

यहाँ कोई तन्त्रावतारक अनुग्रह की इच्छा से पूर्ण मनवाला, परसंवित् देवी से प्रबोधित होकर अवतितारयिषित समस्त आगमों के रहस्यभूत इस शास्त्र के अनुकूल होने के कारण नमस्कार्य को नमस्कार करने के लिये कहते हैं—

तीन अवस्थाओं में तीन प्रकार का रूप धारण कर जो शक्तिमान् अपनी शक्ति से सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि, स्थिति और संहार को करने वाले हैं उस शुद्ध, अमृतमय ब्रह्मा विष्णु और ईश्वर की अपेक्षा प्रकृष्ट परमात्मा शिव को नमस्कार है ॥ १-२ ॥

उस शिव = चिदानन्दघन श्रेयोरूप, परमात्मा, को नमस्कार करता हूँ = देहप्राण आदि के द्वारा परिमित प्रमाता को अपकृष्ट समझते हुए उस (परमात्मा) में समाविष्ट हो रहा हूँ । वे परमात्मा कैसे हैं—ब्रह्मा, विष्णु, ईश्वर = ब्रह्मा से लेकर अनाश्रित शिव तक सबसे, पर = प्रकृष्ट तथा इनका पालन और पूरण करने वाले हैं । 'ईश' शब्द समान्यत: रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और अनाश्रित शिव तक को

आत्मा स्वभावो यस्य । ईदृगेव हि परमात्माग्रग्रन्थे वर्णयिष्यते—

'परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
चैतन्यमात्मनो रूपं सर्वशास्त्रेषु कथ्यते ॥' (८।२८) इति ।

कस्मै तस्मै ?—इत्याह—त्रिधेत्यादि । यः शक्तिमान् स्वतन्त्रः शक्तितः स्वातन्त्र्यशक्त्या तिसृषु बहिर्ब्रह्मप्रकृतिमायाण्डरूपासु अन्तर्हृदादिजागराद्यात्मिकासु तेनैवावस्थात्रा आभासितत्वादवस्थासु त्रिधा ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपं रूपमास्थाय गृहीत्वा मायान्तस्य कृत्स्नस्योद्भवस्थितिसंहारान् यथायोगं विधाता विदधाति तच्छीलः । तथा तिसृषु लयाधिकारभोगाख्यास्ववस्थासु त्रिधा अनाश्रितसदाशिवेश्वरात्मरूपमाश्रित्य शुद्धाध्वात्मनः कृत्स्नस्य विश्वस्य यथोचितं युगपदुद्भवादीन् विधाता । स्थितिसंहृतिविशेषात्मानौ विलयानुग्रहौ स्थितिसंहाराभ्यामेव स्वीकृतौ इति पञ्चकृत्यकृद् देवदेवः । एतद्व्याख्याद्वयानुरूपश्चाग्रिमो ग्रन्थः—

'सृष्टिं स्थितिं च संहारं त्रितनुर्विदधाम्यहम् ।' (१।३१)

इत्यस्ति । किं च, तिसृषु परापरापरापराभूमिषु त्रिधा क्रियाज्ञानेच्छाख्यारूपमास्थाय य उद्भवादीन् विधाता । यद्वक्ष्यति—

बतलाता है । वह परमात्मा पर होने से ही शुद्ध हैं अर्थात् महामाया के द्वारा भी कलुषित नहीं है । इसलिये अमृतमय है । जगदानन्दरूप उनका स्वभाव है । इसी प्रकार के परमात्मा का आगे के ग्रन्थ में वर्णन किया जायेगा ।

'परमात्मा का स्वरूप समस्त शास्त्रों में उपााधिरहित कहा गया है । चैतन्य ही आत्मा का रूप है । यह सब शास्त्रों में कहा गया है ।' (ने०तं० ८।२८)

(शिव सूत्र भी है—चैतन्यमात्मा १.१) । किस प्रकार के उस (परमात्मा) को—यह कहते हैं—त्रिधा इत्यादि । जो शक्तिमान् स्वतन्त्र होते हुये अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति के द्वारा, बाहर ब्रह्माण्ड, प्रकृत्यण्ड और मायाण्डरूप तथा अन्दर हृदय आदि में जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति वाली उसी अवस्थाता के द्वारा आभासित अवस्थाओं में ब्रह्मा विष्णु और रुद्र रूप को धारण कर मायापर्यन्त सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और संहार को यथायोग बनाने के स्वभाव वाले हैं । उसी प्रकार लय अधिकार और भोग नामक तीन अवस्थाओं में अनाश्रित शिव, सदाशिव और ईश्वर रूप धारण का शुद्धाध्वा वाले सम्पूर्ण विश्व का यथोचित् उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने वाले हैं । निग्रह और अनुग्रह स्थिति और संहार स्वरूप ही हैं । इस प्रकार देवाधिदेव पञ्चकृत्यकारी हैं । आगे का ग्रन्थ—

'मैं सृष्टि स्थिति और संहार रूप तीन शरीरों को धारण करता हूँ ।' (ने०तं० १.३१)

भी इन्हा दा व्याख्याओं के अनुरूप है । तथा अपरा परापरा और परा भूमियों में क्रिया ज्ञान इच्छा नामक तीन प्रकार के रूपों को धारण कर जो उत्पत्ति आदि

'एवं ममेच्छा ज्ञानाख्या क्रियाख्या शक्तिरुच्यते ।'
(१।२९) इति ।

'क्रियाशक्त्या तु सृजति ज्ञानशक्त्या जगत्स्थितिम् ।
संहारं रुद्रशक्त्या च ।' (२१।४३) इति ।

अपि च, परासु मेयमानमात्रात्मिकासु तिसृष्ववस्थासु नरशक्तिशिवभेदात्त्रिधा रूपमास्थाय कृत्स्नस्य विश्वस्योद्भवादीन् विधाता यः । यद् भविष्यति—

'एवमुक्तेन विधिना मन्त्राः सर्वे त्रितत्त्वतः ।
........................भवन्ति सर्वतः सर्वे ।' (२१।५७-५८)

इत्यादि । अपि च तिसृषूच्चारहवनविश्रान्त्यात्मिकास्ववस्थास्वक्षरभेदात् त्रिधा सान्तं रूपमास्थाय कालाग्न्यादेश्चरमकलान्तस्य कृत्स्नस्य विश्वस्योर्ध्वम्भवनचिदग्न्यन्तःकारप्रकाशानन्दसद्भावरूपानुद्भवादीन् यो विधाता । यदभिधास्यति—

'प्रणवः प्राणिनां प्राणः ।' (२२।१४)

इत्यादि 'पूर्णया' (२२।१७) इत्यन्तम् । अन्यच्च तिसृष्वन्तर्वा॰ क्षिण-मध्यभूमिषु बहिश्च निशादिनसन्ध्यारूपास्ववस्थासु त्रिधा नेत्रनाडीसञ्चारविशेषरूपं सोमसूर्यवह्न्यात्म च रूपमास्थाय कृत्स्नस्य विश्वस्य आप्यायप्रकाशदाहादिरूपान्

के विधाता हैं । जैसा कि कहेंगे—

'इस प्रकार मेरी इच्छा ज्ञान और क्रिया नामक शक्ति कही जाती है ।' (ने०तं० १।२९)

'क्रियाशक्ति सृष्टि करती है, ज्ञानशक्ति से जगत् की स्थिति होती है और रुद्रशक्ति के द्वारा संहार होता है ।' (ने०तं० २१।४३)

और भी—परा अर्थात् प्रमेय प्रमाण और प्रमाता रूप तीन अवस्थाओं में नर शक्ति और शिव इन तीन रूपों को धारण कर समस्त विश्व के उद्भव आदि का जो विधान करते हैं । जैसा कि आगे (कथन) होगा—

'इस प्रकार उक्त विधि के द्वारा सब मन्त्र तीन तत्त्वों से उत्पन्न है । ...... । सभी सर्वत्रगामी सर्वतः सर्वरूपी होते हैं ।' (ने०तं० २१.५७-५८)

इसके अतिरिक्त—उच्चार हवन और विश्रान्तिरूप अवस्थाओं में अक्षर के भेद से तीन प्रकार के शान्त रूप को धारण कर कालाग्नि से लेकर चरम कला पर्यन्त समस्त विश्व का ऊर्ध्वभवन, चिदग्न्यन्तःकार, प्रकाश, आनन्द सद्भावरूप, अनुद्भव आदि के विधाता है । जैसा कि—

'प्रणव प्राणियों का प्राण है ।' (ने०तं० २२।१४)

से लेकर 'पूर्ण पूर्णाहुति के द्वारा' (ने०तं० २२।१७) तक कहेंगे । इसके अतिरिक्त—आन्तरिक वाम दक्षिण मध्य भूमिकाओं तथा बाहर रात दिन एवं

उद्भवादीन् यो विधाता । यदादेक्ष्यति—

'सूर्याचन्द्रमसौ वह्निस्त्रिधामपरिकल्पना ।
त्रिनेत्रकल्पना मह्यं तदर्थमिह दृश्यते ॥
दहनाप्यायने तेन प्राकाश्यं विदधाम्यहम् ।' (१।३०-३१) इति ।

सूत्रेऽवस्थाशब्दो भावसाधनोऽधिकरणसाधनश्च यथायोगं योज्यः । एवं सत्पाठमिमदृष्ट्वा 'यस्त्रिधा तिसृष्ववस्थासु' इति 'विदधाति' इति च पठित्वा यत्तद्व्याकुर्वाणा उपहास्या एव ॥ २ ॥

एवमिष्टदेवतां नमस्कृत्य तन्त्रावतारक आयातिक्रममुपक्रमते वक्तुम्—

कैलासशिखरासीनं देवदेवं महेश्वरम् ।
क्रीडमानं गणैः सार्धं पार्वत्या सहितं हरम्॥ ३ ॥
दृष्ट्वा प्रमुदितं देवं प्राणिनां हितकाम्यया ।
उत्सङ्गादवतीर्याशु पादौ जग्राह पार्वती ॥ ४ ॥
पप्रच्छ परया भक्त्या संतोष्य परमेश्वरम् ।

महेश्वराख्यं देवानां ब्रह्मादीनां देवं प्रभुं देवं द्योतनादिसतत्त्वं सकलभेद-

---

सन्ध्यारूप तीन अवस्थाओं में नेत्र नाडी सञ्चार रूप तथा सोम सूर्य और वह्नि नामक तीन प्रकार का रूप धारण कर समस्त विश्व का आप्यायन प्रकाशन एवं दहन रूप उत्पत्ति आदि के विधाता है । जैसा कि कहेंगे—

'सूर्य चन्द्रमा और वह्नि इस प्रकार तीन तेजों की कल्पना मेरे लिये तीन नेत्रों की कल्पना है । उसका प्रयोजन यहाँ (तीन शक्तियों की अभिव्यक्ति है) इस कारण मैं दहन, आप्यायन और प्रकाशन का विधान करता हूँ ।' (ने०तं० १।३०-३१)

उपर्युक्त श्लोक में 'अवस्था' शब्द (अव उपसर्ग पूर्वक स्था धातु से) भाव और करण दोनों अर्थों में अङ् प्रत्यय लगाकर बनाया गया है (अवस्थानं अवस्था अथवा अवस्थीयतेऽनेन इति अवस्था)। उसे यथायोग जोड़ लेना चाहिये । इस प्रकार उस उचित पाठ को बिना देखे 'यः त्रिधा तिसृषु अवस्थासु' तथा 'विदधामि' के स्थान पर 'विदधाति' ऐसा पाठ मानकर जैसी-तैसी व्याख्या करने वाले उपहास के पात्र हैं ॥ २ ॥

इस प्रकार इष्टदेवता को नमस्कार कर तन्त्र के अवतारक आयातिक्रम को बतलाने का उपक्रम करते हैं—

पार्वती के सहित कैलास के शिखर पर बैठे हुए, गणों के साथ क्रीडा करते हुए देवाधिदेव महादेव को प्रसन्न देखकर प्राणियों के हित की इच्छा से पार्वती ने (शङ्कर की) गोद से उतर कर (उनका) पैर पकड़ लिया और परम भक्ति के द्वारा परमेश्वर को सन्तुष्ट कर पूछा ॥ ३-५- ॥

तिमिरहरत्वात् भोगमोक्षप्रापकत्वाच्च हरम् । उक्तं च—

'हरति पशुभ्यः पाशान् पुंसोऽप्यूर्ध्वं नयति यः स हरः ।'

इति । पार्वत्या सहितमित्युमापतिं कैलासवासिनं परमशिवमत एव बाह्यगणैः सह क्रीडन्तमपि वस्तुतो गणैः स्वमरीचिचयैः सह विश्वनिर्माणादिक्रीडां ताच्छील्येन विदधतम्, अतश्च स्वमरीचिचक्रविश्रान्तेः प्रकर्षेण मुदितं परमानन्दघनम्, अत एव च के शिरसि एला स्फुरन्ती शक्तिः, तस्यामास आसनं यस्य व्यापिनी-समनात्मनः शिखरस्यात्युच्चस्य धाम्नः, तत्रासीनमुन्मनापरतत्त्वस्फारमयं दृष्ट्वा निश्चित्य अवसरज्ञा देवी विनयाद् मरीचिचयमुत्सङ्गमुज्झित्वा आशु पादग्रहणपूर्वं परस्वरूपाराधनपरया भक्त्या संतोष्य प्राणवदनुजिघृक्षया पृष्टवती ॥ ४ ॥

यत् पप्रच्छ तद् दर्शयति—

श्रीदेवी उवाच

भगवन् देवदेवेश लोकनाथ जगत्पते ॥ ५ ॥
यत् त्वया महदाश्चर्यं कृतं विस्मयकारकम् ।

महेश्वर ब्रह्मा आदि देवताओं के भी देवता हैं । चूँकि वे द्योतन (= प्रकाशन, क्रीड़ा) स्वभाव वाले हैं इसलिये उन्हें देव कहा जाता है । इसी प्रकार चूँकि वे भेदरूपी अन्धकार का हरण करते हैं इसलिये वे हर हैं । कहा भी गया है—

'जो पशुओं से पाशों को छीन ले तथा पुरुषों को भी ऊर्ध्व स्तर पर ले जाय वह 'हर' है ।'

वे पार्वती के सहित हैं इसलिये उमापति हैं । वे कैलासवासी परमशिव यद्यपि बाह्यरूप से अपने गणों के साथ खेलते हैं । किन्तु वस्तुतः गण अर्थात् अपनी किरणों के समूह के साथ स्वभावतः विश्व के निर्माण आदि की क्रीड़ा करते रहते हैं। इस प्रकार अपने मरीचिचक्र की विश्रान्ति के कारण प्रमुदित—प्रकर्षेण मुदित अर्थात् आनन्दघन हैं । (कैलास शिखरासीन की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—) के = शिर के ऊपर, एला = स्फुरण करती हुयी शक्ति, उस पर, आस = आसन है जिसका अर्थात् व्यापिनी और समना रूप अत्यन्त उच्च स्थान, उसपर आसीन = उन्मना नामक परतत्त्व के स्फार से युक्त (शिव) को देखकर अवसर का ज्ञान रखने वाली देवी ने नम्रतापूर्वक मरीचिसमूहरूप गोद को छोड़कर शीघ्र पादग्रहण करती हुयी परस्वरूप की आराधनपरक भक्ति के द्वारा (परमेश्वर को) सन्तुष्ट कर प्राणियों के ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा से प्रश्न किया ॥ ४ ॥

जो पूछा उसको बतलाते हैं—

श्री देवी ने कहा—

भगवन् ! देवदेवेश ! लोकनाथ ! जगत्पते ! आपने संसार के लिये

सर्वस्य जगतो देव किन्तु मे परमेश्वर ॥ ६ ॥
दुर्विज्ञेयं दुरासादं रहस्यं न प्रकाशितम् ।
कार्तिकेयस्य च न मे न सुरेषु गणेषु वा ॥ ७ ॥
योगेश्वरीणां मातृणामृषीणां योगिनां नहि ।
तदद्य मे जगन्नाथ प्रसन्नोऽसि यदि प्रभो ॥ ८ ॥
प्रार्थयामि प्रपन्नाहं निःशेषं वक्तुमर्हसि ।

हे भगवन् ज्ञानैश्वर्याद्यतिशयशालिन् आराध्यदेवदेवानां ब्रह्मादीनामीश स्वामिन्, लोकानां नाथ स्वामिन्, समभिलषितसिद्धये लोकैः प्रार्थ्यमान, जगतो विश्वस्य पते पालक, देव क्रीडादिपर, परमेश्वर परमशिवमूर्ते, इत्यामन्त्रणानि सकलनिष्कलोभयस्वरूपामर्शनेन भगवतः सार्वात्म्यप्रथनपराणि भक्त्यतिशयद्योतनादात्मसंमुखीकाराय । त्वया यद् महदाश्चर्यं कृतं भाविविशेषपूर्वदर्शयिष्यमाणसंहाराप्यायकृन्नेत्रप्रकाशनरूपम्, तन्न ममैव, अपि तु सर्वस्य विस्मयकृत्, तच्च दुःखेन ज्ञायते निश्चीयते आसाद्यते प्राप्यते समाविश्यते च रहस्यं यतोऽतश्च नाद्यापि कस्यापि प्रकाशितम् । योगेश्वर्यो बाह्याः खेचर्याद्याः, मातरो ब्राह्म्याद्याः, ऋषयस्तीव्रतपसः, योगिनः षडङ्गादियोगेनेश्वराराधकाः । तदित्याश्चर्यम् । मे इति त्वद्भक्तिजुषः ।

जो विस्मयकारी महान् आश्चर्य किया उस दुर्विज्ञेय दुष्प्राप्य रहस्य को न मुझको न कार्त्तिकेय को न देवताओं, गणों, योगेश्वरियों, माताओं, ऋषियों योगियों तक को नहीं बताया । हे जगन्नाथ ! यदि आप मेरे ऊपर प्रसन्न हैं तो हे प्रभो ! मैं प्रपन्न होकर प्रार्थना करती हूँ । आप पूर्णतया उसे मुझको बतलाइये ॥ -५-९- ॥

हे भगवन् = अतिशय ज्ञान ऐश्वर्य आदि वाले ! आराध्यदेव, देवताओं = ब्रह्मा आदि के, ईश = स्वामी, लोकों के नाथ = स्वामी, इष्टसिद्धि के लिये लोगों के द्वारा प्रार्थ्यमान, जगत् = विश्व, के पति = पालक, देव = क्रीडा आदि में लगे हुये, परमेश्वर = परमशिवस्वरूप । उपर्युक्त समस्त सम्बोधन सकल निष्कल और उभयस्वरूप के विमर्श के द्वारा भगवान् की सर्वात्मकता के विस्तार को बतलाते हैं। इसके द्वारा अतिशय भक्ति का प्रकाशन कर (उन परमेश्वर का) आत्मसंमुखीकार होता है । आपने जो भाविविशेषपूर्वक पहले ही दिखलाये जाने वाले संहार और आप्यायन को बनाने वाले नेत्र का प्रकाशन कर दिया वह केवल मेरे लिये ही नहीं वरन् समस्त जगत् के लिये विस्मयकारी है । यतो हि वह रहस्य कष्ट के साथ ज्ञात = निश्चित, आसादित = प्राप्त और समाविष्ट होता है । इसलिये आजतक आपने उसे प्रकाशित नहीं किया । योगेश्वरियाँ = बाह्य खेचरी आदि । मातायें = ब्राह्मी आदि । ऋषि = तीव्रतपस्या वाले । योगी = षडङ्गयोग के द्वारा ईश्वर के आराधक । वह = आश्चर्य । मुझको = तुम्हारे प्रति भक्ति रखने वाली को, प्रसन्न = माया की मलिनता के शान्त होने से अन्दर ही अन्दर निर्मलता को प्राप्त ।

प्रसन्न इति मायाकालुष्यशान्त्यान्तर्नैर्मल्यं गतः । जगन्नाथेति वाक्यान्तरस्थत्वान्न पुनरुक्तम् । यतो जगन्नाथोऽसि, अतोऽहं प्रपन्ना त्वदाराधनैकपरा सती त्वां प्रार्थये, एतन्निःशेषं मे प्रपन्नाया वक्तुमर्हसि ॥ ८ ॥

अत्र तन्त्रावतारकः सङ्गतिं करोति—

एवं देव्या वचः श्रुत्वा प्रहासवदनोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥

प्रकृष्टो हासः परनाददशासमावेशोऽट्टहासो वदनेऽभिधाने यस्य—

'अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात् परमकारणात् ।
ध्वनिरूपं विनिष्क्रान्तं शास्त्रम्........... ॥'

इत्याम्नायेषूक्तत्वात् । अथ च प्रहाससात्त्विकभावोदयात् प्रफुल्लं वक्त्रं यस्य ॥ ९ ॥

किमब्रवीदित्याह—

श्रीभगवानुवाच

किं किं वदस्व सुश्रोणि रहस्यं ते हृदि स्थितम् ।
सर्वं वक्ष्याम्यसंदेहं तोषितोऽहं त्वयानघे ॥ १० ॥

जगन्नाथ—क्योंकि आप जगन्नाथ हैं इस कारण मैं प्रपन्न—तुम्हारी आराधना में तत्पर, तुमसे प्रार्थना करती हूँ । मुझ प्रपन्न को आप यह (रहस्य) पूर्णतया बतलाइये ॥ ८ ॥

यहाँ तन्त्र के अवतारक (ग्रन्थकार) सङ्गति बैठाते हैं—

देवी के इस प्रकार के वचन को सुनकर प्रहसितवदन (शङ्कर) ने कहा ॥ -९ ॥

प्रकृष्टहास = परनाददशा का समावेशरूपी अट्टहास, वदन = कथन, में है जिसके वह (अर्थात् शिव) । क्योंकि आम्नाय में कहा गया है—

'अदृष्टशरीर वाले परमकारणभूत शान्तशिव से ध्वनि के रूप में शास्त्र निःसृत हुआ ।'

अथवा प्रहास अर्थात् सात्त्विक भाव के उदय के कारण प्रफुल्ल वदन वाले ॥ ९ ॥

क्या कहा—वह कहते हैं—

भगवान् ने कहा—

हे सुन्दर नितम्बों वाली ! तुम्हारे हृदय में क्या-क्या रहस्य स्थित है बतलाओ । हे अनघे ! तुम्हारे द्वारा मैं सन्तुष्ट किया गया हूँ । इसलिये

यतोऽवसरज्ञतया परानुजिघृक्षाप्रवणतया च अहं त्वया तोषितः, अतः सर्वं रहस्यं निःसन्देहं ते वक्ष्यामि । किं किं ते हृदये स्थितं वदस्व इत्युक्त्या— विशेषप्रश्ने देवीं प्रोत्साहयति । अथ च यद्रहस्यं तत्ते हृदि स्वान्तरवस्थितं केवलमनुन्मीलितम् । 'वदसि' इति पाठे स्पष्टोऽर्थः ॥ १० ॥

एवं देवेन सामान्येन वक्तुं यत् प्रतिज्ञातं तद्दृढीकर्तुम्—

श्रीदेव्युवाच

भगवन् देवदेवेश चित्राश्चर्यप्रवर्तक ।
आश्चर्यमीदृशं रम्यं न श्रुतं तच्छृणोम्यहम् ॥ ११ ॥
विभो प्रसन्नवदन परमानन्दकारक ।
अमात्सर्येण भगवन् कथनीयं त्वया मम ॥ १२ ॥

ईदृशमिति हृत्स्थितं स्फुटीकरिष्यमाणं, न श्रुतमिति नाद्यापि निर्णीततत्त्वं तत् शृणोमि अधिजिगमिषामि ॥ १२ ॥

एतत् स्फुटयति—

यत्तदापोऽमयं देव चक्षुः सर्वत्र दृश्यते ।

सब कुछ निःसन्देह कहूँगा ॥ १० ॥

अवसर को जानने एवं परानुग्रह की इच्छा के कारण तुमने मुझे सन्तुष्ट किया है इसलिये निःसन्देह मैं समस्त रहस्यों को तुमको बतलाऊँगा । तुम्हारे हृदय में क्या-क्या स्थित है, बोलो—इस उक्ति के द्वारा (महादेव) विशेष प्रश्न के लिये देवी को प्रोत्साहित करते हैं । जो रहस्य है वह तुम्हारे हृदय में अनुद्घाटित है । 'वदस्व' की जगह 'वदसि' ऐसा पाठ मानने पर अर्थ स्पष्ट हो जाता है (उसकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं है) ॥ १० ॥

इस प्रकार परमेश्वर ने सामान्यतया कहने के लिये जो प्रतिज्ञा की उसको दृढ़ करने के लिये देवी ने कहा—

हे भगवन्! देवदेवेश! विचित्र आश्चर्यों के प्रवर्त्तक! इस प्रकार का सुन्दर आश्चर्य जो मैंने आज तक नहीं सुना था, सुनना चाह रही हूँ । हे व्यापक! प्रसन्नवदन! परमानन्दकारक! भगवन्! आप मात्सर्यरहित होकर मुझसे कहें ॥ ११-१२ ॥

ऐसा—जिसकी व्याख्या आगे की जायेगी ऐसा हृदय में स्थित नहीं सुना गया—आजतक जिसका तत्त्व निर्णीत नहीं हुआ उसे सुनती हूँ—जानना चाहती हूँ ॥ १२ ॥

उसको स्पष्ट करते हैं—

तस्मादग्निः कथं रौद्र उत्पन्नः कालदाहकः ॥ १३ ॥
येन वै दृष्टमात्रस्तु मित्रजो भस्मसात्कृतः ।
किं तद्रौद्रं कृतं देव वह्निकालदिधक्षया ॥ १४ ॥
प्रज्वालितं जगत्सर्वं ब्रह्मादिस्थावरान्तकम् ।
कामस्तथैव निर्दग्धो लीलया परमेश्वर ॥ १५ ॥
क्रोधनेत्रानलं नाथ दृश्यते यन्न कस्यचित् ।
कृतं यद् देवदेवेन महाविस्मयकारकम् ॥ १६ ॥
देव नेत्रान्तरे वह्निस्त्वदृते कस्य दृश्यते ।
किं वा वह्निमयं चक्षुस्तत्कथं न विभाव्यते ॥ १७ ॥
येन वै चक्षुषा कृत्स्नं प्रसरंश्च जगत्पते ।
सर्वामृतमयेनैव जगदाप्यायसे क्षणात् ॥ १८ ॥
मामानन्दयसे देव प्रसन्नेनैव चक्षुषा ।
अमृताकारवच्छुभ्रं जगदाप्यायकारकम् ॥ १९ ॥
तस्मात्कालानलप्रख्यः कुतो वह्निः प्रजायते ।
एतत्सर्वं समासेन भगवन् वक्तुमर्हसि ॥ २० ॥

यच्चक्षुरिति गोलकरूपं दृश्यते सर्वैरुपलभ्यते, तदाप इति सितरूप-बाहुल्यात् ।

हे देव ! यह जो अमय (= हिंसाविहीन) नेत्र सर्वत्र दिखलायी देता है वह जल है। उससे काल को जलाने वाला रौद्र अग्नि कैसे उत्पन्न हुआ ? जिसके द्वारा केवल देखे जाने मात्र से मित्रज (= सूर्य से उत्पन्न काल) जलाकर राख कर दिया गया । हे देव ! कालाग्नि को जलाने की इच्छा से उसने कौन सा रौद्र (कर्म) किया । ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त संसार जला दिया गया । हे परमेश्वर ! उसी प्रकार देखते-देखते काम जला दिया गया । हे नाथ ! जो नेत्रनिःसृत क्रोधाग्नि किसी को नहीं दिखलायी पड़ती जिस महाविस्मयकारक (कार्य) को आपने किया । हे देव तुम्हारे अतिरिक्त वह किसकी आँख में दिखायी पड़ती है । अथवा यदि चक्षु अग्निमय है तो वह प्रतीत क्यों नहीं होता । हे जगत्पते ! जिस अमृतमय चक्षु के द्वारा यह विस्तीर्ण जगत् एक क्षण में तृप्त कर दिया जाता है तथा जिस प्रसन्न चक्षु से आप हमें आनन्दित करते हैं और जो अमृत के आकार वाला शुभ्र तथा संसार को तृप्त करने वाला है उससे कालानल के समान अग्नि कैसे उत्पन्न हो गया—यह सब संक्षेप में मुझसे कहिये ॥ १३-२० ॥

चक्षु—गोलकरूप । दिखलायी पड़ता है—सब लोगों के द्वारा प्राप्त किया

'मम नेत्रोदकं देवि .... ।
दशधा निःसृता गङ्गा ।' (स्व० १०।१७४-१७५)

इति श्रीमत्स्वच्छन्दे देवेनाभिहितत्वाच्च अब्रूपम् । यद्यपि तार्किकैस्तेजोरूप-मनुमीयते चक्षुः, तथापि यद् दृश्यते तदुक्तहेतोरब्रूपमेव, अत एवामयं न विद्यते मयो हिंसा यतस्तस्मात् कालदाही कथमिति विरुद्धोऽग्निर्जातः । किं तद् रौद्रं कृतमिति कालकामादिदाहाय जगत्प्रदीपक त्वया एतत् स्वातन्त्र्यात् किं वा उत्थापितं यद् यस्मात् क्रोधावसरे न कस्यापीक्ष्यते तन्नूनं देवदेवेन सर्वेन्द्रियशक्ति-चक्रभासकेन भूष्णुना एतदीदृक् कृतम् । तच्च त्वामृतेऽन्यत्रादृश्यमानत्वाद् महदाश्चर्यकृत् । किं वेति—कालदाहादिकार्यानुगुण्याद् अन्यैस्तथाभ्युपगमाच्च यदि वाह्नं चक्षुः, तत् कथमन्यप्रकाशहेतुदीपादिवन्न दृश्यते, मा वा तथा दर्शि, कथं त्वनेन वाह्नेन त्वं प्रसरन् जगदाप्यायसे मामानन्दयसि च अमृताकारः । तदिति—तदेतस्माद् कारणात् तर्हि अमृतोदयहेतोरेतत् कथम्, कथं च अमृतमयादस्मात् कालकामादिदाही कालाग्निकल्पो जातः, इत्येतद्विरुद्धमाभासमानं समर्थयस्व परमेश्वरेति ॥ २० ॥

जाता है । वह जलमय—श्वेतरूप की बहुलता के कारण ।

'हे देवि (यह गङ्गा) मेरे नेत्रों का जल है ।'

'दशों अंगुलियों से गङ्गा दश प्रकार से निकली ।' (स्व० तं० १०। १७४-१७५)

ऐसा स्वच्छन्दतन्त्र में महादेव के द्वारा उक्त होने से वह नेत्र जल रूप है । यद्यपि नैयायिकों के द्वारा चक्षु का तेजोरूप में अनुमान किया जाता है तथापि जो दिखलायी पड़ता है वह उक्त कारण (= गङ्गा का उपादान कारण होवे) से जलरूप है । इसीलिये वह अमय = नहीं है मय = हिंसा जिससे, वह । उससे (जल के स्वभाव के) विरुद्ध कालदाही अग्नि कैसे उत्पन्न हुआ । वह कौन सा रौद्र किया गया—हे जगत्-प्रदीपक ! काल काम आदि के दाह के लिये आपने स्वातन्त्र्यवश (= नेत्र को) इसको उठाया जो जिस कारण क्रोध के समय किसी को नहीं दिखाई पड़ता वह निश्चित रूप से देवदेव = समस्त इन्द्रियचक्र के आभासक, भूष्णु आपके द्वारा किया गया । वह आपके अतिरिक्त अन्यत्र दृश्यमान न होने से महा आश्चर्यकारी है । अथवा—कालदाह आदि के कारण तथा दूसरों के द्वारा वैसा मानने के कारण यदि चक्षुरिन्द्रिय अग्नि से उत्पन्न है तो वह दीप आदि दूसरे प्रकाश के कारणों की भाँति क्यों नहीं दिखलाई पड़ती । अथवा मत दिखलायी पड़े, आप इस अग्निजात चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा विस्तृत जगत् को तथा मुझको अमृताकार बनकर तृप्त और आनन्दित कैसे करते हैं । तो—इस कारण यह कैसे होता है । अमृतमय इससे काल काम आदि को जलाने वाला कालाग्नि कैसे उत्पन्न हुआ । इस प्रतिकूल प्रतिभासमान तथ्य की सङ्गति बैठाइये ॥ २० ॥

देव्या पृष्टः—

श्रीभगवानुवाच

अतिकौतूहलाविष्टा पृच्छस्येतच्छृणु प्रिये ।

शृणु इत्युक्त्या देवीमभिमुखीकृत्य विशेषनिश्चयं कर्तुं प्रतिजानीते—

यन्मे नेत्रान्तरे वह्निर्यद्वामृतमनुत्तमम् ॥ २१ ॥
तत्सर्वं कथयिष्यामि योगयुक्त्या शृणु प्रिये ।

मन्नेत्रान्तर्वह्न्यमृतद्वयं यदनुत्तमं रहस्यमिति प्रागुक्तम्, अतश्च पाशानां कालादेश्च दाहकं परधामावेशात्म जगदाप्यायकृद् यद् योगयुक्त्या, पराद्वय-स्फारानुप्रवेशेन कथयिष्यामि त्वं च तथैव शृणु अन्तर्विमृश । तदेतदादिवाक्यम् । अत्र परवह्न्यमृतात्मनेत्ररहस्यमभिधेयम् । तस्य अनुत्तममिति विशेषणेन भोगमोक्षाख्यं प्रयोजनं प्रत्युपायत्वं सूचितम् । परादिरदिव्यान्तः षोढा संबन्धः प्रसिद्ध एव ॥ २१ ॥

देवी के द्वारा पूछे गये

श्री भगवान् ने कहा—

हे प्रिये ! यदि अत्यन्त कौतूहल से आविष्ट होकर पूछ रहीं हो तो इसको सुनो ॥ २१- ॥

'श्रृणु' इस कथन से देवी को अभिमुख कर विशेष निश्चय करने की प्रतिज्ञा करते हैं—

हे प्रिये ! मेरे नेत्र के अन्दर जो वह्नि है अथवा जो उत्तम अमृत है उस सब को मैं योगयुक्ति से कह रहा हूँ तुम (योगयुक्ति से) सुनो ॥ -२१-२२- ॥

मेरे नेत्र के भीतर वह्नि और अमृतरूप जो अनुत्तम रहस्य है वह पहले कहा गया । इसलिये पाशों और काल आदि का दाहक होते हुए परधाम में आवेशरूप जो जगत् का आनन्ददायक है उसे योगयुक्ति = पराद्वयस्फार के अनुप्रवेश, के द्वारा कहूँगा और तुम उसी प्रकार (= पराद्वय स्फार के अनुप्रवेश के साथ), सुनो = अन्दर (उसका) विमर्श करो । यह आदि वाक्य है । यहाँ परवह्नि और अमृतरूप नेत्र का रहस्य अभिधेय (= विषय) है । अनुत्तम—इस विशेषण के द्वारा भोग मोक्ष रूप प्रयोजन के प्रति वह (= रहस्य) उपाय है—यह सूचित किया गया । पर से लेकर अदिव्य (= अपर) तक छह प्रकार का सम्बन्ध[1] प्रसिद्ध ही है ॥ २१ ॥

---

१. शैवागम की परम्परा में छह सम्बन्ध प्रसिद्ध हैं । ये हैं—पर, महान्, दिव्य, दिव्यादिव्य, अदिव्य और अन्तराल । इनमें से शिव और शक्ति का सम्बन्ध दिव्य है ।

नेत्रतत्त्वाभिधायित्वाद् नेत्रमित्यस्य नाम प्रतिज्ञातं स्फुटयति—

यत्स्वरूपं निजं शुद्धं व्यापकं सर्वतोमुखम् ॥ २२ ॥
सर्वभूतान्तरावस्थं सर्वप्राणिषु जीवनम् ।
योगगम्यं दुरासादं दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ २३ ॥
स्वं स्ववीर्यं स्वसंवेद्यं ममैव परमं पदम् ।
तद्वीर्यं सर्ववीर्याणां तद्वै बलवतां बलम् ॥ २४ ॥
तदोजश्चौजसां सर्वं शाश्वतं ह्यचलं ध्रुवम् ।
सा ममेच्छा परा शक्तिः शक्तियुक्ता स्वभावजा॥ २५ ॥
वह्नेरूष्मेव विज्ञेया रश्मिरूपा रवेरिव ।
सर्वस्य जगतो वापि स्वा शक्तिः कारणात्मिका ॥ २६ ॥
सर्वज्ञादिगुणास्तत्र व्यक्ताव्यक्ताश्च संस्थिताः ।
सैवेच्छा ज्ञानरूपा च क्रियादिगुणविस्तृता ॥ २७ ॥
ज्ञानादिषड्गुणा ये ते तत्रस्थाः प्रभवन्ति हि ।
सा वै महाक्रियारूपा संस्थितैका क्रिया मता ॥ २८ ॥
अणिमादिगुणानष्टौ करोति विकरोति सा ।
एवं ममेच्छा ज्ञानाख्या क्रियाख्या शक्तिरुच्यते ॥ २९ ॥
सूर्याचन्द्रमसौ वह्निस्त्रिधामपरिकल्पना।
त्रिनेत्रकल्पना मह्यं तदर्थमिह दृश्यते ॥ ३० ॥

नेत्रतत्त्व का अभिधायक होने से इसके नेत्र नाम, जिसकी प्रतिज्ञा पहले कर चुके हैं, को स्पष्ट करते हैं—

जो शुद्ध, व्यापक, सर्वतोमुखी, समस्तप्राणियों के अन्दर रहने वाला, समस्त प्राणियों का जीवन, योगगम्य, पापियों के द्वारा दुष्प्राप्य, स्व, स्ववीर्य, मेरा परमपद मेरा स्वरूप है, वह समस्तवीर्यों का वीर्य और बलवानों का बल है । वह समस्त ओजों का ओज, शाश्वत अचल और ध्रुव है । वह मेरी इच्छा मेरी स्वाभाविक शक्ति है । जो (अनन्त) शक्तियों से युक्त है । उसे अग्नि की गर्मी और सूर्य की किरणों के समान समझना चाहिये । यह अपनी शक्ति समस्त संसार का कारण है । सर्वज्ञता आदि समस्त गुण उसमें व्यक्त और अव्यक्त रूप से स्थित हैं । वही इच्छा ज्ञान क्रिया आदि गुणों से विस्तृत है । जो ज्ञान आदि छह गुण हैं वे उसी में स्थित होकर विकसित होते हैं । वह एक क्रिया महाक्रिया के रूप मे स्थित मानी गयी है । वह अणिमा आदि आठ गुणों (= सिद्धियों) को उत्पन्न एवं नष्ट करती है। इस प्रकार वह (मेरा स्वरूप) मेरी इच्छा ज्ञान और क्रियाशक्ति कही जाती है । सूर्य चन्द्र और वह्नि इन तीन तेजों की कल्पना

दहनाप्यायने तेन प्राकाश्यं विदधाम्यहम्।

यन्निजमात्मीयं विशेषानुपादानात् प्रमेयप्रमाणप्रमातृरूपस्य विश्वस्य स्वं स्वरूपमात्मीयो यश्चिदात्माऽशेषव्यवस्थाहेतुः, स्वभावत एव शुद्धं व्यापकं स्वभित्तौ विश्वोद्भासकमपि न विश्वेनाच्छादितं दर्पणवत्, सर्वतो मुखानि प्रसरन्त्यः शक्तयो यस्य सर्वाणि च नीलसुखादिज्ञानानि

'शैवी मुखमिहोच्यते' (वि०भै० २०)

इति स्थित्या मुखानि प्राप्त्युपाया यस्य, सर्वेण च रूपेण प्रधानम् सर्वेषां स्थावरादिब्रह्मान्तानां भूतानामन्तरवस्थमहन्तारूपतया स्फुरत्, सर्वेषु प्राणिष्वभिव्यक्त-प्राणादिरूपेषु जीवनम् 'प्राक संवित् प्राणे परिणता' इति स्थित्या गृहीतप्राणादि-भूमिकम्, अतश्च योगेन प्राणादिप्रमातृताप्रशमनेन गम्यम्, दुःखेनासादनीयम्—

'न चैतदप्रसन्नेन शङ्करेणोपलभ्यते'

इति नीत्या शक्तिपातवतैवोपदेशगम्यम्, दुःखेन च प्राप्यते,

'कथंचिदुपलब्धेऽपि वासना न प्रजायते।'

तथा मेरे लिये तीन नेत्रों की कल्पना इसीलिये की जाती है। इस कारण मैं दहन आप्यायन और प्रकाश करता हूँ॥ -२२-३१- ॥

भगवान् शिव के परम पद का वैशिष्ट्य बतलाते हैं—जो अपना रूप है वही विशेष कथन न करने से प्रमेय प्रमाण प्रमाता रूप विश्व का भी रूप है। वह अपना चिदात्मा समस्त व्यवस्था का कारण है। स्वभावतः शुद्ध एवं व्यापक होते हुये भी, दर्पण की भाँति अपनी भित्ति के ऊपर विश्व का उद्भासक होते हुये भी विश्व के द्वारा आच्छादित नहीं है। उसकी शक्तियाँ सब ओर फैली हैं।

'यहाँ शैवी मुख कहा जाता है।' (वि०भै० २०)

इस स्थिति के अनुसार समस्त नील सुख आदि ज्ञान उसकी प्राप्ति के उपाय हैं। वह सब प्रकार से प्रधान है अर्थात् स्थावर से लेकर ब्रह्मा तक समस्त प्राणियों में वह अहन्तारूप से स्फुरित हो रहे हैं। वहीं समस्त प्राणियों में अभिव्यक्त प्राण आदि के रूप में जीवन हैं। अर्थात्

'संवित् पहले पहले प्राण रूप में परिणत हुई।'

इस नीति के अनुसार प्राण आदि की भूमिका को धारण करने वाले हैं। इस कारण योग = प्राण आदि प्रमातृता के प्रशमन, के द्वारा गम्य = दुःखपूर्वक प्राप्य, है—

'अप्रसन्न शङ्कर के द्वारा यह प्राप्त नहीं होता।'

इस नियम के अनुसार केवल शक्तिपातप्राप्त व्यक्ति को उपदेश के द्वारा प्राप्य हैं।

इत्यादिस्थित्या कैश्चिदेवापश्चिमजन्मभिरभियुक्तैः, न त्वनिश्चितमतिभिः प्राप्यम्, स्वस्यात्मनश्चित्प्रकाशस्य स्वं वीर्यं विश्वनिर्मातृ विमर्शशक्त्यात्म बलम् । यच्छ्री-कालीकुलम्—

'तस्य देवादि(धि)देवस्य परबोधस्वरूपिणः ।
विमर्शः परमा शक्तिः सर्वज्ञा ज्ञानशालिनी ॥' इति ।

स्वसंवेद्यं स्वप्रकाशं ममैवेति ममोमापतेः परममेव पदम् । एवकारो भिन्नक्रमः । विचित्राणां मन्त्रमुद्रादिसर्ववीर्याणामपि वीर्यम् । बलवतां पवनादीनां तदेव बलम् । सर्वौजसां तदेवौजः । यदुक्तम्—

'शक्याशक्यपरामर्शमनपेक्ष्य प्रवर्तनम् ।
तेज इत्युदितं सद्भिः संवेदननभस्वतः ॥' इति ।

तच्च सर्वं विश्वात्मकं शाश्वतमविवर्तमचलमपरिणामि ध्रुवं नित्यम् । सेति यदेवंभूतं वीर्यं मम सम्बन्धिनी परा शक्तिः, इच्छा इच्छारूपतां प्राप्ता । कीदृगिच्छा ? स्वभावजा सहजा शक्तियुक्ता गर्भीकृताशेषविश्वशक्त्यभेदविमर्शेति यावत् । उक्तं च श्रीपूर्वे—

'या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।

'जिस किसी प्रकार उपलब्ध होने पर सांसारिक वासना उत्पन्न नहीं होती ।'

इत्यादि स्थिति के अनुसार किन्हीं अन्तिम जन्म वाले दृढ़निश्चयी न कि संशयात्मा के द्वारा, प्राप्य है । अपने चित् प्रकाश के स्व अर्थात् वीर्य अर्थात् विश्व का निर्माण करनेवाला विमर्श शक्ति रूप बल हैं । जैसा कि श्रीकालीकुल में कहा गया—

'देवताओं के आदि (अधि) देव परबोध स्वरूप उस (शिव) का जो विमर्श है वही सर्वज्ञा ज्ञानशालिनी परमाशक्ति है ।'

स्वसंवेद्य = स्वप्रकाश । मेरा = मेरा उमापति का, परम पद है । एवकार भिन्नक्रम वाला है (अर्थात् उसे 'मम' के साथ न जोड़कर 'परम' के साथ जोड़ना चाहिये ।) विचित्र मन्त्र मुद्रा आदि समस्त वीर्यों का वीर्य हैं । बलवान्-पवन आदि के बल हैं, समस्त ओजस्वियों के ओज है । जैसा कि कहा गया—

'शक्य और अशक्य के विचार की अपेक्षा न करते हुए संवेदन रूपी नभस्वान् (वायु) का प्रवर्त्तन (= उत्पादन) ही विद्वानों के द्वारा तेज कहा गया है ।'

वह सब = विश्वात्मक, शाश्वत = विवर्त्तरहित, अचल = अपरिणामी और ध्रुव = नित्य है । जो इसप्रकार का वीर्य = मुझसे सम्बद्ध पराशक्ति, वह इच्छा बन गयी । कैसी इच्छा ? स्वभावजा = सहजा । शक्तियुक्ता = समस्त विश्वशक्ति के अभेद ज्ञान को अपने अन्दर समेटी हुयी । मालिनीविजय में कहा भी गया—

इच्छात्वं तस्य सा देवी सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ॥' (मा०वि० ३।५)

इत्यादि । स्वभावजेति स्फुटयति वह्नेरूष्मेव रवेः रश्मिरूपेव चेति शक्तियुक्तेति च व्यनक्ति । सर्वस्येत्यनेन सर्वस्यापि जगतः कारणात्मिका निर्मात्री स्वा आत्मीया चिदानन्दस्वरूपसम्बन्धिनी शक्तिः, न तु व्यतिरिक्ता । सर्वज्ञेति सर्वज्ञत्वादयो ये गुणास्तेऽपि तत्र प्रथमेच्छायां व्यक्ताव्यक्ता इत्यासूत्रितरूपाः स्थिताः । सैव इच्छेति इच्छाशक्तिरेव—

'एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम्।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ॥' (मा० वि० ३।७)

इति श्रीपूर्वोक्तनीत्या ज्ञानशक्तित्वमापाद्य—

'एवंभूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः ।
जाता तदैव तत्तद्वत् कुर्वत्यत्र क्रियोच्यते ॥' (मा० वि० ३।८)

इति स्थित्या क्रियाशक्तिः संपन्ना । कीदृशी ? गुणैर्विस्तृता निःशेषैः कार्यैर्धर्मरूपैर्वैतत्यं प्राप्ता । ज्ञानादीति ये पूर्वमिच्छायामासूत्रितकल्पा उक्ताः सर्वज्ञत्वादयस्ते तत्र क्रियाशक्तौ स्थिता ईश्वरभट्टारकपदे स्फुटीभूताः प्रभवन्ति

'जगत् के पालक की जो समवायिनी शक्ति कही गयी है वह देवी सृजन की इच्छा वाले की इच्छा बन जाती है ।' (मा० वि० ३।५)

'स्वभावजा'—को स्पष्ट करते हैं—अग्नि की उष्मा के समान, सूर्य की किरणों के समान । शक्तियुक्ता को व्यक्त करते हैं—समस्तसंसार की कारणभूत अर्थात् रचना करने वाली, चिदानन्दस्वरूपिणी शक्ति अपनी है न कि अपने से भिन्न । सर्वज्ञा—सर्वज्ञता आदि समस्त गुण[1] उस प्रथम इच्छा में व्यक्ताव्यक्त रूप से स्थित हैं । वही = इच्छाशक्ति—

'इसको ऐसा ही समझना चाहिये अन्यथा नहीं—ऐसा निश्चित रूप से ज्ञान कराने वाली इस संसार में ज्ञानशक्ति कही जाती है ।' (मा०वि० ३।७)

मालिनीविजयतन्त्रोक्त इस नीति के अनुसार ज्ञानशक्ति बन कर—

'यह वस्तु इस प्रकार की थी इस प्रकार की हो जाय (इस इच्छा और ज्ञान के बाद जब वह वस्तु) इस रूप में हो जाती है तब वैसा करने वाली वह शक्ति क्रिया कही जाती है ।' (मा०वि०३।८)

इस स्थिति के अनुसार क्रियाशक्ति बन जाती है । कैसी?—गुणों से विस्तृत—समस्त धर्मरूप कार्यों से विस्तार को प्राप्त ज्ञान आदि—जो सर्वज्ञत्व आदि गुण पहले इच्छा में अंकुरित कहे गये थे वे उस क्रियाशक्ति में स्थित हो जाते हैं =

१. सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञा आहुः षडङ्गानि महेश्वरस्य ॥ (वायु०पु० १२।३३)

विजृम्भन्ते। हीति यत एवमतो युक्तमुक्तं प्राग्—व्यक्ताव्यक्ता इति । सैव महा-क्रियेति ईश्वरभट्टारकात्मा क्रियाशक्तिरूपा सैव क्रिया विश्वनिर्माणे प्रभोः कारणरूपा एका अद्वितीया मता । सैव च अणिमादीन् करोति जनयति विकरोति स्थापयति संहरति चेत्यर्थः । एवमुक्तनीत्या मम शक्तिः स्वातन्त्र्यरूपा इच्छादित्रयात्मोच्यते । सूर्येति इच्छादिशक्तित्रय एव मध्यदक्षिणवाममार्गेषु वह्निसूर्यसोमकल्पना अन्त-र्बहिरपि चेच्छादिशक्तिस्फाररूपा एव सूर्यादयः । यदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'ज्ञानशक्तिः प्रभोरेषा तपत्यादित्यविग्रहा ।
..........तपते चन्द्ररूपेण क्रियाशक्तिः ॥'

(स्व० १०।४९८-५०२)

इत्यादि । त्रिनेत्रेति—मह्यं मदाकृतिव्यक्तये त्रिनेत्रकल्पना नेत्रत्रयोन्मीलनेह दृश्यते । सापि तदर्थमिति—निर्णीतधामत्रयाधिष्ठातृशक्तित्रितयाभिव्यक्तये । यदुक्तं भारतेऽपि—

'तिस्रो देव्यो यदा चैनं नित्यमेवाभ्युपासते ।
त्र्यम्बकस्तु तदा ज्ञेयः........................ ॥' इति ।

दहनेति—यत एवं परममेव धामोक्तयुक्त्या नेत्ररूपं तेन कालकामदाहजग-

---

ईश्वर पद में स्फुट होकर प्रकाशित होते हैं । क्योंकि—क्योंकि ऐसा है इसलिये ठीक कहा गया—पहले व्यक्त-अव्यक्त थे । वही महाक्रिया—ईश्वरभट्टारक के रूप में वही क्रिया, भगवान् के विश्वनिर्माणमें एक मात्र कारण बनती है । वही अणिमा आदि को बनाती = उत्पन्न करती है, विकृत करती है = स्थापित और संहृत करती है । इसप्रकार उक्तनीति के अनुसार स्वातन्त्र्यरूपा मेरी शक्ति इच्छा आदि तीन रूपों वाली कही जाती है । यही इच्छा आदि तीन शक्तियाँ मध्य दक्षिण और वाम मार्गों में अग्नि सूर्य और सोम मानी जाती हैं । अर्थात् (शरीर के) अन्दर इच्छा आदि तथा बाहर सूर्य आदि शक्ति के स्फाररूप ही हैं । जैसा कि स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया—

'प्रभु की ज्ञानशक्ति सूर्य रूप से ..... क्रियाशक्ति चन्द्ररूप से प्रकाशित हो रही है ।' (स्व० १०।४९८-५०२)

तीननेत्र—मेरी आकृति को व्यक्त करने के लिये तीन नेत्रों की कल्पना तीन नेत्रों का उन्मीलन समझा जाता है । वह भी उसके लिये—निर्णीत तीनों तेजों की तीन अधिष्ठात्री शक्तियाँ हैं—इसकी अभिव्यक्ति के लिये । जैसा कि महाभारत में भी कहा गया है—

'जब तीनों देवियाँ इनकी नित्य उपासना करती हैं तब उन्हें त्र्यम्बक समझना चाहिए ।'

दहन—चूँकि यह परमधाम ही उक्त युक्ति से तीन नेत्र है इसलिये काल काम

दाप्यायप्रकाशनादि यत् करोमि तद् युक्तमेव, सर्वशक्तेश्चिद्धाम्नः किमसाध्यमस्तीति यावत् ।

अत एव च—

सृष्टिं स्थितिं संहृतिं च त्रितनुर्विदधाम्यहम् ॥ ३१ ॥

तिस्रो ब्रह्मविष्णुरुद्रास्तनवो यस्य सोऽहमेक एव चिन्मयः क्रमेण सृष्ट्यादि करोमि । अथ च गृहीतानाश्रितसदाशिवेश्वरमूर्तिः स्वाधाराध्वविषये सृष्ट्यादिरूपं चकाराद् विलयानुग्रहौ चेति पञ्चकृत्यादि अहमेवैकः करोमि न तु मद्व्यतिरिक्तास्ते केचित् । एवमीदृशं स्पष्टमक्षरार्थं परित्यज्य ये ब्रह्माद्यधिष्ठानेन भगवतः सृष्ट्यादि-कृत्त्वमाहुस्ते भ्रान्ता एव ॥ ३१ ॥

किं च—

तद्वीर्यापूरितं सर्वं मम तेजोपबृंहितम् ।
इच्छाज्ञानक्रियारूपं नेत्रामृतमनुत्तमम् ॥ ३२ ॥

तेन प्रोक्तस्वातन्त्र्यशक्त्यात्मना वीर्येणापूरितं यन्मदीयं चित्प्रकाशात्मोपबृंहितं व्यापकमाप्यायादिकारि च तेजः इच्छादिशक्तित्रयसामरस्यात्म, तद् निरूपयिष्य-

---

का दाह और जगत् का आप्यायन प्रकाशन आदि जो मैं करता हूँ वह ठीक ही है । चित् धाम वाले सर्वशक्तिमान् के लिये क्या असाध्य है अर्थात् वह सब कुछ कर सकता है ॥

इसीलिये मैं सृष्टि स्थिति और संहार करने वाले तीन शरीरों को धारण करता हूँ ॥ -३१ ॥

तीन—ब्रह्मा विष्णु और रुद्र शरीर हैं जिसके वह एक ही चिन्मय मैं क्रम से सृष्टि आदि करता हूँ । साथ ही अनाश्रित शिव सदाशिव और ईश्वर नामक मूर्त्ति को धारण कर अपने आधार अध्व के विषय में सृष्टि आदि तथा 'च' कार से निग्रह और अनुग्रह, इन पाँच कृत्यों को मैं अकेला करता हूँ । मेरे अतिरिक्त वे (= ब्रह्मा आदि) कुछ नहीं है । इस प्रकार के स्पष्ट अक्षरार्थ को छोड़कर जो लोग यह कहते हैं कि—'भगवान् ब्रह्मा आदि को आधार मानकर सृष्टि आदि करते हैं'—वे भ्रान्त हैं ॥ ३१ ॥

और भी—

उस वीर्य से आपूरित सब कुछ मेरे तेज से उपवृंहित इच्छा ज्ञान क्रिया रूप नेत्र अमृत और अनुत्तम है ॥ ३२ ॥

उस—उपर्युक्त स्वातन्त्र्यशक्तिरूप वीर्य से आपूरित जो मेरा तेज वह चित्प्रकाश रूप आत्मा से उपवृंहित अर्थात् व्यापक बनाया गया है तथा आप्यायन आदि करने

माणनयनत्राणादिधर्मतया नेत्रमविनाशिपरमानन्दमयत्वाच्च अमृतम् अविद्यमानमन्य-दुत्तमं यस्मात् तादृग् अनुत्तममुच्यते ॥ ३२ ॥

किं च—

तद्वीर्यं परमं धाम यत्परामृतरूपि च ।
यत्तत्तत् परमानन्दं यदेतत् परमं पदम् ॥ ३३ ॥
तदेतन्निष्कलं ज्ञानं विशुद्धं नेत्रमुत्तमम् ।

तत् प्रागुक्तस्वातन्त्र्यशक्त्यात्म वीर्यं सूर्यादिप्रकाशकृत्त्वात् परमं धाम चिद्रूपत्वेनाविनाशित्वात् परामृतात्म च । यत्तत्तदिति ब्रह्म परमानन्दरूपम् । यदेतदिति सदा स्वप्रकाशं बाह्याभ्यन्तराशेषविश्वप्रतिष्ठास्थानत्वात् परमं प्रकृष्टं पदं धाम ! तदेतदिति तच्छब्देनोक्तपरामर्शरूपिणा स्फुटमिव यत् सर्वत्र परामृष्टमभूत् तदधुना स्फुटीकृतमिति, एतच्छब्देन सह तच्छब्दः प्रत्यभिज्ञानमात्मतत्त्वविषयं दर्शयति । निष्कलं सकलकलाभ्यो निष्क्रान्तम्, निष्क्रान्ताश्च कला यतस्तादृग् विशुद्धं परमाद्वयात्म यज्ज्ञानं चित् तद् नेत्रमुच्यते, न तु प्रश्नग्रन्थशंकिताब्रूप-गोपालकरूपं नित्यानुमेयतैजसाक्षिरूपं वा ॥ ३३ ॥

यत एवमेतत्—

वाला है । इच्छा आदि तीन शक्तियों के सामरस्य वाला (तेज) आगे निरूपण किये जाने वाले नयन त्राण आदि धर्मवाला होने के कारण जिसे नेत्र कहा जाता है, वह अविनाशी और परम आनन्दमय होने से अमृत तथा जिससे बढ़कर कोई दूसरा उत्तम नहीं है—ऐसा अनुत्तम कहा जाता है ॥ ३२ ॥

और भी—

वह वीर्य परम धाम परम अमृतरूपी है । वही परम आनन्द और वही परम पद है । वही निष्कल ज्ञान विशुद्ध उत्तम नेत्र है ॥ ३३-३४- ॥

वह—उक्त स्वातन्त्र्यशक्ति वाला वीर्य, सूर्य आदि का प्रकाशक होने से परम (= सर्वोत्कृष्ट, अन्तिम) धाम (= तेज) है तथा चित्रूप होने के कारण अविनाशी होने से पर अमृत होता है । यत् तत्तत्-परम आनन्दरूप ब्रह्म । यत् एतत्—सदा स्वप्रकाश यह बाह्य आभ्यन्तर समस्त विश्व का प्रतिष्ठास्थान होने के कारण परम = प्रकृष्ट, पद = स्थान होता है । तत् एतत्—यहाँ 'तत्' शब्द से यह बतलाते हैं कि उक्त परामर्शरूपी 'तत्' शब्द का प्रयोग आत्मतत्त्वविषयक प्रत्यभिज्ञान बतलाता है । निष्कल = समस्त कलाओं से परे । जिसमें से सारी कलायें निकल गयी हैं वैसा विशुद्ध परम अद्वयात्म जो ज्ञान-चित् वह नेत्र बतलाया जाता है, न कि प्रश्नग्रन्थ में शङ्कित जलरूप पृथ्वीपालकरूप अथवा नित्यानुमेय तैजस आक्षिरूप ॥ ३३ ॥

मृत्युजित्तेन चाख्यातं सर्वेषां मोक्षदायकम् ॥ ३४ ॥
तत्सिद्धिदं परं देवं सर्वदु:खविमोक्षदम् ।

च एवार्थे । तेनेति निष्कलचिदात्मना रूपेण मृत्युजिदेतदुक्तं भाविमृत्युञ्जय-प्रकारासूत्रणं चैतत् । सर्वेषां मोक्षदायकमित्यनेन नित्यकर्मदीक्षाभिषेकाधिकारा उपक्षिप्ता: । वक्ष्यति च—

'विप्रादिप्राणिन: सर्वे सर्वदोषभयार्दिता: ।
येन वै स्मृतिमात्रेण मुच्यन्ते.................. ॥'

(ने० २।१६) इति ।

सर्वेषामित्यनेन च वक्ष्यमाणपराद्वयव्याप्त्या सर्वस्रोत:प्रसिद्धतत्तद्देवतोपासिनां विष्ण्वादिसुगतान्ताराधिनां तुल्यैव मोक्षभूमिरित्यासूत्रितम् । तत्सिद्धिदमिति भाविसिद्ध्यधिकारोपक्षेप: । परं देवमिति द्योतनादिसतत्त्वस्वरूपसमावेश: कटाक्षित: । यद्वक्ष्यति—

'निमेषोन्मेषमात्रेण यदि चैवोपलभ्यते ।
तत: प्रभृति मुक्तोऽसौ न पुनर्जन्म चाप्नुयात् ॥'

(ने०८।१९) इति ।

चूँकि यह वैसा है—

इसलिये वह मृत्युजित् (= मृत्यु को जीतने वाला) और सबको मोक्ष देने वाला कहा गया है ! वह परम देव (परम) सिद्धि प्रदान करने वाला समस्त दु:खों से विशिष्ट मुक्ति देने वाला है ॥ -३४-३५- ॥

'च' का प्रयोग 'एव' अर्थ में है । इससे—निष्कल चित्रूप होने के कारण । यह मृत्युजित् कहा गया है । यह भावी मृत्युञ्जयप्रकार का प्रारम्भ या संकेत है । सबके लिये मोक्षदायक है—इस कथन से नित्यकर्म दीक्षा अभिषेक आदि में अधिकार संकेतित हैं । आगे कहेंगे—

'(जो) विप्र आदि समस्त प्राणी समस्त दोषों के भय से त्रस्त हैं । (वे) इसके स्मरणमात्र से मुक्त हो जाते हैं ।'

सबके लिये—इस पद से यह संकेतित किया गया है कि वक्ष्यमाण पर अद्वय व्याप्ति के कारण अन्य सम्प्रदायों में प्रसिद्ध तत्तद् देवताओं के उपासकों अर्थात् विष्णु से लेकर बुद्ध तक के आराधकों की यह समान मोक्षभूमि है । तत् सिद्धिदायी—से भावी सिद्धि का अधिकार बतलाया गया । 'परं देवम्' पद से द्योतन आदि तत्त्व वाले स्वरूप से समावेश लक्षित है । जैसा कि कहेंगे—

'यदि निमेष और उन्मेषमात्र से वह उपलब्ध हो जाता है तो उस समय से यह (जीव) मुक्त हो जाता है और पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता ।' (ने. ८।१९)

अत एव परसत्तानुप्रविष्टानां देहादिप्रमातृतां विना भाविदुःखास्पर्शात् सर्वदुःख-विमोक्षदम् ॥ ३४ ॥

सर्वव्याधिहरं देवं सर्वामयहरं शिवम् ॥ ३५ ॥
दारिद्र्यशमनं नित्यं मृत्युजित् सर्वतोमुखम् ।

सर्वान् विविधान् आधीन् आमयांश्च ज्वरादिरोगान् षष्ठपञ्चदशाधिकार-वक्ष्यमाणमन्त्रयन्त्रादिविचित्राकारैर्हरति, अतश्च शिवं श्रेयोरूपम् । दारिद्र्यशमन-मित्यष्टादशाधिकारवक्ष्यमाणश्रीमहालक्ष्मीयागादिविधिरुपक्षिप्तः । नित्यं मृत्युजिदित्य-नेनाष्टमाधिकार उक्तः परो मृत्युञ्जयप्रकारः कटाक्षितः । सर्वतोमुखं च कृत्वा मृत्युजिदित्यनेन सप्तमाधिकारगतसूक्ष्मध्यानहेतुको मृत्युजित्प्रकारः, तथा ध्यान-होमादिजा अपि तत्प्रकाराः सूचिताः । यद्वक्ष्यति—

'यदा व्याधिभिराक्रान्तस्त्वपमृत्युगतोऽपि वा ।
तदा श्वेतोपचारेण पूज्यं क्षीरघृतेन वा ॥
तिलैः क्षीरसमिद्भिर्वा होमाच्छान्तिं समश्नुते ।' (६।३७-३८)

इत्यादि ॥ ३५ ॥

इसलिये परमसत्ता में अनुप्रविष्ट साधकों के लिये देहप्रमाता आदि के न होने से भावी दुःख का स्पर्श न होने के कारण (यह) समस्त दुःखों से मुक्ति देने वाला है ॥ ३४ ॥

वह (नेत्र) समस्त एवं विविध व्याधियों को दूर करने वाला, देदीप्यमान, समस्त रोगों का हरण करने वाला, कल्याणप्रद, दारिद्रता का नाशक, नित्य, मृत्यु को जीतने वाला तथा सर्वविध कल्याणकारी है ॥ -३५-३६- ॥

समस्त—विविध आधियों (= मानसिक कष्टों) का, आमय = ज्वर आदि रोगों का, इस ग्रन्थ के छठें और पन्द्रहवें अधिकार में कहे जाने वाले मन्त्र-यन्त्र आदि अनेक उपायों से, हरण करने वाला है इसलिये श्रेयस् रूप है । दारिद्र्य का शामक—अष्टादश अधिकार में वर्णित वक्ष्यमाण श्रीमहालक्ष्मी याग आदि विधियों से संश्लिष्ट है । नित्य मृत्युजित् इस कथन से अष्टम अधिकार में कथित परमृत्युञ्जयप्रकार संकेतित है । सर्वतोमुख कहकर मृत्युजित् कहने से सप्तम अधिकार में वर्णित सूक्ष्मध्यान से उत्पन्न मृत्युजितप्रकार तथा ध्यान होम आदि से उत्पन्न प्रकार सूचित किया गया है । जैसा कि कहेंगे—

'जब कोई व्यक्ति व्याधियों से आक्रान्त हो जाय या अपमृत्यु को प्राप्त हो जाय तब श्वेत उपचार (वाले इस मन्त्र) से या दूधमिश्रित घी से पूजा करनी चाहिये । तिल अथवा क्षीर की समिधा से होम करने पर शान्ति मिलती है' ॥३५॥ (ने. ६-३७.३९)

अपि च—

अमोघममलं शान्तं सर्वदं सर्वमोचनम् ॥ ३६ ॥
सूर्यकोटिसहस्राणां वह्न्ययुतसहस्रशः ।
यत्तेजसा समं तस्य कलां नार्हति षोडशीम् ॥ ३७ ॥
सर्वतेजोमयं यस्मात् त्वप्रधृष्यं सुरासुरैः ।
तेन नेत्राग्निना सर्वं निर्दहामि क्षणाद् ध्रुवम् ॥ ३८ ॥
तेनैवाप्यायनं भूयः प्राकाश्यं विदधामि च ।

परमानन्दात्मकपार्यन्तिकफलात्मकत्वाद् अमोघम् । सदा सर्वावस्थं द्योतमानत्वादमलम् । भेदोपशमात् शान्तं चिन्मात्ररूपम् तथापि सर्वदं विश्वनिर्मातृसर्गादिकर्तृत्वेऽप्यनुग्रहैकपरत्वात् सर्वमोचनं सर्वमायुर्बलादि ददाति । यद्वक्ष्यति—

'आयुर्बलं यशः प्रीतिर्धृतिर्मेधा वपुः श्रियः ।
सर्वं प्रवर्तते तस्य भूभृतां राज्यमुत्तमम् ॥' (ने० ६।४६)

इत्यादि ॥

निःसंख्यसूर्यवह्न्यादीनां तेजसा समं यत् किंचित् कल्पनया कल्प्यते तदपि कल्पितत्वादेव । तस्येति प्रकृतस्य महाधाम्नः षोडशीमपि कलां नार्हति सूक्ष्मतमेनाप्यंशेन न सदृशम्, अकल्पितपरप्रमात्रेकरूपत्वात् । अप्रधृष्यमनभिभवनीयम् । सर्वं निर्दहामीति महाप्रलयादौ का तु कथा कालकामयोः, ध्रुवं

जो अमोघ, निर्मल, शान्त, सब कुछ देने वाला सबको मुक्त करने वाला है; करोंड़ों सूर्य एवं हजारों अग्नियाँ जिसके तेज की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं हैं; जो सर्वतेजोमय और सुरों-असुरों के द्वारा अप्रधृष्य (= अजेय) है उस नेत्ररूपी अग्नि के द्वारा मैं एक क्षण में निश्चितरूप से सबकुछ जला डालता हूँ फिर उसी से आप्यायन (= तर्पण) एवं प्रकाशन करता हूँ ॥ -३६-३९- ॥

(यह नेत्र) अन्त में परम आनन्द रूप फल देने के कारण अमोघ है । सदा सब अवस्थाओं में प्रकाशमान होने के कारण निर्मल है । तो भी सर्वद—विश्व निर्माण एवं सृष्टि आदि करने के कारण अनुग्रहपरक होने से अनुग्रह में लगा हुआ हैं । सर्वमोचन—समस्त आयु और बल आदि देने वाले हैं । जैसा कि कहेंगे—

'आयु, बल, यश, प्रीति, धैर्य, बुद्धि, शरीर, शोभा और राजाओं के लिये उत्तम राज्य सब उसको मिल जाता है ॥' (ने०तं० ६-४६)

असंख्य सूर्य अग्नि आदि के तेज के समान जी कुछ कल्पना में आ सकता है । वह सब प्रस्तुत महातेज की सोलहवीं कला के बराबर नहीं होते अर्थात् परप्रमाता होने के कारण उसके सूक्ष्मतम अंश के भी बराबर नहीं है । अप्रधृष्य =

निश्चितम् । तेनैव च भूयः पुनराप्यायनं प्राकाश्यं चेति कल्पान्तान्ते सर्वविषयं करोमि, का तु कथा क्षीणधातुजन्त्वाप्यायमारुताद्यावृताक्ष्याशाप्रकाशनस्य । अनेन चैकविंशाधिकारभाविसृष्ट्याद्युपक्षिप्तम् ॥ ३८ ॥

किं च—

तस्मात् परतरं नान्यत् किंचिद्वीर्यं प्रदृश्यते ॥ ३९ ॥
तदेवास्त्रमयं रौद्रमणुसन्तारणं परम् ।

एतदेव परमं वीर्यम् । यद्वक्ष्यति—

'मन्त्रकोट्यो ह्यनन्ताश्च व्यक्ताव्यक्ता व्यवस्थिताः।
सर्वास्ताः सिद्धिदास्तेन आद्यन्ततुटिरोधिताः ॥'

(ने० १४।९) इति ।

अनेन चतुर्दशद्वाविंशाधिकारस्थसर्वमन्त्रोत्तमत्वमुद्दिष्टम् । अत एव रौद्रं भेदच्छेदि अस्त्रमयं ज्ञानासिरूपं सदणूनां जीवानां परमेतत्सन्तारणम् ॥ ३९ ॥

तथा—

क्षयदं सर्वशत्रूणां शस्त्रं ह्येतत् प्रकीर्तितम् ॥ ४० ॥

अनभिभवनीय । सब जला डालता हूँ—महाप्रलय आदि में (सब जला देने पर) काल एवं काम की क्या कथा । ध्रुव = निश्चित । उसी (तेज) से फिर कल्पान्त के समाप्त होने पर सर्वविषयक आप्यायन और प्रकाशन करता हूँ फिर क्षीण धातुवाले जीवन के आप्यायक मारुत आदि से आवृत आँखों की आशा के प्रकाशन की क्या बात । इससे २१वें अधिकार में वर्णयिष्यमाण भावी सृष्टि आदि का संकेत किया गया ॥ ३८ ॥

उससे अतिरिक्त कोई दूसरों वीर्य नहीं दिखलाई पड़ता । वही रोद्र अस्त्रमय है जो सर्वोत्कृष्ट तथा अणुसन्तारण है ॥ -३९-४०- ॥

यही परमवीर्य है । जैसा कि कहेंगे—

'असंख्य कोटि मन्त्र जो कि व्यक्त और अव्यक्त रूप से स्थित हैं वे सब उसके (= मृत्युञ्जय नेत्र के) द्वारा प्रारम्भ और अन्त में सम्पुटित होने पर सिद्धिप्रदायक होते हैं ।'

इस कथन के द्वारा चौदहवें और बाईसवें अधिकार में वर्णित विषय को सब मन्त्रों में उत्तम बतलाया गया है । इसीलिये रौद्र-भेद को हटाने वाला, आस्त्रमय-ज्ञान रूपी तलवार बनकर, अणुओं का = जीवों का यह परम सन्तारक होता है ॥ ३९ ॥

यह शस्त्र समस्त शत्रुओं का नाश करने वाला कहा गया है । जो

सर्वेषामेव भूतानामायुर्धत्ते तदायुधम् ।

सर्वशत्रुक्षयहेतुत्वात् शस्त्रं शसेर्हिंसार्थत्वात् ।

यद्वक्ष्यति—

'परराष्ट्रविभीतानां नृपाणां विजयावहम् ।' (ने० १७।६) इति ।

सर्वेषामिति स्थावरादीनां चतुर्दशानां भूतानामायुः प्राणान् धत्ते स्वच्छस्वतन्त्र-चिदेकरूपत्वात् । तच्चायुधं विशेषानुक्तेः सर्वं महावीर्यरूपत्वात् ॥ ४० ॥

तदाह—

तदेकं बहुधा वीर्यं भेदानन्त्यविसर्पितम् ॥ ४१ ॥

भेदानन्त्येन नानावैचित्र्येण प्रसृतम् ॥ ४१ ॥

एतदेव स्फुटयति—

महापाशुपतं मह्यं विष्णोस्तच्च सुदर्शनम् ।
ब्रह्मणो ब्रह्मदण्डस्तु सर्वेषां स्वं स्वमायुधम्॥ ४२ ॥

मह्यमिति मदर्थम्, स्पष्टं शिष्टम् ॥ ४२॥

समस्त भूतों की आयु को धारण करे वह आयुध होता है ॥ -४०-४१- ॥

समस्त शत्रुओं के क्षय का हेतु होने से यह शस्त्र है । 'शस्' धातु हिंसा अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

जैसा कि कहेंगे—

'दूसरे राष्ट्र से डरे हुये राजाओं को विजय दिलाने वाला है ।'

स्वच्छ स्वतन्त्र चिदेकरूप होने के कारण वह सबका—स्थावर आदि चौदह प्रकार के प्राणियों की आयु = प्राण, को धारण करता है—और वह आयुध विशेष का कथन न करने से वह महावीर्यरूप होने से सब कुछ है ॥ ४० ॥

वही कहते हैं—

वह वीर्य एक होते हुये अनेक प्रकार का तथा अनन्त भेदों वाला है ॥ -४१ ॥

भेदानन्त्य = नानावैचित्र्य, से प्रसृत (= फैला हुआ) ॥ ४१ ॥

इसी को स्पष्ट करते हैं—

यह मेरे लिये महापाशुपत है । वही विष्णु का सुदर्शन, ब्रह्मा का ब्रह्मदण्ड और सबका अपना-अपना आयुध है ॥ ४२ ॥

यच्चैतत्—

अनेकाकाररूपेण आयुधं तदनेकधा।
सुराणां स्वं स्वरूपेण मया वीर्यं समर्पितम् ॥ ४३ ॥

सर्वेषां देवानामनेकाकाररूपेण स्वरूपेण सह अनेकायुधं यत् तन्मया स्वं वीर्यं समर्पितं तथा तथा वैचित्र्येणाभासितमिति यावत् ॥ ४३ ॥

ननु

'एक:[1] शिवोऽविकारी तच्छक्तिश्चाप्यतो न तौ शक्तौ ।
बहुधा स्थातुं, यद्वा चैतन्यविनाकृतौ विकारित्वात् ॥'

इति भेदवादिभिर्युक्तिरुपक्षिप्ता, तत् कथमेतदुच्यते—

योगशक्त्या तु योगेशे तेन व्याप्तमिदं जगत् ।

'योगोऽस्य शक्तय: स्वाक्या विस्फूर्जन्ति समन्तत: ॥'

मह्यम् = मेरे लिये श्लोक का शेष भाग स्पष्ट है ।

और जो—

देवताओं के अनेक आकार के अनुसार वह (आयुध) अनेक प्रकार का है । मैंने अपने वीर्य को उनके (= आयुधों के) रूप के अनुसार समर्पित किया है ॥ ४३ ॥

समस्त देवताओं का जो अनेकाकार अपना रूप है उसके साथ जो उनके अनेक आयुध हैं वह मेरे द्वारा समर्पित अपना वीर्य है जो भिन्न-भिन्न विचित्ररूप से भासित हो रहा है ॥ ४३ ॥

प्रश्न—'शिव एक है और अविकारी है उसकी शक्ति भी वैसी ही (= एक तथा अविकारी) है (इसलिये) वे दोनों अनेक प्रकार से स्थित नहीं हो सकते । और यदि वे विकारी है तो बिना चैतन्य के हैं ॥'

ऐसा भेदवादियों ने तर्क दिया है । तो उपर्युक्त कथन कैसे सम्भव है ?—इस विषय में कहते हैं—

हे योगेश्वरी ! यह योगशक्ति के द्वारा सम्भव है और उसी योगशक्ति के कारण वह (शिव) समस्त संसार में व्याप्त है ॥ ४४- ॥

'योग इस (= परमेश्वर) की अपनी शक्तियाँ है जो चारों ओर चमक रही हैं ।'

---

१. नादकारिकाया: षोडशी कारिका ।

इत्याम्नायोक्तनीत्या योगस्य वामादिशक्तीनां या शक्तिः सामर्थ्यम्, तया जगत् विश्वं तेन व्याप्तं प्रत्यंशमोतं प्रोतं तदैकात्म्येनेति यावत् । तदुक्तं शिवसूत्रेषु—

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' (शि०सू० ३।३०) इति ॥

किं च—

भीतानां सा परा रक्षा त्रस्तानामभयं परम् ॥ ४४ ॥
शत्रुभिश्चार्दितानां तु मोक्षदं परमं ध्रुवम् ।

भीतानामित्येकोनविंशाधिकारवक्ष्यमाणतत्तच्छायादोषभूतग्रहयक्षशाकिन्यादिमुद्रितानां परा रक्षा तदधिकारवक्ष्यमाणं परमुन्मुद्रणम् । त्रस्तानां च परमभयम् । यद्वक्ष्यति—

'त्राणं करोति सर्वेषां तारणं त्रस्तचेतसाम् ।' (२२।११) इति ।

त्रासो हृद्घट्टनं तीव्रं भयम्, शत्रुभिश्चार्दितानां च परमभयम् । यद्वक्ष्यति—

'संग्रामकाले ध्यातव्या खड्गपत्रलतास्थिता ।
जयं प्रयच्छतेऽवश्यं रिपुदर्पापहा भवेत् ॥' (१८।८६)

इत्येतन्मन्त्रराजं महालक्ष्मीमुद्दिश्य । ध्रुवं निश्चितम्, परमं मोक्षदमित्येतदस्य

इस आम्नायोक्त नीति के द्वारा योग अर्थात् बामा आदि, की जो शक्ति = सामर्थ्य, उसके द्वारा जगत् = विश्व, उस (= शिव) से व्याप्त है अर्थात् उससे अभिन्न है । वही शिवसूत्र में कहा गया—

'विश्व इसकी अपनी शक्ति का प्रचय (= समूह) है' ॥

वह भयभीतों की परम रक्षा है और त्रस्तों का परम अभय है । शत्रुओं के द्वारा पीड़ितों का परम एवं ध्रुव (= निश्चितरूप से) मोचक होता है ॥ -४४-४५- ॥

भीतों की—उन्नीसवें अधिकार में वक्ष्यमाण तत्तत् छायादोष, भूत, ग्रह, यक्ष, शाकिनी आदि से मुद्रितों (= ग्रस्त लोगों) की, परा रक्षा, उसी अधिकार में वक्ष्यमाण पर = उन्मुद्रण (= निवारक) है । त्रस्तों का परम अभय है । जैसा कि कहेंगे—

'(वह) सबकी रक्षा करता है और त्रस्त मन वालों का तारक है ।'

त्रास = हृदय को जलाने वाला तीव्र भय । शत्रुओं के द्वारा अर्दितों का परम अभय है । जैसा कि कहेंगे—

'युद्ध के समय इसका ध्यान (पूजन) खड्ग, पत्ता अथवा लता में रखकर करना चाहिये । इस प्रकार यह (शक्ति) अवश्य विजय देती है और शत्रु के दर्प को चूर कर देती है ।' (१८-८६)

मुख्यं स्वरूपम् ॥

उपसंहरति—

किं वातिविस्तरोक्तेन पौनःपुन्येन सुन्दरि ॥ ४५ ॥
यद्यत्तीव्रतरं रौद्रं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
प्रसादं वरदं श्रेयः प्राकाश्यं तत्तदेव हि ॥ ४६ ॥
तज्ज्ञेयमप्रमेयं च ज्ञानं मन्त्रमहाबलम् ।
त्रातारं सर्वभूतानां गुप्तं गोप्यं सदा त्वया ॥ ४७ ॥
तवाद्य कथितं देवि किं भूयः परिपृच्छसि ।

तीव्रतरं झटित्यशक्यमपि घटयेत्, रौद्रं संहर्तृ, श्रीमद् महाविभूति, ऊर्जितमसामान्यबलम्, प्रसादमतिनिर्मलम्, वरदं यथाभीष्टप्रदम्, श्रेयः प्रशान्ताशेषक्लेशस्वात्मविश्रान्तिसारम्, प्रकाश एव प्रकाश्यं सूर्यसोमवह्न्यादिज्योतीरूपम् । यद्यदिति षडध्वमध्ये यत्किंचिदस्ति तत्सर्वं, तदेवेति प्रोक्तप्रकाशानन्दघनस्वरूपमित्यनेन

यह मन्त्रराज महालक्ष्मी को उद्दिष्ट कर (मैंने कहा) ध्रुव = निश्चित । परम मोक्षप्रद होना इसका मुख्य स्वरूप है ॥

उपसंहार करते हैं—

हे सुन्दरि ! अत्यन्त विस्तार के साथ अथवा बार-बार कहने से क्या लाभ ? जो-जो तीव्रतर, रौद्र, शोभा और वैभव युक्त, ऊर्जस्वल, प्रसन्नता देने वाला, वरद, और श्रेयस्कर और प्रकाशस्वरूप है वह सब वही (= वीर्य ही) है । वह ज्ञान का विषय हो सकता है साथ ही वह अप्रमेय ज्ञान और मन्त्र का महाबल है । वह सब प्राणियों का रक्षक और गुप्त है । तुम्हें उसकी सदा रक्षा करनी चाहिये । मैंने आज तुमको (वह) बतला दिया । हे देवि ! आगे क्या पूछती हो ॥ -४५-४८- ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के प्रथम अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १ ॥

तीव्रतर—अशक्य को तुरन्त (= शक्य) बनाने वाला, रौद्र = संहारक, श्रीमत्—महाविभूति, ऊर्जित—असाधारण बलवाला, प्रसाद—अत्यन्त निर्मल, वरद—वाञ्छित को देने वाला, श्रेय—समस्त क्लेशों को दूर कर स्वात्म में विश्रान्ति देने वाला, प्रकाश्य—सोम सूर्य वह्नि आदि ज्योतिरूप । जो-जो—षडध्व के मध्य में जो

सर्वोत्कर्षाशेषविश्वमयत्वं भगवतो नेत्रनाथस्योक्तम् । हीति यत एवं तस्मात् किं वातिविस्तरोक्तेनेति सङ्गतिः । अनेन च वैश्वात्म्यप्रकाशनेन षोडशाधिकार-दर्शयिष्यमाणसर्वाचारसतत्त्वमुपक्षिप्तम् । तदेव च तत्त्वं विश्वोत्तमत्वाज्ज्ञातव्यं सार्वात्म्याच्च ज्ञातुं शक्यमर्हं च । अथ चाप्रमेयं ज्ञानमनवच्छिन्नसंविद्रूपं न तु कस्यापि प्रमाणस्य गोचरः ।

तदुक्तं त्रिकहृदये—

'स्वपदा स्वशिरश्छायां यद्वल्लङ्घितुमीहते ।
पादोद्देशे शिरो न स्यात्तथेयं बैन्दवी कला ॥' इति ।

प्रत्यभिज्ञायामपि—

'विश्ववैचित्र्यचित्रस्य ।' (२।३।१५) इति ।

मन्त्राणां कोटिसंख्याकानां महद्बलं परमं वीर्यम् । एतच्च चतुर्दशैकविंश-द्वाविंशाधिकारेषु भविष्यदुपक्षिप्तम् । एतच्च सर्वभूतानां त्राणेन नानानुग्रहप्रपञ्चेन तारं दीप्तम्, त्राणं त्रा तया तारं यत एवं तेनैतद् गुप्तं परं रहस्यम् । अतश्च गोप्यं रक्षणीयं शक्तिपातवतामेव प्रकाश्यं त्वया नान्येषाम् । ते चैतद्योग्याया

कुछ है वह सब वही है । प्रकाशानन्दघनस्वरूप कहने से भगवान् नेत्रनाथ की सर्वोत्कृष्ट अशेषविश्वमयता सूचित की गयी । हि—क्योंकि ऐसा है इसलिये । इस विश्वात्मत्व के प्रकाशन से सोलहवें अधिकार में दर्शयिष्यमाण सर्वाचार का संकेत किया गया है वही तत्त्व विश्वोत्तम होने से ज्ञातव्य है अर्थात् सर्वात्मक होने के कारण जाना जा सकता है और जानने के योग्य है । यहाँ अप्रमेय ज्ञान कहने का तात्पर्य है कि वह अनवच्छिन्न संविद् रूप है जो किसी प्रमाण का विषय नहीं है ।

वही त्रिकहृदय में कहा गया है—

'यदि कोई अपने पैर के द्वारा अपने शिर की छाया को लाँघना चाहता हो तो कभी भी पैर के स्थान पर शिर नहीं हो सकता । इसी प्रकार की यह वैन्दवी कला है ।'

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया—

'विश्व के वैचित्र्य के चित्र का ।' (ई०प्र० २.३.१५)

करोड़ों मन्त्रों का महाबल = परमवीर्य । इसका वर्णन चौदहवें इक्कीसवें और बाईसवें अधिकारों में क्रमशः प्रस्तुत किया जायगा । यह समस्त प्राणियों के त्राण = अनेक अनुग्रहप्रपञ्च, से तार = दीप्त है । (अब त्रातार शब्द की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—) त्राण ही त्रा है उसके द्वारा तार होने से यह गुप्त = परम रहस्य है । इसलिये गोप्य = रक्षणीय, है और तुम्हारे द्वारा शक्तिपात वालों को ही

अतितीव्रशक्तिपातेन परतत्त्वजिज्ञासावसरे कथितम् । 'किं भूयः परिपृच्छसि' इति भाविप्रमेयावकाशदानाय पाटलिकसङ्गत्यर्थमिति शिवम् ॥

अशेषविश्ववैश्वात्म्यसामरस्येन　सुन्दरम् ।
चिदानन्दघनं　श्रीमन्नेत्रमैशमुपास्महे ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितो-नेत्रोद्योताख्यटीकोपेते प्रथमोऽधिकारः ॥ १ ॥

बतलाने योग्य है दूसरों को नहीं । अत्यन्त तीव्र शक्तिपात के द्वारा तुम इसके योग्य हो इसलिये परतत्त्व की जिज्ञासा के अवसर पर तुमसे कहा गया । 'फिर क्या पूछना चाहती हो' इस कथन से भावी प्रमेय के लिये अवकाश देने की सङ्गति संकेतित है ।

समस्तविश्व के वैश्वात्म्य सामरस्य से सुन्दर चिदानन्दघन ईश्वरनेत्र की हम उपासना करते हैं ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के प्रथम अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १ ॥

द्वितीयोऽधिकारः

*** नेत्रोद्योतः ***

अष्टमूर्ति विश्वमूर्ति यदमूर्ति प्रगीयते ।
मन्त्रमूर्ति नुमो नेत्रं तच्चिन्मूर्ति महेशितुः ॥

'किं भूयः परिपृच्छसि' इत्युक्त्या दत्तावकाशा अवगततत्त्वानुवादपुरःसरं जगदनुजिघृक्षया मन्त्रस्वरूपमवतितारयिषुः श्रीदेव्युवाच—

यद्येवं परमं शान्तमप्रमेयगुणालयम् ।
सर्वानुग्राहकं वीर्यं तव देव मुखाच्छ्रुतम् ॥ १ ॥
भगवन् देवदेवेश लोकानुग्रहकारक ।
त्रियोनिजमिदं सर्वं तिर्यङ्मानुषदेवगम् ॥ २ ॥

*** ज्ञानवती ***

यस्याराधनया शरीरमनसोः पीडा निरस्ता भवेत्
सो मृत्युञ्जयनामधेयविदितो मन्त्रो विभो रूपधृक् ।
तस्योद्धारविधिं षडङ्गसुयुजः निर्णीयते साम्प्रतं
यन्मृत्युञ्जयनेत्रनाथकृपया तं नौमि देवं प्रभुम् ॥

अष्टमूर्त्ति विश्वमूर्त्ति मन्त्रमूर्त्ति होते हुए भी जो अमूर्त्ति कहे जाते हैं महेश्वर की चिन्मूर्त्ति उस नेत्र को नमस्कार है ।

'फिर क्या पूछना चाहती हो' इस उक्ति के द्वारा अवसर दी गयी तथा तत्त्वानुवाद को जानने के बाद संसार के ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा से मन्त्रों के स्वरूप की अवतारणा को चाहती हुई देवी ने कहा—

हे देव ! आपके मुख से सुना गया, इस प्रकार का परम, शान्त, अप्रमेय, गुणों से परिपूर्ण वीर्य यदि सर्वानुग्राहक है तो तीन योनियों से उत्पन्न तथा तिर्यक् मनुष्य एवं देवताओं में रहने वाला यह सब (संसार)

आधिव्याधिभयोद्विग्नं विषभूतभयार्दितम्।
अपमृत्युशताकीर्णं ज्वरकासक्षयान्वितम्॥ ३ ॥
भूर्भुवर्मानुषे लोके विप्रादिप्राणिनस्तथा ।
दुःखदोषशताकीर्णाः कुतस्तेषां सुखं विभो॥ ४ ॥
युगानुरूपमानेन तेषामायुः स्वमानतः ।
जिघांसन्ति बलोपेतास्त्वत्तेजोबलबृंहिताः ॥ ५ ॥
अनेकशतशो भेदैर्व्याधिभिश्च सुपीडिताः।
तेषामनुग्रहार्थाय कृपया प्राणिनां हितम् ॥ ६ ॥
वदोपायं जगन्नाथ मुच्यन्ते येन सर्वतः ।

आमन्त्रणानि प्राग्वत् । पूर्वाधिकारे यत्परमं वीर्यं निर्णीतं शान्तत्वादिविशिष्टं तव मुखाच्छ्रुतं यद्येवमुक्तदृशा सर्वानुग्राहकम्, तत् भगवन् विश्वानुग्राहक व्याध्याद्याकीर्णो यश्चतुर्दशविधो भूतसर्गः, ये च भूर्भुवर्मानुषे लोके विप्राद्यास्ते निःसंख्यैर्दुःखैः रागद्वेषादिदोषैश्चाकीर्णास्तेषां च युगानुसारपरिमितमप्यायुः, त्वदीय-तेजोबलाभ्यां स्फीताः, अर्थात् शाकिनीभूतयक्षग्रहाद्या व्याधिभिः सह हन्तु-मिच्छन्ति, ततस्तेषां सर्वेषां प्राणिनां कृपयानुग्रहं कर्तुं हितमुपायमादिश, येनैते सुष्ठु पीडिताः सर्वे मुच्यन्ते निवृत्तसर्वोपद्रवा अपवृज्यन्ते ॥ ६ ॥

आधिव्याधि भय से उद्विग्न है, विष भूत और भय से पीड़ित है, सैकड़ों अपमृत्युओं से पीड़ित तथा ज्वर खाँसी और क्षय रोग से युक्त है । पाताल अन्तरिक्ष तथा मनुष्यलोक में विप्र आदि समस्त प्राणी सैकड़ों दुःख एवं दोष से आक्रान्त हैं । उनको कहीं भी सुख नहीं है । युग के परिमाण के अनुरूप उनकी आयु है । तुम्हारे तेज बल से उपबृंहित वे शाकिनी आदि अपने शक्तिपरिमाण के अनुसार बलयुक्त होकर (दूसरों को) मारना चाहते हैं । वे नाना प्रकार की व्याधियों से पीड़ित हैं । कृपया उनके अनुग्रह के लिये प्राणियों के हितकारक उपाय को बतलाइये जिससे कि वे सब प्रकार से मुक्त हो जाय ॥ १-७- ॥

सम्बोधन पहले की भाँति जानना चाहिये । पूर्वाधिकार में जो शान्तत्व आदि विशेषतावाला परम वीर्य कहा गया यदि वह सबके ऊपर अनुग्रह करने वाला है तो उसको बतलाइये क्योंकि चौदह प्रकार की भूतसृष्टि व्याधि आदि से युक्त है । भूर्भुवः एवं मनुष्य लोक में जो ब्राह्मण आदि है वे असंख्य दुःखों एवं रागद्वेष आदि दोषों से भरे हैं । युग के अनुसार उनकी आयु भी सीमित है । आपके तेज एवं बल से तीक्ष्ण बने हुये । शाकिनी भूत यक्ष ग्रह आदि (प्राणियों में) व्याधि उत्पन्न कर उनको मारना चाहते हैं । इस कारण उन सब प्राणियों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये हितकारी उपाय बतलाइये । जिससे सुष्ठु पीड़ित ये (प्राणी) समस्त उपद्रवों से मुक्त हो जाँय ॥ ६ ॥

ततश्च—

येन येन प्रकारेण ज्ञानयोगेन मन्त्रतः ॥ ७ ॥
यद्यत् पश्यसि देवेश तदुपायं वद स्व मे ।

हे देवेश स्व आत्मन् ज्ञानयोगमन्त्रानाश्रित्य येन येन स्थूलेन सूक्ष्मेण परेण वोपायेन तत्प्रश्नितं श्रेयो यत् पश्यसि तस्योपायं वद ॥

अत्र तन्त्रावतारकः सङ्गतिं करोति—

एवं देव्या वचः श्रुत्वा प्रहस्योवाच शङ्करः ॥ ८ ॥

प्रहस्येति योगयुक्त्या कथयिष्यामि, इत्यादिष्टत्वात् परस्फुरत्तासमावेशाद्विहस्य, अथ च प्राङ्निरूपितनीत्या नादामर्शावेशादट्टहासं कृत्वा, किं तद् यदेतस्य भगवतोऽसाध्यमिति स्मितं विधाय ॥ ८ ॥

श्रीभगवानुवाच—

अतिकारुण्यमाविष्टा देवि त्वं पृच्छसीह माम्।
न केनचिदहं पृष्टो नाख्यातं कस्यचिन्मया ॥ ९ ॥

यदिहातिकृपया त्वयाहं पृष्टस्तथा न केनचिदहं पृष्टः, अतश्च 'नापृष्टः कस्य-

---

इसलिये

ज्ञान, योग, मन्त्र आदि के आधार पर जिस-जिस प्रकार से आप उसको समझते हैं वह उपाय मुझको बतलाइये ॥ -७-८- ॥

हे देवेश ! हे स्व (= प्राण) अर्थात् अपनी आत्मास्वरूप ! ज्ञान योग मन्त्रों को आधार बनाकर जिस-जिस स्थूल सूक्ष्म अथवा पर उपाय से वह—पूछा गया श्रेय जो देख रहे हैं, उसका उपाय बतलाइये ॥

अब तन्त्र को बतलाने वाले ऋषि (वर्ण्यविषय की) सङ्गति बैठाते हैं—

देवी के इस प्रकार के वचन को सुनकर शङ्कर ने हँस कर कहा ॥-८॥

प्रहस्य—'योगयुक्ति से कहूँगा' ऐसा आदेश देने के कारण परस्फुरत्ता के समावेश से हँस कर अथवा पूर्वनिरूपित नीति से नाद के आमर्श के आवेश के कारण अट्टहास कर । अथवा—कौन सा ऐसा कार्य है जो इस भगवान् के लिये असाध्य है—(यह सोचकर) थोड़ा मुस्कुराकर कहा ॥ ८ ॥

श्री भगवान् ने कहा—

हे देवि ! अत्यन्त करुणा से पूर्ण होकर तुम मुझसे पूछ रही हो । आज तक न किसी ने मुझसे पूछा और न मैंने किसी को बतलाया ॥ ९॥

जो यहाँ कृपा करके तुमने मुझसे पूछा उस प्रकार किसी ने मुझसे पूछा नहीं

चिद् ब्रूयात्' इति नीत्या मयापि न कस्यचिदाख्यातम् ॥ ९ ॥

अतश्च—

सत्सु मन्त्रेषु सर्वेषु नेत्रभूतं प्रकीर्तितम् ।
ममाशये न केनापि लक्षितं तु सुदुर्लभम् ॥ १० ॥
तवाद्य कथयिष्यामि त्रिप्रकारं परं ध्रुवम् ।
मन्त्रयोगज्ञानगम्यं मोक्षदं सिद्धिदं वरम् ॥ ११ ॥

यत्त्वया नेत्रस्वरूपं पृष्टं सत्सु प्रधानतया विद्यमानेषु सार्धत्रिकोटिरूपेषु मन्त्रेषु मध्ये विषयेषु च नेत्रभूतम् यथा नेत्रमितरेन्द्रियमध्ये प्रधानभूतम्, सत्सु विद्यमानेषु भावेषु प्रकाशकं च प्रकीर्तितं तथैवैतत् । यद्वक्ष्यति—

'सर्वसाधारणो देवः सर्वसिद्धिफलप्रदः ।
सर्वेषामेव मन्त्राणां जीवभूतो यतः स्मृतः ॥' (१३।४४) इति ।

तच्च सर्वशास्त्रोपदेशावसरे ममाशयस्थं केनापि न ज्ञातं सर्वसर्वात्मनः पराद्वयस्य सर्वशास्त्रेषु गूढोक्त्यासूत्रितस्य भेदाधिवासितैर्दुरवधारत्वात् सुष्ठु दुर्लभम् । एतन्मन्त्रयोगज्ञानगम्यत्वात् स्थूलसूक्ष्मपरोपायप्राप्यं त्रिप्रकारं ध्रुवं नित्यं

था । इसलिये 'बिना पूछे किसी को नहीं बतलाना चाहिये' इस नीति के अनुसार मैंने भी किसी को नहीं बतलाया ॥ ९ ॥

इसलिये—

विद्यमान् समस्त मन्त्रों में यह नेत्रस्वरूप माना गया है । मेरे विचार में स्थित इस सुदुर्लभ वीर्य को किसी ने नहीं समझा । आज मैं तुमको बतलाऊँगा । यह परम ध्रुव (नेत्र) तीन प्रकार का है, मन्त्र योग और ज्ञान से जानने योग्य, मोक्षप्रद, सिद्धिदायी और श्रेष्ठ है ॥ १०-११ ॥

जो तुमने नेत्र का स्वरूप पूछा वह प्रधानरूप से विद्यमान साढ़े तीन करोड़ मन्त्रों और उनके विषयों के बीच नेत्र के समान है । जैसे इतर इन्द्रियों में नेत्र प्रधान होता है अथवा पदार्थों के रहने पर यह (नेत्र) उनका प्रकाशक होता है उसी प्रकार यह (मन्त्र) है । जैसा कि कहेंगे—

'यह देव (= दीप्यमान नेत्र) सर्वसाधारण और समस्तसिद्धियों का फल देने वाला है । क्योंकि यह समस्त मन्त्रों का जीवभूत माना गया है ।' (ने०तं० १३।४४)

समस्त शास्त्रों के उपदेश के समय भी मेरे विचार में स्थित यह किसी को मालुम नहीं हुआ । यह सब का सार है, परम अद्वय है, समस्त शास्त्रों में गूढ उक्ति के रूप में संकेतित है इसलिये भेदभावना से अधिवासित लोगों के द्वारा कठिनाई से जानने योग्य होने कारण अत्यन्त दुर्लभ है । यह (नेत्रतत्त्व) मन्त्र योग

भोगमोक्षफलं तव योग्याया ध्रुवं निश्चितमद्य कथयिष्यामि, इति सोपायसप्रयोजनवस्तुतत्त्वप्रतिपादनं पुनरपि विशेषतः प्रतिजानीते, अत्यन्तोपादेयत्वादस्यार्थस्य ॥ ११ ॥

तत्र—

आदौ मन्त्रमयं वक्ष्ये सिद्धित्रयसमन्वितम् ।
साङ्गं स्वमुद्रया युक्तं सर्वत्राणकरं परम् ॥ १२ ॥

यदुपक्रान्तं परं रूपं तद् बोधस्य विमर्शसारत्वान्मन्त्रः प्रकृतं रूपं यस्य तादृक्, भाविभौमान्तरिक्षदिव्यत्वभिन्नसिद्धित्रययुक्, हृदयाद्यङ्गषट्कसहितम्, भाविपद्मामृतमुद्रया युक्तम्, सर्वत्राणकृद् विश्वानुग्रहकृत्, वक्ष्यामि, इति मन्त्रविषयैषा एतदधिकारप्रतिज्ञा ॥ १२ ॥

किं च—

भूतयक्षग्रहोन्मादशाकिनीयोगिनीगणैः ।
भगिनीरुद्रमात्रादिडावीडामरिकादिभिः ॥ १३ ॥
रूपिकाभिरपस्मारैः पिशाचैश्चाप्यनेकशः ।

और ज्ञान से जानने योग्य होने से तथा स्थूल सूक्ष्म एवं पर उपाय से प्राप्य होने के कारण तीन प्रकार का है, ध्रुव = नित्य तथा भोग एवं मोक्ष रूपी फल को देले वाला है। योग्य तुमको मैं निश्चित रूप से आज बतलाऊँगा । इस प्रकार सोपाय सप्रयोजन वस्तुतत्त्व के प्रतिपादन की पुनः विशेषरूप से प्रतिज्ञा करते हैं क्योंकि यह अर्थ अत्यन्त उपादेय है ॥ १०-११ ॥

वहाँ—

मैं सर्वप्रथम तीन प्रकार की सिद्धियों से युक्त, अङ्गों के सहित, अपनी मुद्रा से युक्त और अत्यन्त त्राणकारी मन्त्रमय स्वरूप को कहूँगा ॥ १२ ॥

जिस पररूप का उपक्रम (= प्रारम्भ) किया गया है, बोध के विमर्शरूप होने के कारण, वह मन्त्र है । वही मन्त्र इस (नेत्र) का रूप है । यह भौम अन्तरिक्ष एवं दिव्य भेद से भिन्न तीन भावी (= आगे वर्णन की जाने वाली) सिद्धियों से युक्त है; हृदय आदि छह अङ्गों के सहित है; भावी पद्म अमृत मुद्रा से युक्त है; सबका त्राण करने वाला सबके ऊपर अनुग्रह करने वाला है । 'कहूँगा' यह इस मन्त्र-विषयक अधिकार की प्रतिज्ञा है ॥ १२ ॥

तथा—

भूत, यक्ष, ग्रह, उन्माद, शाकिनी, योगिनीसमूह, भगिनी, रुद्र, रुद्रमाता, डावी, डामरिका, रूपिका, अपस्मार (= मिर्गी) अनेक पिशाच,

ब्रह्मरक्षोग्रहाद्यैश्च कोटिशो यदि मुद्रिताः ॥ १४ ॥
अपमृत्युभिराक्रान्ताः कालपाशैर्जिघांसिताः ।
राजानो राजतनया राजपत्न्यो ह्यनेकशः ॥ १५ ॥
विप्रादिप्राणिनः सर्वे सर्वदोषभयार्दिताः ।
येन वै स्मृतिमात्रेण मुच्यन्ते तद् ब्रवीमि ते ॥ १६ ॥

भूतादिभिर्यदि मुद्रिताः समापन्नापमृत्यवश्च कालपाशैर्हन्तुमिष्टाः प्राप्तमृत्यवो राजाद्याः प्रजापालकाः, तत्पाल्या विप्राद्याः, सर्वेभ्यो दोषेभ्यो व्याध्यादिभ्यो यद् भयं तेनार्दिताः, यत्स्मृतेरेव मुच्यन्ते तन्मन्त्रस्वरूपं ते वच्मि—इति सङ्गतिः । भूताः शून्यकूपैकवृक्षचत्वरादिस्थानस्थाः । यक्षाः बलिनः सत्त्वविशेषाः । ग्रहा बालग्रहरतिग्रहाद्याः । असंबद्धप्रलाप्यनिमित्तक्रोधकामादिचित्रचित्तवृत्तिदर्शी उन्मादः । रूपपरिवृत्त्यर्थं पशुशोणिताद्याकर्षिणी शाकिनी । पीठजा देव्यो योगिन्यः । ब्राह्म्याद्यंशकोत्था भगिन्यः । ब्राह्म्याद्यास्तु रुद्रमातरः । डाव्यो डामरिकाश्च, श्रीसर्ववीरे—

'परचित्तगतं ज्ञानं रूपस्य परिवर्तनम् ।
करोत्यमृतलुब्धा च ज्ञेया सा रुद्रडाकिनी ॥

इत्युपक्रम्य—

ब्रह्म, राक्षस ग्रह आदि के द्वारा करोंड़ों प्रकार से आविष्ट, अपमृत्यु से आक्रान्त, कालपाश से मरणासन्न राजा, राजपुत्र, राजपत्नियाँ, ब्राह्मण आदि समस्त प्राणी वर्ग, समस्त दोष एवं भय से पीड़ित होने पर जिसके स्मरणमात्र से मुक्त हो जाते हैं । उसको मैं तुम्हें बतला रहा हूँ ॥१३-१६॥

यदि भूत आदि से मुद्रित = विपन्न, अपमृत्यु वाले = कालपाश से मारे जाने की इच्छा वाले, मृत्यु को प्राप्त राजा आदि-प्रजापालक, उनके पाल्य ब्राह्मण आदि, समस्त दोष व्याधि (= शारीरिक कष्ट) आदि से जो भय उससे पीड़ित हुए जिसके स्मरणमात्र से मुक्त हो जाते हैं उस मन्त्रस्वरूप को तुम्हें बतलाऊँगा—यह अन्वय है। भूत = जलरहित कुँआँ, अकेला वृक्ष, चौराहा आदि स्थानों में रहने वाले । यक्ष = बलवान् प्राणीविशेष, ग्रह = बालग्रह रतिग्रह आदि । उन्माद = असम्बद्ध प्रलाप, अनिमित्त क्रोध, काम आदि विचित्र चित्तवृत्ति को प्रकट करने वाला (जीव या रोग), शाकिनी = रूपपरिवर्त्तन के लिये पशु के रक्त आदि को खींचने वाली (आत्मायें)। योगिनी—पीठों में उत्पन्न देवियाँ । भगिनी—ब्राह्मी आदि के अंश से उत्पन्न (देवियाँ) रुद्रमातायें—ब्राह्मी आदि; डावी और डामरिकायें । श्री सर्ववीरतन्त्र मे—

'जो दूसरे के मन में स्थित विचार को जानती और अपने रूप का परिवर्त्तन करती है, अमृतलुब्धा उसे रुद्रडाकिनी समझना चाहिये ॥'

डाव्यश्चैवंविधा ज्ञेया गुप्ताचारार्चने रताः ।
स्वादयन्ति न तु घ्नन्ति च्छिद्रान्वेषणतत्पराः ॥
डामर्यस्त्वपरा ज्ञेया मन्त्रतद्गतचेतसः ।
परामृतं समश्नन्ति मानुषं वाहयन्ति च ॥
पर्यटन्त्यखिलां पृथ्वीं रूपं कुर्वन्त्यनेकधा ।'

इति लक्षिताः । हिंसिकाः रूपिकाः । आकस्मिकपतननैःसंज्ञफेणमोकादि-कृदपस्मारः । श्मशानादिवासिन उल्कामुखाः पिशाचाः । ब्रह्मरक्षांसि राक्षस-विशेषाः । ग्रहा अनिष्टराशिं गता भौमाद्याः । वितत्य चैतत्स्वरूपमग्रे दर्शयिष्यामः ॥ १६ ॥

अथ मन्त्रोद्धारे इतिकर्तव्यतामाह—

भूप्रदेशे समे शुद्धे चन्दनागुरुचर्चिते ।
कर्पूरामोदगन्धाढ्ये कुङ्कुमामोदसेविते ॥ १७ ॥
आचार्यस्तु प्रसन्नात्मा चन्दनागुरुचर्चितः ।
उष्णीषाद्यैराभरणैर्भूषितः सुमहामतिः ॥ १८ ॥

ऐसा प्रारम्भ कर—

'डावियों को इस प्रकार की समझना चाहिये । वे गुप्त व्यवहार एवं गुप्त पजा में लगी रहती हैं । वे (नाना प्रकार के) स्वाद लेती हैं । किसी की हिंसा नहीं करती और छिद्र (= दोष) के अन्वेषण में लगी रहती है । दूसरी डामरियाँ होती हैं जो मन्त्र में ध्यान लगाती हैं, पर (= उत्तम अथवा दूसरे का) अमृत भोजन करती है, मनुष्यों को (इधर-उधर) ले जाती हैं, समस्त पृथ्वी पर घूमती तथा अनेक रूप धारण करती रहती हैं ।'

ऐसा लक्षण वाली हैं । हिंसिका = रूपिका आकस्मिक पतन, बेहोशी, मुंह से झाग और मोक (= कपड़ों आदि को नोचना उतार कर फेंकना) आदि को उत्पन्न करने वाली स्थिति अपस्मार (= मिर्गी) कहलाती है (यह कार्य जिस दुष्ट आत्मा के द्वारा किया जाय उसे भी अपस्मार कहते हैं)। श्मशान आदि में रहने वाले मुख में उल्का (= प्रज्वलित अग्नि) वाले पिशाच कहलाते हैं । ब्रह्मराक्षस = राक्षसविशेष (= अकालमृत्यु को प्राप्त ब्राह्मण) । ग्रह = अनिष्ट राशि को प्राप्त मङ्गल आदि । इनका विस्तृतस्वरूप आगे बतलायेंगे ॥ १६ ॥

अब मन्त्रोद्धार में इतिकर्त्तव्यता को बतलाते हैं—

समतल, शुद्ध, चन्दन अगर आदि से उपलिप्त, कपूर एवं अन्य सुगन्धित द्रव्यों से युक्त, कुंकुम की सुगन्ध से भरी हुयी भूमि पर आचार्य अष्टदल कमल बनाकर उसमे मातृकाओं का उल्लेख करे । आचार्य

पद्ममष्टदलं कृत्वा मातृकां तत्र चालिखेत् ।

शुद्धे अमिश्रवर्णे । चन्दनेति चन्दनादिना आधारशक्तितया पूजिते इत्यर्थः । प्रसन्नः शिवसमावेशप्राप्तनैर्मल्य आत्मा यस्य । चन्दनेति कृतनित्यानुष्ठानः । सुष्ठु महामतिर्मातृकासतत्त्वज्ञः, अज्ञाता माता मातृका अशेषमन्त्रादिजननी ॥१८॥

कथमित्याह—

त्रितनुं मध्यतो न्यस्य वर्गान् प्रागादितो लिखेत् ॥ १९ ॥

त्रितनुमोंकारम्, मध्यतः कर्णिकायाम्, वर्गान् कचटतपयशाद्यान् क्रमेण प्राच्याद्यैशान्यन्तम् ॥

इत्थं लिखित्वा पाठक्रमेणैव—

पूजयेत् परया भक्त्या पुष्पधूपादिविस्तरैः।
मन्त्राणां मातरं देवि प्रोद्धरेन्मन्त्रदेवताम् ॥ २० ॥

प्रसन्नचित्त, चन्दन अगर से उपलिप्त, पगड़ी आदि से अलंकृत एवं विद्वान् होना चाहिये ॥ १७-१९- ॥

शुद्ध में = जिसका रङ्ग मिश्रित न हो (अर्थात् जिस भूमि के कई रंग न हों) उसमें, चन्दन......... = चन्दन आदि के द्वारा आधारशक्ति के रूप में पूजित—यह अर्थ है । प्रसन्न = शिवसमावेश के कारण निर्मलता को प्राप्त आत्मा वाला । चन्दन....... = नित्य अनुष्ठान को सम्पादित कर। सुमहामति = मातृकाओं के तत्त्व को जानने वाला । मातृका = अज्ञाता माता मातृका (अज्ञाते 'कन्') अर्थात् समस्त मन्त्र आदि की जननी ॥ १८ ॥

कैसे ?—यह कहते हैं—

मध्य में त्रितनु को लिखकर पूर्व आदि दिशाओं में वर्गों को लिखे ॥ -१९ ॥

त्रितनु = ओंकार (क्योंकि इसमें अ उ म् तीन तनु = अक्षर हैं) मध्यतः = (अष्टदल कमल की) कर्णिका में । वर्गों को = अ क च ट त प य श वर्गों को पूर्व से लेकर ईशान पर्यन्त लिखे । (वह इस प्रकार—अ वर्ग को पूर्व में क वर्ग को अग्निकोण में इसी प्रकार क्रमशः लिखते हुए श वर्ग को ईशान दिशा में लिखना चाहिये) ॥ १९ ॥

उस प्रकार लिखकर पाठ के क्रम से ही—

हे देवि ! परमभक्ति के साथ पुष्प धूप आदि के विस्तृत समर्पण द्वारा मन्त्रों की माता का पूजन करें, तत्पश्चात् मन्त्रदेवता का उद्धार करे ॥२०॥

प्रोद्धरेदिति पूजानन्तरमित्यर्थः ॥ २० ॥

उद्धारमाह—

विश्वाद्यं विश्वरूपान्तं विश्वहामृतकन्दलम् ।
ज्योतिर्ध्वनिः पराशक्तिः शिव एकत्र संस्थितः ॥ २१ ॥

विश्वाद्यं प्राथमिकवर्णम्, विश्वरूपाया मायाया ईकारस्यान्तमन्तगमुवर्णम्, विश्वहा कालस्तद्वाची मकारः । अथ च विश्वस्याद्यः स्रष्टा ब्रह्मा तद्वाचित्वादवर्णम्, तथा विश्वरूपस्य विष्णोरन्तो निश्चयो यस्य तदुवर्णम्, विश्वसंहर्ता रुद्रस्तद्वाचित्वान्मकारोऽपि तथेति वाच्यानुसार्यप्युद्धारः । अमृतमशेषविश्ववेद्याभेदवेदनात्मा बिन्दुः, कन्दलमर्धचन्द्रः, ज्योतिर्निरोधिका स्पष्टरेखात्मा, ध्वनिः सर्ववाचकाभेदविमर्शात्मा नादो हकलारूपः, पराशक्तिर्बिन्दुद्वयमध्यगा स्पष्टरेखा । अत्र नादेन नादान्तः स्वीकृतः, पराशक्त्याप्यधरवर्त्यपरादिशक्तिरूपाः शक्तिव्यापिनीसमनाशक्त्योऽन्तःकृताः । शिव उक्तविश्वाभेदविमर्शात्मा परनादरूपतया सर्वोपरि दर्शनीयः, इति धूलिभेदक्रमः ।

'ब्रह्मोपेन्द्रहराण्डवाच्यउमवागैक्यप्रथा नादभू-
म्यारोहाय गलत्स्ववेद्यशशभृल्लेखानिरोधान्तगा ।

उद्धार करे—पूजा के बाद—यह अर्थ है ॥ २० ॥

उद्धार को बतलाते हैं—

विश्वाद्य, विश्वरूपान्त, विश्वहा, अमृत, कन्दल, ज्योति, ध्वनि, पराशक्ति और अन्त में एकत्र स्थित शिव का उद्धार करे ॥ २१ ॥

विश्वाद्य = प्रथम वर्ण (= अ) । विश्वरूपा माया अर्थात् ईकार के अन्त में आने वाला उ वर्ण । विश्वहा = काल, उसका वाचक म् (इस प्रकार ओम् बना) । अथवा विश्व का आद्य स्रष्टा = ब्रह्मा, उसका वाचक अवर्ण । विश्वरूप = विष्णु उसका अन्त = निश्चय वाला उ वर्ण, विश्वहा = विश्वसंहर्त्ता = रुद्र तद्वाची मकार इस प्रकार (ओम् बनता है जो) वाच्यानुसारी उद्धार है । अमृत = समस्त विश्व के वेद्य का अभेद रूप से वेदन करने वाला—बिन्दु । कन्दल = अर्धचन्द्र । ज्योति = स्पष्ट रेखा वाली रोधिनी । ध्वनि = नाद जो कि सबका वाचक अभेदविमर्श वाला हकला रूप है । यहाँ नाद से नादान्त को भी समझना चाहिये । पराशक्ति = दो बिन्दुओं के मध्य में जाने वाली स्पष्ट रेखा । पराशक्ति के भी नीचे रहने वाली अपरा आदिशक्तिरूपा शक्ति व्यापिनी और समना शक्तियाँ । शिव = उक्त विश्व के अभेदविमर्शवाला परनाद के रूप में सबके ऊपर बतलाया जाता है । यह धूलिभेद क्रम है । ('ब्रह्मोपेन्द्र...' श्लोक में उन्मना शक्ति की स्तुति की गयी है ।) श्लोक का स्पष्टार्थ यह है—

नादज्ञातृतलोर्ध्वयोर्विगलिते वेद्ये स्फुटान्तर्ध्वनि-
स्पर्शव्याप्तिपदा तदात्तमनना तत्त्वोन्मना तां स्तुमः ॥'

इति हृद्भेदक्रमः । एकत्र संस्थित इत्युक्तितः पदार्थजातस्यैकप्रणवात्मता दर्शिता ॥ २१ ॥

अस्य माहात्म्यमाह—

अनेन ग्रथितं सर्वं सूत्रे मणिगणा इव ।
अस्मान्मन्त्राः समुत्पन्नाः सप्तकोट्योऽधिकारिणः ॥ २२ ॥

ग्रथितमुम्भितं व्याप्तमिति यावत् । सप्तकोट्यो मन्त्रा इति प्रथमसर्गे तावतामेवाधिकारोऽभूत् । अनन्तरं तु—

'जातमात्रे जगत्यथ ।'
मन्त्राणां कोटयस्तिस्रः सार्धाः शिवनियोजिताः ।
अनुगृह्याणुसङ्घातं याताः पदमनामयम् ॥' (१।४०-४१)

इति श्रीपूर्वेऽभिधानादर्धचतस्रः कोटयोऽधिकृताः ॥ २२ ॥

'ब्रह्मा, उपेन्द्र = विष्णु, हर = रुद्र इनके अण्ड—ब्रह्माण्ड प्रकृत्यण्ड और मायाण्ड उनके वाची अ उ म् स्वर वे एक हो जाते हैं जहाँ, वैसी । ओम् की नाद भूमि पर आरुढ़ होकर, गलत् स्वभेद = जहाँ अ उ म् का भेद गलित हो जाता है वह = बिन्दु । शशभृत् = उस बिन्दु का आधा अर्धचन्द्र । फिर उसकी अपेक्षा सूक्ष्म रेखा रोधिनी । फिर नाद जहाँ पर ज्ञाता का निम्न ऊर्ध्व दोनों तल विगलित हो जाता है वह नादान्त । उसके बाद स्पष्ट अन्तर्ध्वनि वाली व्यापिनी । उसके बाद समना (= इन सब के ऊपर स्थित) उन्मना को नमस्कार है ।'

यह हृद्भेद क्रम है । एकत्र स्थित है—इस कथन के द्वारा पदार्थसमूह की एक प्रणवरूपता दिखायी गयी है ॥ २१ ॥

इस (प्रणव) का माहात्म्य बतलाते हैं—

जिस प्रकार सूत्र में मणियाँ गुँथी रहती हैं । उसी प्रकार इस (= प्रणव) ने समस्त विश्व को बाँध रखा है । इस प्रणव से सात करोड़ अधिकारी मन्त्र उत्पन्न हुए हैं । (उपर्युक्त सम्पूर्ण वर्णन में लघु मृत्युञ्जयमन्त्र के प्रथम वर्ण 'ॐ' की व्याख्या की गयी है) ॥ २२ ॥

ग्रथित = उम्भित = व्याप्त । सृष्टि के प्रारम्भ में सात करोड़ मन्त्रों का ही अधिकार था । बाद में—

जब संसार की सृष्टि हो गयी उसके बाद (सात करोड़ मन्त्रों में से) साढ़े तीन करोड़ मन्त्र शिव के द्वारा नियोजित होकर जीवसमूह को अनुगृहीत किये और शिवपद को चले गये । (मा०वि०तं० १-४०-४१)

द्वितीयबीजमुद्धरति—

चित्रभानुपदान्तं तु शशाङ्कशकलोदरम् ।
तदङ्कुशोर्ध्वविन्यस्तं तिर्यग्गान्तोर्ध्वयोजितम् ॥ २३ ॥

चित्रभानुपदं पाद्ममाग्नेयपत्रं तदन्तस्थं कवर्गसंबन्धि ङवर्ण, तच्च शशाङ्क-शकलमर्धचन्द्र उदरे मध्ये यस्य तादृक्, एवमुद्धारानुसारमग्नीषोमात्म जवर्ण जातम् । तदङ्कुशस्योकारस्य ऊर्ध्वेति उपरि विन्यस्तं कार्यम् । तथा तिर्यग्गो वायुस्तत्पत्रे योऽन्त: पवर्गापेक्षया मकारस्तेन ऊर्ध्वयोजितं बिन्दुरूपयोजना यस्य । अत्र च बिन्दुरर्धचन्द्रादिप्रमेयासूत्रणपर: ॥ २३ ॥

अस्य महात्म्यमाह—

एतत्तत्परमं धाम एतत्तत्परमामृतम् ।

चिदानन्दघनमित्यर्थ: ॥

तृतीयमुद्धरति—

ऐसा मालिनीविजय तन्त्र में कथन होने से साढ़े तीन करोड़ ही अधिकृत हुए ॥ २२ ॥

दूसरे बीज का उद्धार करते हैं—

यहाँ चित्रभानुपद के अन्त की, जिसके उदर में शशाङ्कशकल (= चन्द्रखण्ड) हो, वह अंकुश के ऊपर हो जो कि तिर्यक्गामी को ऊपर नियोजित किये हो ॥ २३ ॥

चित्रभानुपद = अष्टदल कमल का अग्निकोण में स्थित पत्र—उसके अन्त में स्थित क वर्ग सम्बन्धी ङ वर्ग, वह शशाङ्क का शकल (= टुकड़ा) = अर्धचन्द्र है जिसके उदर = मध्य, में वह । इसप्रकार उद्धार के अनुसार अग्नीसोमात्मक 'ज वर्ण' बना । वह अंकुश = ऊकार, के ऊपर लिखा जाना चाहिये । (इस प्रकार जु अथवा 'जू' बनेगा) । इसके बाद तिर्यग्ग = तिर्यक् चलने वाला वायु उसके कोण अर्थात् वायव्यकोण उसमें स्थित पत्र में जो अन्तिम वर्ण पवर्ग की अपेक्षा 'म्' उसको ऊपर विन्दुरूप में लगा दिया गया । इस प्रकार 'जूं' बना । यहाँ (वर्णित) बिन्दु अर्धचन्द्र आदि प्रमेय को बतलाने वाला है ॥ २३ ॥

इसका माहात्म्य बतलाते हैं—

यह परम धाम है । परम अमृत है ॥ २४- ॥

चित् आनन्दघन है—यह अर्थ है ।

तीसरे (बीज) का उद्धार करते हैं—

यत्तत्परममुद्दिष्टममृतं लोकविश्रुतम् ॥ २४ ॥
पीयूषकलया युक्तं पूर्णचन्द्रप्रभोपमम् ।

यत्तदिति स्वसंवेद्यं सम्यक् स्वरूपस्फुरत्तया समावेशसुखसद्भावावमर्शित्वात् परममुद्दिष्टम्, अमृतं लोकविश्रुतमित्यमृतबीजतया लोके प्रसिद्धं सकारात्मकम् । पीयूषकला अमाख्या षोडशी परा विमर्शशक्तिस्तया युक्तं विश्वसत्तायाः परामृतमयत्वापादनात् पूर्णचन्द्रप्रभातुल्यम् ॥

यत्तत्परममुद्दिष्टमित्युक्त्या तृतीयबीजमाहात्म्यस्योक्तत्वात् समस्तमन्त्रनाथस्य माहात्म्यमाह—

एतत्तत्परमं धाम एतत्तत्परमं पदम् ॥ २५ ॥
एतत्तत्परमं वीर्यमेतत्तत्परमामृतम् ।
तेजसां परमं तेजो ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम् ॥ २६ ॥
सर्वस्य जगतो देवमीश्वरं कारणं परम् ।
स्रष्टा धर्ता च संहर्ता नास्त्यस्य सदृशो बली ॥ २७ ॥
मन्त्राणामालयो ह्येष सर्वसिद्धिगुणास्पदम् ।

तदेतच्छब्दौ स्वरूपप्रत्यभिज्ञापनाय । परममनुत्तरं धाम चित्प्रकाशः, पदं विश्रान्तिभूमिः, वीर्यं सामर्थ्यम्, अमृतमानन्दः, तेजसां कालाग्न्यादिदीप्तीनाम्,

---

जो लोकप्रसिद्ध परम अमृत कहा गया तथा अमृत कला से युक्त, पूर्णचन्द्र के समान है (वह तृतीय बीज सः है इस प्रकार पूरा मन्त्र ॐ जुं सः अथवा 'ॐ जुं सः बनता है) ॥ -२४-२५- ॥

जो वह—स्वसंवेद्य, सम्यक् स्वरूपस्फुरत्ता के द्वारा (शिव) समावेश के सुख के सद्भाव का आमर्शक होने के कारण परम कहा गया है । अमृत लोकविश्रुत = अमृतबीज के रूप में लोक में प्रसिद्ध है—'स' । पीयूष कला = अमा नामक षोडशी परा विमर्श शक्ति, उससे युक्त, विश्वसत्ता को पर अमृतमय बनाने के कारण पूर्ण चन्द्र की प्रभा के तुल्य है ।

'यत् तत् परममुद्दिष्टम्'—इस कथन में तृतीय बीज के माहात्म्य का कथन करने के कारण समस्त मन्त्रनाथ का माहात्म्य बतलाते हैं—

यह (मन्त्रनाथ) परमधाम, परमपद, परमवीर्य, परम अमृत है । यह तेजों का परमतेज, नक्षत्रों का उत्तम नक्षत्र, समस्त संसार का देव, ईश्वर एवं परमकारण है । यह सृष्टि करने वाला, पालक एवं संहार करने वाला है । इसके समान कोई बलवान् नहीं है । यह मन्त्रों का आलय एवं समस्त सिद्धियों तथा गुणों का स्थान है ॥ -२५-२८- ॥

(मूल में कहे गये) 'तत्' 'एतत्' शब्द स्वरूप के प्रत्याभिज्ञापन के लिये है ।

ज्योतिषां सूर्येन्दुध्रुवादीनाम्, सर्वस्येति षडध्वरूपस्य जगतो देवं द्योतमानम् उपादानाद्यनपेक्षि परं कारणं स्वचिद्भित्तौ स्वानतिरिक्तस्यातिरिक्तस्येव विश्वस्य भासकम्, अतश्च बली शक्तः । अस्य सदृशो न कश्चित् सर्गादिपञ्चकृत्यकृदस्ति, अस्यैव स्वच्छस्वतन्त्रचिदेकघनत्वात् । सदाशिवादीनां त्वेतदाभासितानामेतदैश्वर्य-विप्रुट्प्रोक्षणेनैतदिच्छयैव सृष्ट्यादिकारित्वात् । वक्ष्यति चैतत्—

'शक्त्या तु भगवान् सर्वं करोति हि विभुत्वतः ।
निमित्तकारणं देवो यथा सूर्यमणेः क्रिया ॥
उपादानं तु सा शक्तिः संक्षुब्धा समवायतः ।'
(२१।५०-५१) इति ।

एतच्च तत्रैव व्याख्यास्यामः । मन्त्राणामालय इति सर्वेषां चिदानन्दात्मवीर्यसारत्वात्, सर्वासां साधकाभीष्टसिद्धीनां गुणानां च सर्वज्ञत्वादीनामास्पद-माश्रयः ॥

अथ—

अधुनाङ्गानि वक्ष्यामि संनद्धो यैस्तु सिद्ध्यति ॥ २८ ॥

अङ्गानि हृदयादीनि, संनद्ध इति नित्यनैमित्तिकादौ कृतपरिग्रहः, सिद्ध्यति

परम = अनुत्तर धाम चित् प्रकाश । पद = विश्रामस्थान । वीर्य = सामर्थ्य । अमृत = आनन्द । तेजों का = कालाग्नि आदि तेजों का । नक्षत्रों का = सूर्य चन्द्रमा ध्रुव आदि का । सब का = षडध्वरूप जगत् का । देव = द्योतमान अर्थात् उपादान आदि की अपेक्षा न करने वाला । अन्तिम कारण अर्थात् अपनी चित्‌रूप भित्ति पर अपने से अभिन्न भी विश्व का भिन्नरूप में भासन करने वाला । इसलिये बली = समर्थ है । इनके समान कोई भी पञ्चकृत्यकारी नहीं है । क्योंकि यही स्वच्छ स्वतन्त्र चिदेकघन हैं । सदाशिव आदि इनके ही द्वारा आभासित हैं और इनके ऐश्वर्य की एक बूंद के प्रोक्षण से इनकी इच्छा से ही सृष्टि करते हैं । इसे आगे कहेंगे—

'भगवान् अपने वैभव के कारण शक्ति के द्वारा सब कुछ करते हैं । वे देव उसी प्रकार निमित्त कारण है जैसे कि सूर्यकान्तमणि के (द्वारा दाह) क्रिया करने में (सूर्य निमित्त है) । (उनमें) समवेत होने के कारण संक्षुब्ध वह शक्ति (संसार का) उपादान है ।'

इसकी हम वहीं व्याख्या करेंगे । मन्त्रों का आलय—क्योंकि वे सबके चिदानन्दात्मकवीर्य का सार हैं । साधकों की समस्त इष्टसिद्धियों का और सर्वज्ञता आदि समस्त गुणों का, आस्पद = आश्रय, हैं ॥

अब (मैं) अङ्गों का कथन करूँगा जिनसे सन्नद्ध होकर (साधक) सिद्ध बनता है ॥ -२८ ॥

भुक्तिं मुक्तिं च लभते साधकादिः, आचार्यस्तु वितरति पुत्रकादेरित्यर्थात् । अनेन च भाविनित्यादिकर्मोपक्षिपता पाटलिकी सङ्गतिर्दर्शिता ॥ २८ ॥

तत्र—

कृतान्तमध्यमं वर्णं स्वरराट्पञ्चमानुगम् ।
प्रभञ्जनान्तशिरसं हृदयं सर्वसिद्धिदम् ॥ २९ ॥

कृतान्तस्य याम्यदलस्थस्य चवर्गस्य मध्यमं वर्णं ज, स्वरराट् इन्द्रः तत्पत्रस्थस्यावर्गस्य पञ्चम उकारोऽनुगोऽधोगतो यस्य, प्रभञ्जनान्तो मकारो बिन्दुरूपः शिरसि यस्येति मान्त्रं द्वितीयं बीजमेवैतत् हृदयं निर्णीतम्, महामाहात्म्ययोगात् सर्वाः सिद्धीर्ददाति ॥ २९ ॥

शिरोमन्त्रमाह—

सोमान्तमनलाद्येन युक्तं प्रणवयोजितम् ।
एतच्छिरः.......

सोमदिग्दलगयवर्गान्तं ववर्णम्, अनलस्याग्नेयवर्णस्य रेफस्याद्येन वर्णेन

अङ्ग = हृदय आदि । सन्नद्ध = नित्य नैमित्तिक आदि कार्यों में अनुष्ठान के लिये सङ्कल्प तथा अनुष्ठान करने वाला । सिद्ध बनता है = साधक आदि भोग और मोक्ष प्राप्त करते हैं । यहाँ अर्थात् यह भी समझना चाहिये कि आचार्य पुत्रक आदि को वितरित करते हैं । भावी नित्य आदि कर्मों का उपक्षेप करने वाले इसके द्वारा पटल की सङ्गति दिखायी गयी ॥ २८ ॥

वहाँ—

कृतान्त का मध्यम वर्ण जिसके नीचे इन्द्र का पञ्चम वर्ण लगा हो, तथा शिर पर वायु अन्त वाला हो, (ऐसा स्वरूप) हृदय कहा गया है । यह समस्त सिद्धियों को देने वाला है ॥ २९ ॥

कृतान्त = (अष्टदल कमल के) दक्षिण दिशा में स्थित पत्र पर अङ्कित च वर्ग, का मध्यम वर्ण 'ज', स्वरराट् = इन्द्र, उस दिशा के पत्र पर स्थित अ वर्ग का पञ्चम उकार अथवा ऊकार है अनुग = अधोगत जिसके, प्रभञ्जन = वायु कोण में (स्थित प वर्ग का) अन्त बिन्दुरूप 'म्' शिर पर है जिसके । इस प्रकार (ॐ जुं सः अथवा ॐ जूं सः) मन्त्र का द्वितीय बीज 'जुं' या जूं ही हृदय मन्त्र गया है । महामाहात्म्य के योग से यह समस्त सिद्धियों को देता है ॥ २९ ॥

शिरोमन्त्र को बतलाते हैं—

सोमान्त वर्ण यदि अनलाद्य से युक्त हो और उसके साथ प्रणव जुड़ा हो तो यह शिर होता है ॥ ३०- ॥

यकारेण युक्तम्, प्रणवेन मिश्रीकृतम् । एवं व-य-ओमेतत्त्रयैकीकारात् शिरः शिरोमन्त्रोऽयम् ॥

अथ—

....अनिलान्तेन युक्ता माया शिखा स्मृता ॥ ३० ॥

माया ई, अनिलान्तेन प्राग्वद् बिन्दुना, शिखा स्मृतेत्यविच्छिन्नेन पारम्पर्येण ॥ ३० ॥

कवचमाह—

ईशान्तमीश्वरोर्ध्वं च द्वादशार्धोर्ध्वयोजितम् ।
शिवशक्त्याथ नादेन युक्तं तद्वर्म चोत्तमम् ॥ ३१ ॥

ईशदिग्दलगशवर्गान्तं हवर्णं क्षस्य कूटाक्षरत्वेन पृथक्त्वात्, यदि वा ईश ईशानवक्त्रा वाची क्षोऽन्ते यस्येति, तदेव ईश्वर ईश्वरभट्टारकवाची बिन्दुरूर्ध्वे शिरसि यस्य । द्वादशानामर्धस्य षष्ठबीजस्योकारस्योर्ध्वे योजितम्, शिवशक्त्येत्यनेनोर्ध्वगसर्वमान्त्रप्रमेयमुक्तम्, वर्म कवचम् ॥ ३१ ॥

नेत्रमाह—

सोम (= उत्तर) दिशा के पत्र में वर्तमान य वर्ग का अन्तिमवर्ण 'व', अग्नि का वर्ण रेफ उसके आदि वर्ण 'य' से युक्त और प्रणव से मिलाया गया हो व् य् ओं (व्योम्) इस प्रकार इन तीनों को एक में मिला देने पर यह शिरो मन्त्र है ॥

इस प्रकार—

अनिलान्त से युक्त माया शिखा मानी गयी है ॥ -३० ॥

माया = ई । अनिलान्त = पूर्व की भाँति बिन्दु से, शिखा मानी गयी है—अविच्छिन्नपरम्परा के द्वारा । (इस प्रकार शिखा बीज हुआ—ईं) ॥ ३० ॥

अब कवच को बतलाते हैं—

ईश अन्त में हो, ईश्वर ऊर्ध्व में हो । यह द्वादशार्ध से युक्त हो साथ ही शिवशक्ति नाद से युक्त हो तो वह उत्तम कवच कहा गया है ॥ ३१ ॥

ईशानदिशा में स्थित शवर्ग का अन्तिम वर्ण 'ह' है । 'क्ष' कूटाक्षर होने से शवर्ग से पृथक् माना गया है । (ईशान्त की दूसरी व्याख्या करते हैं—) अथवा ईश = ईशान वक्त्रवाची 'क्ष' है अन्त में जिसके वह = 'ह' । वही ईश्वर = ईश्वरभट्टारकवाची = बिन्दु है ऊपर जिसके । (इस प्रकार 'हं' बनता है) । बारह स्वरों का आधा, छठां स्वर = 'ऊं' जिसके ऊपर अर्थात् शिर पर जोड़ा गया हो । (इस प्रकार 'ऊं' बनेगा । 'शिवशक्त्या' कथन से ऊर्ध्वगामी समस्त मन्त्रों का प्रमेय कहा गया । वर्म = कवच ॥ ३१ ॥

सभैरवाद्यं प्रणवं सदागतिशिरःस्थितम् ।
नेत्रमन्त्रो महोग्रश्च सर्वकिल्विषनाशनः॥ ३२ ॥

भैरवो झाङ्कारभैरववाचको झकारस्तस्याद्यं ज, सह भैरवस्याद्येन वर्तते यत्प्रणवरूपं तद्वायुवर्णस्य यकारस्य शिरसि उपरि स्थितमिति त्रितयैकीकारात्मकम्। महोग्र इति शाक्तमरूद्वेजितभैरववह्निप्लुष्टाशेषभेदत्वात् तत एव सर्वपापदाही। चकारः परविश्रान्तिप्रदत्वं समुच्चिनोति ॥ ३२ ॥

अस्त्रमाह—

अजीवकटसंयुक्तमस्त्रमेतत् प्रकीर्तितम् ।

न विद्यते जीवो यस्मात् सोऽयमजीवकः फकारः संहारवर्णः, स चासौ अजीवकेनाप्राणेनानच्केन टकारेण सम्यक् संहारसारेण युक्तः। अजीवकशब्दो द्विरावर्त्यः ॥

उपसंहरति—

अङ्गषट्कं समाख्यातं मन्त्रराजस्य सिद्धिदम् ॥ ३३ ॥

नेत्र को बतलाते हैं—

भैरव के आद्यवर्ण के सहित प्रणव, जिसके ऊपर सदागति = वायु वर्ण स्थित हो, यह नेत्र मन्त्र है जो कि अत्यन्त उग्र और समस्त पापों का नाशक है ॥ ३२ ॥

भैरव = झाङ्कार भैरव का वाचक वर्ण झकार उसके पहले 'ज'। इसके साथ वर्त्तमान प्रणव = ओऽम्। वह वायु वर्ण = यकार, के शिर पर = ऊपर, स्थित हो अर्थात् ये तीनों एक हो (इस प्रकार 'ज्योम्' बना)। महोग्र—क्योंकि वह शाक्त मरुत् से उद्वेजित भैरववह्नि के द्वारा समस्त भेदों को जला देता है। इसीलिये सर्वपापदाही है। श्लोक में 'च' (का प्रयोग उस नेत्र की) परविश्रान्तिप्रदानता को सूचित करता है ॥ ३२ ॥

अस्त्र को बतलाते हैं—

टकार से संयुक्त अजीवक को अस्त्र कहा गया है ॥ ३३- ॥

जिसमें जीव नहीं है, वह अजीवक = फकार। यह संहारवर्ण है। वह और अजीवक = प्राणरहित = स्वररहित, टकार से संयुक्त होकर 'फट्' बनता है। अजीवक शब्द को दो बार पढ़ना चाहिये। (एक पाठ का अर्थ होगा—फ जो कि संहार वर्ण है और दूसरे पाठ का अर्थ होगा—जीव = स्वर, के बिना) ॥

उपसंहार करते हैं—

मन्त्रराज के छह अङ्गों का वर्णन किया गया जो सिद्धि को देने

सम्यग् वीर्यसारमाख्यातम्, सिद्धिदमित्याराधकानामर्थात्, अनेनाधिकारान्तर-सङ्गतिः सूचितेति शिवम् ॥ ३३ ॥

सर्वज्ञतादिगुणषट्कमयाङ्गसङ्गिसंपूर्णसुन्दरचिदेकघनप्रकाशम् ।
निःशेषपञ्चविधकृत्यकृदीशनेत्रमन्त्रं नुमो निखिलमन्त्रमहेशमेकम् ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितो-नेत्रोद्योते मन्त्रोद्धारो द्वितीयोऽधिकारः ॥ २ ॥

वाला है ॥ -३३ ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के द्वितीय अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २ ॥

सम्यक् = वीर्य सार, को कहा गया । सिद्धिप्रद अर्थात् आराधकों को । इससे अधिकारान्तर की सङ्गति संकेतित की गयी ।

सर्वज्ञता आदि छह गुणों[१] से परिपूर्ण, अङ्गसहित, सम्पूर्ण सुन्दर, चिदेकघन प्रकाश, समस्त पञ्चविध कृत्य को करने वाले, निखिल मन्त्रों के एक मात्र महेश्वर, नेत्र मन्त्र को नमस्कार करता हूँ ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के द्वितीय अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २ ॥

---

१. सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञा षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥ (वायु पु० १२।३३)

तृतीयोऽधिकारः

*** नेत्रोद्योतः ***

प्रवर्तते यदुद्द्योते नित्यकर्म महात्मनाम् ।
अशेषक्लेशनुन्नेत्रं नुमस्तन्नैललोहितम् ॥

सिद्धिदमित्युक्तेरितिकर्तव्यतापूरणेन प्रमाणीकाराय नित्यकर्म प्रकाशयितुं श्रीभगवानुवाच—

अधुना यजनं वक्ष्ये येन सिद्ध्यति मन्त्रराट् ।

अधुनेत्याराध्यमन्त्रस्वरूपे प्रकाशिते । यजनमन्तर्बहिर्यागम् । सिद्ध्यति भुक्तिमुक्तिप्रदो भवति ॥

तत्रास्नातस्य यागेऽनधिकारात्—

*** ज्ञानवती ***

नेत्रनाथकृपादृष्ट्या यज्ञीयं विधिमुत्तमम् ।
मन्त्रसिद्धिप्रदं वच्मि शिवादिध्यानसंयुतम् ॥

जिसके उदित होने पर महात्माओं का नित्यकर्म प्रवृत्त होता है, समस्त क्लेशों को हटाने वाले, नीललोहित के उस नेत्र को नमस्कार है ।

(गत अधिकार के अन्तिम श्लोक में) 'सिद्धिदम्' कथन की इतिकर्त्तव्यता के आपूरण से उसको प्रमाणित करने के लिय नित्यकर्म के प्रकाशन हेतु श्री भगवान् ने कहा—

अब (हम) यजन का वर्णन करेंगे जिससे मन्त्रराज की सिद्धि होती है।

अधुना = आराध्य मन्त्र के स्वरूप का प्रकाशन होने के बाद । यजन = आभ्यन्तर और बाह्य याग । सिद्ध होता है = भोग मोक्ष देने वाला होता है ।

स्नान न करने वाले का याग में अधिकार नहीं होता । इस कारण—

आदौ स्नानं प्रकुर्वीत सर्वकिल्विषनाशनम् ॥ १ ॥

कथम् ?—इत्याह—

अस्त्रमन्त्रेण देवेशि मृदमुद्धृत्य मन्त्रवित् ।
शौचं यथोचितं कृत्वा पश्चात् स्नानं समारभेत् ॥ २ ॥

स्मृतिशास्त्रोक्तनीत्या शारीरं शौचं कृत्वास्त्रमन्त्रेण मृदमुद्धृत्य स्नानमारभेतेति सङ्गतिः ॥ २ ॥

तत्रादौ संहारक्रमेण—

पादौ जङ्घे कटिं चोरू पूर्वं मृद्भिस्त्रिभिस्त्रिभिः ।

प्रक्षाल्येति शेषः, त्रिभिरिति लिङ्गव्यत्ययात् । एवमन्यदपि मन्तव्यम् ॥

किमव्यवधानेनेत्याह—

त्रिरन्तरितयोगेन..............

त्रीन् वारानन्तरितो योगः करक्षालनसंबन्धस्तेन पादौ प्रक्षाल्य हस्तौ प्रक्षालयेत् । ततो जङ्घे ततो हस्तौ, तत ऊरू ततो हस्तौ, ततः कटि-रित्येषोऽत्रार्थः ॥

पहले समस्त पापों का नाशक स्नान करे ॥ -१ ॥

कैसे ?—यह कहते हैं—

हे देवेशि ! मन्त्रवेत्ता यथोचित शौच करके बाद अस्त्रमन्त्र पढ़ते हुये मिट्टी को उठायें और स्नान करे ॥ २ ॥

स्मृतिशास्त्रों में वर्णित रीति से शारीरिक शुद्धता कर अस्त्र मन्त्र से मिट्टी को उठाकर स्नान का प्रारम्भ करे—यह अन्वय है ॥ २ ॥

संहार क्रम से सबसे पहले—

पहले दोनों पैरों दोनों जङ्घाओं दोनों जाँघों और कटिप्रदेश में तीन-तीन बार मिट्टी लगानी चाहिये ॥ ३- ॥

(मिट्टी से) धुलकर—इतना जोड़ना चाहिये । त्रिभिः प्रयोग लिङ्ग के व्यत्यय (= उलटफेर) के कारण है । (वैसे यहाँ तिसृभिः होना चाहिये) । इसी तरह और भी समझना चाहिये ।

क्या व्यवधानरहित (प्रक्षालन) करना चाहिये—यह कहते हैं—

तीन-तीन के व्यवधान से ॥ -३- ॥

तीन बार व्यवहित योग करक्षालन (= हाथ के धोने) से सम्बन्ध होगा । इससे

एवं कृत्वा—

..........सप्तभिः शुद्ध्यते पुनः ॥ ३ ॥

करक्षालनाय गृहीताभिर्मृद्भिरित्यर्थात् ॥ ३ ॥

अथ—

सप्ताभिमन्त्रितां कृत्वा मृदमस्त्रेण मन्त्रवित्।
प्रताप्यार्कमुखां पश्चाच्छरीरमनुलेपयेत् ॥ ४ ॥

मन्त्रविदिति उक्तपापदाह्यस्त्रवीर्यवित्, अर्कमुखां दर्शितादित्यां तददृष्टौ प्राणार्क-स्पृष्टाम्, निजविवक्षितं चैतदनुलेपनम् ॥ ४ ॥

विघ्नोपशमनार्थं तु ....

अम्भसा

................आक्षाल्य देहमाचमेत्।

पुर्यष्टकशुद्ध्यर्थं प्रणवेन त्रिराचमनं, द्वि सृक्विमार्जनं द्वारस्पर्शश्चेति ॥

आचमनार्थं मलस्नानमुक्त्वा विधिस्नानमाह—

पहले दोनों पैर धोकर दोनों हाथ धोये । इसके बाद दोनों पिण्डलियाँ फिर दोनों हाथ । फिर दोनों जाँघें फिर दोनों हाथ इसके बाद कटिप्रदेश—यह अर्थ है ।

ऐसा करके—

सात बार (मिट्टी लगाने) से (= शरीर) शुद्ध होता है ॥ -३ ॥

हाथ धोने के लिये ली गयी मिट्टी से (सात बार......) ॥ ३ ॥

इसके बाद—

मन्त्रवेत्ता (आचार्य) मिट्टी को अस्त्र मन्त्र से सात बार अभिमन्त्रित कर सूर्य के सामने तपा कर फिर (उससे) शरीर को लिप्त करे ॥ ४ ॥

मन्त्रवेत्ता = उक्त पाप का दहन करने वाले अस्त्र-मन्त्र के वीर्य का वेत्ता । अर्कमुखा = सूर्य को दिखलायी गयी । उस (= सूर्य) के न दिखलायी पड़ने पर प्राणरूपी सूर्य से स्पर्श की गयी, यह अनुलेपन निज विवक्षित है (= अपनी इच्छानुसार लेप करें) ॥ ४ ॥

विघ्न के उपशमन हेतु जल से देह को धोकर आचमन करे ॥ ५- ॥

पुर्यष्टक की शुद्धि के लिये प्रणव का उच्चारण करते हुये तीन बार आचमन दो बार ओठों का पोंछना और द्वार (= कान) का स्पर्श करे ॥

आचमन के लिये मलस्नान का वर्णन कर विधिस्नान को कहते हैं—

वामहस्ततले भागान् मृत्स्नायास्त्रींस्तु कारयेत्॥ ५ ॥

प्रशस्ता मृत् मृत्स्ना, त्रीन् भागानिति श्रीस्वच्छन्दादिष्टनीत्याऽग्रे सव्यापसव्य-गतान् ॥ ५ ॥

तत्र—

अस्त्रजप्तं क्षिपेद्दिक्षु ....

अग्रस्थितं भागम् ॥

.............मूलं तीर्थं प्रकल्पयेत् ।

मूलमन्त्रजप्तवामभागेन शिवतीर्थं कल्पयेदित्यर्थः ॥

अङ्गैः शरीरमालभ्य क्षाल्य चान्तर्जलं जपेत् ॥ ६ ॥

अङ्गैरित्यङ्गषट्कजप्तदक्षिणभागमृदा इत्यर्थः । जलस्यान्तः अन्तर्जलम् ॥ ६॥

किं जपेत्कियच्चेत्याह—

मूलं शक्त्या........

यथाशक्ति मूलमन्त्रं जपेत् ॥

अथ—

बाँयें हाथ की हथेली पर मिट्टी लेकर उसके तीन भाग बनायें ॥ -५ ॥

अच्छी मिट्टी 'मृत्स्ना' कही जाती है । तीन भाग = श्री स्वच्छन्दशास्त्र में उक्त नीति (= नियम) के अनुसार अग्रभाग तथा बाँया और दाँया ॥ ५ ॥

उन (तीन भागों) में से—

अस्त्र मन्त्र का जप कर अग्रस्थित भाग को दिशाओं में फेंक दे । तथा मूलमन्त्र का जप करते हुये वाम भाग से शिव तीर्थ की कल्पना करे—यह अर्थ है ।

अङ्गों (= अङ्ग के साथ जप की गयी मिट्टी) के द्वारा शरीर का आलभन कर शरीर को धुल दे । फिर जल के अन्दर शरीर को प्रक्षिप्त करे ॥ ६ ॥

अङ्गों के द्वारा = छह अङ्गों के द्वारा जपी गयी दक्षिण भाग की मिट्टी से शरीर का लेप कर जल के भीतर (प्रवेश करे और मन्त्र का) जप करें ॥ ६ ॥

किसका जप करे और कितना ?—यह कहते हैं—शक्ति के अनुसार मूल मन्त्र (का जप करे)।

इसके बाद—

....समुत्तीर्य सन्ध्यां वन्देत च क्रमात्।

श्रीस्वच्छन्दादिष्टनीत्या कलशमुद्रया शिरोऽभिषिच्य जलादुत्तीर्य वामकरगताम्बुविप्रुषां दक्षिणकरशाखाभिरस्त्रमन्त्रेणाधःक्षेपः, मूलहृदादिभिस्तु उपरीत्यादि सन्ध्यावन्दनम् ॥

किं च—

शिखां बद्ध्वा शिखां स्मृत्वा मन्त्राणां तर्पणं ततः ॥ ७ ॥

शिखामन्त्रं स्मृत्वा, शिखाग्रन्थिं बद्ध्वा अथ च शिखां मध्यशक्तिं बद्ध्वा तत्र स्थित्वा तद्वीर्यसाराणां मन्त्राणां तर्पणं कुर्यात् ॥ ७ ॥

अथ—

देवान् पितॄनृषींश्चैव मनुजान् भूतसंयुतान् ।
संतर्प्य तीर्थं संगृह्य यागौको विधिना विशेत् ॥ ८ ॥

सर्वमन्त्रान् संतर्प्य, शिवतीर्थं मन्त्रग्रहणेन भावनया स्वात्मलीनं कृत्वा, यागगृहं भाविविधिना विशेत् ॥ ८ ॥

तं विधिमाह—

(जल से) बाहर निकल कर क्रम से सन्ध्या का वन्दन करे ॥ ७- ॥

श्रीस्वच्छन्दतन्त्र में आदिष्ट नियम के अनुसार कलशमुद्रा से शिर का अभिषेक कर जल से बाहर निकल जाय और बाँये हाथ में जल लेकर उसकी बूँदों को दायें हाथ की अंगुलियों से, अस्त्र मन्त्र का पाठ करते हुये, नीचे फेंके तथा मूल एवं हृदय बीज आदि के पाठ के द्वारा ऊपर । सह सब सन्ध्या का वन्दन है ।

और भी—

फिर शिखा को बाँधकर शिखामन्त्र का स्मरण कर तत्पश्चात् मन्त्रों का तर्पण करे ॥ -७ ॥

शिखा मन्त्र का स्मरण कर, शिखा ग्रन्थि को बाँध कर शिखा अर्थात् मध्यशक्ति को बाँधकर उसमें स्थित होकर उसके वीर्य वाले मन्त्रों का तर्पण करें ॥ ७ ॥

तत्पश्चात्—

देवता, पितृगण, ऋषि, मनुष्य एवं भूतों का तर्पण कर तीर्थ का संग्रहण कर विधिपूर्वक यागगृह में प्रवेश करें ॥ ८ ॥

सभी मन्त्रों का तर्पण कर मन्त्र की भावना के द्वारा शिवतीर्थ को अपने अन्दर लीन कर आगे वर्ण्यविधि का अनुसरण करते हुए यागगृह में प्रवेश करे ॥ ८ ॥

आशामातृर्गणं लक्ष्मीं नन्दिगङ्गे च पूजयेत् ।
महाकालं तु यमुनां देहलीं पूजयेत्ततः ॥ ९ ॥

बहिर्दिङ्मातृः, द्वारोर्ध्वे गणपतिलक्ष्म्यौ, पार्श्वद्वये नन्दिगङ्गे महाकालयमुने, वामे देहलीं प्रणवचतुर्थीनमःशब्दयोगेन पूजयेत् । अस्य नयस्य सर्वसहत्वात् सिद्धान्तदृशा नन्दिगङ्गे दक्षिणे पूज्ये, महाकालयमुने वामे । वामस्रोतस्येवं मेषास्यच्छागास्यौ तु अधिकौ दक्षिणवामयोः । भैरवस्रोतसि संहारप्रधानत्वाद् दक्षिणे महाकालयमुने वामे नन्दिगङ्गे । षडर्धे तु दिण्डिमहोदरौ अधिकौ ॥ ९ ॥

अथ सप्तवारास्त्रजप्तं दीप्तं कुसुमं नाराचास्त्रप्रयोगेनान्तः क्षिप्त्वा—

विघ्नप्रोच्चाटनं कृत्वा दिग्बन्धं कवचास्त्रतः ।

पातालादिगतान् विघ्नान् पार्ष्ण्यघातोच्चारतालादिशब्दैरस्त्रेणोच्चाट्य, कवचेनोच्चाटितविघ्नाननुप्रवेशाय दिशो बध्नीयात् ॥

उस (प्रवेश—) विधि को बतलाते हैं—

दिशाओं की माताओं, गणेश, लक्ष्मी, नन्दी, गङ्गा, की पूजा करे । महाकाल, यमुना की पूजा कर फिर देहली का पूजन करे ॥ ९ ॥

(यागगृह के) बाहर दिङ्माताओं की, द्वार के ऊपर गणेश और लक्ष्मी की, दोनों पार्श्वों में नन्दी गङ्गा तथा महाकाल (= शिव) एवं यमुना, बायीं ओर देहली की प्रणव चतुर्थी नमः शब्द को जोड़कर पूजा करे । (उदाहरणार्थ—ॐ पूर्वदिङ्मात्रे नमः, ॐ गणपतये नमः.... इत्यादि) । क्योंकि यह सिद्धान्त सबको मान्य है इसलिये सिद्धान्त की दृष्टि से नन्दी और गङ्गा की दाँयी ओर और महाकाल तथा यमुना की बायीं ओर पूजा करे । वामस्रोत (= वाम मार्ग) में भेंड़ के मुख एवं बकरी के मुख की भी क्रमशः दायीं एवं बायीं ओर पूजा करनी चाहिये । भैरवागम के संहारप्रधान होने के कारण दक्षिण पार्श्व में महाकाल-यमुना और वामपार्श्व में नन्दी तथा गङ्गा की पूजा होती है । त्रिकशास्त्र में (महाकाल-यमुना और नन्दी-गङ्गा के) अतिरिक्त दिण्डी और महोदय की पूजा अधिक करने का विधान है ॥ ९ ॥

इसके बाद सात बार अस्त्रजप के द्वारा अभिमन्त्रित पुष्प को नाराच अस्त्र के प्रयोग से भीतर से काटकर—

विघ्न का उच्चाटन कर कवच और अस्त्र से दिग्बन्ध (करना चाहिये)।

पाताल से लेकर दिशाओं के अन्त तक वर्त्तमान विघ्नों का पार्ष्णि (= एड़ी) को भूमि पर पटकने, शब्द का उच्चारण करने, ताली बजाने तथा अस्त्र मन्त्रों के द्वारा उच्चाटन कर, उच्चाटित विघ्न पुनः (यागमण्डल) में प्रवेश न कर जाँय इसलिये कवच के द्वारा दिशाओं का बन्धन करना चाहिये ॥ ९ ॥

ततोऽपि—

स्वासनार्थं प्रकल्प्याथ शक्तिमाधारिकां शुभाम्॥ १० ॥
उपविश्य ततः कुर्यात् प्राणायाममनुक्रमात्।

स्वस्य चिदात्मन आसनार्थं विश्वाध्वनः समन्ताद्धारणादाधाररूपां शुभां पारमेशीं क्रियाशक्तिम् 'ओं आधारशक्तये नमः' इति कल्पयित्वा, उपविश्येति तदाश्रयमात्मानं कृत्वा प्रायत्निकरेचनपूरणकुम्भनक्रमेण आत्मनो द्वादशान्तस्थशाक्त-बलस्पर्शाय देहस्य दाहार्थं वैचित्र्यमुत्पादयितुं प्राणायामं कुर्यात् ॥ १० ॥

अथादौ करशुद्धिन्यासं कृत्वा—

धारणामारभेतात्र युगपच्छोषणादिभिः ॥ ११ ॥
षाट्कोशिकं तु मलिनं निर्दग्धं तत्र भावयेत्।

पीतचतुरस्रात्मवज्र-ल—लाञ्छितभूधारणां दार्ढ्यं च सितार्धचन्द्रात्मपद्म-व-लाञ्छिताप्यधारणां पुष्टिं च देहे विचिन्त्य, षड्विन्दु-य-लाञ्छितकृष्णा-वृत्त्यात्मवायव्यधारणया सह शोषमस्य ध्यायेत् इत्याद्यस्यार्थः । एवं कृते सति त्वङ्मांसासृङ्मज्जास्थिशुक्ररूपत्वाद् मलिनं देहं पादाङ्गुष्ठोत्थकालाग्निना

इसके बाद—

अपने आसन के लिये शुभ आधारशक्ति की कल्पना कर (फिर आसन पर) बैठकर क्रम के अनुसार प्राणायाम करना चाहिये ॥ -१०-११- ॥

अपने = चिदात्मा के, आसन के लिये विश्वाध्वा के चारो ओर से धारण करने के कारण आधाररूपा शुभा परमेश्वर की क्रियाशक्ति की, 'ॐ आधारशक्तये नमः' इस (मन्त्र) से कल्पना कर, बैठकर = अपने को उसके ऊपर आश्रित मानकर, प्रयत्न के साथ रेचन पूरण कुम्भन के क्रम से द्वादशान्त में स्थित अपने शाक्त बल के स्पर्श के लिये अपने देह के दाहहेतु वैचित्र्य को उत्पन्न करने के लिये प्राणायाम करे ॥ १० ॥

पहले करशुद्धिन्यास को कर के—

एक साथ शोषण आदि के द्वारा धारणा का प्रारम्भ करना चाहिये । तत्पश्चात् (मेरा) मलिन षाट्कोशिक शरीर जल गया है—ऐसी भावना करनी चाहिये ॥ -११-१२- ॥

(इस शरीर में) पीली समतल वज्र अर्थात् 'ल' से लाञ्छित भूमि की धारणा और दृढ़ता, तत्पश्चात् श्वेत अर्धचन्द्ररूप कमल के वाचक 'व' से लाञ्छित जल की धारणा और पुष्टि का चिन्तन कर, षड्बिन्दु 'य' से चिह्नित कृष्णमण्डल रूप वायु की धारणा के द्वारा इसके शोषण का ध्यान करना चाहिये—यह श्लोक के पूर्वार्द्ध का अर्थ है । इतना करने पर त्वचा, मांस, मेदा, मज्जा, हड्डी और शुक्र रूप होने

लोहितत्रिकोणात्मशक्ति-र-लाञ्छिताग्नेयधारणाचिन्तनतोऽहंभावप्रशमाय दग्धं भावयेत् ॥ ११ ॥

अथ—

विज्ञानं केवलं तत्र शून्यं सर्वगतं स्मरेत् ॥ १२ ॥

तत्र देहे चिन्तिते ज्ञेयशून्यत्वाद् व्यापि चिन्मात्रं स्मरेत् ॥ १२ ॥

एवं ध्यानात्—

नाहमस्मि न चान्योऽस्ति ध्येयं चात्र न विद्यते ।
आनन्दपदसंलीनं मनः समरसीगतम् ॥ १३ ॥

नाहमिति मितः प्रमाता, अन्य इति नीलादिर्बाह्योऽर्थः, ध्येयमित्यान्तरोल्लेखात्म न किंचिदत्रावसरेऽस्ति, इति कृत्वाऽणुताप्रशान्तौ शाक्तस्फारावेशादानन्दपदसंलीनं सन्मनः समरसीगतं चिन्मात्ररूपं जातम् ॥ १३ ॥

एवमात्ममूर्तिन्यासादनन्तरं सकलनिष्कलैकात्ममन्त्रमूर्तिन्यासमुचितासनन्यासपूर्वमाह—

के कारण मलिन इस शरीर को पैर के अंगूठे से उठी कालाग्नि के द्वारा लालत्रिकोण रूप शक्ति के बीज 'र' से लाञ्छित अग्नि की धारणा का चिन्तन करते हुए अहंभाव की शान्ति के लिये (इस शरीर के) दग्ध होने की भावना करनी चाहिये ॥ ११ ॥

तत्पश्चात्—

वैसा होने पर सर्वव्यापी शून्य विज्ञान का स्मरण करे ॥ १२ ॥

वैसा होने पर = शरीर का उस प्रकार चिन्तन करने पर, ज्ञेयशून्य होने के कारण सर्वव्यापी चिन्मात्र का स्मरण करे ॥ १२ ॥

इस प्रकार ध्यान करने से—

मैं नहीं हूँ, दूसरा भी नहीं है; यहाँ कोई ध्येय नहीं है । आनन्दपद में लीन मन यहाँ समरस हो गया है ॥ १३ ॥

मैं = मितप्रमाता, नहीं हूँ । अन्य = नील (घट) आदि बाह्य पदार्थ, (नहीं है) । इस अवसर पर आन्तर उल्लेख रूप भी कुछ नहीं है । इस प्रकार चिन्तन के द्वारा अणुत्व के शान्त हो जाने पर मन शाक्त स्फार के आवेशरूप आनन्द पद से संलीन होता हुआ समरस = चिन्मात्र रूप, हो जाता है ॥ १३ ॥

इस प्रकार आत्ममूर्त्ति के न्यास के बाद उचित आसनन्यास को बतला कर सकल निष्कल एक आत्म मन्त्रमूर्त्तिन्यास को बतलाते हैं—

पश्चादाधारशक्तिस्थं स्वासनं परिभावयेत् ।
धात्रीं पयोऽर्णवं पद्मं चन्द्रबिम्बावभासितम् ॥ १४ ॥
पश्चात् कालकलापोत्थपीयूषेण तु सेचयेत् ।
मूर्तिभूतं त्रितत्त्वं च मूलेनैव प्रकल्पयेत् ॥ १५ ॥

पश्चादिति देहशुद्ध्याद्यनन्तरम् । धात्र्यमृतार्णवपद्मानि क्रमेण पृथिव्यप्तेजस्तत्त्वव्यात्या, तच्च आकाशश्लिष्टमित्याधारशक्त्यन्तः

'पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ।
पञ्चैतानि तु तत्त्वानि यैर्व्याप्तमखिलं जगत् ॥' (कालो० ८।१-२)

इति स्थित्या स्वीकृताशेषाध्वप्रपञ्चं तत्त्वपञ्चकमेतत्प्रणवेन स्वस्यात्मन आसनं न्यसेत् । तत्रोपरि निवृत्त्याद्यष्टत्रिंशत्कलाकल्पितभाविध्यानोचितदेहमात्मादितत्त्वत्रयसारसकलमूर्तिं देवं मूलमन्त्रेण परमानन्दात्मकामृतरूपविमलव्याप्तिसतत्त्वेन सिञ्चेत् प्रकृष्टतया कल्पयेत् ॥ १५ ॥

ततोऽङ्गानि कराभ्यां च शरीरे कल्पयेत् पुनः ।

पुनरिति निष्कलात्मनि सर्वज्ञत्वादिधर्मरूपाणि षडङ्गानि विकसज्ज्ञानक्रियात्मकशक्तिद्वयामर्शनेन नैष्कलात्म्योन्मज्जना कल्पयेदिति विशेषोऽत्राभिप्रेतः ।

तत्पश्चात् आधारशक्ति में स्थित अपने आसन की भावना करे । यह भावित आसन धात्री, जल, समुद्र, कमल और चन्द्रबिम्ब से अवभासित हो । बाद में काल-कलाप से उत्पन्न अमृत से इसका सिञ्चन करे । फिर मूर्त्तिभूत तीन तत्त्व की मूलमन्त्र से कल्पना करे ॥ १४-१५ ॥

पश्चात् = देहशुद्धि के बाद । धात्री, अमृतार्णव और पद्म क्रम से पृथिवी जल और तेज तत्त्वों की व्याप्ति के कारण हैं । और यह (= त्रितत्व) आकाश से श्लिष्ट है । इस प्रकार आधारशक्ति के भीतर—

'पृथिवी जल तेज वायु और आकाश ये पाँच तत्त्व हैं जिनके द्वारा सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है ।' (कालो० ८-१,२)

के अनुसार समस्त अध्व विस्तार से पूर्ण इन पाँचों तत्त्वों को प्रणव के साथ अपना आसन बनाये । उसके ऊपर निवृत्ति आदि अँड़तीस कलाओं से कल्पित, भावी ध्यानोचित देह वाले तथा आत्मा आदि तत्त्वों के सार भूत सकलमूर्त्तिरूप देव का परमानन्दात्मक अमृतरूप निर्मल व्याप्ति के द्वारा सेचन करे = प्रकृष्ट रूप से कल्पना करे ॥ १५ ॥

इसके बाद दोनों हाथों से (उन देव के) शरीर में अङ्गों की कल्पना करे ॥ १६- ॥

पुनः निष्कल आत्मा में सर्वज्ञता आदि छह अङ्गों की, विकसत् ज्ञानक्रियारूप

मान्त्रं चैवाभिमानं तु चिन्तयेद्ध्यानयोगतः ॥ १६ ॥

व्याख्यातव्याख्यास्यमानवीर्यसारमान्त्रविमर्शमाविशेदैकाग्र्येण ॥ १६ ॥

अथ सन्निधानायाह—

मुद्रां चैवामृतां बद्ध्वा पद्ममुद्रामथापि वा ।
ध्यायेदात्मनि देवेशं चन्द्रकोटिसमप्रभम् ॥ १७ ॥
स्वच्छमुक्ताफलप्रख्यं स्फटिकाद्रिसमप्रभम् ।
कुन्देन्दुगोक्षीरनिभं हिमाद्रिसदृशं विभुम् ॥ १८ ॥
शुभ्रहारेन्दुकन्दादिसितभूषणभूषितम् ।
सितचन्दनलिप्ताङ्गं कर्पूरक्षोदधूसरम् ॥ १९ ॥
स्फुरच्चन्द्रामृतस्फारबहुलोर्मिपरिप्लुतम् ।
सोममण्डलमध्यस्थमेकवक्त्रं त्रिलोचनम् ॥ २० ॥
सितपद्मोपविष्टं तु बद्धपद्मासनस्थितम् ।
चतुर्भुजं विशालाक्षं वरदाभयपाणिकम् ॥ २१ ॥
पूर्णचन्द्रनिभं शुभ्रममृतेनैव पूरितम् ।
कलशं धारयन्तं हि जगदाप्यायकारकम् ॥ २२ ॥
परिपूर्णं तथा चन्द्रं वामहस्तेऽस्य चिन्तयेत् ।

दो शक्तियों के आमर्शन के द्वारा निष्कलात्मता को दूर करने के लिये, कल्पना करे।

फिर ध्यान योग के द्वारा मन्त्र अभिमान का चिन्तन करे ॥ -१६ ॥ एकाग्रता के द्वारा व्याख्यात व्याख्यास्यमान वीर्यसार वाले मन्त्रसम्बन्धी विमर्श से आविष्ट हो जाये ॥ १६ ॥

अब सन्निधान के लिये कहते हैं—

अमृतमुद्रा अथवा पद्ममुद्रा का बन्धन कर अपने अन्दर देवेश का ध्यान करना चाहिये । वे (= मृत्युञ्जयभट्टारक) करोड़ों चन्द्रमा के समान कान्तिवाले, स्वच्छ मुक्ताफल की शोभा वाले, स्फटिक के पर्वत के समान, कुन्द, इन्दु, गाय के दूध के समान, हिमालय के सदृश, व्यापक, स्वच्छ हार चन्द्र कन्द आदि श्वेतभूषण वाले, श्वेत चन्दन का अङ्गों में लेप किये हुये, कपूर के चूर्ण के समान धूसर, (हाथ में) चमकते चन्द्रमा की फैली हुयी अमृतकिरणों से परिप्लुत, चन्द्रमण्डल के बीच स्थित, एक मुख और तीन नेत्र वाले, श्वेत कमल पर बैठे हुये, पद्मासन लगाये हुये, चार भुजाधारी, बड़ी आँखों वाले, (हाथ में) वरद एवं अभयमुद्रा धारण किये, पूर्णचन्द्र के समान, शुभ्र अमृत से पूर्ण कलश को धारण किये हुये, संसार

उद्यताङ्गुष्ठसव्योपरिसंश्लिष्टतिर्यक्कनिष्ठाङ्गुलिवामसंनिवेशादमृताममृतकलशमुद्रां परामृतपूर्णतातिशयात्, उक्तमन्यत्र—

'सृतवामकरस्योर्ध्वे दक्षिणं श्लथमुष्टिवत् ।
कृत्वोर्ध्वाङ्गुष्ठकं हस्तमाहुर्मुद्रां च कालशीम् ॥'

संश्लिष्टाङ्गुष्ठमुकुलीकृतस्फारितकरद्वयां पद्ममुद्रां वा अशेषविश्वस्फारण-स्वस्वरूपाभिप्रायां बद्ध्वा आत्मनि स्वस्वरूपे देवेशं ध्यायेदित्यनुपाधि-चिज्ज्योतिरेव स्वच्छन्दमहिम्ना स्वभित्त्याभासिताशेषविश्वाह्लादि मुदिततमाकृति-शुभ्राच्छकल्पमात्मनो रूपं चिन्तयेत् । स्फुरच्चन्द्रेति चन्द्रोऽत्र करस्थः । एकवक्त्रं निःसामान्यस्वतन्त्रशक्तियोगात् । तन्माहात्म्यभासितेच्छादिशक्तित्रययोगात् त्रिनेत्रम् । सितपद्मं शक्तिकमलं तस्याक्रमणं पद्मासनबन्धात् शान्त्यतीताभिन्नस्य देवस्य शान्तादिशक्तिस्फारणातिशयात् चतुर्भुजत्वम्, विश्वप्रकाशकत्वाकूताद्विशालाक्षत्वम् । सिद्धिदानसर्वभयोन्मूलनज्ञानक्रियात्मकस्वस्वरूपोन्मेषकत्वाभिव्यक्तये वरदाभयामृत-कलशपूर्णेन्दुकरता ॥ २२ ॥

का आप्यायन करने वाले पूर्ण चन्द्र को बायें हाथ में धारण किये हैं—ऐसा ध्यान करना चाहिये ॥ १७-२३- ॥

ऊपर उठे हुये बाँयें अंगूठे के ऊपरी भाग में दाँयीं कनिष्ठा को सटा देने से अमृत कलश मुद्रा होती है । इसमें पर अमृत भरा रहता है अन्यत्र कहा गया है—

'बाँयें हाथ के ऊपर दाँये हाथ की मुट्ठी को रखे जिसमें (दोनों) अंगूठे ऊपर की ओर उठे हों तो वह कलश मुद्रा कही गयी है ।'

दोनों हाथों की अंगुलियाँ सटी हों इस प्रकार दोनों हाथों को परस्पर सटा कर कमल की कली जैसा बना देने पर कमल मुद्रा होती है । इससे समस्त विश्व अपने स्वरूप का स्फारण है—ऐसा संकेतित होता है । इस मुद्रा को बाँध कर आत्मा में = अपने रूप में, देवेश का ध्यान करे । अर्थात् अपने रूप का, उपाधिरहित चिद्ज्योति, स्वच्छ स्वच्छन्द की महिमा से अपनी ही भित्ति पर समस्त विश्व का आभासन करने से आह्लादित प्रसन्नतम आकृति से शुभ्र के रूप में चिन्तन करना चाहिये । 'स्फुरच्चन्द्र' पद में चन्द्र को हाथ में स्थित समझना चाहिये । असाधारण स्वातन्त्र्यशक्ति के योग से वे एक मुख वाले हैं । अपनी महिमा से इच्छा ज्ञान क्रिया रूप तीन शक्तियों से युक्त होने के कारण वे त्रिनेत्र हैं । सितपद्म = शक्तिकमल, उसका आक्रमण = (उस पर बैठना) । पद्मासन बन्ध के कारण शान्त्यतीता अवस्था से अभिन्न देव की, शान्ता आदि (= प्रतिष्ठा, निवृत्ति, विद्या) शक्तियों के स्फारण के कारण चार भुजायें हैं । विश्वप्रकाशकर्त्ता होने से ये विशालाक्ष है । सिद्धिदान, सर्वभय का नाश, ज्ञानक्रिया वाले स्वरूप के उन्मेषकत्व की अभिव्यक्ति के लिये वरद, अभय, अमृत कलश और पूर्ण चन्द्रमा उनके करों में हैं । इनमें वरद मुद्रा से सिद्धिदान, अभयमुद्रा से सर्वभयोन्मूलन, अमृतकलश से

एवमाकृतितो ध्यात्वा—

सर्वश्वेतोपचारेण पूजितं तमनुस्मरेत् ॥ २३ ॥

उपचर्यतेऽनेनेत्युपचारः कुसुमनैवेद्यादि ॥ २३ ॥

तदित्थम्—

बहुनात्र किमुक्तेन......

अयं हि देवः परमानन्दनिर्भरत्वात्

..........साक्षादमृतसागरः ।

युक्तं चैतत् ॥

यतः—

अस्मादेव समुत्पन्नममृतं विश्वजीवनम् ॥ २४ ॥

उत्पन्नं समुल्लसितममृतं परं शाक्तं वीर्यम् ॥ २४ ॥

अनुग्राह्यानुग्रहायायं देवः केन नाम न रूपेण स्फुरति—इत्याशयेनाह—

अथ चिन्तामणिप्रख्यं भावभेदेन संस्मरेत् ।

ज्ञान एवं पूर्णचन्द्र से क्रिया अभिव्यक्त होती है ॥ २२ ॥

इस प्रकार से आकृति का ध्यान कर—

समस्त श्वेत (वस्तुओं से) पूजन कर उनका ध्यान करे ॥ -२३ ॥

जिससे उपचार किया जाय वह उपचार कहलाता है । जैसे—पुष्प नैवेद्य आदि ॥ २३ ॥

तो इस प्रकार—

यहाँ बहुत कहने से क्या लाभ ॥ २४- ॥

यह देव परम आनन्द से परिपूर्ण होने के कारण

साक्षात् अमृत के सागर हैं ॥ -२४- ॥

यह ठीक भी है, क्योंकि—

उनसे ही उत्पन्न अमृत विश्व का जीवन है ॥ -२४ ॥

उत्पन्न = समुल्लसित । अमृत = परम शाक्त वीर्य ॥ २४ ॥

अनुग्राह्य के ऊपर अनुग्रह करने के लिये यह देव किस रूप से स्फुरण नहीं करते—इस आशय से कहते हैं—

भावस्य रागादिकलुषस्याशयस्य भेदेन दलनेन ॥

तं च—

सौम्यं रौद्रं तथा भीमं विकृतं भावभेदतः ॥ २५ ॥
सदाशिवं तुम्बुरुं च भैरवं वीरनायकम् ।

वीरनायकं कुलेश्वरं, भावस्य साधकाशयस्य भेदाद्वैचित्र्याद् आभासितानुग्राहि-चित्राकृतिमित्यर्थः । यदाहुः—

'येन येन हि रूपेण साधकः संस्मरेत्सदा ।
तस्य तन्मयतां याति चिन्तामणिरिवेश्वरः ॥'

कृपालुत्वात् ॥ २५ ॥

एवं ध्यात्वा यजेद्देवं मानसैः कुसुमैः शुभैः ॥ २६ ॥
हृत्पद्मे सर्वसिद्ध्यर्थं............

मानसैस्तत्तत्सिद्ध्युचितैः ॥ २६ ॥

यह (देव) चिन्तामणि के समान हैं । भावनाओं का भेदन कर उनका स्मरण करना चाहिये ॥ २५- ॥

भाव = राग आदि से कलुषित वासना का, भेदन = दलन ॥

और उनका—

(साधक के) भाव के वैचित्र्य के अनुसार सौम्य, रौद्र भीम विकृत रूप में सदाशिव, तुम्बुरु, भैरव और वीरनायक (के रूप में परमेश्वर का ध्यान करनी चाहिये) ॥ -२५-२६- ॥

वीरनायक = कुलेश्वर, भाव के = साधक के आशय के, भेद के कारण = वैचित्र्य के कारण, आभासित अनुग्रहकारी विचित्र आकृति वाले का ध्यान करे । जैसा कि कहते हैं—

'साधक जिस-जिस रूप में स्मरण करता है, ईश्वर चिन्तामणि की भाँति उसको उसी रूप में सदा प्राप्त होते हैं ।'

ऐसा इसलिये कि वे कृपालु हैं ॥ २५ ॥

इस प्रकार ध्यान कर समस्त सिद्धियों को प्राप्त करने के लिये हृदयकमल में शुभदायक मानसकुसुमों से (उनका) पूजन करना चाहिये ॥ -२६-२७- ॥

मानस—तत्तत् सिद्धियों के लिये उचित (मन में कल्पित भिन्न-भिन्न पुष्पों से) ॥ २६ ॥

एवं साधकविषयमुक्त्वा सामान्येनाह—

.........पश्चाद् बाह्ये प्रपूजयेत् ।

मानसार्चानन्तरं मन्त्रचक्रार्चितार्घपात्रविप्रुट्प्रक्षालितकुसुमादिभिः प्रकृष्टं पूजनं भवतीति कृत्वादौ मानसं कार्यम् ॥

किं च—

मानसैः कुसुमैर्यार्चा सात्त्विकी सा स्थिरा मता॥ २७ ॥
अनिर्माल्या परा शुद्धा मोक्षदा सिद्धिदा शुभा ।

अत्र सर्वस्य प्रातीतिकेन चिदात्मत्वेन ब्रह्मार्पणदृष्टेरनिमेषात् ॥ २७ ॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मानसं यजनं ध्रुवम् ॥ २८ ॥
आदावेव प्रकर्तव्यं..........

ततो गुरुपङ्क्तिं पूजयित्वा, ततो लब्धानुज्ञः शिवताव्यक्तये सर्वैरेव—

इस प्रकार साधकविषयक (विशिष्टपूजन) का निर्वचन कर सामान्य पूजा को कहते हैं—

बाद में बाहर पूजा करनी चाहिये ॥ -२७- ॥

मानसपूजा के बाद मन्त्रचक्र में अर्चित अर्घपात्र की बूँदों से प्रक्षालित पुष्प आदि से प्रकृष्ट (= विशिष्ट) पूजन होता है । इसलिये मानसिक पूजन पहले करे ॥

और भी—

मानस कुसुमों से जो पूजा की जाती है वह सात्त्विकी और स्थिर मानी गयी है । वह अनिर्माल्य, पर, शुद्ध, शुभ, मोक्षदा और सिद्धिदा हैं ॥ -२७-२८- ॥

इस पूजा में सब भावनात्मक चिदात्मक होने से ब्रह्मार्पण दृष्टि का अनिमेष होने (= खुल जाने) के कारण ऐसा है । (द्वैतभावना के न रहने से समर्पण आदि नहीं होगा । यही भाव—यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति, तदितर इतरं पश्यति..... यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं जिघ्रेत् केन कं पश्येत्.... विज्ञातारमरे केन विजानीयात् (बृ०उ० २.४.१४) में संकेतित है)

इसलिये सब प्रयास करके मानसिक पूजा निश्चितरूप से पहले करनी चाहिये ॥ -२८-२९- ॥

इसके बाद गुरुपङ्क्ति का पूजन कर उनसे आज्ञा लेकर शिवत्व की अभिव्यक्ति के लिये सब लोगों के द्वारा—

.........पश्चाद् द्रव्यैस्तु विस्तरैः ।
स्वगृहे देवतागारे सङ्गमे गिरिमूर्धनि ॥ २९ ॥
सुप्रशस्ते तु भूभागे पद्मखण्डे सुशोभने ।

यजनं प्रकर्तव्यमिति सङ्गतिः, भूभागे इति सर्वत्र संबध्यते ॥ २९ ॥

तत्रादौ—

आलिखेन्मण्डलं चित्रं सितरेखोपशोभितम् ॥ ३० ॥
चतुर्द्वारं चतुष्कोणं सुसमं तु मनोरमम् ।
शोभोपशोभासंपन्नं तन्मध्ये शशिमण्डलम् ॥ ३१ ॥
संपूर्णचन्द्रसदृशं रश्मिमालावलीयुतम् ।
तन्मध्येऽष्टदलं पद्मं सुसितं चन्द्रसन्निभम् ॥ ३२ ॥
विचित्रकेसरोपेतं हेमकर्णिकमुत्तमम् ।

मण्डलस्य विधानं श्रीयागेऽग्रे भविष्यतीति नेह तद्वितानितम् ॥ ३२ ॥

अथ—

तन्मध्ये देवदेवेशं स्वस्थानादवतारयेत् ॥ ३३ ॥

बाद में बाह्य द्रव्यों के द्वारा विस्तार के साथ अपने घर, देवमन्दिर, (नदी के) सङ्गम, पर्वत की चोटी आदि के सुप्रशस्त भूमिभाग, पर सुन्दर पद्मषण्ड (= कमल राशि) पर (याजन करना चाहिये) ॥ -२९-३०- ॥

याजन करना चाहिये—यह समन्वय है । भूभाग में ऐसा सब जगह सम्बन्ध जानना चाहिये ॥ २९ ॥

वहाँ पहले—

(साधक) सफेद रेखा से शोभित विचित्र मण्डल बनाये जिसमें चार द्वार हों । वह मण्डल चतुष्कोण, सर्वत्र समतल, मनमोहक तथा शोभा उपशोभा से सम्पन्न हो । उसके बीच में चन्द्रमण्डल बनाये जो सम्पूर्ण चन्द्र के समान, किरणों की माला से युक्त हो । उसके बीच में सफेद चन्द्रमा के समान अष्टदल कमल बनाये जो कि विचित्र केशर से युक्त तथा सोने के रंग वाली कर्णिका से युक्त हो ॥ -३०-३३- ॥

मण्डल का विधान आगे श्रीयाग प्रकरण में बतलायेंगे इसलिये यहाँ विस्तार नहीं किया गया ॥ ३२ ॥

इसके बाद—

उसके बीच में देवदेवेश को उनके अपने स्थान से उतारना

स्वस्थानादित्यन्तर्यागभुवः चिद्धाम्नः, अवतारयेद् अनुग्रहाय बाह्यमूर्त्याभासात्मतयावतरन्तं विमृशेत् सृष्टिक्रमेण च बहिर्न्यसेत् ॥ ३३ ॥

उत्तानौ तु करौ कृत्वा अङ्गुष्ठौ तत्र मध्यगौ ।

आवाहनीत्यावाहनमुद्रया[1] ॥

आवाहयेत्ततो देवं त्रिदेहपरिकल्पितम् ॥ ३४ ॥

आ समन्ताद् वाहयेत् बहिरप्यनुग्रहाय आश्रितमूर्तौ चिन्तयेत् । त्रिदेहेति चिन्मात्रतया अन्तर्यागख्यातेन बहिष्ट्वेन च रूपेण त्रिभिर्यथोत्तरं व्याप्यव्यापकतया स्थितैः परसूक्ष्मस्थूलैर्निष्कलादिसारैर्देहैः परिकल्पितमनुत्तरैकरूपमपि—

'स्वातन्त्र्यान्मुक्तमात्मानं स्वातन्त्र्यादद्वयात्मनः ।
प्रभुरीशादिसङ्कल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत् ॥' (ई०प्र० १।५।१६)

इति प्रत्यभिज्ञोक्तनीत्या त्रित्वेन विभक्तमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

चाहिये ॥ -३३ ॥

अपने स्थान से = अन्तर्याग की चिद्भूमि से । अवतारित करे = अनुग्रह के लिये बाह्यमूर्त्ति के आभास के रूप में अवतरित होते हुये ध्यान करे और सृष्टि के क्रम से उनका बाहर न्यास करे ॥ ३३ ॥

दोनों हाथों को उत्तान कर दोनों अंगूठों को हाथों के मध्य में रखे ॥ ३४- ॥

आवाहनीति के द्वारा = आवाहन मुद्रा के द्वारा ॥ ३४ ॥

(इस आवाहन मुद्रा के द्वारा) तीन प्रकार के देह के रूप में देवता का आवाहन करना चाहिये ॥ -३४ ॥

आ = चारों ओर से, वाहन करे = आश्रितमूर्त्ति में बाह्य अनुग्रह के लिये भी ध्यान करे । तीन देह—चिद्रूप में, अन्तर्याग में कथित एवं बाह्य इन तीन रूपों से क्रमशः उत्तरोत्तर व्याप्यव्यापक रूप में स्थित पर सूक्ष्म स्थूल निष्कल आदि देहों से परिकल्पित, केवल अनुत्तररूप होते हुये भी—

'प्रभु अपने स्वातन्त्र्य के कारण मुक्त भी अद्वयात्मा अपने को ईश आदि संकल्पों से निर्मित कर व्यवहार चलाते हैं ।' (ई०प्र० १.५.१६)

इस ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्त नीति के अनुसार तीन रूप में विभक्त विग्रह (का ध्यान करे) ॥ ३४ ॥

---

१. 'आवाहनीत्या' इस प्रतीक के प्रयोग से ऐसा अनुमान होता है कि 'उत्तानौ........ मध्यगौ' के बाद 'आवाहनीत्या..........' करके इस पूर्वार्द्ध का कोइ उत्तरार्ध रहा होगा जिसका मुद्रण नहीं हुआ ।

आवाहितस्य संनिधानाय उच्छ्रिताङ्गुष्ठमुष्टिभ्यां लिङ्गमुद्राम्, गर्भगाङ्गुष्ठमुष्टिभ्यां तु निरोधाय निष्ठुरां मुद्रां प्रदर्श्य ततोऽपि—

आग्नेय्यादिविभागेन दलेष्वङ्गानि विन्यसेत् ।

अग्नीशरक्षोवायव्यदिक्षु हृदादीनि चत्वारि, चतसृषु पूर्वादिदिक्षु अस्त्रम्, कर्णिकायां नेत्रम् ॥

तत्सर्वम्—

पूज्यं श्वेतोपचारेण पुष्पाम्बरविलेपनैः ॥ ३५ ॥
नैवेद्यैर्विविधैश्चित्रैर्धूपैर्मृष्टैः सुधूपितम् ।
हृद्यैः पानैश्च विविधैः.......

सुधूपितं कृत्वा—इत्यर्थः । अन्यत् स्पष्टम् ॥ ३५ ॥

साधकस्य—

.............भावभेदेन पूजयेत् ॥ ३६ ॥

तत्र—

सर्वश्वेतोपचारेण शान्त्यर्थं पूजयेत् प्रिये ।

आवाहित देव के सन्निधान के लिये दोनों मुट्ठियों, जिससे अंगूठा ऊपर उठा हो, के द्वारा लिङ्ग मुद्रा तथा अंगूठे को बीच में डालकर दोनों मुट्ठियों को निरुद्ध कर निष्ठुर मुद्रा का प्रदर्शन करे । फिर—

आग्नेयी आदि के विभाग से कमल दलों पर अङ्गन्यास करे ॥३५-॥

अग्निकोण, ईशान कोण, निर्ऋति कोण और वायु कोण में हृदय आदि चार का, पूर्व आदि चार दिशाओं में अस्त्र का और कर्णिका में नेत्र का न्यास करे ॥

उन सबका—

श्वेत उपचार (= पूजा की वस्तु) से, पुष्प, वस्त्र, लेपन, अनेकप्रकार के नैवेद्य, विचित्र धूप से (सुधूपित कर) और अनेक प्रकार के स्वादिष्ट पेयों से पूजन करे ॥ -३५-३६- ॥

सुधूपित कर—यह अर्थ है । शेष स्पष्ट है ।

साधक की—

भावना के भेद से (देव की) पूजा करे ॥ -३६ ॥

उसमें—

हे प्रिये ! शान्ति के लिये समस्त श्वेत वस्तुओं से पूजन करें । पुष्टि के

पुष्ट्यर्थं बहुभिर्मिश्रैः संभारैः संभृतैर्यजेत् ॥ ३७ ॥

मिश्रैः सितलोहिताच्छादिरूपैः ॥ ३७ ॥

अथ चाङ्गभूतम्—

पश्चाद्धोमं प्रकुर्वीत यथाकामानुसारतः ।

मुमुक्षुस्तिलाज्याभ्याम्, बुभुक्षुस्तु भाविद्रव्यैः ।

क्वेत्याह—

त्रिमेखले वर्तुले च चतुरश्रे सुशोभने ॥ ३८ ॥
हस्तमात्रेऽन्ततः कुण्डे............

अन्ततः कुण्डे इति स्थूलहोमे । द्विचतुर्हस्तादौ कुण्ड इति भविष्यति ॥ ३८ ॥

अस्य च कुण्डस्य—

..........षडंशेनोर्ध्वमेखला ।
मध्यमा द्विचतुष्केण द्वादशांशाधमा भवेत् ॥ ३९ ॥
दैर्घ्याच्च पार्श्वतस्तद्वत् षणमध्याग्रेऽङ्गुलत्रयाम् ।

लिये अनेक रंग की वस्तुओं को मिलाकर उनसे पूजन करे ॥ ३७ ॥

मिश्रित—सफेद, लोहित आदि ॥ ३७ ॥

बाद में अपनी इच्छा के अनुसार अङ्गभूत होम करे ॥ ३८- ॥

मुमुक्षु—तिल और घृत से, भोगार्थी भावी (= आगे वर्णन किये जाने वाले) द्रव्यों से (हवन करे) ।

(होम) कहाँ करे—यह कहते हैं—

तीन मेखला वाले, गोल आकार वाले, समतल सुन्दर एक हाथ लम्बे चौड़े कुण्ड के भीतर (होम करे) ॥ -३८-३९- ॥

कुण्ड के भीतर—स्थूल होम में । दो और चार हाथ के भी कुण्ड होते हैं ॥ ३८ ॥

(एक हाथ लम्बे चौड़े) इस कुण्ड के—

छह अंश से ऊर्ध्व मेखला होती है, दो चतुष्क से मध्यमा तथा द्वादश अंश से निम्न मेखला होती है । लम्बाई और अगल-बगल उसी प्रकार मध्य में छह अंगुल और आगे तीन अंगुल मेखला होगी ॥ -३९-४०- ॥

हस्तस्य षडंशेनाङ्गुलचतुष्टयेन ऊर्ध्वमेखला । मध्यमा द्विचतुष्केणाष्टमांशेनाङ्गुलत्रयेणेत्यर्थः । अधस्तनी द्वादशांशा द्व्यङ्गुला भवेत् । खातमधः शून्यम् । ओष्ठमेखला खातान्तरालेऽन्तर्दृश्यमानावयवविशेषः ।[1] अश्वत्थपत्रसदृशीं नाभिं योन्याकाराम्, नाभिः पुरस्तादवयविशेषः । दैर्घ्यात् पार्श्वतश्च नवाङ्गुलाम्, षडङ्गुलानि मध्ये अग्रे चाङ्गुलत्रयं यस्यास्ताम् ॥ ३९ ॥

एतच्च कुण्डम्—

उक्तं साहस्रिके होमे.........

सहस्रसंख्याक इत्यर्थः ।

..........द्विगुणं चायुते मतम् ॥ ४० ॥

चस्त्वर्थे । अयुते दशसाहस्रे ॥ ४० ॥

त्रिपञ्चायुते होमे तु द्विगुणं तद्विधीयते ।
कुण्डं वै लक्षणोपेतं लक्षहोमे प्रशस्यते ॥ ४१ ॥

एक हाथ के छठें अंश अर्थात् २४ ÷ ६ = ४ अंगुल मान की ऊर्ध्व मेखला होती है । मध्यमा द्विचतुष्क अर्थात् २ × ४ = ८ वाँ अंश = २४ ÷ १२ = २ अंगुल की होती है । खात = नीचे का गड्ढा । ओष्ठमेखला = गड्ढे के भीतर दृश्यमान विशिष्ट अवयव । अश्वत्थपत्रसदृशी = योनि के आकार की । नाभि = सामने का अवयवविशेष । इसकी लम्बाई और चौड़ाई नव अंगुल की होती है— मध्य में छह अंगुल और आगे तीन अंगुल ॥ ३९- ॥

यह कुण्ड—

एक हजार आहुति वाले होम के लिये (कहा गया) ॥ -४०- ॥

(साहस्रिक =) एक सहस्र आहुति वाले ।

अयुत होम के लिये इसके दो गुने परिमाण वाला (कुण्ड) माना गया है ॥ -४० ॥

अयुत = दश हजार ॥ ४० ॥

तीन, पाँच अयुत होम के लिये उसका दो गुना परिमाण वाला कुण्ड होगा । एक लाख आहुति के लिये उसके भी दूने परिमाण वाला कुण्ड उत्तम माना गया है ॥ ४१ ॥

---

१. क्षेमराज की ३९ श्लोक की टीका में 'खातम्.... विशेषः' अंश का पाठ होने से प्रतीत होता है कि 'भवेत्' के बाद दो पाद और रहे होंगे । जिनका प्रतीक-खातम् ओष्ठमेखला, अश्वत्थपत्रसदृशी नाभिं उल्लिखित है ।

त्रिंशत्पञ्चाशत्साहस्रपर्यन्ते होमे द्विगुणमिति चतुर्हस्तम् । लक्षहोमे ततोऽपि द्विगुणमष्टहस्तम् । द्विगुणमिति काकाक्षिवत् । लक्षणोपेतं हस्तमानानुसारोचितमेखलादिमानम् ॥ ४१ ॥

किं च—

नित्ये नैमित्तिके काम्ये शान्तौ पुष्टौ च वर्तुलम् ।
सर्वसिद्धौ प्रशस्येत श्रीकाम्ये चतुरश्रकम् ॥ ४२ ॥
शस्यते पूर्वमानेन शिष्टं वै कर्मभेदतः ।

नित्ये सदातने, नैमित्तिके दीक्षापर्वपवित्रकादौ, काम्ये शान्तिपुष्ट्यात्मनि, एवं च वर्तुलं कुण्डम् । श्रीकामविषये तु चतुरश्रकम् । तच्च मानं पूर्वमानेन प्रोक्तहोमसंख्यानुसारेणेत्यर्थः । अन्यस्यां तु सर्वसिद्धौ देहोच्चाटनादिकर्मभेदेन । शिष्टमिति त्रिकोणषट्कोणादिरूपम् ॥ ४२ ॥

अथ—

संस्कारास्तस्य कुण्डस्य कर्तव्या ह्यस्त्रमन्त्रतः ॥ ४३ ॥

तानाह—

तीस हजार से पचास हजार तक की आहुतियों के होम के लिये चार हाथ परिमाण वाला । एक लाख होम के लिये उसका दो गुना अर्थात् आठ हाथ परिमाण वाला । द्विगुण पद को काकाक्षि के समान ('त्रिपञ्चायुते होमे' तथा 'लक्ष होमे' दोनों के साथ जोड़ना चाहिये) । लक्षणों से युक्त = हाथ के परिमाण के अनुसार उचित मेखला आदि परिमाण वाला ॥ ४१ ॥

और भी—

नित्य, नैमित्तिक, काम्य, शान्ति और पुष्टि कर्म में हवनकुण्ड गोल आकार वाला, वैभव के लिये चौकोर कुण्ड श्रेष्ठ कहा गया है । अन्य प्रकार की समस्त सिद्धियों में पूर्व मान के अनुसार कर्म के भेद से (कुण्ड की आकृति कही गयी है) ॥ ४२-४३- ॥

नित्य = रोज-रोज होने वाला । नैमित्तिक = दीक्षा पर्व पवित्रक आदि में (क्रियमाण)। काम्य = शान्ति पुष्टि वाले । इसमें कुण्ड गोल आकार का होता है । श्रीकामविषय में चौकोर होता है । यह परिमाण पूर्वोक्त होम की संख्या के अनुसार होता है । अन्य सब प्रकार की सिद्धि जैसे देहोच्चाटन आदि के लिये, शिष्ट = त्रिकोण षट्कोण आदि रूप (कुण्ड होना चाहिये) ॥ ४२ ॥

इस (कुण्डरचना) के बाद—

उस कुण्ड के संस्कार अस्त्रमन्त्रों से करने चाहिये ॥ -४३ ॥

अधःखननमुद्धार ईतिक्षेपः प्रपूरणम् ।
सेचनं कुट्टनं चैव मार्जनं लेपनं तथा ॥ ४४ ॥

खननं भूस्थाया मृदः, उद्धारः उत्क्षेपः, ईतिक्षेपः शर्कराङ्गारादित्यागः, प्रपूरणं भरणम्, मेचका(मेक्षणा)द्यनन्तरं सेचनमद्भिर्योजनम्, कुट्टनं कठिनभागचूर्णनम्, मार्जनं कुण्डस्य समीकरणम्, लेपनं गोमयोत्पुंसनम् ॥ ४४ ॥

एतानष्टौ संस्कारान् निष्पादनकाले, निष्पन्नस्यापि भावनयास्त्रेण कृत्वा—

प्रणवेन तु कर्तव्यं कुण्डस्य परिकल्पनम् ।

परिकल्पनं क्रियाशक्तिरूपतया, प्रोक्षणताडने च अस्त्रेणेत्यनन्तरमेव भविष्यति। उक्षणमित्यादिना कुण्डकल्पनमित्यन्तेन कवचेनावगुण्ठनमूह्यम् ॥

अथात्र—

चतुष्पथं चाक्षवाटं वागीश्या गृहकल्पनम् ॥ ४५ ॥
असिना..........

उन (संस्कारों) को बतलाते हैं—

नीचे की ओर खोदना, मिट्टी का उठाना, ईति का प्रक्षेप, प्रपूरण, पानी डालना, कूटना, झाडू लगाना तथा लीपना (ये संस्कार करने चाहिये) ॥ ४४ ॥

खोदना = धरती में स्थित मिट्टी का । उद्धार = मिट्टी को ऊपर फेंकना । ईतिक्षेप = बालू के कण कोयला इत्यादि का त्याग । प्रपूरण = भरना । मेक्षण (= मिट्टी के बड़े टुकड़ों को चूर्णित करना) आदि के बाद सेचन = पानी से भिगोना । कुट्टन = कड़े हिस्से को चूर्ण करना, मार्जन = कुण्ड को समतल बनाना, लेपन = गोबर आदि से लीपना ॥ ४४ ॥

(कुण्ड की) रचना के समय ये आठ संस्कार (विधेय हैं) । यदि कुण्ड पहले से बना हुआ है तो भावना के द्वारा अस्त्रमन्त्र को पढ़ते हुए

प्रणव के द्वारा कुण्ड की कल्पना करनी चाहिये ॥ ४५- ॥

परिकल्पन—क्रियाशक्ति के रूप में । प्रोक्षण और ताडन अस्त्रमन्त्र के द्वारा तुरन्त होगा । प्रोक्षण से लेकर कुण्डकल्पना तक कवच के द्वारा अवगुण्ठन भी अपनी बुद्धि से समझना चाहिये ॥

इसके बाद—

असि मन्त्रों के द्वारा चतुष्पथ, अक्षवाट और वागीशी के गृह की कल्पना करनी चाहिये ॥ -४५-४६- ॥

पूर्वोत्तराननाभ्यां दर्भाभ्यां चतुष्पथम्, मध्यलाभाद् ऐशदिक्पूर्वं वागीश्या न्यासाय चकारात् पूर्वमुखैस्त्रिभिः सौम्याननेनैकेन वज्रीकारः, शिवाग्निसहिष्णुतायै च सर्व ऊर्ध्वदिग्दर्भास्तरणमक्षवाटो वागीश्या गृहायेत्यस्त्रेणैतत्सर्वं कुर्यात् ॥ ४५॥

........प्रणवेनैव वागीश्यावाहनं पुनः ।
अर्चनं देवि कर्तव्यं त्रितत्त्वेन........

'वागीशि संनिधत्स्व' इत्याह्वानम् । चतुर्थीनमोयोगेन त्वर्चनम् । त्रितत्त्व इति प्रणव इहत्यो मूलमन्त्रो वा ॥ ४६ ॥

पूर्वोक्तकुण्डसंस्कारपूरणमाह—

............उक्षणं तथा ॥ ४६ ॥
अस्त्रेण ताडनं चैव संस्कृत्य विधिपूर्वकम् ।
क्रियाशक्तिस्वरूपेण कौण्डल्या कुण्डकल्पनम्॥ ४७ ॥

कौण्डल्या इति शाक्तकुण्डलिनीव्याप्त्या, यद्वा वागीशीयोनावेव प्रोक्षणताडन-कुण्डल्यात्मककुण्डकल्पनानि कुर्यात् ॥ ४७ ॥

अथ—

पूर्व और उत्तर शिखा वाले दो कुशों से चौराहा, मध्य (= कुण्ड के बीच) के लाभ से ईशान दिशा का पूर्व वागीशी के न्यास के लिये होता है । (श्लोक में उक्त चकार के द्वारा) पूर्वमुख वाले तीन कुशों तथा उत्तर मुख वाले एक कुश के द्वारा वज्र बनाना चाहिये । शिवाग्नि की सहिष्णुता के लिये ऊर्ध्व दिशा में कुश का स्तरण वागीशी के गृह के लिये अक्षवाट यह सब अस्त्र मन्त्र से करना चाहिये ॥ ४५ ॥

हे देवि ! प्रणव के द्वारा वागीश्वरी का आवाहन और फिर त्रितत्त्व के द्वारा पूजन करना चाहिये ॥ -४६- ॥

'ॐ वागीशि सन्निधत्स्व' इस प्रकार आवाहन करे । चतुर्थी (= ॐवागीश्यै) के साथ 'नमः' जोड़कर पूजन करना चाहिये । त्रितत्त्व = प्रणव अथवा यहाँ का मूल मन्त्र ॥ ४६ ॥

पूर्वोक्त कुण्डसंस्कार का पूरण बतलाते हैं—

उक्षण, अस्त्र मन्त्र से ताडन, विधिपूर्वक संस्कार कर क्रियाशक्ति के रूप में कुण्डलिनी के द्वारा कुण्ड की कल्पना करे ॥ -४६-४७ ॥

कौण्डली के द्वारा = शाक्त कुण्डलिनी की व्याप्ति के द्वारा । अथवा वागीश्वरी की योनि में ही प्रोक्षण, ताडन, कुण्डलिनीरूपी कुण्ड की कल्पना करनी चाहिये ॥ ४७ ॥

ज्ञानशक्तिस्वरूपं तु वह्निं तत्रोपकल्पयेत् ।

कथम्—

वह्निमादाय पात्रस्थं पञ्चसंस्कारसंस्कृतम् ॥ ४८ ॥

तान् पञ्चाह—

निरीक्षणादि चास्त्रेण कवचेनावगुण्ठनम् ।
प्रणवेनाहुतीः पञ्च हुत्वा क्रव्यादशुद्धये ॥ ४९ ॥
विश्वाग्न्यापादनं पश्चात् कुर्वीत भ्रामयेत्त्रिधा ।

आदिशब्दात् प्रोक्षणताडने, एतदन्तमेकः । क्रव्यादत्वं श्माशानिकत्वम्, तच्छुद्धिस्तृतीयः । विश्वाग्निरग्नितत्त्वात्मा शिवाग्निस्तदापादनम् । त्रिधा भ्रामणं च प्रणवेनैव ॥ ४९ ॥

किं च—

बीजरूपं ततो वह्निमात्मानं परमेश्वरम् ॥ ५० ॥
मायां चैव तु वागीशीं योनौ संक्षोभ्य संक्षिपेत् ।
वर्तुलीकृत्य............

वागीशीमित्यस्यान्ते ध्यात्वेति योज्यम्, संक्षोभ्य त्रिधा भ्रामणेनैव । यदत्र

इसके बाद—

ज्ञानशक्ति रूप वह्नि की उसमें कल्पना करे ॥ ४८- ॥

कैसे ?—

पाँच संस्कार से संस्कृत तथा पाँच में स्थित वह्नि को लेकर (संस्कार करे) ॥ -४८ ॥

उन पाँच (संस्कारों) को कहते हैं—

निरीक्षण आदि अस्त्र के द्वारा, कवच के द्वारा अवगुण्ठन, क्रव्यादत्व की शुद्धि के लिये प्रणवोच्चारणपूर्वक पाँच आहुतियों को देना, विश्वाग्नि का आधान तथा तीन बार भ्रामण (ये पाँच संस्कार हैं) ॥ ४९-५०- ॥

(पूर्व श्लोकोक्त निरीक्षणादि पद में) आदि शब्द से प्रोक्षण एवं ताडन, यहाँ तक एक संस्कार है । क्रव्यादत्व = श्मशान से सम्बद्ध होना । उसकी शुद्धि तीसरा संस्कार है । विश्वाग्नि = अग्नितत्त्व रूपा शिवाग्नि, उसका आपादन = उत्पादन एवं आधान । तीन बार भ्रामण = प्रणव के ही द्वारा ॥ ४९ ॥

इसके बाद बीज रूप वह्नि को तथा परमेश्वर रूपी आत्मा को माया तथा वागीश्वरी को गोलाकार में संक्षुब्ध कर योनि में छोड़ दे ॥-५०-५१-॥

तत्त्वं तत् श्रीस्वच्छन्दोद्द्योते दर्शितम् ॥ ५० ॥

अथ—

........विश्वाग्नौ पूजनं प्रणवेन तु ॥ ५१ ॥
कर्तव्यं तन्मुखे पश्चात् संस्कारास्तु ततोऽनले।

शिवाग्नितापादनाशयेनैव 'शिवाग्नये नमः' इति पूजात्मसंस्कारमुखाविर्भाविसंस्कारान् कुर्यात् ॥ ५१ ॥

तानाह—

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तोन्नयनं तथा ॥ ५२ ॥
वक्त्रकल्पननिष्क्रामसीमग्रीवादिकल्पनम् ।
जातकर्म तथैवात्र निष्क्रामो नामकल्पना ॥ ५३ ॥
हृदयाद्यङ्गषट्केन कर्तव्यमनुपूर्वशः ।

सीमन्तोन्नयनमित्यस्य विशेषणं वक्त्रकल्पनादीति । वक्त्राणां कल्पनमनुद्भिन्नता, निष्क्रामोऽभिव्यक्तिः अङ्गप्रत्यङ्गकल्पना । अत्र मध्ये 'सीमशब्देन मुखहृत्पाददेशानां त्रित्वव्याप्त्या कल्पनं सूचितम् । निष्क्रामः आदित्यदर्शनम् । अत्र च हृन्मन्त्रेणाग्निं संपूज्य तेनैव 'गर्भाधानं करोमि स्वाहा' इति तिलैर्जुहुयात्,

---

'वागीशीम्' पद के अन्त में ध्यान कर ऐसा जोड़ देना चाहिये । संक्षुब्ध कर—तीन बार भ्रामण कर । यहाँ जो तत्त्वार्थ (= गूढार्थ) है वह श्री स्वच्छन्दोद्योत में बतला दिया गया है ॥ ५० ॥

इसके बाद—

विश्वाग्नि में प्रणव के द्वारा उसके मुख में पूजन करे । बाद में अग्नि का संस्कार करे ॥ -५१-५२- ॥

शिवाग्निता के आपादन के आशय से ही 'शिवाग्नये नमः' इस प्रकार पूजा रूपी संस्कार के पहले अविर्भावसंस्कार करे ॥ ५१ ॥

उन (संस्कारों) को कहते हैं—

गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, वक्त्रकल्पन, निष्क्रामण, सीमग्रीवादिकल्पना, जातकर्म, निष्क्रमण, नामकल्पना—ये सब क्रमशः हृदयादि छह अङ्ग के द्वारा करना चाहिये ॥ -५२-५४- ॥

वक्त्रकल्पन आदि सीमन्तोन्नयन का विशेषण है । वक्त्रों का कल्पन = उनके उद्भेद के पहले की स्थिति । निष्क्रमण = अभिव्यक्ति = अङ्गप्रत्यङ्ग की कल्पना । सीम शब्द से मुख हृदय पैर इनकी त्रित्वव्याप्ति से कल्पना संकेतित है । निष्क्राम = सूर्य का दर्शन । यहाँ हृदय मन्त्र से अग्नि की पूजा कर उसी (मन्त्र) से

इत्यादिक्रमः श्रीस्वच्छन्दादितोऽन्वेष्यः संक्षिप्तत्वादस्य विधेः समानतन्त्रापेक्षत्वात् । एवमुत्तरत्रापि ॥ ५३ ॥

किं च—

चूडाद्या ये तु बालान्ताः पूर्णाहुत्यैकया पुरः ॥ ५४ ॥
संस्कारानपि सर्वांस्तान् वह्नौ मूलेन पूरयेत् ।

बालस्य ब्रह्मचारिणोऽन्ते ये भूता उद्वाहादयः । 'चूडाद्यान् सर्वसंस्कारान् वह्नौ करोमि स्वाहा' इत्यत्रोहः ॥ ५४ ॥

अथ—

शिवशक्तिमयौ तत्र कल्पयेत विधानवित् ॥ ५५ ॥
स्रुक्स्रुवौ तौ दृढौ कार्यौ क्षीरवृक्षसमुद्भवौ ।

विधानमनन्तरं भविष्यति । क्षीरवृक्षः श्वेतार्कादिः ॥ ५५ ॥

किं च—

शस्येते शान्तिपुष्ट्योस्तु प्रशस्तद्रुमसंभवौ ॥ ५६ ॥

'गर्भाधानं करोमि स्वाहा' ऐसा उच्चारण करते हुये तिलों से आहुति देनी चाहिये । यह क्रम श्री स्वच्छन्दतन्त्र आदि से जान लेना चाहिये क्योंकि (यहाँ यह) संक्षेप में कहा गया है और अनुष्ठान की विधि समान तन्त्रापेक्ष (= सभी तान्त्रिक अनुष्ठानों में समान) होती है । इसी तरह आगे भी जानना चाहिये ॥ ५३ ॥

और भी—

चूडाकरण से लेकर बालक अर्थात् ब्रह्मचारी के अन्त तक वाले वह्नि के उन सभी संस्कारों को मूलमन्त्र का उच्चारण करते हुये एक पूर्णाहुति से पूरा करना चाहिये ॥ -५४-५५- ॥

बालक = ब्रह्मचारी, के अन्त में होने वाले जो उद्वाह आदि संस्कार । यहाँ अपने मन से यह योजना करनी चाहिये—'चूडाद्यान् सर्वसंस्कारान् वह्नौ करोमि स्वाहा' ॥ ५४ ॥

इसके बाद—

विधान को जानने वाला पण्डित शिवशक्तिमय स्रुक् और स्रुवा बनाये । वे (= स्रुक् और स्रुवा) दूध वाले वृक्ष की लकड़ी से बने और मजबूत होने चाहिए ॥ -५५-५६- ॥

विधान बाद में बतलाया जायगा । क्षीरवृक्ष = सफेद मदार आदि ॥ ५५ ॥

श्रीपर्णीबिल्वाद्युत्थौ ॥ ५६ ॥

अन्यत्र भावभेदेन कार्यौ कर्मानुरूपतः ।

भगवतोऽमृतेशस्य साधकान् प्रति शान्तिपुष्टी प्राधान्येन कार्ये तत्र तत्र, इति स्वकण्ठेनोच्यते ॥

अन्यत्तु सामान्योक्त्या पूर्वसूचितं विधानं दर्शयति—

षट्त्रिंशाङ्गुलमानेन स्रुग् वा बाहुप्रमाणतः ॥ ५७ ॥

अष्टयवमङ्गुलम् । बाहुप्रमाणत इति ।

'बाहूपबाहू वस्वङ्ककलौ संधिः कलादलम् ।
तद्वत् पाण्युपबाह्वोश्च........................ ॥'

इति मयोक्तनीत्या बाहुमूलात् प्रकोष्ठान्तमानेन ।

अत्र च—

'आयामादर्कभागस्य नवभागोऽङ्गुलम्'

शान्ति और पुष्टि कर्मों के लिये प्रशस्त वृक्ष की लकड़ी के बने हुए (स्रुक् और स्रुवा) अच्छे माने जाते हैं ॥ -५६ ॥

(प्रशस्तवृक्ष से बना =) श्रीपर्णी (= पलाश काष्ठ) और बेल आदि से बना ॥ ५६ ॥

अन्यत्र भावभेद से कर्म के अनुरूप (स्रुक् स्रुवा) बनाना चाहिये ॥

साधकों के प्रति (= लिये) भगवान् अमृतेश की शान्ति और पुष्टि प्रधान रूप से स्थान-स्थान पर करणीय है—ऐसा (= परमेश्वर के द्वारा) अपने मुख से कहा जाता है ॥

पूर्व सूचित विधान को सामान्य उक्ति से बतलाते हैं—

स्रुक् ३६ अंगुल परिमाण का या बाहु के परिमाण का होना चाहिये ॥ -५७ ॥

एक अंगुल ८ यव के माप का होता है । बाहु की माप वाला—

'बाहु उपबाहु ८ और ९ कला वाले होते हैं । (उनकी सन्धि एक कला है वैसा ही पाणि और उपबाहु के विषय में भी जानना चाहिये)' ।

इस मयशास्त्रोक्त नीति से बाहुमूल से लेकर प्रकोष्ठान्त परिमाण (बनाना चाहिये) ।

यहाँ—

इति स्वाङ्गुलापेक्षा षट्त्रिंशदङ्गुलमानतेति विशेषः ॥ ५७ ॥

अस्याश्च—

षडंशपरिणाहेन दण्डः कुम्भसमुत्थितः ।

परिणाहो वेष्टनमानम् । कुम्भो मूले घटाकृतिः संनिवेशविशेषः ॥

स च दण्डः—

चतुरङ्गुलपीठाग्रः सर्वतश्चतुरङ्गुलः ॥ ५८ ॥
पीठं चतुष्किकाकारं तत्पीठं कमलोदरम् ।
कर्तव्यं दण्डमध्ये तु

अग्रे यस्य । दण्डशब्देनात्र प्राणदण्डप्रकृतिरूपा सर्वैव स्रुगुच्यते । तस्या अपि विभागे घटदण्डयोः षोडशाङ्गुलानि । चतुष्किका चतुष्कपरिमाणात् । वेदिका-कण्ठमुखानामूर्ध्वभागे षोडशेति कृत्वा मध्ये चत्वारि पीठमानं भवति ॥ ५८ ॥

तत्र च पीठे पद्मम्—

........द्व्यङ्गुलायतवर्तुलम् ॥ ५९ ॥

'विस्तार के अर्क (= १२) भाग का नवभाग १ अङ्गुल होता है ।'

अपनी अंगुली के हिसाब से ३६ अंगुल परिमाण—यह अन्तर है ॥ ५७ ॥

इस (= स्रुक्) के—

छठें अंश के विस्तार से दण्ड बनाये जिसके मूल में कुम्भ (की आकृति) हो ॥ ५८- ॥

परिणाह = वेष्टनमान । कुम्भ = (स्रुक् के) मूल में कुम्भ के आकार का चित्रण ।

और वह दण्ड—

उसके पीठ का अग्रभाग चार अंगुल का होता है सब ओर से यह चार अंगुल का होता है । उसका पीठ चतुष्किका (= चौकी) के आकार का होता है । वह पीठ दण्ड के मध्य में कमल के उदर के समान बनाये ॥ -५८-५९- ॥

यहाँ दण्ड शब्द से प्राणदण्ड की प्रकृतिरूपा पूरी स्रुक् कही जाती है । उसका भी विभाग करने पर प्राणदण्ड के १६ अंगुल परिमाण होते हैं । चतुष्किका = चतुष्क परिमाण से । वेदिका, कण्ठ और मुख के ऊर्ध्वभाग में सोलह, इस प्रकार मध्य में चार पीठमान होते हैं ॥ ५८ ॥

उस पीठ में कमल—

अर्धाङ्गुलसमुत्सेधं विचित्ररचनाङ्गुलम् ।

तिलकरचनार्थं पार्श्वयोरङ्गुलद्वयं त्यक्त्वा मध्ये द्व्यङ्गुलीकार्यमित्यर्थ: । समुत्सेध औन्नत्यम् ॥ ५९ ॥

अस्याग्रे—

वेदिकाष्टाङ्गुला कार्या चतुरस्रा सुशोभना ॥ ६० ॥
अध:पद्मनिविष्टा तु............

अस्याश्च वेद्या:—

.........ऊर्ध्वं पञ्चाङ्गुलायतम् ।
खातं तु त्र्यङ्गुलं कार्यं तदूर्ध्वे वर्तुलं क्रमात् ॥ ६१ ॥

ऊर्ध्वं पृष्ठभागेऽष्टाङ्गुलाया वेद्या: पार्श्वयो: सार्धं सार्धमङ्गुलं त्यक्त्वा, मध्ये पञ्चाङ्गुलमायतं त्र्यङ्गुलं चाध:खातमाज्यस्थानं कार्यम् । तदूर्ध्वे भ्रमात् सूत्रभ्रमणेन वर्तुलं भवति ॥ ६१ ॥

किं च—

अर्धाङ्गुलप्रमाणैश्च तिलकैरुपशोभितम् ।
तच्च पार्श्वचतुष्कं तु चतुष्कोणसमन्वितम् ॥ ६२ ॥

दो अंगुल लम्बा चौड़ा, आधा अंगुल ऊँचा एवं विचित्र रचनाअंगुलि वाला होना चाहिये ॥ -५९-६०- ॥

तिलक (= आकृति विशेष) की रचना के लिये दोनों पार्श्वों में दो अंगुल छोड़कर मध्य में दो अंगुल बनाना चाहिये । समुत्सेध = ऊँचाई ॥ ५९ ॥

इसके आगे—

आठ अंगुल की समतल सुन्दर चौकोर वेदी बनाये और उसके नीचे कमल बना हो ॥ -६०-६१- ॥

इस वेदी का—

ऊपरी भाग पाँच अंगुल चौडा, गड्ढा तीन अंगुल का और उसके ऊपर गोल बनाना चाहिये ॥ -६१ ॥

आठ अंगुल की वेदी के ऊपर = पीठ पर और अगल-बगल डेढ़-डेढ़ अंगुल छोड़कर मध्य में पाँच अंगुल चौड़ा और तीन अंगुल गहरा घी का स्थान बनाना चाहिये । वह ऊपर सूत्र को घुमाने से गोल हो जाता है ॥ ६१ ॥

तथा—

(वह गड्ढा) आधे अंगुलप्रमाण वाले तिलकों से सजाया गया हो ।

शिल्पिविज्ञानरचनानानासुरचनं च तत् ।

तस्य मध्यगस्य खातस्य वर्तुलस्य पार्श्वे यदध्यर्धमङ्गुलं वेदिकास्थं तत् त्रिधा विभज्य मध्यभागेऽर्धाङ्गुलास्तिलकाः कार्याः । रचना व्यापारः । सुरचनं शोभनं रच्यमानं पत्रावल्यादि । सुरचितमिति तु स्पष्टम् ॥ ६२ ॥

वेदिकाया अग्रे—

कण्ठ एकाङ्गुलः कार्यस्तत्त्रिभागविभक्तितः॥ ६३ ॥
पार्श्वयोस्तु.............

दैर्ध्यादिकाङ्गुलः । वैपुल्यात्तु तदित्यष्टाङ्गुलवेदिकामानं त्रिभागीकृत्य, पार्श्वयोर्विभज्य भागद्वयं त्यक्त्वा मध्यमत्रिभागमानः कार्य इत्यर्थः ॥ ६३ ॥

एकाङ्गुलकण्ठस्याग्रे—

..........तथा कार्यं मुखं सप्ताङ्गुलं शुभम् ।
दैर्घ्यात्.........

मुखमाज्यधारापातक्षेत्रम् । शुभं विरचनासनाथम् ॥

....तत्पार्श्वतोऽष्टौ तु.....

उसके चारो पार्श्व चतुष्कोण से युक्त हो । उसमें शिल्पी विज्ञान की अनेक सुन्दर रचनाये हों ॥ ६२-६३- ॥

उसके = मध्यगामी गोल गड्ढे के, पास में जो आधा-आधा अंगुल वेदी स्थान है उसे तीन भाग में बाँट कर मध्य भाग में आधा अंगुल के तिलक बनाये जाँय । रचना = व्यापार । सुरचन = सुन्दर रची गयी पत्रावली आदि । सुरचित का अर्थ स्पष्ट है ॥ ६२ ॥

वेदिका के आगे—

उस (वेदी) को तीन भागों में बाँट कर पार्श्व के (दोनों भागों को छोड़कर बीच में) एक अंगुल का कण्ठ बनाये ॥ -६३-६४- ॥

(कण्ठ की) लम्बाई एक अंगुल हो । चौड़ाई में उस आठ अंगुल वाले वेदिकामान को तीन भागों में बाँट कर दोनों पास के दो भागों को छोड़कर मध्यम तीसरे भाग के परिमाण का बनाना चाहिये ॥ ६३ ॥

एक अंगुल कण्ठ के आगे—

उसी प्रकार सात अंगुल लम्बा सुन्दर मुख बनाना चाहिये ॥ -६४- ॥

मुख = घी की धारा के गिरने का स्थान । शुभ = अच्छी-अच्छी रचनाओं से युक्त ।

तन्मुखम्, पार्श्वतो वेदिकासममूलमित्यर्थः ॥

अस्य च—

.....द्वौ भागौ ह्रासयेत् क्रमात् ॥ ६४ ॥
मुखाग्रं तत्त्रिभागं तु द्वौ भागौ तस्य पार्श्वतः।
वर्तयेत्...........

मुखस्याग्रभागमष्टाङ्गुलं त्रिधा कृत्वा, मध्यभागपार्श्वाभ्यां पूर्वकोणयोः सूत्रद्वयमास्फाल्य, पार्श्वगौ द्वौ भागौ वर्तयेद् यथानुपातमङ्कयेत्, ततस्तानेव ह्रासयेत् शातयेत् । एवं च मुखाग्रमष्टाङ्गुलमानात्त्रिभागं भवति ॥ ६४ ॥

किं च—

वेधयेत्तु कनिष्ठाङ्गुलिमानतः ॥ ६५ ॥

मध्येनाज्यधारापाताय ॥ ६५ ॥

तच्च—

निम्नं निम्नतरं कुर्याद्यावदग्रमुखान्तरम् ।

मुखाग्रमध्यं यावद् ह्रस्वनिम्नच्छिद्रं कुर्यात् ॥

उसके पास में आठ (अंगुल) को ॥ -६४- ॥

उसके = मुख के । पास में = वेदिका के सममूल को—यह अर्थ हैं ।

इसके—

दो भागों को क्रमशः कम कर लेना चाहिये । मुख के अग्रभाग का तीन भाग कर उनमें से दो भागों को उसके पास में चिह्नित कर लेना चाहिये ॥ -६४-६५- ॥

मुख के आठ अंगुल वाले अग्रभाग को तीन भागों में बाँटकर मध्यम भाग और पार्श्व से पूर्व दो कोणों में दो सूत्र को फटकार कर पार्श्ववर्त्ती दो भागों को यथानुपात चिह्नित करे । फिर उनको कम करे । इस प्रकार मुखाग्र आठ अंगुल के मान से तीन भाग वाला हो जाता है ॥ ६४ ॥

फिर उसे कनिष्ठा अंगुली के मान से विद्ध करे ॥ -६५ ॥

(यह वेधन) घृतधारा के पात के लिये मध्य में किया जाता है ॥ ६५ ॥

और उसे—

अग्र मुखपर्यन्त निम्न से निम्नतर करते जाना चाहिये (ताकि घी सरलता से अग्नि में गिरती जाय) ॥ ६६- ॥

तस्य तु—

पार्श्वयोश्च तथा कार्या विचित्ररचना शुभा ॥ ६६ ॥

स्रुवमानमाह—

हस्तमात्रं स्रुवं कुर्यान्मूलपीठं त्रिशाखिनम् ।
मध्याग्रपीठपद्माङ्कं कण्ठेऽङ्गुलसुवर्तुलम् ॥ ६७ ॥
चतुरङ्गुलदीर्घं तु द्विपुटाग्रं सुवर्तितम् ।
अङ्गुष्ठपर्ववत् खातं गोष्पदाकृति कारयेत् ॥ ६८ ॥
कनिष्ठाङ्गुलिमानेन प्रतिशाखं तु वर्तुलम् ।
वर्तयेद्रचनायुक्तं कर्षापूरितवक्त्रकम् ॥ ६९ ॥

मूलपीठं चतुरस्रः संनिवेशो यस्य । कनिष्ठाङ्गुल्यग्रमानेन त्रितयव्याप्त्या प्रशस्ता मूलपीठादुत्थिता शाखा यस्य । तथा मध्याग्रपीठयोः पद्माङ्कितम् । अस्य अग्रपीठस्य पुरोभागे च कण्ठेऽङ्गुलं सुष्ठु वर्तुलम्, सुवर्तुलकण्ठमित्यर्थः । अस्य च चतुरङ्गुलानि दैर्घ्यम् । द्विपुटं दीर्घमध्ये रेखाविभक्तपार्श्वद्वयमग्रं यस्य तत् । सुष्ठु वर्तुलं यथानुपातं सुन्दरम् । अत एव गोष्पदाकृति, अङ्गुष्ठस्य मध्यरेखातो-

---

मुखाग्र के मध्यपर्यन्त ह्रस्व निम्न (= छोटा सा नीचे की ओर) छिद्र करे ॥

उसके—

दोनों पार्श्वों में सुन्दर विचित्र रचनायें करनी चाहिये ॥ -६६ ॥

स्रुवा के मान को बतलाते हैं—

स्रुवा एक हाथ के माप की बनाये । वह मूल पीठ में तीन शाखाओं वाला हो । मध्यपीठ तथा अग्रपीठ में कमल का चित्र बना हो । कण्ठ एक अंगुल का और गोल हो । चार अंगुल लम्बा, द्विपुटाग्र (= आगे दो पुटों वाला) सुन्दर गोलाई वाला, अंगुष्ठ के पर्व के समान माप वाला हो । उसे गाय के खुर के बराबर गड्ढा बनाना चाहिये । कनिष्ठा अंगुली के बराबर वह प्रत्येक शाखा में गोल हो । उस पर अनेक चित्रकारी की जानी चाहिये तथा (गड्ढे का) मुख कर्ष (= स्वर्णमुद्रा) से आपूरित होना चाहिये ॥ ६७-६९ ॥

मूलपीठ = चौकोर सन्निवेश वाला । कनिष्ठा अंगुली के अग्र के बराबर तीन शाखायें मूलपीठ से उठी हों । उसके मध्यपीठ एवं अग्रपीठ पर कमल अङ्कित हो । अग्रपीठ के सामने वाले भाग में कण्ठ में एक अंगुल सुन्दर गोला हो अर्थात् उसका कण्ठ सुन्दर गोल हो । उसकी लम्बाई चार अंगुल हो । उसका अग्रभाग द्विपुट हो = रेखा के द्वारा दोनों पार्श्व विभक्त हो । सुष्ठु वर्त्तुल और यथानुपात सुन्दर हो । इसीलिये अंगुष्ठ की मध्यरेखा से अग्रपर्यन्त जो पर्व उसके माप वाला

ऽग्रान्तं यत् पर्व तत्परिच्छेदकत्वेन विद्यते यस्य तादृक् खातं यस्य । अतश्च कर्षेणापूरितं वक्त्रं वक्त्रखातस्थानं यस्य तादृशं स्रुवं कुर्यात् । स्रुक्खातं घृतपरिमाणं न परिच्छिनत्ति ॥ ६९ ॥

चतुष्पला भवेत् पूर्णा.........

स्रुगादीनां व्याप्तिमाह—

.........स्रुक्शक्तिस्तु स्रुवः शिवः ।
क्रियाशक्तिस्तु वै कुण्डं ज्ञानशक्तिस्तथानलः ॥ ७० ॥

शिवाभेदव्याप्तिरेवात्र परः संस्कारः, इत्याशयात् स्रुक्स्रुवयोरिह संस्कारौ नोक्तौ ॥ ७० ॥

एवं संपाद्य विधिवत् पश्चाद्धोमं समारभेत् ।

एवं निष्पादनं शिवशक्त्यभेदेन विमर्शनम् । विधिवदिति वीर्यव्याप्त्यनुसारेण यथाशक्ति शतं सहस्रं वा मूलस्य, तद्दशांशं त्वङ्गानां नित्यकर्मणि जुहुयात् ॥

काम्ये द्रव्यनियममाह—

तिलैः क्षीरयुतैर्होमाच्छर्कराघृतसंयुतैः ॥ ७१ ॥
महाशान्तिः प्रजायेत तत्क्षणान्नात्र संशयः ।

गाय के खुर की आकृति वाला खात (= गड्ढा) उसमें हो । इसलिये कर्ष से आपूरित मुख वाला हो । ऐसा स्रुवा बनाना चाहिये । स्रुक् का गड्ढा घृतपरिमाण का परिच्छेदक नहीं होता ॥ ६७-६९ ॥

चारपल वाली स्रुक् पूर्ण मानी जाती है ॥ ७०- ॥

स्रुक् आदि की व्याप्ति को बतलाते हैं—

स्रुक् शक्ति है और स्रुवा शिव है । कुण्ड क्रियाशक्ति है और अग्नि ज्ञानशक्ति है ॥ -७० ॥

शिव के साथ अभेदव्याप्ति ही यहाँ पर संस्कार है—इस आशय से स्रुक् और स्रुवा के संस्कार नहीं कहे गये ॥ ७० ॥

इस प्रकार सम्पादन कर बाद में विधिवत् होम करे ॥ ७१- ॥

इस प्रकार निष्पादन = शिवशक्ति से अभिन्नरूप में विमर्श । विधिवत्-वीर्य की व्याप्ति के अनुसार यथाशक्ति एक सौ या एक हजार मूलमन्त्र से होम करे, उसका दशांश अङ्गों से नित्यकर्म में होम करे ॥

काम्य कर्म में द्रव्य के नियम को बतलाते हैं—

क्षीर (= घृत) से युक्त तिलों के द्वारा अथवा शर्कराघृत से युक्त तिलों

एतत्प्रसङ्गादुक्त्वा, प्रकृतमाह—

आदौ चैवाज्यसंस्कारान् कुर्याद्धोमं ततः परम् ॥ ७२ ॥

तानाह—

अधिश्रयणमुद्वासं भ्रमणं स्थापनं ततः ।
निरीक्षणं तथास्त्रेण नीराजनमतः परम् ॥ ७३ ॥
पर्यग्निकरणं चैव तथैवोत्प्लवसंप्लवौ ।
अस्त्रेणैव...........

भाण्डात् पात्रे प्रस्त्रावणम्, अग्नेरूर्ध्वे स्थापनम्, कुण्डस्य परितस्त्रिर्नयनम्, योनौ स्थापनम्, तत्र तेजसा परतेजोमयत्वापादनम्, दर्भोल्मुकेन सर्वदिक्कं प्रकाशनम्, ज्वलद्दर्भस्यान्तः प्रक्षेपः, कराभ्यामङ्गुष्ठानामिकागृहीतपवित्रेण त्रिरूर्ध्वं प्रेरणम्, त्रिरधःप्रेरणम्, इत्यधिश्रयणादीनां स्वरूपम् ॥

एतान् नव संस्कारान् अस्त्रेण कृत्वा—

..........अर्चनं मूलेनामृतीकरणं तथा ॥ ७४ ॥

अमृतमुद्रात्र प्रदर्श्या ॥ ७४ ॥

से हवन करने पर तत्क्षण महाशान्ति प्राप्त होती है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ -७१-७२- ॥

प्रसङ्गवश यह कथन कर प्रस्तुत को कहते हैं—

पहले घी का संस्कार कर फिर होम करना चाहिये ॥ -७२ ॥

उन (= संस्कारों) को कहते हैं—

अधिश्रयण, उद्वास, भ्रमण, स्थापन, निरीक्षण, अस्त्र से नीराजन तत्पश्चात् पर्यग्निकरण फिर अस्त्रमन्त्र से ही उत्प्लव और संप्लव (ये संस्कार हैं) ॥ ७३-७४- ॥

(अधिश्रयण =) बड़े वर्त्तन से होमपात्र में घी गिराना, (उद्वास =) अग्नि के ऊपर घी को रखना, (भ्रमण = घृत को) कुण्ड के चारों ओर तीन बार घुमाना, योनि के ऊपर स्थापन, आँख से देखते हुये उसमें परतेज की स्थापना, (नीराजन =) जलते हुए कुश से उस घृतपात्र के चारों ओर प्रकाश करना, (पर्यग्निकरण =) जलते हुए कुश को (कुण्ड के) अन्दर फेंकना, दोनों हाथों की अनामिका अंगुष्ठा से कुश को लेकर घी को तीन बार ऊपर उठाना तीन बार नीचे ले जाना—ये अधिश्रयण आदि के स्वरूप हैं ॥ ७३- ॥

अस्त्रमन्त्र से इन नव संस्कारों को करने के बाद—

मूल मन्त्र से पूजन और अमृतीकरण करे ॥ -७४ ॥

अथ—

दर्भास्तरविष्टराणि परिधीनस्त्रमन्त्रतः ।

कल्पयेत् । दर्भास्तरे नानाविधास्त्रव्याप्त्या विष्टराणि रक्षार्थान्यवस्थाप्य लोकपालानामासनार्थम् । बहिरस्त्रप्राकारव्याप्त्या हस्तप्रमाणाः समन्त्राः शाखाः परिधयः । एतत्त्रयं कुण्डस्य बहिः ।

अथाज्यपात्रे दर्भौ क्षिप्त्वा—

सूर्याचन्द्रमसौ बाह्ये कल्पयेत् प्रणवेन तु॥ ७५ ॥

सप्रणवेन मूलेनाज्ये धामत्रयं कल्पयित्वा, वामदक्षिणमध्येभ्यः क्रमेण स्रुवमापूर्य मूलमन्त्रपूर्वं 'सोमाय स्वाहा, अग्नये स्वाहा, अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा' इति होमादग्नेस्त्रिधामता शुक्लपक्षे कल्प्या । कृष्णपक्षे तु वामात् 'सूर्याय स्वाहा' दक्षिणात् 'अग्नये स्वाहा' मध्यात् 'अग्निसूर्याभ्यां स्वाहा' इति श्रीस्वच्छन्दोक्तविधिरत्रापेक्ष्यः ॥ ७५ ॥

अथाग्निम्—

भावयेन्नवजिह्वं तु.........

(अमृतीकरण के लिये) यहाँ अमृत मुद्रा दिखलानी चाहिये ॥ ७४ ॥

दर्भ के स्तर पर कुशों की तथा परिधियों की अस्त्र मन्त्र के द्वारा ॥ ७५- ॥

कल्पना करनी चाहिये । दर्भ के स्तर पर अनेक प्रकार के अस्त्र की व्याप्ति के द्वारा रक्षा के लिये लोकपालों के आसनहेतु विष्टर रखे । बाहर अस्त्रप्राकार की व्याप्ति से एक हाथ प्रमाण वाली परिधियाँ बनायें जो मन्त्र और शाखा वाली हो । यह तीन (= दर्भ का स्तर, विष्टर और परिधि) कुण्ड के बाहर (बनाये) ॥

फिर घृतपात्र में दो कुशों को डालकर—

प्रणव के द्वारा बाहर (= अपने शरीर के बाहर अर्थात् घृत में) सूर्य और चन्द्रमा की कल्पना करे ॥ -७५ ॥

प्रणव के साथ मूलमन्त्र से घृत में तीनों तेजों की कल्पना कर बायें दाहिने मध्य से क्रमशः स्रुवा को भरकर मूलमन्त्र का उच्चारण करते हुये 'सोमाय स्वाहा' 'अग्नये स्वाहा,' 'अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा' होम से अग्नि की तीन धाम की कल्पना शुक्लपक्ष में करनी चाहिये । कृष्णपक्ष में बायें 'सूर्याय स्वाहा, दाहिने अग्नये स्वाहा, मध्य में अग्निसूर्याभ्यां स्वाहा' यह स्वच्छन्दोक्त विधि अपनानी चाहिये ॥ ७५ ॥

इसके बाद अग्नि की—

'राज्यार्था दाहजननी मृत्युदा शत्रुहारिका ।
वशीकर्त्र्युच्चाटनी स्यादर्थदा मुक्तिदायिका ॥
सर्वसिद्धिप्रदा................................ ।

इत्येवंनामकाः प्रागादिमध्यान्ता अग्नेः कल्प्याः 'अग्नेर्जिह्वाः कल्पयामि' इत्यूहेन ॥

.............पूर्णां मूलेन पातयेत् ।

एवं कुण्डाग्निस्रुक्स्रुवाज्यानि संस्कृत्य—

ततः पश्चात्तु तं मन्त्रं साङ्गं मध्यगतं यजेत् ॥ ७६ ॥

साधकस्तु—

एवंकृते तु जुहुयान्मन्त्रं कर्मानुसारतः ।

एवंकृत इति नित्यकर्मसमाप्तौ ॥

तत्र—

पयसा घृतयुक्तेन पुष्टिर्भवति शाश्वती ॥ ७७ ॥

हुतेन साधकस्य ॥ ७७ ॥

नव जिह्वा वाली के रूप में भावना करनी चाहिये ॥ ७६- ॥

'राज्यार्था, दाहजननी, मृत्युदा, शत्रुहारिका, वशीकर्त्री, उच्चाटनी, अर्थदा, मुक्तिदायिका और सर्वसिद्धिप्रदा (ये नव अग्नि की जिह्वायें हैं) ।

इन नामों वाली आदि मध्य और अन्त वाली अग्नि की जिह्वाओं की कल्पना करे । यहाँ ऊह होगा—'अग्नेर्जिह्वाः कल्पयामि'

पूर्णाहुति को मूलमन्त्र से गिराना चाहिये ॥ ७६- ॥

इस प्रकार कुण्ड अग्नि स्रुक् स्रुवा एवं घी का संस्कार कर—

इसके बाद अङ्गों के सहित उस मन्त्र की मध्य में पूजा करनी चाहिये ॥ -७६ ॥

साधक—

ऐसा करने के बाद कर्म के अनुसार मन्त्र का हवन करे ॥ ७७- ॥

ऐसा करने के बाद = नित्य कर्म के समाप्त होने पर ।

उसमें—

घृतयुक्त दूध से (हवन करने पर) शाश्वती पुष्टि होती है ॥ -७७ ॥

होम के द्वारा साधक की (पुष्टि होती है) ॥ ७७ ॥

घृतगुग्गुलुहोमेन पूर्णायुर्भवति ध्रुवम् ।

आयुष्कामः ॥

श्रीकामो जुहुयात् पद्मान् घृतक्षीरपरिप्लुतान् ॥ ७८ ॥
राज्यकामस्तु बिल्वानि त्रिमध्वाक्तानि होमयेत् ।
क्षीरवृक्षसमिद्भिस्तु होमादारोग्यमाप्नुयात् ॥ ७९ ॥
प्रशस्तसमिधा होमात् प्रशस्ततरुजेऽनले ।
सर्वान् कामानवाप्नोति सत्यमेव न चान्यथा ॥ ८० ॥
व्रीहिसप्तकहोमेन धनार्थी धनभाग्भवेत् ।

स्पष्टम् ॥ ८० ॥

एवं शुभफलान् होमानुक्त्वा, उच्चाटनादिफलं होममवहेलयाह—

ईहितं काममुद्दिश्य ईहितं होममाचरेत् ॥ ८१ ॥

एतन्मन्त्रौचित्येन होममाह—

पयसा केवलेनैव होमान्मृत्युं जयेद् ध्रुवम् ॥ ८२ ॥

मृत्युञ्जयत्वादस्य नाथस्येति शिवम् ॥

निखिलजगत्प्रकाशि शशिवह्निदिनेशशत-
स्फुरितदयाविभागि विसरत्परमामृतयुक् ।

घी और गुग्गुलु के होम से आयुष्काम की पूर्णायु होती है ॥ ७८- ॥

लक्ष्मी की इच्छा वाला घी और दूध से परिप्लुत कमलों से होम करे । राज्य चाहने वाला त्रिमधु (= दूध, घी और मधु) से मिश्रित बेल से हवन करे । क्षीरवृक्ष (= पीपल, पाकड़, गूलर, बरगद आदि) की समिधा से हवन करने पर आरोग्य मिलता है । प्रशस्त वृक्ष की आग से प्रशस्त समिधा से होम करने पर सब इच्छा की पूर्त्ति होती है । सप्तधान्य (= यव, चना, मूंग, साँवाँ, उड़द, धान और गेहूँ) के होम से धनार्थी धन प्राप्त करता है ॥ -७८-८१- ॥

कारिकार्थ स्पष्ट है ॥ ८० ॥

इस प्रकार शुभ फल वाले होमों को कहकर उच्चाटन आदि फल वाले होमों को अनिच्छा से कह रहे हैं—

ईप्सित इच्छा के उद्देश्य से ईप्स्तित होम को करना चाहिये ॥ -८१ ॥

इस मन्त्र के औचित्य को ध्यान में रख कर होम बतलाते हैं—

केवल दूध के होम से (साधक) मृत्यु को जीत लेता है ॥ ८२ ॥

अकृतकचारुचित्रतिलकाकृति शङ्करयो-
रलिकविलोचनं जयति सर्गलयस्थितिकृत् ॥

**॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-
नेत्रोद्योते यजनादिस्तृतीयोऽधिकारः ॥ ३ ॥**

**इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के
तृतीय अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती
नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३ ॥**

क्योंकि यह स्वामी मृत्युञ्जय हैं ॥

समस्त जगत् का प्रकाशक, सैकड़ों चन्द्रमा सूर्य और अग्नि के स्फुरण वाले उदय से युक्त, फैलते हुए परम अमृत से संयुक्त, स्वाभाविक सुन्दर एवं चित्र-विचित्र तिलक की आकृति वाले, सृष्टि स्थिति संहारकारी शिवशिवा के अलिक (= मस्तक के वर्तमान नेत्र सर्वोत्कृष्ट) है ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के तृतीय अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽधिकारः

*** नेत्रोद्योतः ***

ऊर्ध्वाधरापाङ्गसङ्गिदृष्ट्या मोक्षं कटाक्षयत् ।
सभोगं जयति श्रीमल्लालाटं नेत्रमैश्वरम् ॥

नित्यात् कर्मणोऽनन्तरं नैमित्तिकमित्याशयेन श्रीभगवानुवाच—

अथ दीक्षां प्रवक्ष्यामि भुक्तिमुक्तिफलप्रदाम् ।

भुक्तिदीक्षा शिवधर्मलौकिकधर्मभेदेन भिन्ना साधकस्य, ईश्वरतत्त्वप्राप्तिहेतुस्तु समयिनो मुक्तिदीक्षा, सबीजनिर्बीजरूपाचार्यपुत्रकयोरुभय्यपि श्रीमत्स्वच्छन्दादि-दृष्ट्यधिवासप्रोक्तमण्डलान्ताधिकृतत्वात्—

तत्त्वैःषट्त्रिंशतार्धेन तदर्धेनाथ पञ्चभिः ॥ १ ॥
त्रिभिरेकेन वा कार्या परापरविभूतये ।

*** ज्ञानवती ***

षडध्वदीक्षा शिवसाम्यदात्री यस्मिन्निरुद्धा श्रुतिगेऽधिकारे ।
प्रणम्य नेत्रं तच्छक्तिबुद्धः प्रवर्त्तये लोकहितेच्छया तम् ॥

ऊपर और नीचे के अपाङ्ग से युक्त दृष्टि के द्वारा मोक्ष को कटाक्षित करने वाला, भोगयुक्त, शोभासम्पन्न, ईश्वर का ललाटस्थ नेत्र सबसे बढ़कर है ।

नित्य कर्म के बाद नैमित्तिक कर्म होता है इस आशय से श्रीभगवान् ने कहा—

अब भोग और मोक्ष को देने वाली दीक्षा को कहूँगा ॥ १- ॥

शिवधर्म और लौकिक धर्म के भेद से साधक की भोग दीक्षा होती है । ईश्वर तत्त्व की प्राप्ति का हेतु मुक्ति दीक्षा समयी साधक की होती है । सबीज निर्बीजरूप आचार्य और पुत्रक की दोनों ही दीक्षायें होती हैं । श्रीमत् स्वच्छन्दतन्त्र आदि की दृष्टि से अधिवास दीक्षा मण्डलपर्यन्त अधिकृत होने से होती है ।

छत्तीस तत्त्वों, उसके आधे, उसके आधे, पाँच, तीन और एक तत्त्व

पृथ्व्यादिशिवान्तानि षट्त्रिंशत् । तदर्धमष्टादशभूतानि पञ्च प्रकृतिः पुरुषो रागो नियतिः शुद्धविद्या कालः कला माया विद्या ईशः सदाशिव शक्तिः शिव इति । तदर्धमपि प्रकृतिः पुरुषो नियतिः कालो माया विद्या ईशः सदाशिवः शिव इति नव । पञ्च पृथिव्यादीनि निवृत्त्यादिकलावद्विश्वव्यापीनि । त्रीणि भुवन-शक्तिशिवाख्यानि मायासदाशिवशिवव्याप्तीनि । एकं त्वशेषं विश्वादि शिवतत्त्वम् । परापरविभूतिर्मोक्षभोगौ संपाद्यौ सर्वत्राविशिष्टौ ॥ १ ॥

एवं षट्प्रकारां तत्त्वदीक्षामुद्दिश्य, कलादिदीक्षामप्युद्दिशति—

कलाभिः पञ्चभिर्वाथ पदैर्दीक्षाऽथवा पुनः ॥ २ ॥
वर्णैः पञ्चाशता वापि मन्त्रैर्वा भुवनैस्तथा ।

निवृत्ति-प्रतिष्ठा-विद्या-शान्ता-शान्त्यतीताः कलाः । श्रीपूर्वादिनीत्या मातृका-नुसारेण क्ष ह स ष श व ल र य म भ ब फ प न ध द थ त ण ढ ड ठ ट ञ झ ज छ च ङ घ ग ख क इति नव पदानि, विश्वविश्रान्ति-स्थानत्वाद्विसर्गाद्यकारान्तं तु दशमं पदम् । श्रीस्वच्छन्ददृशा तु नवात्मप्रस्तारोक्ता-न्येकाशीतिरूकारादीनि पदानि । श्रीस्वायम्भुवादिप्रक्रियया तु व्योमव्यापिसंबन्धीनि ।

के द्वारा परापरविभूति के लिये दीक्षा की जानी चाहिये ॥ १-२- ॥

पृथ्वी से लेकर शिवपर्यन्त ३६ तत्त्व । उसका आधा १८, वे इस प्रकार हैं—पाँच महाभूत, प्रकृति, पुरुष, राग, नियति, शुद्धविद्या, काल, कला, माया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति, और शिव । उसका आधा—प्रकृति, पुरुष नियति, काल, माया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव और शिव, इसप्रकार ९ तत्त्व होते हैं । पाँच तत्त्व पृथिवी आदि जो कि निवृत्ति आदि कला के समान विश्वव्यापी हैं । तीन तत्त्व-भुवन शक्ति और शिव जो कि माया सदाशिव और शिव को व्याप्त कर रहते हैं । एक-समस्त विश्व आदि शिव तत्त्व । परापर विभूति—भोग और मोक्ष जो कि सर्वत्र समानरूप से सम्पाद्य हैं ॥ १ ॥

इस प्रकार छह प्रकार की तत्त्व दीक्षा को बतलाकर कलादि दीक्षा को भी बतलाते हैं—

पाँच कलाओं से अथवा पदों से, पचास वर्णों से, मन्त्रों अथवा भुवनों से भी दीक्षा होती है ॥ -२-३- ॥

निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ता और शान्त्यतीता ये कलायें हैं । मालिनीविजय तन्त्र को दृष्टि में रखते हुए मातृका के अनुसार क्ष से लेकर क तक नव पद है । क वर्ग आदि (५ पद) य र ल व (६) श ष स (७) ह (८) और क्ष (९) । विश्वविश्रान्तिस्थान होने के कारण विसर्ग से लेकर 'अ' तक दशवाँ पद है । नव संख्या वाले प्रस्तार में उक्त ॐकार आदि ८१ पद हैं ।

श्री स्वायम्भुव आदि की प्रक्रिया के अनुसार ये ८१ पद व्योमव्यापी से सम्बद्ध

वर्णाः क्षादिकान्ताः चतुस्त्रिंशत् पृथिव्यादिसदाशिवान्तवाचकाः, विसर्गाद्यकारान्तास्तु षोडश शक्तिशिवतत्त्वाभेदामर्शिनः । श्रीपूर्वस्थित्या मध्यमवाग्वृत्त्योक्तरूपाणि पदानि पश्यन्तीवृत्त्या आसूत्रितभेदाभेदामर्शप्राधान्येन मन्त्राः । श्रीस्वच्छन्दप्रक्रियया तु हृत् शिरःशिखे कवचमस्त्रं नेत्रमित्यङ्गान्येव, सद्य आदिवक्त्रमन्त्राणि निवृत्त्यादिकलापञ्चकव्याप्तिक्रमेणाशेषाध्वामर्शीनि । मन्त्रा इहत्यप्रक्रियया वक्त्रमन्त्राणामभावादङ्गान्येव । भुवनानि तु श्रीपूर्वोक्तप्रक्रिययाष्टादशोत्तरशतसंख्यानि, स्वच्छन्ददृशा तु चतुर्विंशत्यधिकद्विशतरूपाणि, अस्य शास्त्रस्य सर्वस्त्रोतःसंग्रहरूपत्वात् तत्तदागमोक्तषडध्वविभागकल्पनया दीक्षाक्रमस्याविरोधात् ॥ २ ॥

तत्र संभवे सति दीक्षा प्रोक्तैः प्रकारैः—

एतैः सर्वैः प्रकर्तव्या..........

अन्यथा तु—

..........कार्या ह्येकतमाऽथवा ॥ ३ ॥

एकैकत्रापि च प्रकारे षड्भिरप्यध्वभिः—

सर्वैस्तु समुदायेन........

हैं । वर्ण = क्ष से लेकर क पर्यन्त ३४ संख्या वाले हैं । ये पृथिवी से लेकर सदाशिव तक के वाचक हैं । विसर्ग से लेकर अकार पर्यन्त सोलह स्वर शक्ति और शिव तत्त्व के अभेद को बतलाते हैं । मालिनीविजय के अनुसार मध्यमा वाग्वृत्ति से उक्त रूप वाले पद और पश्यन्तीवृत्ति से भेदाभेद का आमर्श करने से मन्त्र कहे जाते हैं । स्वच्छन्दप्रक्रिया के अनुसार हृदय, शिर, शिखा, कवच, अस्त्र और नेत्र ये अङ्ग ही हैं । सद्योजात (= ॐ सद्योजातं प्रपद्ये) आदि वक्त्र मन्त्र है । जो कि निवृत्ति आदि पाँच कलाओं की व्याप्ति के क्रम से समस्त अध्वाओं को बतलाते हैं । मन्त्र भी इस ग्रन्थ की प्रक्रिया से वक्त्र मन्त्रों के अभाव के कारण अङ्ग ही है । भुवनों की संख्या मालिनीविजय तन्त्र के अनुसार ११८ है और स्वच्छन्द तन्त्र के अनुसार २२४ । चूँकि यह शास्त्र (= नेत्रतन्त्र) समस्त स्त्रोतों का संग्रह रूप है इसलिये भिन्न-भिन्न आगमों में उक्त षडध्वविभाग की कल्पना के द्वारा दीक्षाक्रम एक ही है ॥ २- ॥

यदि सम्भव हो तो—

उक्त समस्त प्रकारों से दीक्षा करनी चाहिये ॥ -३- ॥

अन्यथा—

एक ही दीक्षा करनी चाहिये ॥ -३ ॥

एक-एक प्रकार की दीक्षा करने के समय भी छहों अध्वाओं से

दीक्षा कार्या ॥

कथमित्याह—

...........शक्तिव्यक्तिस्वरूपतः ।

एकतमं संशोध्याध्वानं व्यक्तिरूपेण व्यापकतया प्राधान्येनाश्रित्य, तदन्तरितमध्वपञ्चकं शक्तिरूपेण व्याप्यं भावयेदित्यर्थः । यथोक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'अध्वावलोकनं पश्चाद् व्याप्यव्यापकभावतः' (४।९५)

इत्यादि ॥

एषा च सर्वैव दीक्षा—

यथाविभवसारेण कर्तव्या दैशिकोत्तमैः ॥ ४ ॥

विभववतां महासंभारैः । इतरेषां दूर्वाम्बुपल्लवादिभिरपि । एवं ह्यनालस्यनैः-स्पृह्याभ्यां दैशिकानामुत्तमता ॥ ४ ॥

तत्रादौ शिष्यदेहपाशसूत्रावलम्बनमध्वसंधानमध्वोपस्थापनमध्वपूजाहोमावध्वान्तः-पाशत्रयभावनामाधारशक्तिन्यासादि च कृत्वा—

सामूहिक रूप

में दीक्षा करनी चाहिये ॥

कैसे—यह कहते हैं—

शक्तिव्यक्ति के रूप में ॥ -४- ॥

एक अध्वा का संशोधन कर व्यक्तिरूप से व्यापक होने के कारण प्रधानतया उसका आश्रयण कर उसके भीतर पाँच अध्वाओं की शक्तिरूपेण व्याप्यभावना करनी चाहिये—यह अर्थ है । जैसा कि स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया—

'बाद में व्याप्यव्यापक भाव से अध्वाओं का अवलोकन करें ॥' (४।९५)

इत्यादि ।

यह सब दीक्षा—

आचार्यों के द्वारा अपने वैभव के अनुसार की जानी चाहिये ॥ -४ ॥

जो वैभव वाले हैं वे अधिक धन सम्पत्ति से और निर्धन लोग दूर्वा जल पल्लव आदि से दीक्षा करें । इसी प्रकार आलस्य के अभाव और निःस्पृहता से आचार्यों की उत्तमता सिद्ध होती है ॥ ४ ॥

पहले शिष्यदेह के पाशसूत्र का अवलम्बन, अध्वसन्धान, अध्वोपस्थापन, अध्वपूजा, होम, अध्वा के अन्दर वर्त्तमान पाशत्रय की भावना, आधारशक्तिन्यास

वागीशीपूजनं कार्यं.........

आह्वानपूर्वं होमान्तमित्यर्थात् ॥

ततः कृतप्रोक्षणताडनचैतन्यग्रहणं शिष्यम्—

.........तद्गर्भे योजयेत् पशुम् ।

कर्मपाशवशसंभाव्यविचित्रचतुर्दशविधभोगायतनोत्पत्त्यर्थम् ॥

अस्य च—

गर्भाधानं तु जननमधिकारो लयस्तथा ॥ ५ ॥
भोगः कर्मार्जनं चैव निष्कृतिस्तदनन्तरम् ।
मूलमन्त्रेण कर्तव्यं..........

नानाशरीराणामन्तःप्ररोहो गर्भाधानम्, बहिर्निःसृतिर्जननम्, भोगयोग्यानां प्रवृद्धानां संपत्तिरधिकारः, तदनन्तरं मन्त्रमाहात्म्यपरिपक्वभोगसाधनत्वस्य कर्मणोऽर्जनं भोगदानौन्मुख्यरूपम्, तदनन्तरं सुखदुःखमोहप्राप्त्यात्मा भोगः, ततो निवृत्तेऽपि भोगे कंचित्कालं भोगसंस्कारो लयः, ततोऽपि समस्तजात्यायुर्भोगनिःशेषसंपत्त्यात्मा निष्कृतिः, इत्येतत्सर्वं मूलमन्त्रहोमैस्त्र्यादिसंख्यैः कार्यम्,

---

आदि का सम्पादन कर—

वागीश्वरी का पूजन करना चाहिये ॥ ५- ॥

(यह पूजन) आवाहन से लेकर होम तक होता है ॥

इसके बाद जिसने प्रोक्षण ताडन और चैतन्य ग्रहण कर लिया है ऐसे शिष्य को—

पशु (= शिष्य) को उस (= वागीशी) के गर्भ में जोड़ दें ॥ -५- ॥

(यह योजना) कर्मपाशवश सम्भावित विचित्र चौदह प्रकार के भोग के आयतन की उत्पत्ति के लिये हैं ।

इस (शिष्य) का—

गर्भाधान, जन्म, अधिकार, लय, भोग, कर्मार्जन और सबके अन्त में निष्कृति मूलमन्त्र से करनी चाहिये ॥ -५-६- ॥

अनेक शरीरों का अन्दर उत्पन्न होना गर्भाधान है । बाहर निकलना जन्म है । भोग के योग्य वृद्धों की सम्पत्ति अधिकार है । इसके बाद मन्त्र के माहात्म्य से परिपक्वभोगसाधनता कर्म का अर्जन है जो कि भोगप्रदान की उन्मुखता रूप है । उसके बाद सुख-दुःख-मोह की प्राप्ति भोग है। भोग के पूर्ण हो जाने पर भी कुछ समय तक भोग का संस्कार लय कहलाता है । उसके बाद समस्त जन्म आयु

निष्कृतिस्तु शतहोमा, तदन्ते च द्विजत्वापत्तिरुद्रांशापत्ती चिन्तयेत् ॥

समाप्तेषु भोगेषु भोक्तृत्वाभावरूपं विश्लेषाख्यं संस्कारं कृत्वा—

.............पाशच्छेदस्तथा स्मृतः ॥ ६ ॥

अस्त्रमन्त्रेण..........

ततो विश्लेषानन्तरभावितया स्मृतं पाशसूत्रस्य छेदमस्त्रमन्त्रेण कृत्वा तेनैव पाशस्य—

......दाहस्तु.......

कार्यः ॥

ततोऽपि—

........भस्मीकरणतत्स्थिते ।

भस्मीकरणं निःसंस्काराणां पाशानां शमनमस्त्रेणैव । तत्स्थितं तु निवृत्ताशेषशरीरस्य शिष्यचैतन्यस्य मूलेनैक्यं विभाव्य, स्वहृत्प्रवेशेन द्वादशान्त-प्रापणपूर्वं शिष्यहृत्स्थत्वापादनरूपं स्थानं स्थितम्, तस्य स्थितमिति व्युत्पत्त्या तत्स्थितम् ॥

और भोग को निःशेष करना निष्कृति है । यह सब मूलमन्त्र के होम से तीन आदि की संख्या में करना चाहिये । निष्कृति के लिये मूल मन्त्र से एक सौ होम करे । इसके बाद द्विजत्व की और रुद्रांश की प्राप्ति को सोचना चाहिये ॥

भोगों के समाप्त होने पर भोक्तृत्वाभावरूप विश्लेष नामक संस्कार को करने के बाद—

अस्त्रमन्त्र से पाशच्छेद करे—ऐसा कहा गया है ॥ -६-७- ॥

इसके बाद विश्लेष के पश्चात् होने वाले के रूप में कहे गये पाशसूत्र के छेद को अस्त्रमन्त्र से सम्पादित कर उसी से पाश का

....दाह.....॥ -७- ॥

करना चाहिये । इसके बाद—

भस्मीकरण और तत्स्थिति करनी चाहिये ॥ -७- ॥

भस्मीकरण = संस्काररहित पाशों का अस्त्रमन्त्र से शमन । तत्स्थिति = समस्त शरीर के नष्ट होने पर शिष्यचैतन्य का मूल के साथ ऐक्य, उसका चिन्तन करे । अपने हृदय में प्रवेश के द्वारा द्वादशान्त तक पहुँचाने के बाद (अपने चैतन्य को) शिष्य के हृदय में स्थित कराना स्थित कहलाता है । उसका (= शिष्य का) स्थित-तत्स्थित होता है ।

अनन्तरं ब्रह्मादेराह्वान-पूजा-होम-पुर्यष्टकांशार्पण-श्रावण—विसर्जनादि कृत्वा, कलादितत्त्वान्तरानुसन्धिपूर्वं सर्वाध्वसंशुद्धिं कृत्वा—

शिखाच्छेदं ततो होमं..........

कुर्यात्, विश्वाध्वाश्रयप्राणशक्तिरूपशिखाव्याप्त्या शिखां छित्त्वा जुहुयादित्यर्थः ॥

अथ विध्यन्यथासंपत्तिवशसंभाव्यप्रायश्चित्तहोमानन्तरम्—

'ज्ञात्वा चारप्रमाणं तु प्राणसञ्चारमेव च' (४।२३१)

इत्यादिश्रीस्वच्छन्दोक्तप्रमेयपञ्चदशकसतत्त्वज्ञो ज्ञानयोगशाली आचार्यवर्यः प्रशान्तपाशं शिष्यम्—

............मूलेनैव तु योजयेत् ॥ ७ ॥

'व्यापारं मानसं त्यक्त्वा बोधमात्रेण योजयेत् ।
तदा शिवत्वमभ्येति पशुर्मुक्तो भवार्णवात् ॥' (४।४३७)

इति श्रीस्वच्छन्दोक्तदृशा परतत्त्वसमावेशनया परमशिवैकरूपं कुर्यात् ॥ ७ ॥

इसके बाद ब्रह्मा आदि का आवाहन, पूजन, होम पुर्यष्टकांशार्पण, श्रावण, विसर्जन आदि करे । फिर कला आदि अन्य तत्त्वों का अनुसन्धान करते हुये समस्त अध्वाओं की शुद्धि कर,

शिखा छेद और फिर होम करे ॥ -७- ॥

अर्थात् विश्वाध्वा का आश्रय जो पापशक्ति तद्रूप शिखा की व्याप्ति से शिखा का छेदन कर हवन करे ॥

तदनन्तर—विधि के अन्यथा सम्पादन वश संभाव्यमान प्रायश्चित्त होम के बाद—

'चार प्रमाण एवं प्राणसञ्चार को जानकर ।' (स्व०तं० ४।२३१)

इत्यादि श्री स्वच्छन्दतन्त्र में कथित पन्द्रह प्रमेयों का ज्ञाता ज्ञानयोगशाली आचार्य नष्टपाश वाले शिष्य को—

मूल से संयुक्त करे ॥ -७ ॥

'(आचार्य) मानस व्यापार को छोड़कर (शिष्य को) बोधमात्र से जोड़ दे । तब पशु (रूपी शिष्य) संसारसागर से मुक्त होकर शिवत्व को प्राप्त करता है ।' (स्व० तं० ४।४३७)

इस स्वच्छन्दतन्त्रोक्तरीति से परतत्त्वसमावेशन के द्वारा परमशिव से एक रूप कर दे ॥ ७ ॥

तदाह—

संयोज्य परमे तत्त्वे संस्थानं तत्र कारयेत् ।

तथासौ तन्मय एव स्यात् ॥

अथ योजनिकानां विभागमाह—

अधिकारार्थमाचार्ये परापरपदे स्थिते ॥ ८ ॥
शिवत्वे साधकानां तु विद्यादीक्षां सदाशिवे ।
पुत्रके परमे तत्त्वे समयिन्यैश्वरे तथा ॥ ९ ॥

परापरपदे शिवत्वे इति—

'अत्रारूढस्तु कुरुते शिवः परमकारणम्' (१०।१२५८)

इति स्वच्छन्दोक्तनीत्या परमशिवयोजनानन्तरमाचार्याणामपरशिवयोजना कार्या, साधकानां तु शिवयोजनानन्तरं सदाशिवयोजना कार्या, पुत्रकाणां परतत्त्व एव, समयिनामीश्वरतत्त्व इति विभागाः ॥ ९ ॥

उपसंहरति—

एवमुद्देशतो दीक्षा कथिता विस्तरोऽन्यतः ॥ १० ॥

वही कहते हैं—

परमतत्त्व से (शिष्य को) संयुक्त कर (उसकी) वही स्थिति बना दे ॥

इस प्रकार वह (शिष्य) तन्मय (= शिवत्वमय) हो जाता है ॥

अब योजनिका (दीक्षाओं) का विभाग बतलाते हैं—

अधिकार के लिये आचार्यों की परापरपद में स्थित शिव के साथ (योजनिका करे) । साधकों के लिये सदाशिव, पुत्रक के लिये परम-तत्त्व एवं समयी के लिये ईश्वर तत्त्व में (योजनिका दीक्षा) करनी चाहिये ॥ -८-९ ॥

परापरपद के लिये शिवत्व में—

'इसमें आरुढ़ होकर परमकारण शिव (सृष्टि आदि) करते हैं ।' (स्व०तं० १०. १२५८)

इस स्वच्छन्दोक्तनीति से परमशिवयोजना के बाद आचार्यों की अपरशिव के साथ योजना करनी चाहिये । साधकों की शिवयोजना के बाद सदाशिव योजना करनी चाहिये । पुत्रकों की परतत्त्व में और समयी साधकों की ईश्वरतत्त्व में योजना करनी चाहिये ॥ ९ ॥

उपसंहार करते हैं—

उद्देशत इत्यन्यत इत्यनेन चातिविततोऽप्ययं दीक्षाविधिरिहातिसंक्षेपेणासूत्रितत्त्वात् श्रीस्वच्छन्दादिशास्त्रेभ्यो वितत्य सम्यगवगम्य प्रयोक्तव्य इति शिक्षयति, इति शिवम् ॥

जयत्यशेषपाशौघप्लोषकृद् भक्तिशालिनाम् ।
परधामसमावेशप्रदं नेत्रं महेशितुः ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योते दीक्षाधिकारश्चतुर्थः ॥ ४ ॥

अन्यत्र विस्तारपूर्वक कही गयी दीक्षा यहाँ नाम लेकर कही गयी है॥ -१० ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के चतुर्थ अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ४ ॥

उद्देशतः और अन्यतः कहने का तात्पर्य यह है कि अत्यन्त विस्तृत भी यह दीक्षाविधि यहाँ अत्यन्त संक्षेप में कही गयी । स्वच्छन्द तन्त्र आदि शास्त्रों से विस्तारपूर्वक भली-भाँति जानकर प्रयोग करना चाहिए—यह बतलाते हैं ।

समस्त पाशसमूह को जलाने वाला, भक्तों को परधाम समावेश देने वाला महेश का नेत्र सर्वोत्कर्षयुक्त है ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के चतुर्थ अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽधिकारः

* नेत्रोद्योतः *

अभिषिञ्चति भुक्तिमुक्तये महतो यत् स्ववपुःपरिस्रुतैः ।
परमामृतनिर्झरैरिदं शिवयोर्नेत्रमुपास्महे परम् ॥

अथ शास्त्रान्तराभिहितैतच्छास्त्रसूचितसबीजदीक्षादीक्षितान् श्रुतशीलसमाचारानाचार्यान् साधकांश्चाभिषेचयितुं श्रीभगवानुवाच—

अभिषेकं प्रवक्ष्यामि यथा यस्येह दीयते ।

यथेति ययेतिकर्तव्यतया, यस्येति आचार्यस्य साधकस्य वा दीयते, तथा तस्याभिषेकं प्रवक्ष्यामीति प्रतिज्ञा ॥

तत्र—

अष्टभिः कलशैर्देय आचार्यस्य विधानतः ॥ १ ॥

---

* ज्ञानवती *

यमवाप्य परस्य निग्रहं भ्रमते जीव भवार्णवे पुनः ।
मनुसाधनासिद्धियोगतो लभते सिद्धिमहं नतोऽस्मितम् ॥

जो महान् (साधकों) को अपने शरीर से निःसृत परम अमृतरूपी झरनों से सिञ्चित करता है ऐसे शिवशिवा के इस नेत्र की हम उपासना करते हैं ।

अब दूसरे शास्त्रों में उक्त और इस ग्रन्थ में संकेतित सबीजदीक्षादीक्षित श्रुतशील सदाचारसम्पन्न आचार्यों और साधकों का अभिषेक करने के लिये श्रीभगवान् ने कहा—

(अब मैं) जिसको जिस प्रकार दिया जाता है वह अभिषेक कहूँगा ॥

यथा = जिस इतिकर्त्तव्यता के द्वारा । जिसको = आचार्य या साधक को । उस प्रकार के उसके अभिषेक को कहूँगा—यह प्रतिज्ञा है ।

विधानमीशानदिशि स्वस्तिकादिमण्डलगतश्रीपर्णाद्यासनोपविष्टस्य विहित-न्यासस्य अमृतेशतयार्चितस्य काञ्चिकौदनमृद्गोमयदूर्वासिद्धार्थकादिपूर्णदीपकल-शनिर्भर्त्सनतः शमितविघ्नस्य परमन्त्रस्फारावेशनिःष्यन्दिपरामृतधारासारचिन्तनेन सह शिरसि कलशाम्भःक्षेपात्मकम् ॥ १ ॥

ये च ते कलशाः—

ते च विद्येश्वराः प्रोक्ताः समुद्राश्च सगर्भगाः।

समुद्राष्टकाम्भोभृतः श्रीमदमृतेशभैरवस्फाराविष्टानन्तादिविद्येश्वराधिष्ठिता भाव्या इत्यर्थः । सगर्भगा इति रत्नौषध्यक्षतादियुक्ताः । एतच्चोपलक्षणम् । तेनाश्रित-मन्त्रैः प्रत्येकं साष्टशतमूलमन्त्राभिमन्त्रितैः, इत्यागमिकमभिषेकविषयमभिषिक्तस्य ज्ञानयोगस्फारोपायप्रकाशनोष्णीष-संहिता-च्छत्रपादुका-करणी-कर्तर्यादिप्रदानाद्या-गमोक्तं सर्वमनुसर्तव्यम् ॥

कलशविषयं पक्षान्तरमाह—

उसमें—

आचार्य का अभिषेक आठ कलशों से विधानपूर्वक किया जाना चाहिये ॥ १ ॥

विधान बतलाते हैं—ईशान दिशा में स्वस्तिक आदि मण्डल के अन्तर्गत पलाश आदि के आसन पर बैठे हुए, न्यास सम्पन्न किये हुये, अमृतेश्वर (= भैरव के) रूप में पूजित, काञ्चिक (स्वर्ण आदि रत्न) ओदन मिट्टी गोबर दूर्वा पीलीसरसों आदि से पूर्ण कलश के निर्भर्त्सन (कुशा के द्वारा जोर से जल के छीटे मारने) के द्वारा जिसका विघ्न शान्त कर दिया गया है—ऐसे (आचार्य के) शिर पर, परमन्त्र के स्फार के आवेश से क्षरित होने वाले परामृत धारा के चिन्तन के साथ कलश के जल का गिराना—विधान है ॥ १ ॥

वे कलश—

समुद्रजल और उसके गर्भस्थ (= रत्नों) से पूरित होने पर विद्येश्वर (माने जाते) हैं ॥ २- ॥

ये कलश, आठ समुद्रों के जल से पूर्ण, श्रीमान् अमृतेश्वर भैरव के स्फार से आविष्ट तथा अनन्त आदि विद्येश्वरों से अधिष्ठित हैं—ऐसी भावना करनी चाहिये । सगर्भगाः = रत्न ओषधि अक्षत आदि से युक्त । यह (कथन) उपलक्षण है । इसलिये आश्रित मन्त्रों के साथ-साथ प्रत्येक कलश १०८ बार मूलमन्त्रों से अभिमन्त्रित होना चाहिये—ऐसा आगमिक अभिषेक होता है । अभिषिक्त (आचार्य को) ज्ञानयोगस्फार के उपाय के प्रकाशक पगड़ी, संहिता (= धारण करने या पहनने का वस्त्र) छाता, पादुका, करणी, कर्त्तरी आदि देना चाहिये ॥

पञ्चभिर्भूतसंख्यैर्वा त्रिभिर्वा तत्त्वरूपकैः ॥ २ ॥
आत्मविद्याशिवाख्यैस्तु एकेनापि शिवात्मना ।

भूतानां पृथिव्यादिव्योमान्तानां सम्यक् ख्यानं निवृत्त्यादिकलाव्याप्त्यनुसन्धिना प्रकाशो येषाम्, तत्त्वैरात्मादिभी रूपकं रूपणा निरूपणं येषाम्, आत्मविद्याशिवैः आ समन्तात् ख्यानं तन्मयतया प्रथा येषाम् ॥ २ ॥

एष चाभिषेकः—

अधिकारार्थमाचार्ये साधके सिद्धिकामतः ॥ ३ ॥

आचार्यविषयः परानुग्रहैकप्रयोजनः कार्यः, मन्त्राराधनेन स्वात्मविषया सिद्धिरस्य स्यादित्याशयेन साधकविषयः कार्यः । अत्रापि श्रीस्वच्छन्दाद्युक्ता सर्वा प्रक्रियानुसरणीया ॥ ३ ॥

अथायं साधकः—

अभिषिक्तो ह्यनुज्ञातः प्रकुर्यान्मन्त्रसाधनम् ।

कलशविषयक पक्षान्तर को कहते हैं—

(पञ्च) महाभूत की संख्या के अनुसार पाँच अथवा आत्मा विद्या शिव नामक तत्त्वों के रूप वाले तीन अथवा शिवात्मक एक (कलश) से (भी अभिषेक होता है) ॥ -२-३- ॥

भूत = पृथिवी से लेकर आकाश तक का सम्यक् ख्यान = निवृत्ति आदि कलाओं की व्याप्ति की अनुसन्धि से प्रकाश है जिनका वे (पाँच कलश) । तत्त्व = आत्मा आदि के द्वारा रूपण = निरूपण है जिनका, वे (तीन कलश)। आत्मा विद्या एवं शिव के द्वारा—आ = सर्वतः, ख्यान = तन्मयतया प्रथा, है जिनकी वे, उनके द्वारा ॥ २ ॥

यह अभिषेक—

आचार्य के विषय में अधिकार के लिये और साधक के विषय में सिद्धि की इच्छा से किया जाना चाहिये ॥ -३ ॥

आचार्य का विषय है—परानुग्रहमात्र । मन्त्र के आराधन से साधक की स्वात्मविषया सिद्धि होती है—इस आशय से यह साधकविषयक किया जाना चाहिये । यहाँ भी स्वच्छन्दतन्त्र आदि में उक्त समस्त प्रक्रियाओं का अनुसरण करना चाहिये ॥ ३ ॥

यह साधक—

अभिषिक्त होने के बाद आज्ञा प्राप्त कर मन्त्र की साधना करे ॥ ४- ॥

न तु उदासीत ॥

तेनायम्—

तद्व्रतस्तत्समाचारस्तद्भक्तस्तत्परायणः ॥ ४ ॥
पवित्राहारनिरतो लघ्वाशी संयतेन्द्रियः ।
एकान्ते पुण्यक्षेत्रे तु तीर्थायतनगोचरे ॥ ५ ॥
सर्वसंयोगोज्झितमनाः साधको जपमारभेत् ।

तत्रैव व्रतं वाक्चित्तसंयमः, पूजाहोमात्मकस्तु समाचारो यस्य । स्पष्टमन्यत् ॥ ५ ॥

तत्र—

लक्षमेकं जपेन्मन्त्री पूर्वसेवासमन्वितः ॥ ६ ॥
तेन सामान्यकर्माणि सिद्ध्यन्ते साधकस्य तु ।

पूर्वसेवायां च मीनोदयात् प्रभृत्यधिकविश्रान्त्या जपः कार्य इति श्रीस्वच्छन्देऽस्ति, तथा जपाद् दशमांशेनोत्तमादिद्रव्यैर्होम इति । सामान्यकर्माणि वश्याकर्षणादीनि ॥ ६ ॥

किं च—

भौमीं सिद्धिमवाप्नोति दशलक्षजपेन तु ॥ ७ ॥

न कि उदासीन होकर बैठ जाय ॥

इस कारण यह—

(साधक) उसी के अनुसार व्रत, आचार, भक्ति करे अर्थात् तत्परायण हो जाय । पवित्र आहार ले, थोड़ा भोजन और इन्द्रियों पर संयम रखे । एकान्त पवित्र क्षेत्र, तीर्थ अथवा देवालय में बैठकर समस्त आसक्तियों से मन को हटा कर जप का प्रारम्भ करे ॥ ४-६- ॥

व्रत = वाणी और मन पर नियन्त्रण । समाचार = पूजा होम । शेष स्पष्ट है ॥ ५ ॥

पूर्व सेवा से समन्वित मन्त्री यदि एक लाख जप करे तो उससे साधक के सामान्य कर्म सिद्ध हो जाते हैं ॥ -६-७- ॥

पूर्व सेवा में—मीन के सूर्य का उदय होने से लेकर अधिक विश्रान्ति के साथ जप करना चाहिये—ऐसा स्वच्छन्दतन्त्र में है । जप का दशमांश होम उत्तम द्रव्यों से करना चाहिये । सामान्य कर्म = वशीकरण आदि ॥ ६ ॥

और भी—

आन्तरिक्षीं च लभते.........

पातालाकाशगतिमाप्नोतीत्यर्थः ।

...............लक्षपञ्चाशता ध्रुवम् ।
दिव्यां सिद्धिमवाप्नोति साधको नात्र संशयः ॥ ८ ॥

दिव्यां भुवनेश्वरप्राप्तिरूपाम् ।

तथा कोटिकृते जप्य ऐश्वरीं सिद्धिमाप्नुयात् ।
व्यापकस्तु शिवो भूत्वा निग्रहानुग्रहक्षमः ॥ ९ ॥
यथेच्छं कुरुते सर्वं धारयेत् संहरेद् भृशम् ।
सर्वगः सर्वकर्ता च सर्वज्ञो भवति ध्रुवम् ॥ १० ॥

व्यापक इत्यादिना ऐश्वरी सिद्धिः स्फुटीकृता । सर्वगः सर्वात्मा । एतच्च सर्वं साधक एतद्देहस्थ एव लभते, इति शिवम् ॥

कमलजकृष्णरुद्रतनुभिर्वितनोति पृथक्
शिवसुशिवेशमूर्तिभिरथाप्यपृथङ् निखिलम् ।

दश लाख जप से साधक पृथिवी और अन्तरिक्ष सम्बन्धी सिद्धि प्राप्त करता है ॥ -७-८- ॥

पाताल और आकाश में गति प्राप्त करता है ॥

साधक पचास लाख जप से दिव्यसिद्धियाँ प्राप्त करता है—इसमें सन्देह नहीं है ॥ -८ ॥

दिव्य = भुवनेश्वर की प्राप्ति रूप ।

एक करोड़ जप करने पर ईश्वरसम्बन्धी सिद्धि प्राप्त करता है । व्यापक होकर शिव हो जाता है और निग्रह तथा अनुग्रह में समर्थ हो जाता है । वह इच्छानुसार सब कुछ सृष्टि स्थिति संहार करता है । वह सर्वगामी, सर्वकर्त्ता और सर्वज्ञ हो जाता है ॥ ९-१० ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के पञ्चम अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ५ ॥

'व्यापक' इत्यादि कथन के द्वारा ऐश्वरी सिद्धि स्पष्ट की गयी है । सर्वग = सर्वात्मा । साधक यह सब इसी देह से प्राप्त करता है ।

यदिह परामृतैः समभिषिञ्चति भक्तजनं
जयति समस्तसिद्धिकृदिदं नयनं शिवयो: ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योतेऽभिषेकविधिर्नाम पञ्चमोऽधिकारः ॥ ५ ॥

जो ब्रह्मा विष्णु और शिव के शरीरों के द्वारा (अपने को) अलग-अलग करते हैं पुनः ईश्वर सदाशिव और शिव के द्वारा सम्पूर्ण विश्व को एक कर लेते हैं, समस्त सिद्धियों को देने वाले शिव शिवा के वे नयन सर्वोत्कृष्ट है ।

जो इस संसार में स्थित भक्तजनों का परामृत से सिञ्चन करते हैं ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के पञ्चम अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ५ ॥

षष्ठोऽधिकारः

* नेत्रोद्योतः *

व्याध्यादिदौर्गत्यजरादिदोषहुताशशान्तिं परमामृतैर्यत् ।
अर्चाहुतिध्यानजपादि सिञ्चत् करोति तन्नौमि हरोर्ध्वनेत्रम् ॥

पूर्वपटलाधिगतार्थानुवादेन अन्यदेवतारयितुं श्रीदेव्युवाच—

श्रुतो मया महादेव मृत्युजित् सिद्धिमोक्षदः ।
अधुना श्रोतुमिच्छामि सिद्धित्रयसमन्वितम् ॥ १ ॥
अमृतेशं महात्मानं सर्वप्राणिषु जीवितम् ।
यथा सिद्धिप्रदं लोके मानवानां हितङ्करम् ॥ २ ॥
पूर्वोक्तदुष्टशमनमपमृत्युविनाशनम् ।
आप्यायनं शरीरस्य शान्तिपुष्टिप्रदं शुभम् ॥ ३ ॥

---

* ज्ञानवती *

यागो होमो जपादिश्च कृपया यस्य वर्ण्यते ।
अधिकारे रसाख्येऽस्मिन् नुमस्तं वह्निचक्षुषम् ॥

जो परम अमृत के द्वारा सिञ्चन करते हुए व्याधि आदि दुर्गति और जरा आदि दोष रूपी अग्नि को शान्त करते हैं तथा अभिषिक्त करते हुए अर्चन आहुति ध्यान जप आदि करते हैं, भगवान् शङ्कर के उस ऊर्ध्व नेत्र को मैं प्रणाम करता हूँ ।

पूर्व पटलों के द्वारा ज्ञात विषय का अनुवाद कर अन्य विषय को अवतारित करने के लिये श्री देवी ने कहा—

हे महादेव ! मैंने सिद्धि और मोक्ष को देने वाला मृत्युञ्जय मन्त्र सुना । अब मैं उस (आत्म तत्त्व) को सुनना चाहती हूँ जो तीनों सिद्धियों से युक्त, समस्त प्राणियों का जीवन, लोक में सिद्धिदायक, मनुष्यों का हितकारी, पूर्वोक्त दुष्टों का शामक, अपमृत्यु का नाशक, शरीर का पोषक, शान्तिपुष्टि को देने वाला शुभ अमृतेश और महान् है ॥ १-३ ॥

अथ प्रथमद्वितीयाधिकारोक्तवाच्यवाचकात्ममन्त्ररूपो मृत्युजित्, तृतीयचतुर्थाधिकारोक्तनित्यनैमित्तिककर्मणा मोक्षद:, पञ्चमाधिकारोक्तकाम्यकर्मत: सामान्येन सिद्धिप्रदश्च मया श्रुत: । इदानीं तु तमेव भौमदिव्यान्तरिक्षसिद्धिप्रदममृतेशं विश्वजीवनं महान्तमात्मानं या या सिद्धिर्यथा सिद्धिस्तत्प्रदं लोके सर्वत्र भूतसर्गो द्वितीयाधिकारोक्तदृशा विशेषतो व्याध्यादिबाधितानां मनुष्याणां हितङ्करं श्रोतुमिच्छामि । हितङ्करत्वं पूर्वोक्तेत्यादिना स्फुटीकृतम् । शान्तिर्ग्रहादिदोषनिवृत्ति: । आप्याय: शुष्कस्य सरसीभाव: । पुष्टि: पूर्णाङ्गता । शुभं दौर्गत्यादिहरम् ॥ ३ ॥

एवं पृष्ट: श्रीभगवानुवाच—

श्रूयतां संप्रवक्ष्यामि रहस्यं परमाद्भुतम् ।
यथा तरन्ति मनुजा दु:खोदधिपरिप्लुता: ॥ ४ ॥
अपमृत्युशताक्रान्ता जना दारिद्र्यसंयुता: ।
आधिव्याधिभयोद्विग्ना: पापौघैर्विनिपीडिता: ॥ ५ ॥
मुच्यन्ते च यथा सर्वे पूर्वोक्तैर्दारुणै: प्रिये ।
त्रिविधं तदुपायं तु स्थूलं सूक्ष्मं परं च तत् ॥ ६ ॥

मनुजा इति कृपास्पदसातिशयत्वेन चोदिता यथा तरन्ति न दु:खादिभाजो भवन्ति, दारुणैर्भूतादिभिश्च यथा मुच्यन्ते त्यज्यन्ते, तथा प्रोक्तवीर्यसारमृत्यु-

---

मैंने प्रथम द्वितीय अधिकारों में उक्त वाच्यवाचकात्मक मन्त्ररूप मृत्युञ्जय, तृतीय चतुर्थ अधिकार मे उक्त नित्यनैमित्तिक कर्म के द्वारा मोक्षप्रद, पञ्चम अधिकार में उक्त काम्य कर्म से सामान्यत: सिद्धिप्रद को सुना । अब उसी भौम दिव्य अन्तरिक्ष की सिद्धियों को देने वाले, अमृतेश, विश्वजीवन, जो-जो सिद्धि जिस प्रकार से मिलती है उसको देने वाले, सर्वत्र भूतसृष्टि, द्वितीय अधिकार में उक्त रीति से विशेषतया व्याधि आदि से पीड़ित मनुष्यों के हितकारी महान् आत्मा को जानना चाहती हूँ । (उस आत्मा का हितकर होना पूर्वोक्त दुष्टशमन...) इत्यादि के द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है । शान्ति = ग्रह आदि जन्य दोषों की निवृत्ति । आप्यायन = शुष्क को सरस बनाना । पुष्टि = पूर्णाङ्गता । शुभ = दुर्गति आदि को दूर करने वाला ॥ ३ ॥

इस प्रकार पूछे गये श्री भगवान् ने कहा—

हे प्रिये ! सुनो । मैं तुमको परम अद्भुत रहस्य बतलाऊँगा जिसके द्वारा दु:खसागर में डूबे हुये, सैकड़ों अपमृत्यु से आक्रान्त, दारिद्र्ययुक्त, आधि व्याधि भय से उद्विग्न, पापसमूह से पीड़ित मनुष्य समस्त पूर्वोक्त दारुण विषयों से मुक्त हो जाते हैं । वह उपाय तीन प्रकार का है—स्थूल, सूक्ष्म और पर ॥ ४-६ ॥

मनुज = अतिशय कृपापात्र होने से प्रेरित । जिस कारण पार हो जाते हैं =

जित्परमार्थरहस्यं तत्रोपायरूपं वस्तु यत्तत् संप्रवक्ष्यामि ॥ ६ ॥

तत्र—

स्थूलं तु यजनं होमो जपो ध्यानं समुद्रकम् ।
यन्त्राणि मोहनादीनि मन्त्रराट् कुरुते भृशम् ॥ ७ ॥

मन्त्रराट् यजनादि कुरुते स्ववीर्येणापि तिष्ठति । मुद्रा अत्र पूर्वोक्ताः ॥ ७ ॥

सूक्ष्मं चक्रादियोगेन कलानाड्युदयेन च ।

सप्तमाधिकारभाविषट्चक्रषोडशाधारादौ यो योगस्तेन, तथा कलानाड्युदयेनेति कला कालावयवमुहूर्ताद्युपलक्षणपरा तत्प्रधानो यो नाड्युदयस्तेन श्रीस्वच्छन्दाद्युक्त-बाह्यान्तररौद्रेतरादिकालैकीकारेण प्रयुक्तो मन्त्रराट् स्ववीर्यस्फारणेन सूक्ष्ममुपायं व्याध्यादिनाशनं करोतीत्यर्थः ॥

परं सर्वात्मकं चैव मोक्षदं मृत्युजिद् भवेत् ॥ ८ ॥

महासामान्यमन्त्रवीर्यरूपत्वाद् मृत्युजिन्नाथस्येत्थं निर्देशः । सर्वात्मकं परमाद्वयम् । एतच्चाष्टमाधिकारे निर्णेष्यते ॥ ८ ॥

दुःख आदि के पात्र नहीं बनते । दारुण = भूत आदि से । मुक्त होते हैं = छोड़ दिये जाते हैं । उस प्रकार के उक्तवीर्य वाले मृत्युञ्जयी परमार्थ रहस्य के उपायभूत वस्तु को कहूँगा ॥ ४-६ ॥

वहाँ—

यह मन्त्रराट् स्थूल याग, होम, जप, ध्यान, मुद्रायें, यन्त्र सम्मोहन आदि करता है ॥ ७ ॥

मन्त्रराट् यजन आदि करता है और अपने वीर्य के साथ रहता है । यहाँ मुद्रायें—जो पहले कही गयीं (= उनको समझना चाहिये) ॥ ७ ॥

सूक्ष्म उपाय चक्र आदि की साधना और कला-नाड़ी के उदय से होता है ॥ ८- ॥

सप्तम अधिकार में बतलाया जाने वाला षट्चक्र, सोलह आधार आदि विषयों वाला जो योग उससे, तथा कला = काल के अवयव मुहूर्त आदि उसका सहायक जो नाडी का उदय उस स्वच्छन्दतन्त्र आदि ग्रन्थों में उक्त बाह्य आभ्यन्तर रौद्र शान्त आदि काल को एक करने से प्रयुक्त मन्त्रराट् स्ववीर्यस्फारण के द्वारा सूक्ष्म उपाय वाले व्याधि आदि का नाश करता है ॥

पर उपाय सर्वात्मक है जो कि मोक्षप्रद और मृत्युजित् होता है ॥ -८ ॥

मृत्युजित्नाथ के महासामान्यमन्त्रवीर्य रूप होने से ऐसा (= पर मोक्षद आदि) निर्देश है । सर्वात्मक = परम अद्वय । इसे अष्टम अधिकार में बतायेंगे ॥ ८ ॥

तत्र स्थूलोपायं वक्तुमुपक्रमते—

यदा मृत्युवशाघ्रातः कालेन कलितः प्रिये।
दृष्टस्तत्प्रतिघातार्थममृतेशं यजेत्तदा ॥ ९ ॥
सर्वश्वेतोपचारेण पूर्वोक्तविधिना ततः।

मृत्युरपमृत्युः । कालो महामृत्युः । विधानं तृतीयाधिकारोक्तं यागादि ॥ ९॥

एवं च—

यस्य नाम समुद्दिश्य पूजयेन्मृत्युजिद्विभुम् ॥ १० ॥
मृत्योरुत्तरते शीघ्रं सत्यं मे नानृतं वचः।

असावित्यर्थात् । सत्यमित्युक्त्या नात्र मायाप्रमातृतया सन्देग्धव्यम् निश्चयस्यैव सिद्धिनिमित्तत्वात् ॥ १० ॥

सितशर्करया युक्तैर्घृतक्षीरप्लुतैस्तिलैः ॥ ११ ॥
पुण्यदार्विन्धने वह्नौ कुण्डे वृत्ते त्रिमेखले।
महारक्षाविधानेन जुहुयाद्यस्य नामतः ॥ १२ ॥
महाशान्तिर्भवेत् क्षिप्रं गतस्यापि यमक्षयम्।

(उन तीनों प्रकार के उपायों में से) स्थूल उपाय को बतलाने का उपक्रम करते हैं—

हे प्रिये ! मनुष्य जब अकालमृत्यु या स्वाभाविक मृत्यु से ग्रसित हो जाय तो उसके प्रतिघात के लिये उस समय अमृतेश का पूजन करना चाहिये । यह पूजन पूर्वोक्त विधि से समस्त श्वेत वस्तुओं के द्वारा (होता है) ॥ ९-१०- ॥

मृत्यु = अकालमृत्यु । काल = महामृत्यु । विधान = तीसरे अधिकार में वर्णित याग आदि ॥ ९- ॥

(अनुष्ठाता) जिसका नाम लेकर मृत्युञ्जय भगवान् की पूजा करता है (वह आदमी) शीघ्र ही मृत्यु को पार कर जाता है । यह मेरा वचन सत्य है असत्य नहीं ॥ -१०-११- ॥

'यह'—इतना अपनी ओर से समझना चाहिये । सत्यम् कहने से 'मायाप्रमाता' होने के कारण इस विषय में सन्देह नहीं करना चाहिये क्योंकि निश्चय ही सिद्धि का निमित्त बनता है—यह समझना चाहिये ॥ १० ॥

सफेद शक्कर से युक्त घृत दूध से मिश्रित (सफेद) तिल से पवित्र लकड़ी वाली अग्नि में हवन करे । उसके पहले तीन मेखला वाला कुण्ड बनाना चाहिये । महारक्षाविधानपूर्वक जिसके नाम से हवन

पुण्यं पलाशादिदारु इन्धनं दीपनं यस्य । महारक्षाविधानमस्त्रप्राकारादि-चिन्तनम्, यागहर्म्ये च दुष्टप्रवेशरक्षणम् । नामत इति मन्त्रान्तोच्चारितेन । यमक्षयं यमगेहम् ॥ १२ ॥

अथवा शर्करायुक्तपयसा केवलेन तु ॥ १३ ॥
होमान्मृत्युं जयेच्छीघ्रं मृत्युजिन्नात्र संशयः ।

स्पष्टम् ॥ १३ ॥

सुगन्धिघृतहोमेन क्षीरवृक्षमयेऽनले ॥ १४ ॥
तर्पितो नाशयेन्मृत्युं मृत्युजिन्नात्र संशयः ।

यस्य नाम्ना तस्येत्यर्थात् ॥ १४ ॥

क्षीरवृक्षसमिद्धोमाज्ज्वरं नाशयते क्षणात्॥ १५ ॥

प्रादेशमात्राः सत्वचः कनिष्ठाङ्गुलिमानाः सरसाः शाखाः समिधः ॥ १५ ॥

तिलतण्डुलमाक्षीकमाज्यक्षीरसमन्वितम् ।
एष पञ्चामृतो होमः सर्वदुष्टनिवर्हणः ॥ १६ ॥

किया जायेगा यमपुर में गये हुये भी उस व्यक्ति को महाशान्ति प्राप्त होती है ॥ -११-१३- ॥

पवित्र = पलाश आदि की लकड़ी, इन्धन = जलाने वाली है जिसकी । महारक्षा-विधान = अस्त्रप्राकार आदि का ध्यान तथा यागगृह में दुष्ट प्राणी के प्रवेश से रक्षा । नाम लेकर = मन्त्र के अन्त में नाम का उच्चारण कर । यमक्षय = यमगृह (= यमलोक) ॥ १२ ॥

अथवा केवल शर्करायुक्त दूध से हवन करने पर (यह) मृत्युञ्जय (मन्त्र या देवता) शीघ्र ही मृत्यु को जीत लेता है, इसमें सन्देह नहीं ॥-१३-१४-॥

क्षीरवृक्ष (= पाकड़, पीपल, गूलर, बरगद आदि) की लकड़ी वाली आग में सुगन्धित घृत का होम करने पर मृत्युजित् मृत्यु का निःसन्देह नाश करते हैं ॥ -१४-१५- ॥

जिसके नाम से होम होगा उसकी (मृत्यु का) ॥ १४ ॥

क्षीरवृक्ष की समिधा से होम करने पर (यह मन्त्र) एक क्षण में ज्वर को नष्ट कर देता है ॥ -१५ ॥

कनिष्ठा जितनी मोटी एक बालिस्त लम्बी छिलकेसहित गीली लकड़ी समिधा कहलाती है ॥ १५ ॥

तिल, चावल, मधु, घी और दूध इन (पाँच द्रव्यों) के द्वारा पञ्चामृत होम होता है जो समस्त दोषों को दूर करता है ॥ १६ ॥

मन्त्रराजप्रसादात् ॥ १६ ॥

गुग्गुलोर्गुलिकाभिश्च त्र्यक्ताभिश्चणमात्रया ।
होमात् पुष्टिर्भवत्याशु क्षीणदेहस्य सुव्रते ॥ १७ ॥

चणकप्रमाणाभिर्गुग्गुलुधूपगुलिकाभिराज्यक्षीरक्षौद्रात्मत्रिमध्वक्ताभिर्होमात् पुष्टिर्भवति ।

'वषडाप्यायने शस्तः' (६।९६)

इति स्वच्छन्दोक्तनीत्या सर्वत्रात्र वषट्जातिः प्रयोज्या ॥ १७ ॥

यदा व्याधिशताकीर्णो ह्यबलो दृश्यते नरः।
तदास्य सम्पुटीकृत्य नाम जप्त्वा विमुच्यते॥ १८ ॥

मूलमन्त्रेणेत्यर्थात् ॥ १८ ॥

किं च—

यं यं मन्त्रं जपेद् विद्वानमृतेशेन संपुटम् ।
तस्य सिद्ध्यति स क्षिप्रं भाग्यहीनोऽपि यो भवेत्॥ १९ ॥

जपोऽत्र स्वकल्पोक्तविधिना ॥ १९ ॥

मन्त्रराज की प्रसन्नता होने पर ही (= निर्वहण होता है) ।

तीन वस्तुओं से उपलिप्त चने के बराबर गुग्गुलु की गोली से होम करने पर क्षीणदेह व्यक्ति शीघ्र पुष्टि को प्राप्त करता है ॥ १७ ॥

चने के बराबर गुग्गुलुधूप की गोली, जो कि घी दूध और मधु रूप त्रिमधु से सिक्त हो, से होम करने पर पुष्टि होती है ॥

'आप्यायन के लिये' वषट् का उच्चारण उत्तम कहा गया है' ।

इस स्वच्छन्दोक्त नीति के अनुसार सर्वत्र 'वषट्' जाति का प्रयोग करना चाहिये ॥ १७ ॥

मनुष्य जब सैकड़ों रोगों से युक्त और दुर्बल दिखाई दे तो उसके नाम को इस मन्त्रराट् से सम्पुटित कर जप करने से वह (रोग) मुक्त हो जाता है ॥ १८ ॥

और भी—

भाग्यहीन भी विद्वान् अमृतेश से सम्पुटित जिस किसी मन्त्र को जपे तो वह मन्त्र उसको शीघ्र सिद्ध हो जाता है ॥ १९ ॥

यह जप स्वकल्पोक्त विधि के अनुसार होना चाहिये ॥ १९ ॥

एतत्प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमाह—

क्षीणगात्रस्य देवेशि भेषजं मन्त्रसंपुटम् ।
दीयते तत्क्षणाद्देवि स पुष्टिं लभते बली ॥ २० ॥

भेषजमौषधम्, मन्त्रसंपुटमिति मन्त्रसंपुटीकारेण प्रयुक्तमित्यर्थः ॥ २० ॥

हृत्पद्ममध्यगं जीवं चन्द्रमण्डलमध्यगम् ।
साद्यर्णरोधितं कृत्वा मृत्योरुत्तरते भृशम् ॥ २१ ॥

साद्यर्णैः सविसर्गसकारहोमबीजप्रणवैर्जीवनिकटात् क्रमात्क्रमं बहिर्निःसृतैः रोधितम् । अष्टासु दिक्षु ध्यातैराक्रान्तं चन्द्रबिम्बसंनिविष्टमात्मन परस्य वा जीवं यः करोति ध्यायति, स मृत्युमुत्तरति । कृत्वेति अन्तर्भावितणिजर्थोऽपि ॥ २१ ॥

साद्यर्णरोधितं कृत्वा ध्यायेद्देहे तु योगवित् ।
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तः स भवेन्नात्र संशयः ॥ २२ ॥

जीवद्देहस्यायं रोधनप्रयोगः ॥ २२ ॥

क्षीरोदपद्ममध्यस्थममृतोर्मिभिराकुलम् ।

प्रसङ्गतः प्राप्त इसका कथन कर प्रस्तुत को कहते हैं—

हे देवेशि ! क्षीणशरीर वाले को यदि मन्त्र से संपुटित औषधि दी जाय तो वह पुष्टि को तत्क्षण प्राप्त करता है और बलवान् होता है ॥ २० ॥

भेषज = औषध । मन्त्रसम्पुट = (पहले) मन्त्र के द्वारा सम्पुटित कर (बाद में) प्रयोग में लायी गयी ॥ २० ॥

हृदयकमल के मध्यवर्त्ती जीव को चन्द्रमण्डल के मध्य में ले जाकर साद्यर्ण से रोधित कर (साधक) भयङ्कर मृत्यु से पार हो जाता है ॥ २१ ॥

साद्यर्ण = विसर्ग से युक्त सकार, होमबीज एवं प्रणव (= ॐ जूं सः) । इनके द्वारा जीव के निकट से क्रमशः बाहर निकले हुए के द्वारा रोधित । आठ दिशाओं में ध्यात के द्वारा आक्रान्त तथा चन्द्रबिम्ब में सन्निविष्ट अपने या पर के जीव का जो ध्यान करता है वह मृत्यु को पार कर जाता है । 'कृत्वा' पद में अन्तर्भावित णिच् है (अतएव इसका अर्थ होगा—कारयित्वा = करा कर) ॥ २१ ॥

जो योगवित् साद्यर्ण से रोधित (= सम्पुटित) कर देह में इसका ध्यान करता है । वह समस्त व्याधियों से मुक्त हो जाता है इसमें सन्देह नहीं ॥ २२ ॥

यह प्रयोग जीवित देह वाले के लिये है ॥ २२ ॥

क्षीरसमुद्र के मध्यस्थ कमल के बीच में स्थित अमृतलहरों से व्याप्त,

ऊर्ध्वाधःशशिरुद्धं तु साद्यर्णैः संपुटीकृतम् ॥ २३ ॥
ध्यायते सुप्रहृष्टात्मा आत्मनोऽपि परस्य वा ।
स बाह्याभ्यन्तरं शुभ्रं सुधापूरितविग्रहम् ॥ २४ ॥
अनुद्विग्नमनायासं सर्वरोगैः प्रमुच्यते ।

क्षीराब्धिमध्यस्थसितसरोरुहकर्णिकागतेन्दूपविष्टम्, ऊर्ध्वस्थेन्द्वमृतैः सिच्यमानमैन्दवप्रभाभरोच्छलत्क्षीरोदतरङ्गैरन्तर्बहिश्चापूरितम्, सुशुभ्रं च प्रोक्तयुक्त्या ध्यातमन्त्रराजसंपुटीकृतं यस्य शरीरं भृशं ध्यायते स नीरोगो भवति ॥

रोचनाकुङ्कुमेनैव क्षीरेण च समन्वितः॥ २५ ॥
सितपद्मेऽष्टपत्रे तु मध्ये साद्यर्णरोधितः ।
सर्वव्याधिसमाक्रान्तश्चन्द्रमण्डलवेष्टितः ॥ २६ ॥
चतुष्कोणपुराक्रान्तो वज्रभृद्वज्रलाञ्छितः ।
मुच्यते नात्र संदेहः सर्वव्याधिनिपीडनात्॥ २७ ॥

गोरोचनाकुङ्कुमक्षीरैर्भूर्जादौ सितकमलमालिख्य प्रतिपत्रमुक्तयुक्त्योल्लिखितमन्त्रेण रोधितोऽर्थात् कर्णिकायां नामद्वारोल्लिखितः साध्यो बहिः षोडशकलेन्दुबिम्बवेष्टितः सवज्रकचतुरश्रपुरस्थो व्याध्याक्रान्तोऽपि सर्वव्याधिपीडनान्मुच्यते । वज्रभृद्वज्रेत्युक्ते

नीचे एवं ऊपर चन्द्रमा से रुद्ध, साद्यर्णों (= सकार आदि वर्णों अर्थात् ॐ जूं सः) के द्वारा सम्पुटित, बाहर और भीतर शुभ्र, सुधा से आपूरित जिस शरीर का ध्यान करता है वह सुप्रसन्न आत्मा वाला साधक अपने या पर शरीर को अनुद्विग्न और अनायास रूप से सब रोगों से मुक्त करा देता है ॥ २३-२५- ॥

(साधक द्वारा) क्षीरसागर के मध्य में स्थित श्वेत कमल की कर्णिका में वर्त्तमान चन्द्रमा के ऊपर बैठे हुये, ऊर्ध्वस्थ चन्द्रमा के अमृत से सींचे जाते हुए, क्षीर सागर की तरङ्गों से भीतर एवं बाहर आपूरित, सुशुभ्र उक्त युक्ति से ध्यात मन्त्रराज से सम्पुटीकृत जिस (= रुग्ण व्यक्ति) के शरीर का ध्यान किया जाता है वह नीरोग हो जाता है ॥

गोरोचन कुंकुम एवं दूध को मिलाकर उससे बनाये गये सफेद अष्टदल कमल के मध्य में साद्यर्ण से सम्पुटित नामवाला साध्य रोगी, यदि (अपने को) चन्द्रमण्डल से वेष्टित, चतुष्कोण पुर से आक्रान्त, वज्रभृत् (= इन्द्र) के वज्र से लाञ्छित हुआ ध्यान करे तो समस्त व्याधि से समाक्रान्त वह व्याधियों की पीड़ा से मुक्त हो जाता है इसमें सन्देह नहीं ॥ -२५-२७ ॥

गोरोचन कुंकुम दूध के द्वारा भोजपत्र आदि पर सफेद कमल बनाकर उसके हर एक पत्ते (= पंखुड़ी) पर उक्त युक्ति से उल्लिखित मन्त्र से रोधित अर्थात् कर्णिका में नाम के द्वारा उल्लिखित साध्य (= रोगी अपने को) बाहर षोडश कला

समधिष्ठितानि वज्राणि ध्यायेदिति शिक्षयति ॥ २७ ॥

षोडशारे महाचक्रे षोडशस्वरभूषिते ।
आद्यन्तमन्त्रयोगेन मध्ये नाम समालिखेत् ॥ २८ ॥
जीवान्तः सान्तमध्यस्थं वर्णान्तेनाभिरक्षितम् ।
प्रत्यर्णममृतेशेन संपुटित्वा तु सर्वतः ॥ २९ ॥
मध्ये दलेषु सर्वेषु शशिमण्डलमध्यगम् ।
बाह्ये तु द्विगुणं पद्मं कादिसान्तक्रमेण तु ॥ ३० ॥
पूर्ववत्तु लिखेन्मन्त्री प्रति साद्यर्णरोधितम् ।
वर्णं तदन्तः साध्यस्य नाम बाह्येऽर्कमण्डलम् ॥ ३१ ॥
पुरन्दरपुरेणाधः समन्तात् परिवारयेत् ।
सितचन्दनसंयुक्तं रोचनाक्षीरयोगतः ॥ ३२ ॥
लिखित्वा मन्त्रराजं तु कर्पूरक्षोदधूसरम् ।
महारक्षाविधानं तु पुष्टसौभाग्यदायकम् ॥ ३३ ॥
एतच्चक्रं महादेवि सितपुष्पैः प्रपूजयेत् ।
सर्वश्वेतोपचारेण मधुमध्ये निधापयेत् ॥ ३४ ॥
अनेनैव विधानेन सप्ताहान्मृत्युजिद् भवेत् ।

वाले चन्द्रमा से वेष्टित तथा चारो कोने पर वज्र अङ्कित हूँ—ऐसा ध्यान करे, तो व्याधि से आक्रान्त भी वह सब व्याधियों की पीड़ा से मुक्त हो जाता है । वज्रभृत् वज्र ऐसा कहने पर समधिष्ठित वज्र का ध्यान करे—यह बतलाते हैं ॥ २७ ॥

मन्त्रवेत्ता सोलह अरों वाले महाचक्र में जो कि (अ आ—इत्यादि) सोलह स्वर से भूषित हो उसमें (रोगी के नाम के) आदि और अन्त में मन्त्र को जोड़ कर नाम लिखे । अन्त में जीव (= सकार) मध्य में सान्त (हकार) हो और वर्णान्त (क्षकार) से सम्पुटित हो । प्रत्येक वर्ण को अमृतेश से सर्वतः सम्पुटित कर सभी दलों के मध्य में चन्द्रमण्डल-मध्यवर्त्ती (स्वरों) को मन्त्रवेत्ता लिखे । (षोडशदल कमल के) बाहर दो गुना (= बत्तीस) दलों को लिखे जिसमें 'क' से लेकर 'ह' तक वर्ण हों । प्रत्येक वर्ण साद्यर्ण से रोधित होना चाहिये । उसके भीतर साध्य का नाम और बाहर सूर्य मण्डल बनाये। नीचे चारों ओर पुरन्दरपुर के द्वारा घेर दें। सफेद चन्दन गोरोचन दूध मिलाकर उससे मन्त्रराज को लिखकर उसपर कर्पूर का चूर्ण छिड़क दें। यह महारक्षा विधान पुष्टि और सौभाग्यदायक है। हे महादेवी ! इस चक्र की श्वेत पुष्प आदि से पूजा कर मधु के बीच में रख दे । इसी प्रकार एक सप्ताह तक करने से साधक मृत्युञ्जयी हो जाता है ॥ २८-३५- ॥

षोडशदलकमलकर्णिकायां मन्त्रसंपुटितं साध्यनाम जीवस्य सकारस्यान्तः कृत्वा, सान्तस्य हकारस्यान्तर्विधाय वर्णान्तेन क्षकारेणान्तर्बहिः संस्थितेन रक्षितं कुर्यात् । प्रतिमन्त्रं च अमृतेशसंपुटितं नाम ठकारवेष्टितं क्रमेणाकारादिस्वरमध्यगं कृत्वा मध्यस्थमन्त्रसांमुख्येन लिखेत् । षोडशपत्रस्य पद्मस्य बहिर्द्वात्रिंशद्दल-मुल्लिखेत्, तत्र च कादिसान्तान् द्वात्रिंशद्वर्णान् न्यसेत् । तेषु च प्रतिवर्णं पूर्ववत् साद्यर्णरोधितमित्युक्तयुक्त्या मन्त्रसंपुटितम्, तदिति पूर्वन्यस्तं साध्यनामान्तर्मध्ये लिखित्वा सर्वस्यास्य बहिरर्कमण्डलमिति ठकारम्, तद्बहिः पुरन्दरपुरमिति वज्रलाञ्छितं चतुरश्रसंनिवेशं कुर्यात् । प्रति साद्यर्णरोधितमित्यत्र 'व्यवहिताश्च' इति व्यवहितेन प्रतिना वर्णशब्दस्य संबन्धः । एतत्सर्वं चक्रं सितचन्दन-गोरोचनाक्षीरैर्लिखित्वा, सितकुसुमकर्पूरादिभिरभ्यर्च्य माक्षिकमध्यस्थं पुष्टिसौभाग्य-कृत्, सप्ताहं मधुमध्ये निहितं च मृत्युजित् ॥ ३४ ॥

किं चेदम्—

राजरक्षाविधानं तु भूभृतां तु प्रकाशयेत् ॥ ३५ ॥
संग्रामकाले वरदं रिपुदर्पापहं भवेत् ।
शिवादिनवतत्त्वानि प्रत्येकं शशिमण्डलम् ॥ ३६ ॥
मध्यात् पूर्वादि ऐश्यन्तममृतेशेन मन्त्रिणा ।
यदा व्याधिशताकीर्णमपमृत्युशतेन वा ॥ ३७ ॥

सोलह पंखुड़ी वाले कमल की कर्णिका में मन्त्र से सम्पुटित साध्य का नाम जीव = सकार के भीतर करके, सान्त = हकार के भीतर रख कर भीतर एवं बाहर स्थित क्षकार से उसे रक्षित कर दे । प्रत्येक मन्त्र के साथ अमृतेश (= मृत्युञ्जयबीज) से सम्पुटित नाम ठकार से वेष्टित क्रमशः अकारादि स्वरों का मध्यगामी बनाकर मध्यस्थ मन्त्र के समुख लिखे । षोडशदल कमल के बाहर बत्तीस दलों वाला कमल बनाये । उसमें 'क' से लेकर 'स' तक ३२ वर्णों को लिखे । उनमें प्रतिवर्ण पूर्व की भाँति साद्यर्णरोधितम् इस उक्त युक्ति के अनुसार मन्त्र से सम्पुटित पूर्णन्यस्त साध्य के नाम भीतर मध्य में लिखकर इन सब के बाहर अर्कमण्डल = ठकार, उसके बाहर पुरन्दरपुर = वज्र, से अङ्कित चौकोर सन्निवेश बनाये । 'प्रति साद्यर्णरोधितम्' यहाँ पर 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १.४.८२) सूत्र के अनुसार व्यवहित प्रति के साथ वर्ण शब्द का सम्बन्ध है । इस सब चक्र को सफेद चन्दन गोरोचन दूध से लिखकर, सफेद फूल कपूर आदि से उसकी पूजा करने के बाद यदि मधु के बीच रखा जाय तो पुष्टि और सौभाग्य देता है । एक सप्ताह तक मधु के बीच में रखने पर (मृत्यु) मृत्यु को जीत लेता है ॥ ३४ ॥

इस राजरक्षा विधान को राजाओं को बतलाना चाहिये क्योंकि यह संग्रामकाल में वरदायी और शत्रु के मद को नष्ट करने वाला होता है । मध्य कोष्ठ से प्रारम्भ कर पूर्व से लेकर ईशान कोण पर्यन्त अमृतेश के

तदा श्वेतोपचारेण पूज्यं क्षीरघृतेन वा ।
तिलैः क्षीरसमिद्भिर्वा होमाच्छान्तिं समश्नुते॥ ३८ ॥

आतानवितानविन्यस्तरेखाचतुष्ककलितकोष्ठनवके प्रत्येकं चन्द्रमण्डललाञ्छिते मध्यकोष्ठकात् प्रभृति प्रागादिक्रमेण ऐश्यन्तं शिव-सदाशिव-ईश्वर-विद्या-माया-काल-नियति-प्रकृति-पुरुषतत्त्वानि नामत उल्लिख्य, सितोपचारेणानेन मन्त्रेण मन्त्रिणा यदा पूजा क्षीरघृताभ्यां क्षीराक्तैस्तिलैः क्षीराक्तसमिद्भिर्वा होमो यथाशक्ति क्रियते, तदा व्याध्याद्यपमृत्युशताकीर्णमपि साध्यशरीरं स्वस्थतामेति ॥ ३८ ॥

एवं संपूज्य कुम्भे तु सर्वौषधिसमन्विते ।
सितपद्ममुखोद्गारे रत्नगर्भाम्बुपूरिते ॥ ३९ ॥
सर्वमङ्गलघोषेण शिरसि ह्यभिषेचयेत् ।
स मुच्यते न संदेहः सर्वव्याधिप्रपीडितः ॥ ४० ॥

एवमिति शिवादिनवतत्त्वान्युक्तयुक्त्या कुम्भे ध्यात्वा संपूज्य, तेन योऽभिषिच्यते शिरसि स सर्वव्याधिभिः पीडितोऽपि मुच्यते । सितपद्मैर्मुखे उद्गार आमोदो यस्येति समासः ॥

ध्यात्वा परामृतं नित्यं नित्योदितमनामयम् ।

द्वारा यदि मन्त्री श्वेतोपचार से पूजन करे तथा दूध घी अथवा तिल दूध अथवा दूध में डूबी समिधा से होम करे तो शान्ति मिलती है ॥-३५-३८॥

लम्बाई एवं चौड़ाई में खींची गयी चार रेखाओं से बने नव कोष्ठ, जिनमें प्रत्येक चन्द्रमण्डल से लाञ्छित हो, में मध्यकोष्ठ से लेकर पूर्व आदि के क्रम से ईशान दिशा तक शिव, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, माया, काल, नियति, प्रकृति और पुरुष तत्त्वों का नाम लिखकर श्वेत उपकरणों से इस मन्त्र के द्वारा मन्त्री यदि दूध घी, दूधमिश्रित तिल, दूध में डुबोई गयी समिधा से यथाशक्ति होम करता है तो व्याधि आदि सैकड़ों अपमृत्यु से घिरा हुआ भी साध्य का शरीर स्वस्थ हो जाता है ॥ ३८ ॥

इस प्रकार समस्त औषधियों से युक्त, मुख पर श्वेत कमल रखे गये, अन्दर रत्न डालकर पानी से भरे हुए कुम्भ से सर्वमङ्गल घोष के साथ (= साध्य के) शिर पर अभिषेक करना चाहिये । (ऐसा करने पर) समस्त व्याधियों से प्रपीड़ित भी व्यक्ति मुक्त हो जाता है इसमें सन्देह नहीं ॥ ३९-४० ॥

इस प्रकार = शिव आदि नव तत्त्वों का उक्त युक्ति से कुम्भ में ध्यान कर और पूजा कर उस कुम्भ से जो मनुष्य शिर पर अभिषिक्त होता है वह समस्त व्याधियों से पीड़ित हुआ भी मुक्त हो जाता है । यहाँ सितपद्मों से उद्गार = सुगन्ध है मुख में जिसके—यह (बहुव्रीहि) समास है ॥

प्रक्रियान्तस्थममृतमवतार्य पराच्छिवात् ॥ ४१ ॥
चतुर्नवामृताधारं नवधा नवपूरितम् ।
शतार्धक्षोभितं नित्यं षट्पञ्चैकसमन्वितम् ॥ ४२ ॥
अनन्ताधारगम्भीरमष्टात्रिंशद्विभूषितम् ।
पञ्चभिर्वा प्रसिद्ध्यर्थं पूर्णं तेन निरन्तरम् ॥ ४३ ॥
एवं ध्यानपरो यस्तु सबाह्याभ्यन्तरामृतम् ।
विक्षोभ्य कलशं मूर्ध्नि दैशिको मन्त्रतत्परः ॥ ४४ ॥
अनुग्रहपदावस्थो ह्यभिषिञ्चेत् प्रयत्नतः ।
स मुच्यते न सन्देहः संसाराद् दुरतिक्रमात्॥ ४५ ॥

प्रक्रियान्तस्थं समनान्ताध्वपर्यन्तगमुन्मनापरतत्त्वामृतम्, नित्यमुदितमनावृत-चिज्ज्योतीरूपम्: नित्यमविनाशि, न विद्यते आमयो माया यतस्तादृक्, ध्यात्वा समावेशयुक्त्या विमृश्य, तत एव परमशिवात्, अमृतमिति शाक्तानन्दम्, अवतार्य शिष्यशिरोऽवतीर्णं विचिन्त्य, तन्मन्त्रपूजितं परामृतपूर्णं कलशमुल्लास्य, एवमित्यु-भयामृतध्यानासक्तो मन्त्रराजपरामर्शपरोऽनुजिघृक्षुराचार्यो यस्य मूर्ध्नि सबाह्याभ्यन्तर-मेतदमृतं विकिरेत्, स मोक्षमाप्नोत्येव । कीदृगमृतमित्याह—चतुर्ये नव षट्त्रिंश-दर्थात् तत्त्वानि तान्येव—

'एकैकत्र च तत्त्वेऽपि षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपता ।'

प्रक्रियान्त में स्थित, नित्य, नित्योदित अनामय अमृत परम अमृत को पर शिव से (शिष्य के शिर में) उतार कर चार × नव = छत्तीस तत्त्वों के अमृत आधार को नव बार नव तत्त्वों अर्थात् ८१ तत्त्वों से पूरित पचास (अक्षरों) से क्षोभित, छह पाँच एवं एक से युक्त, अनन्त आधार के कारण गम्भीर सिद्धि के लिये ३८ वक्त्रों से अथवा पाँच (कलाओं) से विभूषित कलश को ध्यानस्थ अनुग्रहपद पर स्थित आचार्य बाहर और भीतर क्षोभित कर यदि साध्य का प्रयत्नपूर्वक अभिषेक करे तो निःसन्देह दुरतिक्रम संसार से मुक्त हो जाता है; इसमें सन्देह नहीं ॥ ४१-४५ ॥

प्रक्रियान्तस्थ = समनापर्यन्त पहुँचने वाला, उन्मनापरतत्त्व अमृत वाला; नित्योदित = अनावृत चिद्ज्योति रूप, नित्य = अविनाशी, अनामय = मायारहित शिवतत्त्व का ध्यान कर = समावेशयुक्ति से विमर्श कर, उसी परम शिव से, अमृत को = शाक्तानन्द को,उतार कर = शिष्य के शिर पर उतरा हुआ ध्यान कर, उस मन्त्र से पूजित परम् अमृत से पूर्ण कलश को उल्लासित कर, इस प्रकार दोनो अमृत के ध्यान में लगा हुआ, मन्त्रराज के परामर्श में लगा हुआ अनुग्रहेच्छु आचार्य जिसके शिर पर बाहर और भीतर इस अमृत का विकिरण करता है वह मोक्ष को प्राप्त करता ही है । वह अमृत कैसा है ?—यह कहते हैं—

इति च स्थित्याऽमृतानि तेषामाधारमाश्रयम्, तथा नवधा यानि नवनवात्म-व्योमव्याप्यादिप्रक्रियया एकाशीतिः पदानि तैः पूरितं संपूर्णं व्याप्तम्, तथा शतार्धेन पञ्चाशता आदिक्षान्तैर्वर्णैः क्षोभितं व्याप्तिं भावितम्, तथा षड्भिरङ्गैः पञ्चभिर्वक्त्रैरेकेन च मूलेन सम्यगन्वितं श्रीस्वच्छन्दाद्युक्तसाध्यमन्त्रसंहिता-पूर्णम्, तथा अनन्तैः कालाग्न्याद्यनाश्रितान्तैराधारैर्भुवनैरन्तर्ध्यातैर्गम्भीरमपरिच्छेद्यम्, तथा अष्टात्रिंशता वक्त्रपञ्चककलाभिर्विभूषितम्, तेनेत्यनेन षड्विधेनाध्वना निरन्तरं पूर्णम्, अत एव प्रसिद्धिः प्रकृष्टा भुक्तिमुक्तिलक्षणा सिद्धिरर्थः प्रयोजनं यस्य ॥ ४५ ॥

अतश्च योऽनेनाभिषिच्यते—

आयुर्बलं जयः कान्तिर्धृतिर्मेधा वपुः श्रियः ।
सर्वं प्रवर्तते तस्य............

प्रकर्षेण वर्तते पुष्यतीत्यर्थः ॥

तथा—

................भूभृतां राज्यमुत्तमम् ॥ ४६ ॥

प्रवर्तते ॥ ४६ ॥

'एक-एक तत्त्व ३६ तत्त्वों के रूप वाले होते हैं ।'

इस नियम के अनुसार अमृतों का आधार = आश्रय, है । नव प्रकार के जो नव नवात्म व्योमप्रक्रिया (अर्थात् ९×९ वाली प्रक्रिया) के अनुसार इक्यासी पद[1] उनसे पूरित = पूर्ण = व्याप्त है । तथा शतार्द्ध = पचास 'अ' से लेकर 'क्ष' तक तथा एक मूल से सम्यक्तया युक्त अर्थात् स्वच्छन्दतन्त्र आदि में उक्त साध्यमन्त्र संहिता से पूर्ण है । अनन्त कालाग्निरुद्र भुवन से लेकर अनाश्रित शिवपर्यन्त आधारों = अन्तर्ध्यात भुवनों, से गम्भीर = अपरिच्छेद्य, है । अँड़तीस = पाँचमुख और कलाओं से विभूषित हैं । उससे = छह प्रकार के अध्वा से, निरन्तर पूर्ण है । इसलिये प्रसिद्धि = प्रकृष्ट भुक्तिमुक्तिलक्षण वाली, सिद्धि = प्रयोजन वाला, है ॥ ४५ ॥

इसलिये जो इसके द्वारा अभिषिक्त होता है—

उसको आयु, बल, जय, कान्ति, धैर्य, मेधा, शरीर, शोभा सब कुछ मिल जाता है ॥ ४६- ॥

तथा राजाओं को उत्तम राज्य मिलता है ॥ ४६ ॥

प्रवर्तित होता है ॥ ४५ ॥

---

१. द्रष्टव्य—तत्त्वप्रकाश के पाँचवें श्लोक की व्याख्या ।

किं च—

दुःखार्दितो विदुःखस्तु व्याधिमान् गतरुग्भवेत् ।
वन्ध्या तु लभते पुत्रं कन्या तु पतिमावहेत् ॥ ४७ ॥

एतत्कलशाभिषेकात् सर्वोऽभीष्टफलमाप्नोतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

यदाह—

यान् यान् समीहते कामाँस्तान् सर्वान् ध्रुवमाप्नुयात् ।

तदित्थम्—

अभिषेकस्य माहात्म्यं विधानविहितस्य तु ॥ ४८ ॥
कथितं ते मया देवि प्रजानां हितकाम्यया ।
अन्यशास्त्रोपचारेण..........

शास्त्रान्तरव्यवहारेण ॥ ४८ ॥

तदित्थमभिषेकात् साध्यः

..........सर्वशान्त्यरहो भवेत् ॥ ४९ ॥

और भी—

दुःख से पीड़ित व्यक्ति दुःखरहित तथा रोगी नीरोग हो जाता है । वन्ध्या स्त्री पुत्र एवं कन्या पति प्राप्त करती है ॥ ४७ ॥

तात्पर्य यह है कि इस कलश से अभिषेक होने पर सब लोग अभीष्टफल की प्राप्ति करते हैं ॥ ४७ ॥

जैसा कि कहते हैं—

साधक जिन-जिन इच्छाओं को करता है उन-उन इच्छाओं की पूर्ति निश्चित होती है ॥ ४७- ॥

तो इस प्रकार—

हे देवि ! प्रजाओं के हित की इच्छा से मैंने अन्यशास्त्र के व्यवहार के अनुसार विहित अभिषेक की महिमा तुमको बतला दी ॥ ४८- ॥

शास्त्रान्तर व्यवहार से ॥ ४८ ॥

तो इस प्रकार अभिषेक के कारण साध्य—

समस्त शान्ति के योग्य होता है ॥ -४९ ॥

'अर्ह' शब्द के स्थान पर 'अरह' पाठ ईश्वरीय है ॥ ४९ ॥

अर्हशब्दस्थाने अरह इति शब्द ऐशः ॥

एतदुपसंहरन् अन्यदवतारयति—

एवं स्थूलं विधानं तु सूक्ष्मं चैवाधुना शृणु॥ ५० ॥

अनेनाधिकारेण स्थूलध्यानमुक्तम्, भाविना तु सप्तमेन सूक्ष्ममुच्यते, इति शिवम् ॥ ५० ॥

समस्तदुःखदलनं सर्वसंपत्प्रवर्तनम् ।
परनिर्वाणजननं नयनं शाङ्करं नुमः ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योते साधनविधिः षष्ठोऽधिकारः ॥ ६ ॥

इसका उपसंहार करते हुए अन्य को अवतारित करते हैं—

इस प्रकार स्थूल विधान कहा गया । अब सूक्ष्म को सुनो ॥ ५० ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के षष्ठ अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ६ ॥

इस अधिकार के द्वारा स्थूल ध्यान कहा गया । भावी सप्तम अधिकार से सूक्ष्म कहा जायगा ॥

समस्त दुःखों का नाश करने वाले समस्त सम्पत्ति को देने वाले और परिनिर्वाण के जनक शाङ्कर नेत्र को हम नमस्कार करते हैं ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के षष्ठ अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ६ ॥

सप्तमोऽधिकारः

* नेत्रोद्योतः *

चक्राधारवियल्लक्ष्यग्रन्थिनाड्यादिसंकुलम् ।
स्वामृतैर्देहमासिञ्चत् स्मराम्यूर्ध्वेक्षणं विभोः ॥

अथ सूक्ष्मध्यानं निर्णेतुं भगवानुवाच—

अतः परं प्रवक्ष्यामि ध्यानं सूक्ष्ममनुत्तमम् ।

न विद्यते उत्तममन्यत् सूक्ष्मध्यानं यतः, परं त्वतोऽप्युत्तमं भविष्यति ॥

तदुपक्रमते—

ऋतुचक्रं स्वराधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ॥ १ ॥

---

* ज्ञानवती *

षट्चक्रं रविग्रन्थिलक्ष्यत्रितयं धामत्रयादीनि यः
सम्यम् वेत्ति सुयोगविच्च सततं यो वेत्ति नाडीगणम् ।
तं योगप्रवणं विशुद्धवपुषं यन्मोचयेद् बन्धना-
न्नेत्रं नित्यमनन्तशक्ति शिवयोर्मोक्षप्रदं तन्नुमः ॥

चक्र, आधार, व्योम, लक्ष्य, ग्रन्थि, नाडी आदि से व्याप्त देह को अपने अमृत से सिञ्चित करने वाले, परमात्मा के नेत्र का हम स्मरण करते हैं ।

अब सूक्ष्म ध्यान का निर्णय करने के लिये भगवान् ने कहा—

इसके बाद (मैं) उत्तमोत्तम सूक्ष्म ध्यान को कहूँगा ॥ १- ॥

अनुत्तम का अर्थ है—जिससे बढ़कर कोई दूसरा सूक्ष्म ध्यान नहीं है । पर ध्यान तो इससे भी उत्तम होगा ॥

उसका उपक्रम करते हैं—

ग्रन्थिद्वादशसंयुक्तं शक्तित्रयसमन्वितम् ।
धामत्रयपथाक्रान्तं नाडित्रयसमन्वितम् ॥ २ ॥
ज्ञात्वा शरीरं सुश्रोणि दशनाडिपथावृतम् ।
द्वासप्तत्या सहस्रैस्तु सार्धकोटित्रयेण च ॥ ३ ॥
नाडिवृन्दैः समाक्रान्तं मलिनं व्याधिभिर्वृतम् ।
सूक्ष्मध्यानामृतेनैव परेणैवोदितेन तु ॥ ४ ॥
आप्यायं कुरुते योगी आत्मनो वा परस्य च ।
दिव्यदेहः स भवति सर्वव्याधिविवर्जितः ॥ ५ ॥

ऋतवः षट् जन्म-नाभि-हृत्-तालु-विन्दु-नादस्थानानि नाडिमायायोगभेदनदीप्ति-शाण्ताख्यानि नाडिमायादिप्रसराश्रयत्वात् चक्राणि यत्र, स्वराः षोडश अङ्गुष्ठ-गुल्फ-जानु-मेढ्र-पायु-कन्द-नाडि-जठर-हृत-कूर्मनाडी-कण्ठ-तालु-भ्रूमध्य-ललाट-ब्रह्म-रन्ध्रद्वादशान्ताख्या जीवस्याधारकत्वादाधारा यत्र, यदि वा सर्वसहत्वादस्य नयस्य कुलप्रक्रियया—

'मेढ्रस्याधः कुलो ज्ञेयो मध्ये तु विषसंज्ञितः ।
मूले तु शाक्तः कथितो बोधनादप्रवर्तकः ॥
अग्निसंज्ञस्ततश्चोर्ध्वमङ्गुलानां चतुष्टये ।

हे सुन्दरनितम्बों वाली ! इस शरीर को ऋतुचक्र, स्वराधार, तीन लक्ष्य, पाँच आकाश, बारह ग्रन्थियों, तीन शक्तियों, तीन धामपथों, तीन नाडियों, दश नाडीपथों, बहत्तर हजार और साढ़े तीन करोड़ नाडियों से युक्त, व्याधियों से पीड़ित और मलिन समझकर योगी पर उदित सूक्ष्म ध्यानामृत से सींचता है तो चाहे अपना शरीर हो या दूसरे का, (वह) समस्त व्याधियों से रहित दिव्य हो जाता है ॥ -१-५ ॥

यह शरीर ऋतु = छह, चक्रों वाला है । वे चक्र जन्मस्थान (= मूलाधार), नाभि, हृदय, तालु, बिन्दु और नाद में रहते हैं । उनके नाम हैं—नाडी, माया, योग, भेदन, दीप्ति और शान्त । यतो हि वे जन्मस्थान आदि नाडी माया आदि के प्रसरस्थान हैं इसलिये चक्र हैं । स्वरों की संख्या सोलह है—पैर का अङ्गूठा, टखना, जाँघें, मेढ्र (= नाभि और लिङ्ग के बीच का भाग) पायु (= मलद्वार), कन्द (= मेढ्र के ऊपर और नाभि के नीचे पक्षी के अण्डे के समान वह अवयव जहाँ से ७२००० नाड़ियाँ निकलती हैं), नाडी, पेट, हृदय, कूर्म नाडी, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त । ये जीव के आधार के होने के कारण आधार कहे जाते हैं । अथवा यह शास्त्र सब के सिद्धान्तों को मानने वाला है इसलिये कौल मत के अनुसार—

'मेढ़ के नीचे कुल (१) मध्य में विष (२) मूल में बोधनाद का प्रवर्त्तक (३)

नाभ्यधः पवनाधारे नाभावेव घटाभिधः ॥
नाभिहृन्मध्यमार्गे तु सर्वकामाभिधो मतः ।
सञ्जीवन्यभिधानाख्यो हृत्पद्मोदरमध्यगः ॥
वक्षःस्थले स्थितः कूर्मो गले लोलाभिधः स्मृतः ।
लम्भकस्य स्थितश्चोर्ध्वे सुधाधारः सुधात्मकः ॥
तस्यैव मूलमाश्रित्य सौम्यः सोमकलावृतः ।
भ्रूमध्ये गगनाभोगे विद्याकमलसंज्ञितः ॥
रौद्रस्तालुतलाधारो रुद्रशक्त्या त्वधिष्ठितः ।
चिन्तामण्यभिधानाख्यश्चतुष्पथनिवासि यत् ॥
ब्रह्मरन्ध्रस्य मध्ये तु तुर्याधारस्तु मस्तके ।
नाड्याधारः परः सूक्ष्मो घनव्याप्तिप्रबोधकः ॥
इत्युक्ताः षोडशाधाराः.......................... ॥' इति ।

त्रीण्यन्तर्बहिरुभयरूपाणि लक्ष्याणि लक्षणीयानि यत्र । निरावरणरूपत्वात्

'खमनन्तं तु जन्माख्यं ।' (७।२७)

इति वक्ष्यमाणानां जन्म-नाभि-हृद्-बिन्दु-नादरूपाणां व्योम्नां पञ्चकं विद्यते यत्र,

'जन्ममूले तु मायाख्यो ।' (७।२७)

इत्यभिधास्यमानाश्चैतन्यावृतिहेतुत्वाद् ग्रन्थयो माया-पाशव-ब्रह्म-विष्णु-रुद्र-ईश्वर-

---

उसके चार अंगुल ऊपर अग्नि (४) नाभि के नीचे पवनाधार नाभि में ही घट नामक आधार है (५) नाभिहृदय के मध्यमार्ग में सर्वकाम (६) हृदयकमल के बीच सञ्जीवनी (७) वक्षःस्थल में कूर्म (८) गले में लोल (९) लम्बिका के ऊपर सुधापूर्ण सुधाधार (१०) उसके मूल में सोमकला से युक्त सौम्य (११) गगन के समान विस्तृत भ्रूमध्य में विद्याकमल (१२) तालु के तल में रुद्रशक्ति से समन्वित रौद्र (१३) चतुष्पथ में रहने वाला चिन्तामणि (१४) ब्रह्मरन्ध्र के मध्य में तुर्याधार (१५) मस्तक में नाड्याधार (१६) है जो कि पर सूक्ष्म और घनव्याप्ति का प्रबोधक है । इस प्रकार सोलह आधार कहे गये ॥'

तीन लक्ष्य = अन्दर-बाहर और उभय रूप लक्षणीय है जिसमें वह । आवरणरहित होने के कारण—

'जन्म नामक आकाश अनन्त है ।' (७-२७)

इस प्रकार वक्ष्यमाण जन्मस्थान, नाभि, हृदय, बिन्दु और नादरूप पाँच आकाश उस शरीर में हैं ।

'जन्म के मूल में माया नामक ग्रन्थि है ।' (७-२७)

सदाशिव-इन्धिका-दीपिका-बैन्दव-नाद-शक्त्याख्या ये पाशास्तैः संयुक्तम् । इच्छादिना शक्तित्रयेण सम्यगन्वितमेषणीयादिविषये प्रवर्तमानम् । सोम-सूर्य-वह्निरूप-धामत्रयपथैः सव्यापसव्यपवनैर्मध्यमपवनेन चाधिष्ठितम् । इडापिङ्गलासुषुम्नाख्येन पवनाश्रयेण नाडित्रयेण युक्तम् । गान्धारी-हस्तिजिह्वा-पूषा-यशा-अलम्बुसा-कुहू-शङ्खिनीभिश्च युक्तत्वाद् दश नाडयः पन्थानो येषां प्राणापानसमानोदानव्याननाग-कूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जयाख्यास्तैः आ समन्ताद् वृतमोतप्रोतम् । दिग्दशकावस्थित-नाडिदशकप्रपञ्चभूताभिर्द्वासप्तत्या सहस्त्रैर्मध्यव्याप्त्या सार्धकोटित्रयेण च महा-व्याप्त्या नाडिवृन्दैः समाक्रान्तम् । आणवमायीयकार्ममलयोगान्मलिनम् । योगिना-मपि—

'येनेदं तद्धि भोगतः ।'

इति स्थित्यावश्यंभाविक्रोडीकृतं शरीरं ज्ञात्वा योगी यस्य आत्मनः परस्य वा, परेणैवेति पररूपतामनुज्झतापि समनन्तरभाविना सूक्ष्मध्यानामृतेनोदितेन स्फुटीभूतेनाप्यायं करोति, स गतव्याधिर्दिव्यदेह इति सूक्ष्मध्यानामृतोन्मिषच्छाक्त-मूर्तिर्भवति ॥ ५ ॥

इस प्रकार आगे कही जाने वाली, चैतन्य का आवरक होने से ये ग्रन्थियाँ हैं, जिनके नाम हैं—माया, पाशव, ब्रह्म, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, इन्धिका, दीपिका, वैन्दव, नाद और शक्ति, इन पाशों से युक्त, इच्छा आदि (= ज्ञान और क्रिया) इन तीन शक्तियों से युक्त अर्थात् एषणीय आदि विषय में प्रवर्त्तमान सोम सूर्य वह्नि रूप तीन तेजरूपी रास्ते अर्थात् दायें बायें तथा बीच के पवन से अधिष्ठित है । वायु के आधार इडा पिङ्गला सुषुम्ना नामक तीन नाडियों से (यह शरीर) युक्त है । (इडा आदि के सहित) गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशा, अलम्बुसा, कूहू और शंखिनी इन दश नाडी रूपी पथ वाले प्राण, अपान, समान, उदान व्यान तथा नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय नामक वायु से ओत-प्रोत है । ये दशों नाडियाँ शरीर की दशो दिशाओं में व्याप्त हैं । इन्हीं का विस्तार ७२ हजार नाडियाँ हैं और साढ़े तीन करोड़ नाडियाँ भी महाव्याप्ति कर इस शरीर में वर्त्तमान हैं । यह शरीर आणव मायीय और कार्ममल से युक्त होने के कारण मलिन है ।

योगियों का भी शरीर

'जिससे यह (शरीर) है वह भोग के कारण ।'

इस स्थिति के कारण अवश्यभवनीयता के द्वारा आक्रान्त है । शरीर को उक्त प्रकार से जानकर जब योगी अपने या दूसरे के शरीर की पररूपता को न छोड़ते हुए भी समनन्तरभावी उदित = स्फुटीभूत, सूक्ष्म ध्यानामृत के द्वारा (इसका) आप्यायन करता है तो वह (अपना या दूसरे का शरीर) व्याधिरहित दिव्य देह हो जाता है अर्थात् सूक्ष्म ध्यान के अमृत से उन्मिषत् शाक्त शरीर वाला हो जाता

'सूक्ष्मध्यानामृतेनैव परेणैवोदितेन ।'

इति यदुक्तं तत्सोपक्रमं स्फुटयति—

यत्स्वरूपं स्वसंवेद्यं स्वस्थं स्वव्याप्तिसंभवम् ।
स्वोदिता तु परा शक्तिस्तत्स्था तद्गर्भगा शिवा॥ ६ ॥
तां वहेन्मध्यमप्राणे प्राणापानान्तरे ध्रुवे ।
अहं भूत्वा ततो मन्त्रं तत्स्थं तद्गर्भगं ध्रुवम् ॥ ७ ॥
स्वोदितेन वरारोहे स्पन्दनं स्पन्दनेन तु ।
कृत्वा तमभिमानं तु जन्मस्थाने निधापयेत् ॥ ८ ॥
भावभेदेन तत्स्थानान्मूलाधारे नियोजयेत् ।
नादसूच्या प्रयोगेन वेधयेत् सूक्ष्मयोगत: ॥ ९ ॥
आधारषोडशं भित्त्वा ग्रन्थिद्वादशकं तथा ।
मध्यनाडिपथारूढो वेधयेत् परमं ध्रुवम् ॥ १० ॥
तत्प्रविश्य ततो भूत्वा तत्स्थोऽसौ व्यापक: शिव: ।
सर्वामयपरित्यागान्निष्कलाक्षोभशक्तित: ॥ ११ ॥
पुनरापूर्य तेनैव मार्गेण हृदयान्तरम् ।
तत्र प्रविष्टमात्रं तु ध्यायेल्लब्धं रसायनम् ॥ १२ ॥

है ॥ ५ ॥

'सूक्ष्म ध्यानामृत से उदित पर से'—

यह जो कहा गया उसी को उपक्रम के साथ स्पष्ट करते हैं—

जो स्वरूप स्वसंवेद्य स्वस्थ और स्वव्याप्ति से उत्पन्न है पराशक्ति शिवा उसमें स्थित उसके गर्भ में वर्त्तमान तथा स्वयं उदित है । उस (= शिवा) को प्राण और अपान के बीच वर्त्तमान ध्रुव मध्यम प्राण में ले जाना चाहिये । हे वरारोहे ! इसके बाद उसके गर्भ में वर्त्तमान ध्रुवमन्त्र को अहं के रूप में होकर स्वोदित स्पन्दन से स्पन्दित कर उस अभिमान (= वीर्य) को जन्मस्थान में स्थापित कर देना चाहिये । भाव का भेदन कर उसे मूलाधार में जोड़ देना चाहिये । फिर सूक्ष्म योग से नादरूपी सूची के द्वारा प्रयोग कर उसका वेधन करे । तत्पश्चात् षोडशाधार एवं द्वादशग्रन्थियों का भेदन कर मध्य नाडीपथ पर आरुढ़ होकर परम ध्रुव का भेदन करे । पुन: उसमें प्रवेश कर उसमें स्थित हुआ यह (= साधक) समस्त रोग का परित्याग करने के कारण निष्कल अक्षोभ शक्ति के कारण व्यापक शिव हो जाता है । तत्पश्चात् उसी मार्ग से हृदय के मध्य को आपूरित कर उसमें प्रविष्ट होकर रसायन को प्राप्त हुआ ध्यान करे । विश्राम का अनुभव

विश्रामानुभवं प्राप्य तस्मात् स्थानात् प्रवाहयेत् ।
सर्वं तदमृतं वेगात् सर्वत्रैव विरेचयेत् ॥ १३ ॥
अनन्तनाडिभेदेन अनन्तामृतमुत्तमम् ।
अनन्तध्यानयोगेन परिपूर्य पुरं स्वकम् ॥ १४ ॥
अजरामरस्ततो भूत्वा सबाह्याभ्यन्तरं प्रिये ।
एवं मृत्युजिता सर्वं सूक्ष्मध्यानेन पूरितम् ॥ १५ ॥
ततोऽसौ सिद्ध्यति क्षिप्रं सत्यं देवि न चान्यथा ।

यदिति प्रथमाधिकारनिर्दिष्टपरधामात्मवीर्यम्, स्वरूपमिति विशेषानिर्देशात् सर्वस्य, स्वसंवेद्यं स्वप्रकाशम् न तु स्वसंवेदनान्यप्रमाणप्रमेयम्,

'तस्य देवातिदेवस्य परापेक्षा न विद्यते ।
परस्य तदपेक्षत्वात् स्वतन्त्रोऽयमतः स्थितः ॥'

इति कामिकोक्तनीत्याऽस्य भगवतः प्रमाणागोचरत्वात् अत एव स्वतन्त्रात्मन्यवतिष्ठते न त्वन्यत्र तद्विविक्तस्यान्यस्याभावात्, प्रत्युतान्यद्विश्वं तद्व्याप्तत्वात्तन्मयमेव संभवतीत्याह—स्वव्याप्तिसंभवम्, स्वव्याप्त्या संभवो विश्वरूपतयोन्मज्जनं यस्य । अस्य च भगवतः परा स्वातन्त्र्यात्मा शक्तिः स्वा अव्यभिचारिणी चासौ उदिता प्रस्फुरद्रूपा, तत्रैव च भगवद्रूपे स्थिता, न चाधाराधेयभावेन, अपि तु सामरस्येने-

---

कर उस स्थान से समस्त अमृत को वेग के साथ सर्वत्र शरीर में प्रवाहित करे। अनन्त ध्यान के साथ अनन्त नाडी के भेद से अनन्त उत्तम अमृत से अपने शरीर को पूरित करे। हे प्रिये ! इसके बाद बाहर भीतर सर्वत्र अजर अमर होकर मृत्युजित् के द्वारा सब कुछ सूक्ष्म ध्यान से पूरित करे । इस प्रकार यह (= साधक) शीघ्र सिद्ध हो जाता है । यह कथन अन्यथा नहीं है ॥ ६-१६- ॥

जो = प्रथम अधिकार से निर्दिष्ट पर तेज रूप वीर्य । स्वरूप = विशेष का निर्देश न होने से सबका रूप । स्वसंवेद्य = स्वप्रकाश न कि स्वसंवेदन से भिन्न प्रमाण से प्रमेय ।

'उस देवातिदेव को दूसरे की अपेक्षा नहीं होती । (इसके विपरीत) दूसरे को उसकी अपेक्षा होने से यह स्वतन्त्ररूप में स्थित है ।'

कामिक तन्त्र में कथित इस नीति के अनुसार यह भगवान् दूसरे किसी भी प्रमाण के विषय नहीं होते हैं । इसलिये ये स्वतन्त्र अपने में ही स्थित रहते हैं न कि अन्य में, क्योंकि उनसे भिन्न कोई दूसरा नहीं होता है । उल्टे अन्य विश्व उनसे व्याप्त होने के कारण तन्मयरूप में उत्पन्न होता है—यह कहते हैं—स्वव्याप्तिसम्भव । स्वव्याप्ति से, सम्भव = विश्व के रूप में उन्मज्जन, है जिसका (वह परधाम) । इस भगवान् की परा = स्वातन्त्र्यरूपा शक्ति स्वा = अव्यभिचारिणी

त्याह—तद्गर्भगा । अतश्च शिवा परमार्थशिवाभिन्नरूपत्वात् शिवा । एवं परं रूपं भित्तिभूतत्वेन प्रकाश्य सूक्ष्मध्यानं वक्तुमुपक्रमते—तामित्यादिना । तां परां चितिशक्तिम्, मध्यमप्राणे सुषुम्नास्थोदानाख्यप्राणब्रह्मणि, वहेत् निमज्जितप्राणापान-व्याप्तिं उन्मग्नतया विमृशेत् । कथम् ? अहं भूत्वा, देहादिप्रमातृताप्रशमनेन पूर्णाहन्तामाविश्येत्यर्थः । तत उक्तवक्ष्यमाणवीर्यव्याप्तिकं मूलमन्त्रं तत्स्थं तद्गर्भ-गमिति पराशक्तिसामरस्यमयम्, अत एव स्पन्दनमिति सामान्यस्पन्दरूपं कृत्वा कथं ? स्वोदितेन स्पन्दनेन अप्राणाद्यवष्टम्भेन । एवं मन्त्रवीर्यसारमामृश्य तमभि-मानं तदसामान्यचमत्कारमयं स्वं वीर्यं जन्माधारे आनन्दचक्रे निधापयेत् प्रतिष्ठा-पयेत् । कथम् ? भावस्य देहप्राणादिमिताभिमानमयस्य भेदेन प्रशमनेन । ततोऽपि मूलाधारे कन्दे तमभिमानं भावभेदेनैव नियोजयेद् निरूढं कुर्यात् । ततोऽपि स्फुरत्तोन्मिषत्तारूपमन्त्रनाथप्राणसूच्या हेतुना कृतो यः प्रकृष्टः क्रमात्क्रम-मूर्ध्वारोहात्मा योगस्तेन । तथा सूक्ष्मयोगत इति—उन्मिषत्स्फुरत्तोत्तेजनप्रकर्षेण । मध्यनाडीपथमारूढः पूर्वोद्दिष्टकुलशास्त्रादिष्टमाधारषोडशकं तथोपक्रान्तनिर्णेष्यमाणं ग्रन्थिद्वादशकं च भित्त्वा परमं ध्रुवं द्वादशान्तधाम वेधयेदाविशेत् । तच्च प्रविश्य,

---

तथा उदित = नित्य प्रस्फुरद् रूपा होती है । यह उसी भगवत् रूप में स्थित होती है वह भी आधाराधेय भाव से नहीं बल्कि समरसता के साथ होती है । 'तद्गर्भगा' पद से यही कहा गया । इसलिये परमार्थ शिव से अभिन्नरूपा होने के कारण वह शिवा है । इस प्रकार पररूप को आधार के रूप में प्रकाशित कर सूक्ष्म ध्यान को बतलाने का उपक्रम करते हैं—उसको इत्यादि । उसको = परा चिति शक्ति को । मध्यमप्राण में = सुषुम्ना में स्थित उदान नामक प्राणब्रह्म में । वहन करे = निमज्जित प्राणअपान व्याप्ति का उन्मग्न के रूप में विमर्श करना चाहिए । कैसे ?—अहं होकर = देहादिप्रमातृता को शान्त कर पूर्ण-अहन्ता में आविष्ट होकर । इसके बाद उक्त वक्ष्यमाण व्याप्ति वाले मूल मन्त्र और उसमें स्थित उसके गर्भ में वर्त्तमान पराशक्तिसामरस्यमय इसीलिये स्पन्दन = सामान्य स्पन्दन रूप बनाकर । यह कैसे होगा (इसके उत्तर में कहते हैं—) स्वोदित स्पन्दन से अप्राण आदि के अवष्टम्भन से । इस प्रकार मन्त्रवीर्य के सामरस्य का आमर्शन कर उस अभिमान को = उस असामान्य चमत्कारमय अपने वीर्य को, जन्माधार = आनन्दचक्र, में, स्थापित करना चाहिए । कैसे ?—देह प्राण आदि परिमित अभिमानमय भाव के भेदन = प्रशमन से । इसके बाद मूलाधार में = कन्द में, उस अभिमान को भावभेद के द्वारा ही नियोजित करे = निरूढ़ बनाये । इसके बाद स्फुरत्ता उन्मिषत्ता रूप मन्त्रनाथप्राणसूची के द्वारा किया गया जो प्रकृष्ट = क्रमशः ऊर्ध्वारोहण रूप, योग उससे तथा सूक्ष्म योग से = उन्मिषत् स्फुरत्तोत्तेजन प्रकर्ष के द्वारा, मध्यनाडीपथ पर आरूढ़ (साधक) पूर्व में वर्णित कुलशास्त्र में कथित सोलह आधारों तथा उपक्रान्त निर्णेष्यमान बारह ग्रन्थियों का भेदन कर परम ध्रुव द्वादशान्त धाम का वेध करना चाहिए = उसमें आविष्ट हो जाय । और उसमें प्रविष्ट होकर

सर्वस्यामयस्य महामायापर्यन्तस्य बन्धस्य परित्यागात्, तत्रैव ध्रुवपदे स्थितः सन्, व्यापको नित्योदितपराशक्तिसमरसः परमशिवैकरूपो भूत्वा, तेनैव द्वादशान्तादन्तःप्रसृतेन मध्यमेन मार्गेण हृदयमध्यमापूर्य परानन्दप्रसरणाच्छुरितं कृत्वा, तत्र हृदि प्रविष्टमात्रं तत् परमानन्दरूपं रसायनमासादितं ध्यायेद्विमृशेत् तावद्यावत्तत्र विश्रान्तिमेति, ततस्तस्माद्धृदयादुच्छलितं तदमृतं प्रवाहयेत् नानाप्रवाहाभिमुखं कुर्यात् । ततस्तेनैवामृतेन अनन्तनाडीप्रवाहप्रसृतेन बहलध्यानध्यातेन सबाह्याभ्यन्तरं स्वं पूरं देहं परिपूर्य तदनन्तरं सर्वममृतं वेगाद् द्रुतप्रवाहेन सर्वरोमरन्ध्रैः सर्वत्र गोचरे रेचयेद् अव्युच्छिन्नप्रवाहं प्रेरयेत् । एवं परवीर्यात्मना भगवता मृत्युजिता प्रोक्तसूक्ष्मशाक्तानन्दध्यानेन यदा सर्वमापूरितं चिन्तयति योगी तदासौ अजरामरो भूत्वा क्षिप्रं सिद्ध्यति मृत्युजिद्भट्टारकतामाप्नोति । नात्र प्रमातृसुलभः संशयः कार्यः ॥ १५ ॥

एवं शाक्तानन्दमार्गावष्टम्भात्मककौलिकप्रक्रियोक्ताधारादिभेदेन सूक्ष्मध्यानमुक्त्वा, स्थूलयुक्तिक्रमेण तन्त्रप्रक्रियोक्ताधारादिभेदेन पूर्णासितामृतकल्लोलचिन्तनात्मसूक्ष्मध्यानं वक्तुमुपक्रमते—

जन्मस्थाने समाश्रित्य स्पन्दस्थां मध्यमां कलाम् ॥ १६ ॥

सब आमय के = महामाया पर्यन्त बन्ध के, परित्याग से उसी ध्रुवपद में स्थित हुआ व्यापक = नित्योदित, परा शक्ति से समरस परशिव के साथ एक रूप होकर उसी = द्वादशान्त, से अन्तः फैले हुए मध्यमार्ग से हृदय के मध्य को पूरित कर = परानन्द के प्रसरण से अलङ्कृतकर, वहाँ = हृदय में, प्रविष्टमात्र उस = परम आनन्द रूप, रसायन को तब तक प्राप्त हुआ ध्यान करना चाहिए जब तक विश्रान्ति न मिल जाय । उसके बाद उस = हृदय, से उच्छलित उस अमृत को प्रवाहित करना चाहिए = अनेक दिशा में प्रवाहाभिमुख करना चाहिए । इसके बाद अनन्तनाडीप्रवाह से फैले हुए बहल (= दृढ़) ध्यान के द्वारा ध्यात उस अमृत से अपने शरीर को बाहर और भीतर पूरित कर बाद में समस्त अमृत को वेग से = द्रुत प्रवाह के साथ, समस्त रोमकूपों से सभी विषयों पर रेचन करना चाहिए = अव्युच्छिन्न प्रवाह के रूप में प्रेरित करना चाहिए । इस प्रकार योगी जब परवीर्यात्मक भगवान् मृत्युञ्जय के द्वारा प्रोक्त सूक्ष्म शाक्त आनन्द के ध्यान से सबको आपूरित चिन्तन करता है तब यह अजर अमर होकर शीघ्र सिद्ध हो जाता है = मृत्युञ्जयभट्टारक बन जाता है । इस विषय में प्रमातृसुलभ संशय नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥

इस प्रकार शाक्तानन्दमार्गावष्टम्भात्मक कौलिक प्रक्रिया में उक्त आधार आदि भेद से सूक्ष्म ध्यान का कथन कर स्थूल युक्ति के क्रम से तन्त्रप्रक्रियोक्त आधार आदि के भेद से पूर्ण असितामृतकल्लोलचिन्तनात्मक सूक्ष्म ध्यान को बतलाने का उपक्रम करते हैं—

तत्स्थं कृत्वा तदात्मानं कालाग्निं तु समाश्रयेत् ।
गत्वा गृहीतविज्ञानं वीर्यं तत्रैव निक्षिपेत् ॥ १७ ॥
तद्वीर्यापूरिता शक्तिः क्रियाख्या मध्यमोत्तमा ।
विज्ञानेनोर्ध्वतो भित्त्वा ग्रन्थिभेदेन चेच्छया ॥ १८ ॥
मूलस्पन्दं समाश्रित्य त्यक्त्वा वाहद्वयं ततः ।
मध्यमार्गप्रवाहिन्या सुषुम्नाख्यां समाश्रयेत् ॥ १९ ॥
तामेवाश्रित्य विरमेत्तत्सर्वेन्द्रियगोचरात् ।
तदा प्रत्यस्तमायेन विज्ञानेनोर्ध्वतः पुनः ॥ २० ॥
ब्रह्मादिकारणानां तु त्यागं कृत्वा शनैः शनैः ।
षण्णां शक्तिमतां प्राप्य कुण्डलाख्यां निरोधिकाम् ॥ २१ ॥
मायादिग्रन्थिभेदेन हृदादिव्योमपञ्चकम् ।

पूर्वं जन्मस्थानमानन्देन्द्रियमुक्तम् इह तु कन्दः, तत्र स्पन्दस्थामिति स्पन्दाविष्टाम्, मध्यमां कलां प्राणशक्तिमाश्रित्य मत्तगन्धस्थानसङ्कोचविकासाभ्यां शतश उन्मिषितां सूक्ष्मप्राणशक्तिमध्यास्य, आत्मानं मनस्तदवसरे तत्स्थं तन्निभालनैकाविष्टं कृत्वा, कालाग्निमिति पादाङ्गुष्ठाधारं गत्वा, समाश्रयेत् भावनयाध्यासीत । तत्रैव

जन्मस्थान में स्पन्दस्थ मध्यमा कला का आश्रयण कर, उसमें अपने को स्थित कर कालाग्नि का आश्रयण कर लेना चाहिये । वहीं पर गृहीत-विज्ञान वाले वीर्य का प्रक्षेप करना चाहिए । उस वीर्य से आपूरित क्रिया नामक शक्ति उत्तम (अतिशय से निर्गत होकर) मध्यमा हो जाती है । इच्छा और विज्ञान के द्वारा ऊपर से ग्रन्थिभेद से भेदन कर मूल स्पन्द में जाकर दोनों वाह (= इडा पिंगला) को छोड़कर मध्यमार्गप्रवाहिनी के द्वारा सुषुम्ना में पहुँचना चाहिये । उसका आश्रयण कर समस्त इन्द्रिय विषयों से विराम ले लेना चाहिये । फिर शान्तमाया वाले विज्ञान के द्वारा ऊपर से ब्रह्मा आदि कारणों का धीरे-धीरे त्याग कर (ब्रह्मा आदि) छह शक्तिमानों की कुण्डल नामक निरोधिका शक्ति को प्राप्त कर माया आदि ग्रन्थियों का भेदन कर हृदय आदि पाँच आकाश का त्याग कर विराम करना चाहिये ॥ -१६-२२- ॥

पहले श्लोकों में जन्मस्थान का अर्थ था—उपस्थेन्द्रिय, यहाँ जन्मस्थान का अर्थ है—कन्द । उसमें स्पन्दस्थ = स्पन्द से आविष्ट, मध्यमा कला = प्राण शक्ति का आश्रयण कर, मत्तगन्ध (= गुदा) के संकोचविकास के द्वारा सैकड़ों बार उन्मिषित सूक्ष्म प्राणशक्ति को अध्यासित कर, अपने को = अपने मन को, उस अवसर में तत्स्थ = उसके निभालन से आविष्ट, कर कालाग्नि = पैर के अंगूठे रूपी आधार, के पास जाकर, समाश्रयण करे = भावना से वहाँ स्थित हो । उसी

च गृहीतविज्ञानं वीर्यमिति कन्दभूम्यासादितं शाक्तस्पन्दात्म वीर्यं निक्षिपेद् भावना-प्रकर्षेण स्फुटयेत् । इत्थं तद्वीर्येत्युक्तवीर्येणापूरिता लब्धोदया, प्राणस्पन्दात्मा क्रियाशक्तिरुत्तमातिशयेनोद्‌गता सती मध्यमा भवति, समस्तदेहस्य नाभिर्मध्यं तत्र प्राप्ता जायते । कथम् ? इच्छया सङ्कोचक्रमोत्थोर्ध्वारोहणप्रयत्नेन, विज्ञानेन च भावनया, ऊर्ध्वत इत्युपरितनगुल्फजानुमेढ्रकन्दनाभ्याख्यानां ग्रन्थीनां भेदेन वेधन-व्यापारेण भित्त्वा, अर्थात् तान्येवोर्ध्वस्थानान्याक्रम्य 'भेदिता माण्डलिका भूभुजा,—इतिवदद्भिः (वद् भिदिः) स्वीकारार्थः । अथ मूलस्पन्दं समाश्रित्येति मत्तगन्धस्थानं विकासाकुञ्चनपरम्परापुरःसरं निरोध्य । एतच्च श्रीस्वच्छन्दोक्तदिव्य-करणोपलक्षणपरम् । अत एव वाहद्वयं पार्श्वनाड्यौ त्यक्त्वा परिहृत्य, तत इति प्रोक्तेच्छाज्ञानावष्टम्भयुक्त्या, मध्यमार्गप्रवाहिण्या प्रोक्तया मध्यप्राणब्रह्मशक्त्या सुषुम्नाख्यां नाडीं सम्यगाश्रयेत् । तामाश्रित्य तत इत्यभ्यस्तात् सर्वेन्द्रिय-गोचराद्विरमेद् अन्तर्मुखीकृतसर्वेन्द्रियस्तिष्ठेत् । तदा च प्रत्यस्ता प्रतिक्षिप्ता माया प्राणादिप्रधानतात्माख्यातिर्येन तादृशा, प्रकाशानन्दात्मना ज्ञानेन हृत्कण्ठादिगत-सृष्ट्यादिसंवित्स्वभावब्रह्मादिकारणानि क्रमात् त्यक्त्वा, वक्ष्यमाणमायादिग्रन्थिभेदेन सह हृदादिव्योमपञ्चकं च त्यक्त्वा, षण्णां ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवशिवाख्यानां कारणानामूर्ध्वत ऊर्ध्वे स्थितां कुण्डलाख्यां शक्तिं शून्यातिशून्यान्तमशेष-

---

में गृहीतविज्ञान = कन्दभूमि से प्राप्त शाक्तस्पन्दात्मक वीर्य, का निक्षेप करे = भावना के प्रकर्ष से स्फुट करें । इस प्रकार उस = उक्त वीर्य, से आपूरित = उदय को प्राप्त, प्राणस्पन्दात्मक क्रियाशक्ति उत्तम अतिशय से उद्‌गत होती हुई मध्यम हो जाती है = समस्त देह का मध्य जो नाभि, उसमें पहुँच जाती है । कैसे ? इच्छा के द्वारा संकोच क्रम से उठे हुए । ऊर्ध्वतः = (पादाङ्गुष्ठ के) ऊपर गुल्फ, जानु, मेढ्र, कन्द, नाभि नामक ग्रन्थियों के भेदन = वेधनव्यापार के द्वारा भिन्न कर, अर्थात् उन-उन ऊर्ध्व स्थानों को आक्रान्त कर । यहाँ भिद् धातु स्वीकार अर्थ में है । जैसे कि—'राजा के द्वारा माण्डलिक लोग भेदित (= स्वीकृत) हुए ।' इसके बाद मूलस्पन्द का आश्रयण कर = मत्तगन्धस्थान का विकास एवं संकोच परम्परा के द्वारा निरोध कर । यह स्वच्छन्दतन्त्र में वर्णित दिव्यकरण का उपलक्षण है । इसलिये दोनों वाह (इडा पिङ्गला) वाली = पार्श्वनाडी, को छोड़कर उक्त इच्छा ज्ञान के अवष्टम्भ की युक्ति से मध्यमार्ग में बहने वाली उक्त मध्यप्राण ब्रह्मशक्ति के द्वारा सुषुम्ना नाड़ी का आश्रयण करे । इसका आश्रयण कर पूर्व में अभ्यस्त समस्त इन्द्रियविषयों से विराम कर ले । अर्थात् समस्त इन्द्रियों को अन्तर्मुखी कर ले । इसके बाद माया अर्थात् प्राण आदि को आत्मा मानने के अज्ञान को नष्ट करने वाले प्रकाशानन्दरूप ज्ञान के द्वारा हृदय कण्ठ आदि में रहने वाले संवित्स्वभाव रूप ब्रह्मा विष्णु आदि कारणों को क्रमशः त्यक्त कर वक्ष्यमाण माया आदि ग्रन्थियों को भिन्न करने के साथ-साथ हृदय आदि पाँच आकाशों को छोड़कर, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और अनाश्रित शिव

विश्वगर्भाकारात्मककुण्डलरूपतयावस्थितां समनाख्यां शक्तिं प्राप्य, विज्ञानेनोर्ध्वं विरमेद् उन्मनापरतत्त्वात्मतामाविशेदिति दूरेण संबन्धः । विरमेदिति पूर्वस्थमिहापि योज्यम् ॥

तत्र निर्भेद्यग्रन्थ्यादीनां स्वरूपं तावत्क्रमेणादिशति—

जन्ममूले तु मायाख्यो ग्रन्थिर्जन्मनि पाशवः ॥ २२ ॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।
कारणस्थास्तु पञ्चैवं ग्रन्थयः समुदाहृताः ॥ २३ ॥
इन्धिकाख्यस्तु यो ग्रन्थिर्द्विमार्गाशमनः शिवः ।
तदूर्ध्वे दीपिका नाम तदूर्ध्वे चैव बैन्दवः ॥ २४ ॥
नादाख्यस्तु महाग्रन्थिः शक्तिग्रन्थिरतः परः ।

जन्ममूलमानन्देन्द्रियम् तच्छरीरोत्पत्तिहेतुर्मायारूपतया मायाख्यो ग्रन्थिः, जन्मनि कन्दे पाशवः पशूनां संकुचितदृक्शक्तित्वात् पाश्यानामयमाधारनानानाडी-प्राणादीनां प्रथमोद्भेदकल्पः । हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यललाटस्थानां ब्रह्मादीनां कारणानां पशुं प्रति सृष्ट्यादिकर्तृत्वेन निरोधकत्वाद् ग्रन्थिरूपकत्वात् तत्स्थाः पञ्च ग्रन्थयः निरोधिकोर्ध्वे—

कारणों के ऊपर स्थित कुण्डल नामक शक्ति = शून्यातिशून्यपर्यन्त समस्त विश्वगर्भाकारात्मक कुण्डलरूप में स्थित समना नामक शक्ति, को प्राप्त कर विज्ञान के साथ ऊपर विराम करे = उन्मना रूपी परतत्त्व रूप हो जाय । इतना दूर से सम्बन्ध है ।

अब निर्भेद्य ग्रन्थि आदि के स्वरूप को क्रम से दिखलाते हैं—

जन्म के मूल में माया नामक ग्रन्थि और जन्म में पाशव नामक ग्रन्थि रहती है । ब्रह्मा विष्णु रुद्र ईश्वर सदाशिव ये पाँच ग्रन्थियाँ कारणों में रहती हैं । इन्धिका नामक जो ग्रन्थि है वह द्विमार्ग के सम्पूर्ण शमन का हेतु है इसीलिये शिव है उसके ऊपर दीपिका उसके ऊपर बैन्दव ग्रन्थि है । नाद नामक महाग्रन्थि है और इसके बाद शक्ति ग्रन्थि है ॥ -२२-२५- ॥

जन्ममूल = आनन्द देने वाली इन्द्रिय अर्थात् उपस्थ । वह शरीर की उत्पत्ति का कारण है । माया रूप होने के कारण मायाग्रन्थि ही जन्म के कन्द में पाशव ग्रन्थि है । (यह) संकुचित ज्ञान शक्ति होने के कारण पशु अर्थात् पाश में बाँधने योग्य जीवों का आधार रूप अनेक नाड़ी प्राण आदि का प्रथम उद्भेद रूपी है । हृदय, कण्ठ तालु, भ्रूमध्य और ललाट में रहने वाले क्रमशः ब्रह्मा आदि (= विष्णु रुद्र, ईश्वर और सदाशिव) कारणों का सृष्टि आदि के कर्त्ता के रूप में निरोधक होने से पशु के प्रति ग्रन्थिरूप होने के कारण उनमें स्थित पाँच ग्रन्थियाँ हैं । निरोधिका के ऊपर—

'इन्धिका दीपिका चैव रोचिका मोचिकोर्ध्वगा ।' (१०।१२२६)

इति श्रीस्वच्छन्दे नादशक्तयो या उक्ताः, ता एवेह परचित्प्रकाशावारकरूपत्वाद् ग्रन्थय उक्ताः । तत्रेन्धिकाख्यो यो ग्रन्थिरसौ द्विमार्गाशमन इति निरोधिकास्पृष्टवामदक्षिणवाहनिःशेषप्रशमनहेतुः, अत एव शिव ऊर्ध्वैकमार्गारोहकत्वात् श्रेयोरूपः । तदूर्ध्वे किंचिद्दीप्तिहेतुत्वाद् दीपिकाख्यो ग्रन्थिः, अतोऽपि किंचिदधिकप्रकाशहेतुत्वाद् बैन्दवः । रोचिकेत्यन्यत्र योक्ता शक्तिस्तद्रूपो ग्रन्थिः । तदुपरि नादाख्यो महाग्रन्थिरिति । मोचिकोर्ध्वगेत्यन्यत्र यच्छक्तिद्वयमुक्तं तत्रोर्ध्वगा नादान्तेति तत्रैव योक्ता सैवेहान्तर्भावितमोचिका नादाख्यो महाग्रन्थिरित्युक्तः । महत्त्वं चास्य ग्रन्थ्यन्तर्भावादेव । अतः परः शक्तिस्थानस्थो ग्रन्थिः शक्तिग्रन्थिः ॥

यदेवं निर्णीतं तत्—

ग्रन्थिद्वादशकं भित्त्वा प्रविशेत् परमे पदे ॥ २५ ॥

उन्मनापरतत्त्वात्मनि धाम्नि ॥ २५ ॥

अत्र ब्रह्मादिकारणग्रन्थिभेदनादेव तदधिष्ठितहृदादिस्थानानि शक्तिग्रन्थिभेदेन च शक्तिस्थानं तदुपरि च व्यापिनीधामशिवस्थाने दलयेदित्याह—

'इन्धिका दीपिका रोचिका और मोचिका—ये ऊर्ध्वगामी है ।'

इस प्रकार स्वच्छन्दतन्त्र (१०.१२२६) में जो नादशक्तियाँ कही गयी हैं वे ही पर चैतन्यरूप प्रकाश का आवरक होने के कारण ग्रन्थि कही गयी हैं । उनमें इन्धिका नामक जो ग्रन्थि है वह द्विमार्गाशमन = निरोधिका से स्पृष्ट बायीं दायीं नाडी (= इडा पिङ्गला) के प्रवाह का आ = (पूर्णरूप से) प्रशमन करने का कारण है इसलिये शिव = ऊर्ध्वमार्ग, का आरोहक होने से श्रेयोरूप है । उसके ऊपर कुछ प्रकाश का कारण होने से दीपिका नामक ग्रन्थि है। इससे भी थोड़ा अधिक प्रकाशक होने से बैन्दव ग्रन्थि है । जो अन्यत्र शक्ति कही गयी है वह यहाँ रोचिका ग्रन्थि है । उसके ऊपर नाद नामक महाग्रन्थि है । मोचिका और ऊर्ध्वगा ये दोनों शक्तियाँ जो कि अन्यत्र कही गयी हैं, उनमें ऊर्ध्वगा को अन्यत्र नादान्त कहा गया है वही यहाँ अन्तर्भावित मोचिका नाद नामक महाग्रन्थि कही गयी है । दूसरी ग्रन्थियों का अपने अन्दर अन्तर्भाव करने से यहाँ 'महा' ग्रन्थि है । इसके ऊपर शक्तिस्थान में स्थित ग्रन्थि शक्तिग्रन्थि कही जाती है ।

जो कि ऐसा कहा गया इसलिये—

इन बारह ग्रन्थियों का भेदन कर परमपद में योगी प्रवेश करे ॥-२५॥

(परमपद =) उन्मना परतत्त्वरूप स्थान में ॥ २५ ॥

ब्रह्मा आदि कारण ग्रन्थि के भेदन से ही उनके द्वारा अधिष्ठित हृदय आदि

ब्रह्माणं च तथा विष्णुं रुद्रं चैवेश्वरं तथा ।
सदाशिवं तथा शक्तिं शिवस्थानं प्रभेदयेत् ॥ २६ ॥

अन्ते स्थानशब्दो ब्रह्मादिशब्दानामपि तत्स्थानप्रतिपादकत्वसूचनाय ॥ २६ ॥

अथ पूर्वोद्दिष्टं शून्यपञ्चकं षट्चक्रं च प्रदर्शयति—

खमनन्तं तु जन्माख्यं नाभौ व्योम द्वितीयकम् ।
तृतीयं तु हृदि स्थाने चतुर्थं बिन्दुमध्यतः ॥ २७ ॥
नादाख्यं तु समुद्दिष्टं षट्चक्रमधुनोच्यते ।
जन्माख्ये नाडिचक्रं तु नाभौ मायाख्यमुत्तमम् ॥ २८ ॥
हृदिस्थं योगिचक्रं तु तालुस्थं भेदनं स्मृतम् ।
बिन्दुस्थं दीप्तिचक्रं तु नादस्थं शान्तमुच्यते ॥ २९ ॥

अनन्तवद्विश्वाश्रयत्वादनन्तम् । नादाश्रयत्वाद् नादाख्यम् । नाडिप्रसरहेतुत्वात्,

'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ।' (पा०यो० ३।२५)

इति नीत्या समस्तमायाप्रपञ्चख्यातिहेतुत्वात्, योगिनां चित्तैकाग्र्यप्रदत्वात्,

---

स्थान और शक्तिग्रन्थि के भेदन से शक्तिस्थान और उसके ऊपर व्यापिनी धाम जो शिवस्थान है उसका भी भेदन करना चाहिये—यह कहते हैं—

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति के स्थानों तथा शिवस्थान का भेदन करना चाहिये ॥ २६ ॥

अन्त में पठित 'स्थान' शब्द को ब्रह्मा आदि के साथ जोड़ना चाहिये—इस प्रकार ब्रह्मस्थान विष्णुस्थान आदि बतलाने के लिये 'स्थान' शब्द का प्रयोग है ॥ २६ ॥

अब पूर्वोद्दिष्ट पाँच शून्यों और छह चक्रों को बतलाते हैं—

जन्मस्थान पहला शून्य है । नाभि में दूसरा शून्य है । तीसरा हृदय स्थान में, चौथा बिन्दु के मध्य में है । पाँचवा नाद कहा गया है । अब षट्चक्र को कहते हैं । जन्मस्थान में नाड़ीचक्र, नाभि में मायाचक्र, हृदय में योगीचक्र, तालु में भेदन, बिन्दु में दीप्ति एवं नाद में शान्त चक्र स्थित कहा जाता है ॥ २७-२९ ॥

अनन्त की भाँति विश्व का आश्रय होने से शून्य का नाम अनन्त है । नाद का आश्रय होने से इसका नाद नाम है । नाड़ियों के विस्तार का कारण होने से,

'नाभिचक्र में (धारणा ध्यान समाधि लगाने से) कायव्यूह (= शरीरसंरचना) का ज्ञान होता है ।' (पा०यो०सू० ३.२५)

प्रयत्नेन भेदनीयत्वात्, दीप्तिरूपत्वात्, शान्तिप्रदत्वादिति क्रमेण नाडिचक्रादौ हेतवः । एतानि शून्यानि सौषुप्तावेशप्रदत्वात्, चक्राणि तु भेदप्रसरहेतुत्वात् हेयानीति कृत्वा ॥ २९ ॥

तैः सह—

पूर्वोक्तानि च सर्वाणि ज्ञानशूलेन भेदयेत् ।

पूर्वोक्तनीत्याधारग्रन्थ्यादीनि । ज्ञानशूलं मन्त्रवीर्यभूतचित्स्फुरत्ता ॥

ज्ञानशूलोत्तेजने युक्तिमाह—

आक्रम्य जन्माधाराख्यं तन्मूलं पीडयेच्छनैः ॥ ३० ॥

चित्तप्राणैकाग्र्येण कन्दभूमिमवष्टभ्य, तन्मूलमिति मत्तगन्धस्थानम्, शनैरिति सङ्कोचविकासाभ्यासेन, शक्त्युन्मेषमुपलक्ष्य पीडयेद् यथा शक्तिरूर्ध्वमुखैव भवति ॥ ३० ॥

अथ प्रसङ्गान्नानाशास्त्रप्रसिद्धान् पर्यायान् जन्माधारस्याह—

नियम के अनुसार समस्त मायाप्रपञ्च के ज्ञान का हेतु होने के कारण (इसे नाडीचक्र कहा जाता है । इसी प्रकार) योगियों को चित्त की एकाग्रता देने के कारण, प्रयत्नपूर्वक भेदनीय होने के कारण, दीप्तिरूप होने के कारण, शान्तिप्रद होने के कारण क्रमशः योगीचक्र आदि कहे जाते हैं । चूँकि ये शून्य (शरीर के अन्दर) सौषुप्त आवेश उत्पन्न करते हैं तथा चक्रभेद की भावना को बढ़ाते हैं, इसलिये हेय हैं ॥ २७-२९ ॥

उनके साथ—

(योगी को चाहिये कि वह) पूर्वोक्त सभी (ग्रन्थि आदि) का ज्ञानशूल से भेदन करे ॥ ३०- ॥

पूर्वोक्त नीति से आधारग्रन्थि आदि का (भेदन करे)। ज्ञानशूल = मन्त्र की वीर्यभूत चित्स्फुरत्ता ॥

ज्ञानशूल की उत्तेजना में युक्ति बतलाते हैं—

जन्माधार को आक्रान्त कर उसके मूल का धीरे-धीरे पीड़न करना चाहिये ॥ -३० ॥

चित्त और प्राण को एकाग्र कर कन्दभूमि को अवष्टम्भित (= स्थिर) करे । उसके मूल को = मत्तगन्धस्थान (= गुदामार्ग) को । धीरे-धीरे = संकोच विकास के अभ्यास से । शक्ति के उन्मेष को ध्यान में रख कर पीड़ित करे ताकि कुण्डलिनी शक्ति का मुख ऊपर होने लगे ॥ ३० ॥

जन्माधारस्य सुश्रोणि पर्यायान् शृण्वतः परम् ।
जन्मस्थानं तु कन्दाख्यं कूर्माख्यं स्थानपञ्चकम्॥ ३१ ॥
मत्स्योदरं तथैवेह मूलाधारस्तथोच्यते ।

मरुदुद्भवहेतुत्वात्, मध्यनाडीकन्दरूपत्वात्, कूर्माकारत्वात्, पृथिव्यादि-व्योमान्ततत्त्वपञ्चकस्थानत्वात्, मत्स्योदरवत् स्फुरणात्, मूलभूतत्वाच्च जन्मादि आख्यायते ॥

एवं महामाहात्म्याच्छास्त्रेषु निरुच्यते या कन्दभूः—

तत्स्थां वै खेचराख्यां तु मुद्रां विन्देत योगवित् ॥ ३२ ॥
मुद्रया तु तया देवि आत्मा वै मुद्रितो यदा ।
तदा चोर्ध्वं तु विसरेद्विज्ञानेनोर्ध्वतः क्रमात् ॥ ३३ ॥

तत्स्थामिति कन्दभूमिविस्फुरितां शक्तिम्, मुदो हर्षस्य राणात् पाशमोचनभेद-द्रावणात्मत्वात् परसंविद्द्रविणमुद्रणाच्च मुद्राम्, खे बोधगगने चरणात् खेचर्याख्यां योगी लभेत । लब्धया तु तया यदा आत्माणुर्मुद्रितः तद्वशः संपन्नः, तदामन्त्र-

---

अब प्रसङ्गात् अनेक शास्त्रों में प्रसिद्ध जन्माधार के पर्यायवाची शब्दों को बतलाते हैं—

हे सुश्रोणि ! इसके बाद जन्माधार के पर्यायों को सुनो । इसे जन्मस्थान, कन्द, कूर्म, स्थानपञ्चक, मत्स्योदर और मूलाधार कहा जाता है ॥ ३१-३२- ॥

वायु की उत्पत्ति का कारण होने से, मध्यनाडी का कन्दरूप होने से, कछुये के आकार का होने से, पृथ्वी से लेकर आकाश तक पाँच का (मूल) स्थान होने से, मछली के पेट के समान स्फुरण वाला होने से, मूल होने से यह जन्माधार आदि कहा जाता है ॥

इस प्रकार महामाहात्म्य के कारण शास्त्रों में जो यह कन्दभूमि कही जाती है—

योगी उसमें स्थित हुई खेचरी मुद्रा को प्राप्त करता है । हे देवि ! जब उस मुद्रा से आत्मा मुद्रित (= वशीभूत) होता है तब विज्ञान के द्वारा योगी क्रमशः ऊपर-ऊपर चलने लगता है ॥ -३२-३३ ॥

उसमें स्थित को = कन्द भूमि में विस्फुरित शक्ति को । मुद के = हर्ष के, राण (= दान) से, पाशमोचन भेदद्रावण रूप होने से, परसंवित् रूप धन के मुद्रण के कारण (इसका मुद्रा नाम पड़ा है) । ख = बोधगगन में, चरण = सञ्चरण करने से—खेचरी नामक मुद्रा को योगी प्राप्त करता है । उपलब्ध उस मुद्रा के द्वारा जब यह आत्मा = अणु (= जीव) मुद्रित होता है = उसके वश में होता है,

वीर्यस्फुरत्तात्मना विज्ञानेनोर्ध्वं द्वादशान्तं यावद्विसरेत् प्रसरेत् ॥ ३३ ॥

एतदेव स्फुटयति—

भिन्द्याद्भिन्द्यात् परं स्थानं यावत् स्वरवरार्चिते ।
तत्स्थानं चैव संप्राप्य योगी समरसो भवेत् ॥ ३४ ॥
निष्कलं भावमापन्नो व्यापकः परमः शिवः ।

परं स्थानं द्वादशान्तम् । भिन्द्यादिति वीप्सया क्रमादित्युक्तिः स्फुटीकृता । समरस इति सर्वस्याधस्तनस्याध्वनस्तन्मयीभावप्राप्तेः । परमः शिव इति, न तु भेदवाद्युक्तव्यतिरिक्तमुक्तशिवरूपः ॥

अथ श्लोकार्धेन परमशिवाभेदव्याप्तिमनुवदन् शक्तेरवरोहक्रमेण व्याप्तिमा-देष्टुमुपक्रमते—

एवं भूत्वा समं सर्वं निःस्पन्दं सर्वदोदितम् ॥ ३५ ॥
ततः प्रवर्तते शक्तिर्लक्ष्यहीना निरामया ।
इच्छामात्रविनिर्दिष्टा ज्ञानरूपा क्रियात्मिका ॥ ३६ ॥
एका सा भावभेदेन तस्य भेदेन संस्थिता ।

भूत्वेत्यन्तर्भावितणिजर्थः । तेन सर्वं समनान्तम्, एवं द्वादशान्तारोहणेन, समं

तब (वह) मन्त्रवीर्य की स्फुरत्ता रूप विज्ञान के द्वारा ऊर्ध्व = द्वादशान्त तक, प्रसरण करता है ॥ ३३ ॥

इसी को स्पष्ट करते हैं—

हे श्रेष्ठस्वरों से पूजित ! पर स्थान का बार-बार तब तक भेदन करना चाहिये जब तक उस स्थान को प्राप्त करने के बाद योगी निष्कल भाव को प्राप्त कर समरस, व्यापक परम शिव न हो जाय ॥ ३४-३५- ॥

पर स्थान = द्वादशान्त । भेदन करे—इसको दो बार कहने का अर्थ है—क्रमशः । समरस = समस्त अधस्तन अध्वा के तन्मयीभाव की प्राप्ति के कारण । परम शिव—न कि भेदवादियों के द्वारा उक्त भिन्न मुक्त शिवरूप (परम शिव) ॥ ३४ ॥

अब श्लोकार्द्ध के द्वारा परमशिव के साथ अभेदव्याप्ति को कहते हुए शक्ति के अवरोहक्रम से व्याप्ति को बतलाने का उपक्रम करते हैं—

इस प्रकार सबको सम निःस्पन्द और सर्वदा उदित सम्पादित करने के बाद लक्ष्यहीन, निरामय, इच्छाज्ञानक्रियारूपा शक्ति प्रवृत्त होती है । यद्यपि वह एक है फिर भी उसके (= परम शिव के) भावभेद के कारण वह भेदपूर्वक स्थित है ॥ ३५-३७- ॥

समरसम्, निःस्पन्दं प्रशान्तकल्लोलम्, सर्वदोदितं प्राप्तपरचित्प्रकाशैक्यम्, भावयित्वा संपाद्य, तत एव द्वादशान्तधाम्नो लक्ष्यहीना परस्फुरत्तात्मा, निष्क्रान्त आमयो महामाया यस्यास्तादृशी महामायाद्युल्लासिका परा शक्तिः, प्रवर्तते समुन्मिषति इच्छा-ज्ञान-क्रियारूपतया क्रमेण स्फुरतीत्यर्थः । तत एवैका, तस्येति परमशिवस्य, संबन्धिना भावभेदेन एषणीयज्ञेयकार्यावभासनोदयवैचित्र्येण हेतुना, भेदेन संस्थिता गृहीतेच्छादिनानात्वा ।

यत एवं परमशिवाच्छक्तिः स्वयं प्रवर्तते, तेन—

खेचरीमुद्रयापूर्य शक्त्यन्तं तत्र सर्वतः ॥ ३७ ॥
यावच्च नोदितश्चन्द्रस्तावत् सूक्ष्मं निरञ्जनम्।
भावग्राह्यमसंदिग्धं सर्वावस्थोज्झितं परम् ॥ ३८ ॥
व्यापकं पदमैशानमनौपम्यमनामयम् ।
भवन्ति योगिनस्तत्तु तदारूढौ वरानने ॥ ३९ ॥

तत्र—

'बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं न्यसेत् ।
दण्डाकारं तु तावत्तन्नयेद्यावत् कखत्रयम् ॥

भूत्वा—यहाँ अन्तर्भावित 'णिच्' प्रत्यय है (= इससे 'भूत्वा' का अर्थ है—भावयित्वा = सम्पादित कर) । सब = समना पर्यन्त । इस प्रकार द्वादशान्त तक आरोहण के द्वारा सबको समरस निःस्पन्द = कल्लोलरहित, सर्वदा उदित = पर संवित् की प्रकाशैकता को प्राप्त, बनाकर, उसी से = द्वादशान्तधाम से, लक्ष्यहीन = परस्फुरत्तारूप, निरामया = निकल गया है आमय = महामाया जिससे वह अर्थात् महामाया आदि की उल्लासिका परा शक्ति, प्रवृत्त होती है = समुन्मिषित होती है = इच्छा-ज्ञान-क्रिया रूप में क्रम से स्फुरित होती है । इसीलिये वह एक होते हुए भी, उसके = परमशिव के, भावभेद से = एषणीय ज्ञेय कार्य के अवभासन के उदयवैचित्र्य के कारण, (वह शक्ति) भेदपूर्वक स्थित है = इच्छा आदि नानारूप धारण किये है ॥

चूँकि परमशिव से शक्ति स्वयं प्रवृत्त होती है; इस कारण—

खेचरी मुद्रा के द्वारा शक्तिपर्यन्त सब प्रकार से आपूरण कर जब तक चन्द्र का उदय नहीं होता तब तक उस (= शक्ति) पर आरूढ होने पर सूक्ष्म, निरञ्जन, भावग्राह्य, असन्दिग्ध, सब अवस्था से परे, पर, व्यापक, उपमारहित, अनामय (जो परधाम उपलब्ध होता है) योगिजन वैसे ही हो जाते हैं ॥ -३७-३९ ॥

योगी पद्मासन लगाकर नाभि में अक्ष के स्वामी (= क्षकार) का न्यास करे ।

निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत् खत्रयेण तु ।
एतां बद्ध्वा महायोगी खे गतिं प्रतिपद्यते ॥' (७।१५-१७)

इति श्रीमालिनीविजयलक्षितया पूर्वोद्दिष्टखेचरीमुद्रया शक्त्यन्तं यावत्, सर्वतः सर्वप्रकारेणापूर्य, यावत् तत्र चन्द्र इत्यपानो नोदितो भवेत् तावत् तदारूढौ तच्छक्तिपदारोहे सति, योगिनः, सूक्ष्ममतीन्द्रियम्, निरञ्जनमनावरणम्, भावग्राह्यं स्वप्रकाशम्, असन्दिग्धं स्वविमर्शसारम्, सर्वाभिर्जागराद्यवस्थाभिरुज्झितम् सर्व-सामरस्यावस्थानात्परम्, दिग्देशाद्यनवच्छेदाद् व्यापकम्, परमेशानं स्वतन्त्रम्, अद्वितीयत्वाद् अनौपम्यम्, न विद्यते आमयो महामायावच्छेदो यतो भक्तिभाजां तदनामयम्, यत् परं धाम तद्भवन्ति तन्मया जायन्त इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

एवं प्राप्तपरतत्त्वाभेदस्य योगिनः 'तत् प्रवर्तते शक्तिः' इत्यनेन योन्मिषन्ती परा शक्तिरुक्ता—

सा योनिः सर्वदेवानां शक्तीनां चाप्यनेकधा ।
अग्नीषोमात्मिका योनिस्तस्याः सर्वं प्रवर्तते ॥ ४० ॥
तत्र संग्रथिता मन्त्रास्त्राणवन्तो भवन्ति हि ।
सर्वेषां चैव संहारस्तदेव परमं पदम् ॥ ४१ ॥

उसे दण्डाकार में तब तक ले जाय जब तक क ख त्रय (= क = शिर में, ख त्रय = शक्ति व्यापिनी और समना) का निग्रह कर ख तीन (= शक्ति व्यापिनी और समना) से उसे प्रेरित करे । इसका बन्धन कर महायोगी आकाश में गति प्राप्त करता है । (मा०वि०तं० ७।१५-१७)

इस मालिनीविजयतन्त्र से लक्षित पूर्वोद्दिष्ट खेचरी मुद्रा के द्वारा शक्तिपर्यन्त, सर्वतः = सब प्रकार से, (नाडी समूह को) आपूरित कर जब तक चन्द्र = अपान, उदित नहीं होता तब तक उसके आरूढ़ होने पर = (योगी के) उस शक्ति पद पर आरूढ़ होने पर, योगी लोग सूक्ष्म = अतीन्द्रिय, निरञ्जन = आवरणरहित, भावग्राह्य = स्वप्रकाश, असन्दिग्ध = स्वविमर्शमात्र तत्त्व वाले, सब = जाग्रत स्वप्न आदि, अवस्थाओं से उज्झित, सब के साथ समरस होने से पर, दिशा देश आदि से अवच्छिन्न न होने से व्यापक, परमेश्वर = स्वतन्त्र, अद्वितीय होने से अनुपम, भक्त लोगों के लिये जहाँ महामाया अवच्छेद रूपी आमय नहीं है ऐसा अनामय जो परमधाम, उसके रूप वाले या तन्मय = वही हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

इस प्रकार परतत्त्व से अभेद को प्राप्त योगी की 'उसके प्रति शक्ति प्रवृत्त होती है' उक्ति के द्वारा जो उन्मिषन्ती पराशक्ति कही गयी है—

वह समस्त देवों की कारण है; शक्तियों की अनेक प्रकार है, अग्नि और सोमरूपी योनि है । उसी से सब उत्पन्न होता है । उसमें संग्रथित मन्त्र त्राण करते हैं । सबकी संहारस्थली वह परम पद है । परमशिव को

तस्मात् प्रवर्तते सृष्टिर्विक्षोभ्य परमं शिवम् ।
अनौपम्यामृतं प्राप्य बिन्दुं विक्षोभ्य लीलया ॥ ४२ ॥
चन्द्रोदये तदा ख्याते परमामृतमुत्तमम् ।
बहलामृतकल्लोलमनन्तं तत्र संस्मरेत् ॥ ४३ ॥
तस्मात् प्राप्यामृतं शुद्धं स्वशक्त्या चैव कर्षयेत्।
मध्यमार्गेण सुश्रोणि कारणादि प्रभेदयेत् ॥ ४४ ॥
आप्यायनं प्रकुर्वीत् स्थाने स्थाने ह्यनुक्रमात् ।
यावद् ब्रह्मपदं प्राप्तं तस्मादाप्याययेदधः ॥ ४५ ॥
जन्मस्थानपथाच्चैव कालाग्नौ तु प्रवर्तयेत् ।
तदापूर्य समन्तात्तु परिपूर्णं स्मरेत् पुरम् ॥ ४६ ॥
सुषुम्नामृतेनाखिलं परिपूर्णं विभावयेत् ।
अनन्तनाडिभिस्तत्र रोमकूपैः समन्ततः ॥ ४७ ॥
निष्क्रम्य व्यापको भूत्वा ह्यमृतोर्मिभिराकुलम् ।
अमृतार्णवसंरूढं मज्जन्तममृतार्णवे ॥ ४८ ॥
तदूर्ध्वे ह्यमृतार्णं तु प्रद्रुतं व्यापकं शिवम् ।
एवं समरसीभूतं ह्यमृतं सर्वतोमुखम् ॥ ४९ ॥
इच्छाज्ञानक्रियारूपं शिवमात्मस्वरूपकम् ।
निरामयमनुप्राप्य स्वानुभूत्या विभावयेत् ॥ ५० ॥
अमृतेशपदं सूक्ष्मं संप्राप्यैवामृतीभवेत् ।

विक्षुब्ध कर उसी से सृष्टि होती है । योगी (को चाहिये कि वह) अनुपम अमृत को प्राप्त कर, बिन्दु को लीला के द्वारा क्षुब्ध कर चन्द्रोदय होने पर बहल (= प्रचुर) अमृत कल्लोलवाले अनन्त उत्तम परम अमृत का वहाँ स्मरण करे ॥ ४०-४३ ॥

उससे शुद्ध अमृत प्राप्त कर अपनी शक्ति से उसे मध्यमार्ग से (नीचे) ले जाय । तत्पश्चात् कारण आदि का भेदन करे । तात्पर्य यह है कि स्थान-स्थान पर क्रम से तब तक आप्यायन करे जब तक कि ब्रह्मपद न प्राप्त हो जाय । उससे नीचे-नीचे आप्यायन करे । जन्मस्थान पथ से कालाग्नि में प्रवर्त्तित करे । उस (अमृत) से अपने शरीर को सब ओर से परिपूर्ण होता हुआ ध्यान करे । सुषुम्ना के अमृत से सबको परिपूर्ण ध्यान करे । इसके बाद अनन्त नाड़ियों अर्थात् रोमकूपों से सब ओर से निकल कर व्यापक होकर अमृतकिरणों से व्याकुल अमृतसमुद्र में संरूढ़ उसमें डूबते हुए तथा उसके बाद अमृतवर्ण को प्रद्रुत व्यापक शिव के साथ समरसीभूत सब दिशाओं में प्रसृत इच्छा ज्ञान क्रिया रूप

तदासावमृतीभूय मृत्युजिन्नात्र संशयः ॥ ५१ ॥
कालजित् सुभगो धीरो मृत्युस्तं च न बाधते।

सर्वदेवानामित्यनाश्रितसदाशिवेश्वरानन्तरुद्रादीनाम्, शक्तीनामिति वामाज्येष्ठादीनां च, यतश्च सा शक्तिरग्नीषोमात्मिका योनिस्तत एव सोमप्रधाना, यतस्तस्याः सर्वं प्रवर्तते उद्भवति, अत एवाग्नीषोमात्मशक्तिप्रकृति विश्वमग्नीषोममयमेव । तथा चाग्निरप्याह्लादयति हिममपि च दहति, इति तत्त्वविद आहुः । किं च, तत्राग्नीषोमात्मशक्तिधाम्नि संग्रथितास्तद्वीर्यसारत्वेनोच्चारिता मन्त्रास्त्राणवन्तः सिद्धिमुक्तिदाः, इति शक्तेः स्थितिहेतुत्वमुक्तम् । तदेवेत्यग्नीषोमात्मनः शक्तेरग्निरूपत्वात् संहर्तृत्वं च । एवं सृष्टिस्थितिसंहारहेतुत्वं शक्तेः प्रदर्श्य प्रकृतमाह-तस्मादिति । यत एवंभूतैषा शक्तिस्तस्मात्परं शिवं विक्षोभ्य समनापदावरोहणेन सृष्ट्युन्मुखं कृत्वा, तत्रानौपम्यमिति परमानन्दमयममृतं प्राप्य, बिन्दुमिति महाप्रकाशात्म समनारूढं धाम, लीलया स्वातन्त्र्यक्रीडया, विक्षोभ्य सृष्टिप्रसरोन्मुखं विधाय, तदा चन्द्रोदयेऽपानोल्लासे ख्याते सति, तत एव शाक्ताद्धाम्न उदितं परमामृतमुत्तममानन्दरसप्रधानं बहला अमृतकल्लोलाः सुसितसुधाप्रसारा यस्य तादृक्, अनन्त-

---

शिव का निरापद आत्मस्वरूप में चिन्तन करे । इस प्रकार सूक्ष्म अमृतेश पद को प्राप्त कर अमृत हो जाय । इस प्रकार यह (साधक) अमृत, मृत्युजित्, कालजयी, सुभग और धीर हो जाता है । मृत्यु उसको बाधित नहीं करती ॥ ४४-५२- ॥

सब देवों का = अनाश्रित शिव, सदाशिव ईश्वर अनन्तेश रुद्र आदि का । शक्तियों का = वामा ज्येष्ठा तथा ब्राह्मी आदि का । चूँकि वह शक्ति अग्नीषोमरूपा योनि है इसीलिये सोमप्रधान है । चूँकि उससे सब प्रवृत्त = उत्पन्न होता है इसलिये अग्निसोमरूप शक्तिवाला विश्व अग्निसोममय ही है । इस प्रकार अग्नि भी आनन्द देती है हिम भी दाह करता है—ऐसा तत्त्ववेत्ता लोग कहते हैं । उस अग्नि-सोमात्मक शक्तिधाम में संग्रथित = उसके वीर्यसार के रूप में उच्चारित, मन्त्र त्राण करते हैं = भोग और मोक्ष देते हैं । इस प्रकार शक्ति ही स्थिति का कारण है—यह कहा गया । वही—अग्नीषोमात्मक शक्ति के अग्निरूप होने के कारण वह संहर्त्री भी है । इस प्रकार शक्ति को सृष्टि स्थिति संहार का कारण बतलाकर प्रस्तुत को कहते हैं—इस कारण । यतो हि यह शक्ति इस प्रकार की है इस कारण योगी को चाहिये कि वह परशिव को विक्षोभित कर समना स्तर पर उतर कर सृष्टि के प्रति (उन्हें) उन्मुख बनाये । वहाँ पर अनौपम्य—परमानन्दमय अमृत, को प्राप्त कर बिन्दु अर्थात् महाप्रकाशरूप समनारूढ़ धाम को लीला अर्थात् स्वातन्त्र्यवश विक्षोभित कर अर्थात् सृष्टिप्रसर की ओर प्रवृत्त करे उसके बाद चन्द्र अर्थात् अपान का उल्लास होने पर उसी शाक्तधाम से उदित परम अमृत = उत्तम आनन्द रसप्रधान बहल अमृतलहरियों = सुसित सुधारसप्रसर वाले अनन्त अनवच्छिन्न का स्मरण

मनवच्छिन्नम्, तत्र स्मरेद् ध्यायेत् । तस्मात् चन्द्रोदयाच्छुद्धममृतं प्राप्यान्तर्मुखीभूतया स्वशक्त्या मध्यमार्गेण कर्षयेदधोऽधः प्रवर्तयेत् । तेन च कारणादीति कारणानि ब्रह्मादीनि, आदिशब्दात्, पूर्वोक्तं चक्राधारादि सर्वं प्रभेदयेद् निषिञ्चेत् । एतदेवाप्यायनमित्यादिनानेन स्फुटीकृतम् । ब्रह्मस्थानं हृद्धाम यावत्तदमृतं प्राप्तं भवति, ततोऽप्यधो नाभेरधःस्थाने निषिच्य कालाग्न्यन्तमापूर्य समन्तात् परिपूर्णं देहं स्मरेत् । ततः सर्वरोमकूपैः प्रसृत्यान्तर्बहिरासादितव्याप्ति सर्वदिक्कममृतार्णवप्लावनसमरसीभूतपरमामृतरूपम्, इच्छाज्ञानक्रियाशक्तिकचितं परमशिवरूपं निरामयमात्मानं चिन्तयेत् । एवं सूक्ष्मध्यानाद्विजितमृत्युरासादितपरमसौभाग्योऽमृतेशतुल्यो भवति ॥ ५१ ॥

उपसंहरति—

कालस्य वञ्चनं सूक्ष्मं मया ते प्रकटीकृतम् ॥ ५२ ॥
न कस्यचिन्मयाख्यातं त्वदृते भक्तवत्सले ॥ ५३ ॥

तवैव परानुग्रहैकव्रताया एवं प्रकटीकृतम् ॥ ५३ ॥

अर्थात् ध्यान करे । उस चन्द्रोदय से शुद्ध अमृत को प्राप्त कर अन्तर्मुखीभूत अपनी शक्ति से मध्यमार्ग से (उस अमृत को) नीचे-नीचे ले जाय । उसके द्वारा कारण आदि = ब्रह्मा आदि कारणों एवं चक्र आधार आदि सबका, प्रभेदन = सिञ्चन, करे । यही बात 'आप्यायन' इत्यादि के द्वारा ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है । जबतक वह अमृत ब्रह्मस्थान = हृदयधाम को प्राप्त होता है तबतक उसको और नीचे = नाभि के नीचे, स्थान से गिराकर कालाग्नि तक पूरित कर समस्त शरीर को उससे परिपूर्ण चिन्तन करे । इसके बाद उस अमृत को समस्त रोम कूपों के माध्यम से बाहर निकाल कर समस्त दिशाओं में व्याप्त होकर अमृत-समुद्र के प्लावन जैसा, इच्छा ज्ञान क्रिया शक्ति वाले परमशिव रूप अपने को निरामय सोचे। इस प्रकार सूक्ष्मध्यान से योगी मृत्यु को जीत कर परम सौभाग्य वाला एवं अमृतेश के समान हो जाता है ॥ ५१ ॥

(अधिकार का) उपसंहार करते हैं—

हे भक्तवत्सले ! मेरे द्वारा तुम्हें काल का सूक्ष्म वञ्चन (= परिचय) बतलाया गया। इसे तुम्हारे अतिरिक्त मैंने किस को नहीं कहा ॥५२-५३॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के सप्तम अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ७ ॥

परानुग्रह का नियम रखने वाली तुम्हीं को बतलाया ॥ ५३ ॥

सूक्ष्मध्यानसमुल्लासिसुधाकल्लोलकेलिभिः ।
प्लावयन्निखिलं नौमि नेत्रमुच्चैर्महेशितुः ॥

**॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचिते-
नेत्रोद्योते सूक्ष्मध्याननिरूपणं नाम सप्तमोऽधिकारः ॥ ७ ॥**

सूक्ष्मध्यान को समुल्लसित करने वाले, अमृत लहरियों की लीला के द्वारा समस्त विश्व को प्लावित करने वाले, परमेश्वर के उच्च नेत्र को मैं (उच्च रूप से) प्रणाम करता हूँ ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के सप्तम अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ७ ॥

अष्टमोऽधिकारः

*** नेत्रोद्योतः ***

अमन्दानन्दसन्दोहि स्पन्दान्दोलनसुन्दरम् ।
स्वज्योतिश्चिन्महाज्योतिर्नेत्रं जयति मृत्युजित् ॥

सूक्ष्मध्यानानन्तरं परध्याननिर्णयाय श्रीभगवानुवाच—

अथ मृत्युञ्जयं नित्यं परं चैवाधुनोच्यते।
यत्प्राप्य न प्रवर्तेत संसारे त्रिविधे प्रिये ॥ १ ॥

अथशब्दः सूक्ष्मध्यानानन्तर्यप्रथनाय, नित्यमेव च यन्मृत्युञ्जयं कालग्रासि, परमनुत्तरं परमेशस्वरूपम् । त्रिविध इति मायान्तसदाशिवान्तशिवान्तभवाभवातिभवरूपे ॥ १ ॥

*** ज्ञानवती ***

यमाद्यष्टाङ्गयोगेन साकमावेशलक्षणम् ।
वर्णयज्जयते नेत्रमुपायानां विवेचकम् ॥

अमन्द आनन्द की राशि वाला, स्पन्द के आन्दोलन से सुन्दर, स्वयं प्रकाश, चैतन्य की महाज्योतिरूप मृत्युजित्नेत्र सर्वोत्कृष्ट है ।

सूक्ष्म ध्यान के बाद पर ध्यान के निर्णय के लिये श्री भगवान् ने कहा—

हे प्रिये ! इसके बाद अब नित्य पर मृत्युञ्जय ध्यान को बतलाता हूँ जिसको प्राप्त कर (योगी) इस त्रिविध संसार में नहीं आता ॥ १ ॥

(श्लोकोक्त) 'अथ' शब्द सूक्ष्म ध्यान के आनन्तर्य को बतलाने के लिये है । नित्य जो मृत्युञ्जय = काल को निगलने वाला, पर = अनुत्तर परमेश्वररूप, त्रिविध = मायान्त, सदाशिवान्त तथा शिवान्त जो कि क्रमशः भव, अभव और अतिभव रूप है, (में योगी प्रवेश नहीं करता) ॥ १ ॥

किं च—

योगी सर्वगतो भाति सर्वदृक् सर्वकृच्छिवः ।
तदहं कथयिष्यामि यस्मादन्यन्न विद्यते ॥ २ ॥
यत्प्राप्य तन्मयत्वेन भवति ह्यजरामरः ।

परयोगिनोऽस्य देहादिप्रमातृताऽस्पर्शाद् जरामरणादिकथैव न काचिदस्तीत्यर्थः॥

तदेतद्वक्तुमुपक्रमते—

यन्न वाग्वदते नित्यं यन्न दृश्येत चक्षुषा ॥ ३ ॥
यच्च न श्रूयते कर्णैर्नासा यच्च न जिघ्रति ।
यन्नास्वादयते जिह्वा न स्पृशेद्यत् त्वगिन्द्रियम् ॥ ४ ॥
न चेतसा चिन्तनीयं सर्ववर्णरसोज्झितम् ।
सर्ववर्णरसैर्युक्तमप्रमेयमतीन्द्रियम् ॥ ५ ॥
यत्प्राप्य योगिनो देवि भवन्ति ह्यजरामराः ।
तदभ्यासेन महता वैराग्येण परेण च ॥ ६ ॥
रागद्वेषपरित्यागाल्लोभमोहक्षयात् प्रिये ।
मदमात्सर्यसंत्यागान्मानगर्वतमःक्षयात् ॥ ७ ॥
लभ्यते शाश्वतं नित्यं शिवमव्ययमुत्तमम् ।

साथ ही—

(उसको प्राप्त कर) योगी सर्वगामी, सर्वद्रष्टा और सर्वकर्त्ता रूप शिव हो जाता है । मैं उस (तत्त्व) को बतलाऊँगा जिससे भिन्न और कुछ नहीं है । जिसको प्राप्त कर तन्मय होने के कारण योगी अजर अमर हो जाता है ॥ २-३- ॥

देहादिप्रमातृता का स्पर्श न होने के कारण जरा मरण आदि की कोई बात ही नहीं है ॥

उसको कहने का उपक्रम करते हैं—

जिस नित्य को वाणी नहीं बताती; जो आँखों से देखा नहीं जाता, जिसको कानों से सुना नहीं जाता, नासिका जिसको सूँघ नहीं सकती; जिह्वा जिसका आस्वादन नहीं करती, त्वगिन्द्रिय जिसका स्पर्श नहीं करती, चित्त जिसका चिन्तन नहीं कर सकता, जो समस्त वर्ण रस (आदि) से रहित होकर भी समस्त वर्ण रसों से युक्त है; जिसको प्राप्त कर योगीजन अजर और अमर हो जाते हैं । हे प्रिये ! शाश्वत नित्य उत्तम अव्यय शिवस्वरूप वह (तत्त्व) अत्यन्त महान् अभ्यास, परवैराग्य, रागद्वेष के

पश्यन्त्यादित्रिरूपापि वाग् यन्न भाषते, यच्च बहिरन्तःकरणागोचरः, वर्णयन्तीति वर्णा वाचकाः, वर्ण्यन्त इति वर्णा वाच्याः, सर्वे च ते वर्णास्तेषां रसाः प्रसरास्तैरुज्झितमवाच्यवाचकात्मेत्यर्थः । अथ च तैः सर्वैर्युक्तं विश्वात्मकत्वात्, अतश्चातीन्द्रियत्वान्न प्रमेयमपि तु परप्रमात्रेकरूपमिति पर्यवसितम्, यदेवंभूतं तत्त्वं प्राप्य समाविश्य,

'योगमेकत्वमिच्छन्ति ।' मा० वि० (४।४)

इति स्थित्या योगिनः परतत्त्वैकशालिनस्तत्त्वतो जरामृत्युरहिता भवन्ति । तन्महताभ्यासेन—

'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।' (भ गी० १२।२)

इति सततसमावेशप्रयत्नेन परेण वैराग्येण दृष्टागमिकधराद्यनाश्रितान्तसमस्तभोगवैतृष्ण्येन, अत एव रागद्वेषादिसर्वदोषप्रशमाच्च लभ्यते, मानाच्छङ्करपूजातो तस्य क्षयात् शाश्वतमविवर्तात्मकम्, नित्यं लोकोत्तरं शिवं परश्रेयोरूपमव्ययमपरिणामि, अतश्चोत्तमं सर्वोत्कृष्टम् ॥

परित्याग, लोभ मोह के सम्यक् नाश, मदमात्सर्य के सन्त्याग, मान गर्व अज्ञान के क्षय से प्राप्त होता है ॥ ३-८- ॥

पश्यन्ती आदि तीनों प्रकार की वाणी जिसको नहीं बतलाती । जो बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों का विषय नहीं बनता । जो वर्णन करे वह वर्ण (कहलाता है) अर्थात् वाचक । जो वर्णित किया जाय वह भी वर्ण (कहलाता है) अर्थात् वाच्य । वे सभी (= वाचक वाच्य) वर्ण हैं । उनका रस = प्रसार, उनसे त्यक्त अर्थात् अवाच्य अवाचकरूप । वह उन सबसे युक्त है क्योंकि वह विश्वरूप है । इसलिये अतीन्द्रिय होने के कारण वह प्रमेय नहीं है वरन् परप्रमातामात्र है । इस प्रकार के तत्त्व को प्राप्त कर = उससे समविष्ट होकर,

'योग का अर्थ है—एकत्व—(ऐसा विद्वान्) मानते हैं ।' (मा०वि० ४.४)

उस स्थिति से परतत्त्व से ऐक्य को प्राप्त योगी जरामृत्यु से रहित हो जाते हैं । वह तत्त्व महा अभ्यास से—

'जो लोग मन को मुझ में आविष्ट कर नित्य योग में लगे हुये मेरी उपासना करते हैं' (भ०गी० १२।२)

इस प्रकार सतत समावेश रूपी प्रयत्न से तथा परवैराग्य = प्रत्यक्ष एवं आगमवर्णित पृथ्वी से अनाश्रित शिव पर्यन्त प्राप्य समस्त भोगों के प्रति अनिच्छा, के कारण, इसीलिये राग द्वेष आदि समस्त दोषों के प्रशमन के कारण प्राप्त होता है । मान = शङ्कर पूजा के कारण जो गर्व—मेरे जैसा कोई नहीं है इस प्रकार का—वही तम अर्थात् अनात्मा में आत्माभिमानरूप अज्ञान, उसके क्षय से, शाश्वत = विवर्त्तरहित, नित्य = लोकोत्तर, शिव = पर श्रेयोरूप, अव्यय = अपरिणामी,

इयांश्चास्य स्फारोऽयम्—

निमेषोन्मेषमात्रेण यदि चैवोपलभ्यते ॥ ८ ॥
ततः प्रभृति मुक्तोऽसौ न पुनर्जन्म चाप्नुयात् ।

केनचिदिति मध्येऽध्याहार्यम् । उपलभ्यते समाविश्यते । ततःप्रभृति न तु कालान्तरे । मुक्तः स्थितैरपि देहप्राणैरगुणीकृतः । न च तद्देहत्यागे पुनर्जन्म देहान्तरसंबन्धमाप्नोति, अपि तु परमशिव एव भवति ॥

ततश्च योगी—

अष्टाङ्गेन तु योगेन प्राप्नुयान्नान्यतः क्वचित् ॥ ९ ॥

तमष्टाङ्गयोगमन्यशास्त्रप्रतिपादितरूपवैलक्षण्येन क्रमेणादिशति देवः—

संसाराद्विरतिर्नित्यं यमः पर उदाहृतः ।
भावना तु परे तत्त्वे नित्यं नियम उच्यते ॥ १० ॥

स्पष्टम् ॥ १० ॥

मध्यमं प्राणमाश्रित्य प्राणापानपथान्तरम् ।

इस कारण उत्तम = सर्वोत्कृष्ट (शिव तत्त्व प्राप्त होता है) ॥

यदि कोई निमेष या उन्मेष मात्र से उसे प्राप्त कर ले तो उसके बाद वह मुक्त हो जाता है और पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता ॥ ८-९- ॥

बीच में, 'केनचित्' का अध्याहार कर लेना चाहिये । (तब अन्वय होगा— 'किसी के द्वारा') उपलब्ध किया जाता है = समाविष्ट किया जाता है । तब से— न कि कालान्तर में, मुक्त = देह प्राण के रहते हुए भी उनसे असम्बद्ध । उस शरीर का त्याग होने पर पुनर्जन्म = दूसरे देह से सम्बन्ध, नहीं होता वरन् वह परम शिव ही हो जाता है ॥ -८-९- ॥

इसके बाद योगी—

अष्टाङ्ग योग से ही उसे प्राप्त करता है अन्य किसी साधक से नहीं ॥ -९ ॥

देव (= परमेश्वर) प्रकृत अष्टाङ्ग योग को अन्य शास्त्रों में प्रतिपादित अष्टाङ्ग योग से भिन्न रूप में बतलाते हैं—

संसार से शाश्वत विरति को पर (= उत्कृष्ट) यम कहा गया है । पर तत्त्व में नित्य भावना नियम कहा जाता है ॥ १० ॥

कारिकार्थ स्पष्ट है ॥ १० ॥

प्राण और अपान मार्गों के बीच में उपस्थित मध्य प्राण को आधार

आलम्ब्य ज्ञानशक्तिं च तत्स्थं चैवासनं लभेत ॥ ११ ॥

प्राणापानमार्गयोः सव्यापसव्ययोरान्तरं मध्यनाड्यां भवं प्राणमित्यूर्ध्वगामिनमुदानमाश्रित्य, ततश्च प्राणीयव्याप्तिनिमज्जनेन चिद्व्याप्त्युन्मज्जनाद् ज्ञानशक्तिमुन्मिषत्स्फुरत्तारूपां संविदमालम्ब्यावष्टभ्य, तत्स्थमेवासनं योगी लभते निजज्ञानशक्त्यासनासीनश्चिन्महेशरूपो भवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

प्राणादिस्थूलभावं तु त्यक्त्वा सूक्ष्ममथान्तरम् ।
सूक्ष्मातीतं तु परमं स्पन्दनं लभ्यते यतः ॥ १२ ॥
प्राणायामः स उद्दिष्टो यस्मान्न च्यवते पुनः ।

प्राणादौ प्राणापानसमानेषु यः स्थूलो रेचकपूरकादिर्भावः स्वभावस्तं त्यक्त्वा उज्झित्वा, अथेत्येतत्स्थूलप्राणायामानन्तरभावि, सूक्ष्ममान्तरमिति मध्यपथेन रेचनाचमनादिरूपं च तं त्यक्त्वा, यतो यस्मात् सूक्ष्ममप्यतीतं परममिति प्राणाद्यचित्स्फुरत्तात्म स्पन्दनं लभ्यते, तस्मात्तदेव परं स्पन्दनं यत् स एव स्थूलसूक्ष्मभेदभाजां प्राणानामायामः प्रशमितप्राधान्यावभासात्मा नियम उत्कृष्टतयादिष्टो निरूपितः । यस्मादिति यं प्राणायाममासाद्य न पुनश्च्यवते चित्प्रमातृमयतां न कदाचिज्जहाति ॥

बनाकर ज्ञानशक्ति के आलम्बन के द्वारा उसी में स्थित होना आसन है ॥ ११ ॥

प्राण अपान (= इड़ा पिङ्गला) ये ही सव्यापसव्य (= बाँयाँ-दाँयाँ) मार्ग हैं, इन दोनों के बीच मध्यनाड़ी (= सुषुम्ना) है । उसमें उत्पन्न होने वाले प्राण = ऊर्ध्वगामी उदान का आश्रयण कर, उसके बाद प्राणीय व्याप्ति के निमज्जन से चिद्व्याप्ति का उन्मज्जन होने के कारण उन्मिषित स्फुरत्तारूपा ज्ञानशक्ति = संविद्, का आलम्बन कर उस पर स्थित हुआ योगी आसन प्राप्त करता है अर्थात् अपनी ज्ञानशक्तिरूपी आसन पर आसीन हुआ वह चिन्महेश्वर रूप हो जाता है ॥ ११ ॥

प्राण आदि स्थूल भाव का तत्पश्चात् सूक्ष्मभाव का त्याग कर जिसके द्वारा सूक्ष्मातीत पर स्पन्दन प्राप्त किया जाता है वह प्राणायाम कहा गया है जिसको प्राप्त कर योगी च्युत नहीं होता ॥ १२-१३- ॥

प्राण आदि = प्राण अपान और समान में जो स्थूल रेचक पूरक आदि भाव = स्वभाव, उसको छोड़कर, इसके बाद = इस स्थूल प्राणायाम के बाद होने वाले भीतरी सूक्ष्म = मध्यमार्ग से रेचन आचमन (= ग्रहण) आदि रूप उसका त्याग कर, जिस कारण सूक्ष्म से भी परे पर अर्थात् प्राण आदि अचित्स्फुरत्ता वाला स्पन्दन उपलब्ध होता है, वही पर स्पन्दन स्थूल सूक्ष्म भेदवाले प्राणों का आयाम = प्रशमित प्राधान्यावभासरूप नियम उत्कृष्ट रूप से कहा गया है । जिसकारण = जिस प्राणायाम को प्राप्त कर, (साधक) पुनः च्युत नहीं होता = चित्प्रमातृमयता को कभी भी नहीं छोड़ता ॥

शब्दादिगुणवृत्तिर्या चेतसा ह्यनुभूयते ॥ १३ ॥
त्यक्त्वा तां प्रविशेद्धाम परमं तत्स्वचेतसा।
प्रत्याहार इति प्रोक्तो भवपाशनिकृन्तकः ॥ १४ ॥

शब्दस्पर्शादीनां गुणानां सत्त्वादिरूपाणां या काचिद्वृत्तिर्दशा चेतसा संविदाऽनुभूयते, तां त्यक्त्वानादरेणापहस्त्य, स्वचेतसा विकल्पसंवित्परामर्शेनैव परचिद्धामप्रवेशो हीति यस्माच्चितिभूमेः प्रसृतस्य चित्तस्य तत्प्रतीपप्रापणात्मा प्रत्याहारोऽतश्च भवपाशानां निकृन्तकः ॥ १४ ॥

धीगुणान् समतिक्रम्य निर्ध्येयं चाव्ययं विभुम् ।
ध्यात्वा ध्येयं स्वसंवेद्यं ध्यानं तच्च विदुर्बुधाः ॥ १५ ॥

धियो बुद्धेः सत्त्वादिगुणान् समतिक्रम्य समावेशेन प्रशमय्य, निर्ध्येयमिति ध्येयेभ्यो नियत्याकृत्यादिरूपेभ्यो निष्क्रान्तं, निष्क्रान्तानि च तानि यस्मात् तम्, विभुं व्यापकमव्ययं नित्यम्, स्वसंवेद्यं स्वप्रकाशम्; ध्येयं ध्यानार्हमथ चाध्येयमध्येतव्यम् विम्रष्टव्यं स्मर्तव्यं च, अर्थाच्चिदानन्दघनं परमेश्वरं ध्यात्वा विमृश्य ये बुधास्तत्त्वज्ञास्ते, तच्चेति तद्विमर्शात्मैव, ध्यानं विदुरविच्छिन्नेन पारम्पर्येण जानन्ति। च एवार्थे ॥ १५ ॥

चित्त के द्वारा शब्द आदि गुणों की जिस वृत्ति का अनुभव किया जाता है (योगी) उस (वृत्ति) को छोड़कर अपने चित्त से उस परम धाम में प्रवेश करे । संसारबन्धन का नाशक यही प्रत्याहार कहा गया है ॥ -१३-१४ ॥

सत्त्व आदि रूप वाले शब्द स्पर्श आदि गुणों की जो कोई वृत्ति = दशा, चित्त के द्वारा = संविद् के द्वारा अनुभूत होती है, उसका त्यागकर = अनादर के साथ अपसारण कर, अपने चित्त से = विकल्प संवित् परामर्श के द्वारा, परचित् धाम में प्रवेश ही प्रत्याहार है । प्रत्याहार शब्द को स्पष्ट करते हैं—क्योंकि चिति भूमि से (बाहर) फैले हुए चित्त का पुनः उल्टी दिशा में (चिति की ओर) आहरण प्रत्याहार होता है इसलिये वह संसार के पाशों का छेदक होता है ॥ १४ ॥

बुद्धि के गुणों का अतिक्रमण कर निर्ध्येय अव्यय व्यापक स्वसंवेद्य ध्येय के ध्यान को विद्वानों ने ध्यान माना है ॥ १५ ॥

धी के = बुद्धि के, सत्त्व आदि गुणों को अतिक्रान्त कर = समावेश के द्वारा शान्त कर, निर्ध्येय = नियति आकृति आदि रूप ध्येयों से निष्क्रान्त अथवा वे ध्येय निष्क्रान्त हैं जिससे, उसको; विभु = व्यापक, अव्यय = नित्य, स्वसंवेद्य = स्वप्रकाश, ध्येय = ध्यान के योग्य, (ध्यात्वा ध्येयं में ध्यात्वाऽध्येयं ऐसी पूर्वरूप सन्धि मान कर व्याख्या करते हैं—) अध्येय = अध्ययन विमर्श स्मरण के योग्य, अर्थात् चित् आनन्दघन परमेश्वर का ध्यान = विमर्श, कर जो बुध = तत्त्वज्ञ हैं, वे

धारणा परमात्मत्वं धार्यते येन सर्वदा ।
धारणा सा विनिर्दिष्टा भवबन्धविनाशिनी ॥ १६ ॥

येन योगिना सर्वदा परमात्मत्वं चैतन्यं धार्यते समावेशेनावलम्ब्यते, तस्य या धारणा चैतन्यविमर्शनात्मा वृत्तिः, सा भवबन्धविनाशहेतुर्धारणान्यधारणा-वैलक्षण्येन विनिर्दिष्टा ॥ १६ ॥

एवं यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणा लोकोत्तरदृष्ट्या प्रतिपाद्य, समाधिमपि परस्वरूपविषयमाणवशाक्तशाम्भवोपायप्राप्यमनुपायं चादिशति श्लोक-चतुष्केण—

समं सर्वेषु भूतेषु आधानं चित्तनिग्रहः ।
समाधानमिति प्रोक्तमन्यथा लोकदाम्भिकम् ॥ १७ ॥

सर्वप्राणिषु चित्तस्य समं वैषम्यप्रतिपत्तिनिग्रहात्म आधानं चित्तनिग्रहः समाधानमिति चोक्तम् । स्वात्मतुल्यताचिन्तनं यत्तत्समाधानं प्रोक्तम् । अन्यथा लोचननिमीलनादिप्रकारेणैतद्विपरीतं यत् समाधानं तत् लोकदम्भैक-प्रयोजनम् ॥ १७ ॥

उस = विमर्शस्वरूप को ध्यान मानते हैं अर्थात् अविच्छिन्न परम्परा से जानते हैं । 'च' का प्रयोग 'एव' अर्थ में है ॥ १५ ॥

धारणा का अर्थ है—जिसके द्वारा सर्वदा परमात्मता का धारण किया जाय वह धारणा कही गयी है । यह भी संसाररूपी बन्धन की विनाशिनी है ॥ १६ ॥

जिस = योगी, के द्वारा सर्वदा परमात्मत्व = चैतन्य, धारण किया जाता है = समावेश के द्वारा जिसका अवलम्बन किया जाता है उस (= योगी) की जो धारणा = चैतन्य का विमर्शन रूप वृत्ति, वह भवरूपीबन्ध के विनाश का कारण होने से धारणा कही गयी है । यह अन्य धारणाओं से विलक्षण है ॥ १६ ॥

इस प्रकार यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार ध्यान धारणा का लोकोत्तर दृष्टि से प्रतिपादन कर, आणव शाक्त और शाम्भव उपायों से प्राप्य परस्वरूपविषयक अनुपाय रूप समाधि को चार श्लोकों के द्वारा बतलाते हैं—

(समाधि शब्द का विग्रहार्थ—सम + आधि =) समस्त प्राणियों में चित्त का आधान = निग्रह ही समाधान (= समाधि) कहा गया है । इसके विपरीत (लोक प्रचलित समाधि) लोकदम्भ है ॥ १७ ॥

सब प्राणियों के विषय में चित्त का सम = वैषम्यज्ञान का निग्रहरूप जो आधान = चित्त का निग्रह, वह समाधान कहा गया है । जो स्वात्मतुल्यता का चिन्तन है वह समाधान कहा गया है । अन्यथा अर्थात् आँख बन्द करना आदि

एतद्ध्यानोपायकमाणवं समाधानम्, शुद्धविकल्पोपायं शाक्तम् । तदाह—

स्वपरस्थेषु भूतेषु जगत्यस्मिन् समानधीः ।
शिवोऽहमद्वितीयोऽहं समाधिः स परः स्मृतः ॥ १८ ॥

सर्वमिदमहमेव, इत्यहन्तेदन्तासामानाधिकरण्यात्मशुद्धविद्योत्थाध्यवसायरूपः परः समाधिः स्मृतः पारम्पर्यतः प्रसिद्धः ॥ १८ ॥

अथैकवारोपायप्राप्यमपि पुनरुपायानपेक्षतयानुपायं सततोदितं समाधिमादिशति—

सम्यक्स्वरूपसंवेद्यं संविद्रूपं स्वभावजम् ।
स्वसंवेद्यस्वरूपं च समाधानं परं विदुः ॥ १९ ॥

सम्यगेकवारोपायतः संवेद्यं स्फुरितं यत्स्वाभाविकं संविद्रूपं चकासच्चिद्धाम, तत् स्वसंवेद्यस्वरूपमिति स्वप्रकाशं नित्योदितत्वेनाव्युत्थानं समाधानम् ॥ १९ ॥

अविकल्पोपायं शाम्भवं समाधिमाह—

जो कि पूर्वोक्त के विपरीत समाधान है वह लोक में प्रदर्शन के लिये पाखण्ड करना है ॥ १७ ॥

इस प्रकार के ध्यान से आणवोपाय समाधि होती है । शुद्ध विकल्प के द्वारा शाक्त (समाधि होती है) । वह कहते हैं—

अपने या दूसरे प्राणियों में यहाँ तक कि इस संसार के विषय में भी समान बुद्धि रखना, जिसका स्वरूप है—'मैं शिव हूँ' 'मैं ही एकमात्र हूँ', (इत्यादि), पर समाधि मानी गयी है ॥ १८ ॥

'यह सब मैं ही हूँ' इस प्रकार अहन्ता इदन्ता के समानाधिकरण्यरूप शुद्धविद्या से उत्पन्न निश्चय ही परसमाधि स्मृत है = परम्परया प्रसिद्ध है ॥ १८ ॥

अब सतत् उदित उस समाधि का वर्णन करते हैं जो एक बार उपाय के द्वारा प्राप्त हो जाने पर फिर उपाय की अपेक्षा नहीं रखती अत एव अनुपाय कही जाती है—

जो सम्यक्स्वरूपसंवेद्य, स्वभाव से उत्पन्न संविद्रूप तथा स्वसंवेद्य रूप है, उसे (विद्वान् लोग) पर समाधि मानते हैं ॥ १९ ॥

सम्यक् = एक बार उपाय के द्वारा, संवेद्य = स्फुरित, जो स्वाभाविक संविद्रूप = प्रकाशमान चित् धाम, वह स्वसंवेद्यस्वरूप = स्वप्रकाश = नित्योदित होने के कारण व्युत्थानरहित होता है, समाधान है ॥ १९ ॥

विकल्पोपाय से रहित शाम्भव समाधि को बतलाते हैं—

राशिभ्यां चिज्जडाभ्यां च विचार्य निपुणं पदम्।
यन्नित्यं शाश्वतं रूपं समाधानं तु तद्विदुः ॥ २० ॥

जडराशिर्भुवनभावदेहादिः । चिद्राशिः सकलप्रलयाकलविज्ञानाकलमन्त्रमन्त्रेशमन्त्रमहेशशिवाख्यः प्रमातृवर्गः । ततो मध्यात् पदं विश्वप्रतिष्ठास्थानं निपुणं विचार्य बाढं विमृश्य यन्नित्यमविनाशि शाश्वतं विवर्तपरिणामशून्यं सदा स्वप्रकाशं च रूपमर्थात् स्फुरति, तत्समाधानं विदुस्तत्त्वज्ञाः ॥ २० ॥

'अष्टाङ्गेन तु योगेन' इत्युपक्रान्तमुपसंहरन् प्रकृते योजयति—

एवमष्टाङ्गयोगेन स्वभावस्थं परं ध्रुवम् ।
दृष्ट्वा वञ्चयते कालममृतेशं परं विभुम् ॥ २१ ॥
मृत्युजित् स भवेद्देवि न कालः कलयेच्च तम् ।

एवमित्युक्तरूपेण न त्वन्यशास्त्रोक्ताहिंसासत्याद्यात्मना, परममृतेशं चिन्नाथं परं विभुमनाश्रितान्ताशेषकारणस्वामिनम्, दृष्ट्वा कालं वञ्चयति, अकालकलितचिदानन्दैकघन एव जायते । अत एव तत्त्वतोऽयमेव सङ्कोचात्मकमृत्युविदलनाद् मृत्युजित् । सुचिरमपि स्थिरीकृतदेहस्तु न वस्तुतो मृत्युजिदित्याशयशेषः ॥

चित्राशि एवं जडराशि के बीच से पद का भली भाँति विचार कर जो नित्यशाश्वत रूप है वह समाधि है ॥ २० ॥

जड राशि = भुवन, पदार्थ, शरीर आदि । चिद्राशि = सकल, प्रलयाकल, विज्ञानाकल, मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर, शिव नामक प्रमातृवर्ग । इनके मध्य से पद = विश्वप्रतिष्ठा का स्थान, का निपुण = भली-भाँति, विचार कर जो नित्य = अविनाशी, शाश्वत = विवर्त्त अथवा परिणाम से शून्य, सदा स्वप्रकाशरूप है अर्थात् स्फुरण करता है उसे तत्त्वज्ञ लोग समाधि कहते हैं ॥ २० ॥

श्लोक सं० ९ में 'अष्टाङ्गेन तु योगेन' कथन के द्वारा प्रारम्भ किये गये का उपसंहार करते हुए प्रस्तुत से उसको जोड़ते हैं—

हे देवि ! इस प्रकार अष्टाङ्गयोग के द्वारा स्वभावस्थ, पर, ध्रुव, व्यापक परम अमृतेश का साक्षात्कार कर योगी काल को दूर हटा देता है और मृत्युजित् हो जाता है । काल उसको प्रभावित नहीं करता ॥ २१-२२- ॥

इस प्रकार = उक्तरूप से, न कि अन्य शास्त्रों में उक्त अहिंसा सत्य आदि से, पर अमृतेश = चित् के स्वामी, पर विभु = (ब्रह्मा से लेकर) अनाश्रित शिवपर्यन्त अशेष कारणों के स्वामी को देखकर (योगी) काल का वञ्चन करते हैं = अकालकलित चिदानन्दैकघन हो जाते हैं । इसलिये वस्तुतः यही संकोचरूपी मृत्यु का विदलन करने से मृत्युजित् है । बहुत काल तक देह को स्थिर रखने वाला वस्तुतः मृत्युजित् नहीं है ॥

किं च—

तत्त्वषट्त्रिंशतस्त्यागाद् भुवनानन्त्यवर्जनात् ॥ २२ ॥
एकाशीतिपदोर्ध्वं वै वर्णपञ्चाशतः परम् ।
व्यापकं सर्वमन्त्रेषु सर्वेष्वेव हि जीवनम् ॥ २३ ॥
अष्टात्रिंशत्कलोर्ध्वं तु सर्वान्तः सर्वमध्यगम् ।
आदिर्मध्यं न चैवान्तो लभ्यते यस्य केनचित्॥ २४ ॥
तदप्रमेयमतुलं प्राप्य सर्वं न लभ्यते ।

पृथ्व्यादिशिवान्तानि तत्त्वानि, कालाग्न्याद्यनाश्रितान्तानि भुवनानि च त्यक्त्वा नवात्मादिप्रक्रियया प्रणवादिपदानामकारादिवर्णपञ्चाशत ईशानपुरुषाघोरादिकलाष्टात्रिंशतश्चोर्ध्वं सर्वमन्त्रव्यापकम्, एवं च षड्विधाध्वोत्तीर्णम्, अतश्च सर्वजीवितभूतं सर्वेषामन्तः पूर्वापरकोट्यात्म, तन्मयत्वादेव च विश्वस्य सर्वमध्यगतम्, न चास्य केनाप्यादिमध्यान्ता लभ्यन्ते दिक्कालादिकथोत्तीर्णत्वात्, अतश्चाप्रमेयम्, अद्वितीयत्वादतुलम्, प्राप्य षड्विधाध्वमयदेहप्राणाद्युल्लङ्घनेन योगिभिरासाद्य, सर्वमित्यध्वप्रपञ्चात्म निखिलं न लभ्यते न प्राप्यते तेन प्राग्वत् नाव्रियते, अथ च काक्वा

और भी—

छत्तीस तत्त्वों के त्याग से, अनन्त भुवनों का निषेध करने से, इक्यासी पदों एवं पचास वर्णों के परे जो सब मन्त्रों में व्यापक और सबका जीवन है, जो अँड़तीस कलाओं से ऊपर, सबके भीतर और सबके मध्य में है और जिसका आदि मध्य और अन्त किसी के द्वारा प्राप्त नहीं होता उस अतुल अप्रमेय को प्राप्त कर क्या सब कुछ प्राप्त नहीं हो जाता? ॥ २२-२५- ॥

(छत्तीस) तत्त्व = पृथिवी से लेकर शिवपर्यन्त, भुवन = कालाग्नि से लेकर अनाश्रित शिव पर्यन्त, इनको छोड़ कर नव आत्मा आदि की प्रक्रिया से प्रणव आदि (९ × ९ = ८१) पदों तथा 'अ' से लेकर 'क्ष' तक पचास वर्ण, उसी प्रकार ईशान तत्पुरुष अघोर आदि अँड़तीस कलाओं से ऊपर सब मन्त्रों में व्यापक रूप से रहने वाले, षट्प्रकार के अध्वाओं से उत्तीर्ण इसलिये सबका जीवनभूत, सबके अन्तः = पूर्वापर कोटिरूप, और तन्मय होने के कारण विश्व = सबके मध्य में वर्त्तमान तत्त्व, जिसका कि आदि मध्य और अन्त किसी के द्वारा प्राप्त नहीं होता क्योंकि वह दिक् काल आदि से परे हैं, इसलिये अप्रमेय है । तथा अद्वितीय होने से अतुल है, उसको प्राप्त कर अर्थात् छह प्रकार के अध्वा वाले देहप्राण आदि का उल्लङ्घन के द्वारा योगियों के द्वारा प्राप्य होकर, सब = अध्वप्रपञ्चरूप समस्त विश्व, प्राप्त नहीं किया जाता = उस (योगी) के द्वारा पूर्व की भाँति आवृत नहीं होता । अथवा काकुध्वनि के द्वारा-क्या सब कुछ नहीं प्राप्त

सर्वं न लभ्यते, अपितु लभ्यते (एव), सर्वसर्वात्मामृतेशभैरवता विद्यत इत्यर्थः ॥

तथा—

येनैकेन जगत् सर्वमप्रमेयेन पूरितम् ॥ २५ ॥
तज्ज्ञात्वा मुच्यते क्षिप्रं घोरात् संसारबन्धनात् ।

ज्ञात्वा दाढ्र्येन निश्चित्य ॥

अपि च—

तत्त्वत्रयविनिर्मुक्तं शाश्वतं चाचलं ध्रुवम् ॥ २६ ॥
दिव्येन योगमार्गेण दृष्ट्वा भूयो न जायते ।
सर्वेन्द्रियविनिर्मुक्तमवेद्यं चाप्यनामयम् ॥ २७ ॥

तत्त्वत्रयं नरशक्तिशिवाख्यम् । शाश्वतं विवर्तवाद इव नासत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहि, अचलमपरिणामि, ध्रुवं नित्यम्, इन्द्रियविनिर्मुक्तमनामयमिति मायेन्द्रियानावृतम्, अवेद्यं च, दिव्येन योगमार्गेण विकल्पहानोन्मिषदविकल्पविमर्शावष्टम्भोपायेन, दृष्ट्वा साक्षात्कृत्य, न पुर्जन्मैति ॥ २७ ॥

एवमाणवेन शाक्तेन शाम्भवेन चोपायेनासादितं परं तत्त्वं मुक्तिदं न

किया जाता ? अर्थात् प्राप्त किया ही जाता है अर्थात् वह सर्वसर्वात्मा अमृतेश भैरव हो जाता है ॥

तथा—

जिस एक अप्रमेय तत्त्व के द्वारा समस्त जगत् व्याप्त है उसको जानकर (योगी) शीघ्र ही संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है ॥ २५-२६- ॥

जानकर = दृढ़तापूर्वक निश्चय कर ॥

और भी—

तीन तत्त्वों से रहित, शाश्वत, अचल, ध्रुव, समस्त इन्द्रियों से विनिर्मुक्त अवेद्य और अनामय (पर तत्त्व) को दिव्य योगमार्ग से देखकर योगी पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता ॥ -२६-२७ ॥

तीन तत्त्व = नर शक्ति और शिव । शाश्वत = न कि विवर्त्तवाद के समान असत्य पृथक् रूप का ग्रहण करने वाला । अचल = अपरिणामी । ध्रुव = नित्य । इन्द्रिय विनिर्मुक्त अनामय = माया और इन्द्रियु से अनावृत एवं अवेद्य तत्त्व को, योगमार्ग से = विकल्पों का त्याग कर उन्मिषित होते हुए निर्विकल्प विमर्श के उपाय से, देखकर = साक्षात् कर, पुनर्जन्म नहीं होता ॥ २७ ॥

इस प्रकार आणव शाक्त और शाम्भव उपायों से प्राप्त हुआ पर तत्त्व मोक्ष

केवलमिहैवोपादेयमुक्तम्, यावत् सर्वशास्त्रेषु इत्याह—

परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
चैतन्यमात्मनो रूपं सर्वशास्त्रेषु कथ्यते ॥ २८ ॥

यत् सर्वैः समनान्तैरुपाधिभिरवच्छेदकैर्विशेषेण वर्जितं तत्सङ्कोचासंकुचितं चैतन्यमात्मनो ग्राहकस्य रूपम्, तदेव परमात्मनः परमशिवस्य स्वरूपम्, न तु व्यतिरिक्तं यथा भेदवादिनो मन्यन्ते । अत एव शिवोऽहमद्वितीयोऽहमिति तात्त्विकसमाधिनिर्णयावसरे उक्तम् । सर्वशास्त्रेषु चैतत्कथ्यते, न तु क्वचि-देवेत्यनेन सिद्धान्तानामपि रहस्याद्वयसारता अन्तःसंभवन्त्यपि गाढप्ररूढसांसारिक-द्वैतवासनानां न स्फुटीकृता । यथोक्तं श्रीकुलपञ्चाशिकायाम्—

'यत्रास्ति सर्वलोकस्य तदस्तीति विरुध्यते ।
निगद्यते यदा देवि हृदये न प्ररोहति ॥
एतस्मात् कारणाद्देवि देवताभिः प्रगोपितम् ।
तेन सिद्धेन देवेशि किं न सिद्ध्यति भूतले ॥' इति ।

तत एव समस्तशैवशास्त्रसारसंग्रहरूपेषु शिवसूत्रेषु 'चैतन्यमात्मा' इति प्रारम्भ एवोक्तम् ॥ २८ ॥

प्रदान करता है इसलिये केवल इसी शास्त्र में नहीं बल्कि सब शास्त्रों में उसे उपादेय कहा गया—यह कहते हैं—

समस्त उपाधियों से रहित जो आत्मा का चैतन्य रूप है वही समस्त शास्त्रों में परमात्मा का रूप कहा जाता है ॥ २८ ॥

जो सभी = समनापर्यन्त उपाधियों अर्थात् अवच्छेदकों से विशेष रूप से रहित है = उनके संकोच से असंकुचित चैतन्य, आत्मा का = ग्राहक (प्रमाता) का रूप है वही परमात्मा = परमशिव, का स्वरूप है । न कि भिन्न, जैसा कि भेदवादी लोग मानते हैं । इसीलिये तात्त्विक समाधि के निर्णय के अवसर पर 'मै शिव हूँ', 'मै अद्वितीय हूँ',—ऐसा कहा गया । यह सब शास्त्रों में कहा जाता है न कि किसी-किसी शास्त्र में । इसलिये सिद्धान्तों का रहस्य अथवा सार अद्वयतत्त्व ही है—यह धारणा हृदय में उत्पन्न हो सकती है किन्तु गाढ़ एवं दृढ सांसारिक द्वैतवासना वालों के लिये यह स्पष्ट नहीं होती । जैसा कि कुलपञ्चाशिका में कहा गया है—

'हे देवि ! जब सब लोगों के बीच 'वह नहीं है', 'वह है'—इस प्रकार का विरोधी वर्णन होने लगता है (तब वह तत्त्व हृदय में परिलक्षित नहीं होता) इसलिये देवताओं ने (संशयात्मा लोगों से) उसे छिपाये रखा । हे देवेशि ! उसके सिद्ध होने पर भूतल पर क्या सिद्ध नहीं होता अर्थात् सब कुछ मिल जाता है ।'

इसीलिये समस्त शैवशास्त्र के सार के संग्रहरूप शिवसूत्रों में पहले ही

एवंभूतमपि चैतदात्मनो रूपम्—

निर्मलं न भवेद्देवी यावच्छक्त्या न बोधितम् ।

'शैवी मुखमिहोच्यते ।' (२०)

इति श्रीविज्ञानभट्टारकादिष्टनीत्या परमेश्वरस्यैव शक्त्यां शक्त्याभासात्मनोऽणोः स्वस्फुरत्ताप्रवेशनयाऽणुत्वं निमज्ज्य, परमशिवत्वमुन्मील्यते ॥

ननु दीक्षयाभिव्यक्तशिवत्वा अपि मुक्तशिवा भिन्ना एव परमशिवात्, तत्कथं परमात्मस्वरूपैक्यमात्मचैतन्यस्योक्तम् ?—इत्याशङ्कां शमयति—

दीक्षाज्ञानादिना शोध्यमात्मानं चैव निर्मलम् ॥ २९ ॥
ये वदन्ति न चैवान्यं विन्दन्ति परमं शिवम् ।
त आत्मोपासकाः शैवे न गच्छन्ति परं पदम्॥ ३० ॥

दीक्षाज्ञानयोगचर्याभिः शोध्यमात्मानं निर्मलमन्यमेव परमशिवाद् व्यक्तिरिक्तमेव वदन्ति, न तु परमशिवं विन्दन्ति परमशिवरूपं नासादयन्ति, ते आत्मोपासकाः शुद्धात्मतत्त्वाराधकाः शैवे यत् परं पदं परमशिवत्वम्, तन्न गच्छन्ति नाप्नुवन्ति ।

'चैतन्यमात्मा' कहा गया ॥ २८ ॥

आत्मा का इस प्रकार का भी रूप—

हे देवि ! जब तक शक्ति के द्वारा बोधित नहीं होता तब तक निर्मल नहीं होता ॥ २९- ॥

'(यह शक्ति) इस शास्त्र में शिव का मुख कही जाती है ।' (२०)

इस विज्ञानभट्टारक (= विज्ञानभैरव) की नीति के अनुसार परमेश्वर की ही शक्ति में शक्त्याभास रूप अणु का अणुत्व जब स्वस्फुरताप्रवेश के कारण तिरोहित हो जाता है तब परम शिवत्व का उन्मीलन होता है ॥

प्रश्न है कि दीक्षा के द्वारा जिनका शिवत्व अभिव्यक्त हो गया है ऐसे मुक्त शिव परमशिव से भिन्न ही होते हैं तो फिर आत्म चैतन्य को परमात्मस्वरूप से अभिन्न कैसे कहा गया?—इस शङ्का को दूर करते हैं—

जो लोग आत्मा को दीक्षा ज्ञान आदि के द्वारा शोध्य अत एव निर्मल एवं भिन्न कहते हैं, वे परमशिव को प्राप्त नहीं करते । वे आत्मोपासक शिव स्थानीय पर पद को नहीं प्राप्त करते (अथवा शैवविधि के द्वारा ही पर पद को प्राप्त करते हैं)॥ -२९-३० ॥

जो लोग दीक्षा ज्ञान योग चर्या के द्वारा शोध्य आत्मा को निर्मल अत एव परमशिव से भिन्न कहते हैं, वे परमशिव का लाभ नहीं प्राप्त करते = परमशिवरूप को नहीं प्राप्त करते । आत्मोपासक = शुद्ध आत्म तत्त्व की आराधना करनेवाले वे

यदि तु कदाचित् तीव्रशक्तिपाताद् गच्छन्ति, तच्छैवेन शिवादिष्टाद्वयज्ञानेनैव न त्वन्येन ज्ञानेनेति सप्तमीतृतीये तन्त्रेण योज्ये । तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे समनान्तस्थशुद्धात्मनिर्णयावसरे—

अविदित्वा परं तत्त्वं शिवत्वं कल्पितं तु यैः ।
त आत्मोपासका शैवे न गच्छन्ति परं शिवम् ॥' (४।३९२)

इति ॥ ३० ॥

एतदेव भङ्ग्यन्तरेण स्फुटयति—

यद्वा तु परमाशक्तिः सर्वज्ञादिगुणान्विता ।
आपादादिविकासिन्या न विकास्येत निर्मला ॥ ३१ ॥
तावन्न निर्मलो ह्यात्मा बद्धः शैवे तदोच्यते ।

तावच्छब्दापेक्षया यावच्छब्दोऽध्याहार्यः । तेनापादादि पाङ्गुष्ठात्प्रभृति विकासिन्या प्राणप्राधान्यनिमज्जनेन चित्प्राधान्यमुन्मज्जयन्त्या दीक्षाज्ञानादिरूपया अनुग्रहिकया शक्त्या यावत् सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वस्वतन्त्रताद्यात्मा परमा शक्तिर्न विकास्येत नोन्मिष्येत, न तावदात्मा जीवो निर्मलः । यदा चैवं तदा

लोग शैव में जो परमपद = परमशिवत्व उसको नहीं प्राप्त होते और यदि कदाचित् तीव्र शक्तिपात से (परम शिव के पास) जाते भी हैं तो वह भी शैवेन = शिवादिष्ट अद्वय ज्ञान के द्वारा । (इस प्रकार 'शिव' शिव पद में सप्तमी विभक्ति लगाकर 'न' को अलग कर 'शैवे न' गच्छन्ति ऐसा अन्वय करना चाहिये अथवा 'शैवेन' इस प्रकार शैव शब्द से तृतीया विभक्ति जोड़कर 'शैवेन गच्छन्ति' ऐसा अन्वय करना चाहिये) । वही स्वच्छन्द तन्त्र में समनान्तस्थशुद्धात्मनिर्णय के अवसर पर कहा गया—

'जिन लोगों ने शिवतत्त्व को जाने बिना शिवत्व की कल्पना की है वे शुद्ध आत्मोपासक हैं तथा शिवतत्त्ववर्त्ती परशिवरूपता को नहीं प्राप्त करते' ॥ ३० ॥

इसी को दूसरे ढंग से स्पष्ट करते हैं—

जब तक पैर से लेकर (शिरपर्यन्त) विकासवाली शक्ति के द्वारा सर्वज्ञत्व आदि गुणों वाली निर्मल परमाशक्ति विकसित नहीं होती यह निर्मल आत्मा शैवशास्त्र के अनुसार बद्ध कहा जाता है ॥ ३१-३२- ॥

'तावत्' शब्द को दृष्टि में रखकर 'यावत्' शब्द को अपनी ओर से जोड़ना चाहिये । पैर से लेकर = पैर के अंगूठे से लेकर, विकास करने वाली = प्राण की प्रधानता को दूर कर चित् के प्राधान्य का आहरण करने वाली, दीक्षा ज्ञानादिरूपा अनुग्राहिका शक्ति के द्वारा जब तक सर्वज्ञत्व सर्वकर्त्तृत्व स्वतन्त्रत्व आदि रूप परमशक्ति का विकास = उन्मेष, नहीं होता तब तक आत्मा = जीव, निर्मल

शैवेऽसावात्मा जीवन्मुक्तेरनासादाद्बद्ध एवोच्यते ॥

विकासितायाः शक्तेः स्वरूपं दर्शयति—

यत्रस्थः पुरुषः सर्वं वेत्त्यतीतमनागतम् ॥ ३२ ॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तत्तत्त्वं शक्तिलक्षणम् ।

इन्द्रियाण्यन्तर्मुखीकृत्य यत्र तुटिपातात्मनि आद्योन्मेषस्थितौ लब्धावस्थितिर्योगी, अतीतानागतादि सर्वं वेत्ति, तत् प्रतिभात्म तत्त्वं शक्तिलक्षणम् ॥

तथा—

यत्र यत्र भवेदिच्छा ज्ञानं वापि प्रवर्तते ॥ ३३ ॥
क्रियाकृत्यस्वरूपा वा तत्तत्त्वं शक्तिलक्षणम् ।

न कृत्यं निष्पाद्यं स्वरूपं यस्यास्तादृश्यकृत्रिमा निर्विकल्पा इच्छा ज्ञप्तिः स्फुरत्तात्मा क्रिया वा यत्र यत्रावसरे प्रवर्तते, तत्र तत्र तद् एषणीयाद्यनारूषितशुद्धेच्छादिमात्रात्मतत्त्वं शक्तिलक्षणम् ॥

तथा—

नहीं होता । जब ऐसा होता है तब शैवशास्त्र के अनुसार यह आत्मा जीवन्मुक्ति को न प्राप्त करने के कारण बद्ध ही कहा जाता है ॥

विकसित शक्ति का स्वरूप दिखलाते हैं—

जिसमें स्थित (= जिससे सम्पन्न) पुरुष इन्द्रियसमूह का नियमन कर अतीत अनागत सब को जान लेता है वह तत्त्व शक्ति है ॥ -३२-३३- ॥

इन्द्रियों को अन्तर्मुख कर जहाँ तुटिपात रूप प्रथम उन्मेष की स्थिति में रहकर योगी अतीत अनागत आदि (= दूरस्थ अतीन्द्रिय) सब को जान लेता है वह प्रतिभारूपी तत्त्व शक्तिपद का वाच्य है । (पातञ्जल योगसूत्र 'प्रातिभाद्वा सर्वम्' ३।३३—से यही अर्थ निकलता है) ॥

तथा—

जिस-जिस विषय की अकृत्यस्वरूपा इच्छा होती है या जिस-जिस विषय का (= वैसा) ज्ञान होता है अथवा (उस प्रकार की) क्रिया जहाँ प्रवृत्त होती है । वह तत्त्व शक्ति है ॥ -३३-३४- ॥

नहीं है कृत्य = निष्पादन के योग्य स्वरूप जिसका वैसी अकृत्रिमा = निर्विकल्पा इच्छा, ज्ञान अथवा स्फुरत्ता रूपा क्रिया जिस-जिस अवसर पर प्रवृत्त होती है उस-उस अवसर पर वह = एषणीय आदि से अनारूषित शुद्ध इच्छा ज्ञान क्रिया तत्त्व ही शक्ति है ॥

व्यापकस्य यतो देवि चिद्रूपस्यात्मनः शिवात् ॥ ३४ ॥
प्रसरत्यद्भुतानन्दा सा शक्तिः परमा स्मृता ।

व्यापकचिन्मात्रमयतामात्मनो भावयतो योगिनो या आश्चर्यरूपा आनन्दात्मा शक्तिः शिवात् प्रसरत्युन्मिषति, सा परमा स्मृता तत्तत्त्वं शक्तिलक्षणमित्यर्थः ॥

एवं लक्षितशक्त्यवष्टम्भविस्फारेण—

विप्रसार्य तमात्मानं सर्वज्ञादिगुणैर्गुणी ॥ ३५ ॥
साभासः कथ्यते देवि शिवः परमकारणम् ।

सर्वज्ञादिगुणैरिति तद्विमर्शनेनात्मानं विप्रसार्य—

'बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा यतः प्रकाशावरणक्षयः' (यो०सू० ३।४३) इति स्थित्या विकास्य यो योगी तैरेव सर्वज्ञत्वादिगुणैर्गुणी संपन्नः, स सर्वज्ञत्वाद्याभासविमर्शनादेव साभासः शिवः कथ्यते ॥

एतदेव स्फुटयति—

सर्वज्ञः परितृप्तश्च यस्य बोधो ह्यनादिमान् ॥ ३६ ॥
स्वतन्त्रो ह्यप्रलुप्तश्च यश्च वानन्तशक्तिकः ।

तथा—

हे देवि ! व्यापक एवं चिद्रूप (योगी) के जिस आत्मा रूपी शिव से जो अद्भुत आनन्दस्वरूपा शक्ति प्रसृत होती है वह परमा (शक्ति) मानी गयी है ॥ -३४-३५- ॥

अपनी व्यापक चिन्मात्रमयता की भावना करने वाले योगी के अन्दर जो आश्चर्यमयी आनन्दरूपा शक्ति शिव से उन्मिषित होती है वह परमाशक्ति मानी गयी है। वह तत्त्व (या उसका तत्त्व) शक्ति है ॥

हे देवि ! गुणवान् (साधक) सर्वज्ञत्व आदि गुणों से अपना विकास कर परमकारण साभास शिव कहा जाता है ॥ -३५-३६- ॥

सर्वज्ञता आदि गुणों के विमर्शन से अपने को—

'(शरीर के) बाहर (मन की) अकल्पिता वृत्ति महाविदेहा (धारणा) होती है । इसके बाद प्रकाश के आवरण का नाश हो जाता है ।' (पा०यो०सू० ३।४३)

इस स्थिति से विकसित कर जो योगी उन्हीं सर्वज्ञत्व आदि गुणों से गुणी हो जाता है वह सर्वज्ञत्व आदि आभासों का विमर्शन करने से साभास शिव कहा जाता है ॥

उसी को स्पष्ट करते हैं—

शक्तिमान् गुणभेदेन स्वगुणान् विन्दते गुणी ॥ ३७ ॥
पृथग्भेदविभेदेन नानात्वं विमृशेदिह ।
स साभास इति प्रोक्तो निराभासस्तु कथ्यते ॥ ३८ ॥

परितृप्तो नैराकांक्ष्येण चिदानन्दघनः, अनादिमान् न तु भावनोत्थः, स्वतन्त्रो न तु भेदेश्वरवत् कर्ममलपरिपाकाद्यपेक्षः, अप्रलुप्तो न तु ब्रह्मादिवत् स्वापाद्यावृतः, अनन्तशक्तिकः

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नम् ।'

इति स्थित्या मरीचिरूपाशेषविश्वशरीरः, शक्तिमानिति समुत्पन्नयथालक्षितपरशक्तिस्वरूपः, गुणानां सत्त्वरजस्तमसां भेदेन चिद्भुवि देहादिप्रमातृतानिमज्जनोत्थेन विदारणेन, स्वगुणान् सर्वज्ञत्वादीन् लभते । तैरेव च गुणैर्गुणी, भेदानां सर्वज्ञत्वादिविशेषाणां व्याख्यातदृशा व्यावृत्तिकृतो यः पृथग्विभेदस्तेन नानात्वं विचित्राभासरूपतां य आत्मनो विमृशेत्, स साभास इत्युक्तः । निराभासस्तु उच्यते ॥

तमाह—

जो सर्वज्ञ, परितृप्त है; जिसका बोध अनादि है; जो स्वतन्त्र, अलुप्त और अनन्त शक्तिवाला है; शक्तिमान्, सत्त्वादि गुणों के भेद से अपने गुणों को प्राप्त करता है वही गुणी है । पृथक् भेद विभेद के कारण जो यहाँ नानात्व का विमर्श करता है । वह साभास शिव कहा जाता है । आगे निराभास का वर्णन कर रहे हैं ॥ -३६-३८ ॥

परितृप्त = निराकाङ्क्ष होने के कारण चिदानन्दघन । अनादिमान् न कि भावना से उठा हुआ । स्वतन्त्र, न कि भेदवादियों के ईश्वर की भाँति कार्म मल के परिपाक आदि की अपेक्षा वाला । अप्रलुप्त, न कि ब्रह्मा आदि की भाँति निद्रा आदि से आवृत । अनन्त शक्तिवाला—

'इसकी शक्तियाँ ही सम्पूर्ण संसार है ।'

इस स्थिति से मरीचिरूप समस्त विश्वशरीर वाला, शक्तिमान् = समुत्पन्न यथालक्षित परशक्तिरूप । गुणों = सत्त्व रजस् तमस्, के भेद से चिद्भूमि में देहादिप्रमातृता के निमज्जन से उत्पन्न विदारण से, अपने गुणों = सर्वज्ञत्व आदि, को प्राप्त करता है । उन्हीं गुणों के कारण वह गुणी है । भेदों अर्थात् सर्वसत्त्व आदि विशेषों का ऊपर व्याख्यात रीति से व्यावृत्ति करने वाला जो पृथक् विभेद उससे जो अपनी अनेकरूपता = विचित्राभासरूपता, का विमर्श करता है वह साभास कहा जाता है । निराभास का कथन करते हैं ॥ ३६-३८ ॥

उसी (= निराभास) को कहते है—

नाहमस्मि न चान्योऽस्ति निराभासस्तदा भवेत् ।
सावस्था परमा प्रोक्ता शिवस्य परमात्मनः ॥ ३९ ॥

आभासेभ्यो ग्राह्यग्राहकविमर्शात्मकेभ्यो निष्क्रान्तः चिद्विमर्शैकपरमार्थः । तदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

'सर्वथा त्वन्तरालीनानन्ततत्त्वौघनिर्भरः ।
शिवश्चिदानन्दघनः परमाक्षरविग्रहः ॥' (४।१।१४)

इति ॥ ३९ ॥

एतद्दशासमापन्नस्य च योगिन ईदृशी स्फुरत्तेत्याह—

नाहमस्मि न चान्योऽस्ति ध्येयं चात्र न विद्यते ।
आनन्दपदसंलीनं मनः समरसीगतम् ॥ ४० ॥

अहमिति देहादिर्ग्राहकः । अन्यो मद्व्यतिरिक्तो नीलादिः । ध्येयमित्यनुग्राहकत्वेन बुद्ध्योपस्थापितम् ॥ ४० ॥

एतत्पदलाभाय शाम्भवोपायमादिशति देवः—

नोर्ध्वे ध्यानं प्रयुञ्जीत नाधस्तान्न च मध्यतः ।
नाग्रतः पृष्ठतः किञ्चित् पार्श्वयोरुभयोरपि ॥ ४१ ॥

'न मैं हूँ, न कोई दूसरा है' (जब इस प्रकार की चेतना प्रस्फुरित होती है तब वह) निराभास शिव होता है । वह परमात्मा शिव की परम अवस्था कही गयी है ॥ ३९ ॥

ग्राह्यग्राहक के विमर्शरूप आभासों से ऊपर उठकर जो केवल चिद्विमर्शमात्र हो जाता है (वह निराभास कहलाता है) । ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया है—

अनन्त तत्त्वों के समूह को जो सर्वथा भीतर लीन कर लेता है वही परमाक्षर विग्रह चिदानन्दघन शिव है (४.१.१४) ॥ ३९ ॥

इस दशा को प्राप्त योगी की ऐसी स्फुरत्ता होती है—यह कहते हैं—

'न मैं हूँ', 'न कोई दूसरा है'; यहाँ कोई ध्येय (= ध्यान करने योग्य वस्तु) नहीं है; आनन्दपद में संलीन मेरा मन समरस (= एकरूप) हो गया है ॥ ४० ॥

मैं = देह आदि प्रमाता रूप ग्राहक । अन्य = मुझसे भिन्न लीन सुख आदि (ग्राह्य)। ध्येय = अनुग्राहक के रूप में बुद्धि के द्वारा उपस्थापित ॥ ४० ॥

इस पद के लाभ के लिये भगवान् शाम्भवोपाय को बतलाते हैं—

न ऊपर ध्यान करना चाहिये न नीचे और न मध्य में, आगे-पीछे

नान्त:शरीरसंस्थाने न बाह्ये भावयेत् क्वचित् ।
नाकाशे बन्धयेल्लक्ष्यं नाधो दृष्टिं निवेशयेत् ॥ ४२ ॥
न चाक्ष्णोर्मीलनं किञ्चिन्न किञ्चिद् दृष्टिबन्धनम्।
अवलम्बं निरालम्बं सालम्बं न च भावयेत् ॥ ४३ ॥
नेन्द्रियाणि न भूतानि शब्दस्पर्शरसादि यत् ।
सर्वं त्यक्त्वा समाधिस्थ: केवलं तन्मयो भवेत्॥ ४४ ॥

ऊर्ध्वे द्वादशान्ते, अध: कन्दादौ, मध्ये हृदादौ, अग्रत: पृष्ठत: पार्श्वयो:, तत्पुरुषसद्योजातादिरूपम् । अन्त:शरीर इति—

'आमूलात्किरणाभासां सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरात्मिकाम्।
चिन्तयेत्तां द्विषट्कान्ते शाम्यन्तीं भैरवोदय: ॥' (वि०भै० २८)

इतिवत् । न बाह्य इति—

'वस्त्वन्तरे वेद्यमाने सर्ववेद्येषु शून्यता ।
तामेव मनसा ध्यायन् विदितोऽपि प्रशाम्यति ॥'(वि०भै० १२२)

इतिवत् । नाकाश इति—

अगल-बगल भी नहीं । न शरीरसंस्थान के भीतर न कहीं बाहर भावना करनी चाहिये । न आकाश में लक्ष्यबन्ध करना चाहिये और न दृष्टि को कहीं स्थिर करना चाहिये । न आखों को थोड़ा बन्द करे न दृष्टिबन्धन (= करना चाहिये)। अवलम्ब, सालम्ब, निरालम्ब भावना नहीं करनी चाहिये । इन्द्रिय पञ्चमहाभूत और शब्द स्पर्श आदि भी नहीं है—ऐसा समझना चाहिये । इस प्रकार सब को छोड़ कर समाधिस्थ होकर केवल तन्मय होना चाहिये ॥ ४१-४४ ॥

ऊर्ध्व में = द्वादशान्त में । नीचे = कन्द आदि में । मध्य = हृदय आदि में। आगे पीछे दोनों पार्श्वों में, तत्पुरुष सद्योजात आदि रूप की भावना भी नहीं करनी चाहिये । शरीर के भीतर—

'किरण के समान सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर मूलाधार से लेकर द्विषट्कान्त (द्वादशान्त) तक पहुँचकर शान्त होने वाली प्राण वायु का चिन्तन करना चाहिये । इससे भैरव (स्वरूप) का उदय होता है ॥' (वि०भै०२८)

के समान (चिन्तन करना चाहिये)। बाहर नहीं—

'किसी एक वस्तु का ज्ञान होते समय दूसरी समस्त वेद्यवस्तुओं में शून्यता की भावना करनी चाहिये । उस (= शून्यता) का ही मन से ध्यान करता हुआ योगी ज्ञान से भी ऊपर हो जाता है अर्थात् शान्त ब्रह्मरूप हो जाता है ।' (वि०भै० १२२)

तेजसा सूर्यदीपादेराकाशे शबलीकृते ।
दृष्टिं निवेश्य तत्रैव स्वात्मरूपं प्रकाशते ॥ (वि०भै० ७६)

इतिवत् । नाध इति—

कूपादिके महागर्ते स्थित्वोपरि निरीक्षणात् ।
अविकल्पमतेः सम्यक् सद्यश्चित्तलयः स्फुटम् ॥ (वि०भै० ११५)

इतिवत् । न चाक्ष्णोर्मीलनमिति—

एवमेव निमील्यादौ नेत्रे कृष्णाभमग्रतः ।
प्रसार्य भैरवं रूपं भावयंस्तन्मयो भवेत् ॥ (वि०भै० ८८)

इतिवत् । न दृष्टिबन्धनमिति—

निर्वृक्षगिरिभित्त्यादिदेशे दृष्टिं विनिक्षिपेत् ।
निलीने मानसे भावे वृत्तिक्षीणः प्रजायते ॥ (वि०भै० ६०)

इतिवत् । अवलम्ब्यत इति अवलम्बो ध्येय आकारस्तम्—

भावे त्यक्ते निरुद्धा चिन्नैव भावान्तरं व्रजेत्।

के समान । आकाश में नहीं—

'सूर्य दीपक आदि के तेज से आकाश के चित्रित होने पर उसमें दृष्टि लगाकर (= देखने से) उसी में अपना रूप प्रकाशित होता है ।' (वि०भै० ७६)

के समान । नीचे नहीं—

'कूप आदि किसी बड़े गहरे गड्ढे में खड़ा होकर ऊपर देखने से निर्विकल्पक बुद्धि वाले (व्यक्ति) का तत्काल पूर्णतया स्पष्ट चित्तलय हो जाता है ।' (वि०भै०११५)

के समान । आँखों का बन्द करना भी नहीं—

'इस प्रकार पहले दोनों आँखों को बन्द कर सामने काले रंग के भैरव के रूप को उपस्थापित कर उस रूप की भावना करने वाला तन्मय हो जाता है ।' (वि०भै० ८८)

के समान । दृष्टिबन्धन नहीं—

'वृक्ष, पर्वत, दीवाल आदि (आधार) से रहित शून्य आकाश में दृष्टि स्थित करनी चाहिये । मन में उत्पन्न भाव के विलीन होने पर (साधक की) वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं ॥' (वि०भै० ६०)

के समान । जिसका अवलम्बन किया जाय वह अवलम्बन है अर्थात् ध्येय आकार, उसको—

'भाव का त्याग करने पर निरुद्धा चित् किसी दूसरे भाव पर स्थित नहीं

तदा तन्मध्यभावेन विकसत्यतिभावना ॥ (वि०भै० ६२)

इतिवत् । निरालम्ब इति—

उभयोर्भावयोर्ज्ञाने ज्ञात्वा मध्यं समाश्रयेत् ।
युगपच्च द्वयं त्यक्त्वा मध्ये तत्त्वं प्रकाशते॥ (वि०भै० ६१)

इतिवत् । सहालम्बेन वर्तते सालम्बं साकारं ज्ञानम्—

'इच्छायामथवा ज्ञाने जाते चित्तं निवेशयेत् ।
तत्र बुद्ध्यानन्यचेतास्ततः स्यादात्मदर्शनम् ॥' (वि०भै० ९८)

इतिवत् । नेन्द्रियाणि न भूतानीति तत्तद्धारणापटलोक्तनीत्या सर्वं त्यक्त्वा समाधिस्थ इति अकिञ्चिच्चिन्तकत्वेन स्वस्वरूपविमर्शनप्रवणस्तन्मय इत्यानन्दपद-संलीनसमरसज्ञानमयः ॥ ४४ ॥

या चैवंभूता दशा—

सावस्था परमा प्रोक्ता परस्य परमात्मनः ।
निराभासं पदं तत्तु तत्प्राप्य विनिवर्तते ॥ ४५ ॥

सांसारिकी स्थितिमुज्झति ॥ ४५ ॥

होती । तब उस (= व्यक्ताव्यक्त भाव) के मध्य में भावना करने पर अतिक्रान्त-भावना विकसित होती है ।' (वि०भै० ६२)

के समान । निरालम्ब—

'दोनों (भावों) का ज्ञान होने पर मध्य का आश्रयण करना चाहिये, फिर दोनों का एक साथ त्याग करने पर मध्य में आत्मतत्त्व प्रकाशित होता है ॥' (वि०भै० ६१)

के समान । जो आलम्बन के साथ हो वह सालम्ब होता है अर्थात् साकार ज्ञान—

'इच्छा अथवा ज्ञान के उत्पन्न होने पर चित्त को वहाँ लगाये । बुद्धि के द्वारा एकाग्रचित होने पर आत्मदर्शन हो जाता है ॥' (वि०भै० ९८)

के समान । न इन्द्रियाँ हैं न भूत हैं अर्थात् तत्तद् धारणापटल में कथित नीति के अनुसार सब कुछ छोड़ कर समाधिस्थ = किसी का चिन्तन किये बिना केवल अपने स्वरूप का विमर्श करने वाला, आनन्दपद में संलीन समरस ज्ञानमय हो जाता है ॥ ४४ ॥

इस प्रकार की जो दशा है—

वह परमात्मा की परम अवस्था कही गयी है । वही निराभास पद है । उसको प्राप्त कर (योगी) विनिवृत्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

अतश्च यः—

भावयेदेवमात्मानमात्मनो भावनाबलात् ।
स गच्छेत् परमं शान्तं शिवमत्यन्तनिर्मलम् ॥ ४६ ॥

आत्मनो निर्विकल्पसंवेदनस्य या भावना विकल्पहानेन संपादना, तस्या यद्बलं विमर्शदार्ढ्यं तेन भावयेत् ॥ ४६ ॥

किं च—

तत्तत्त्वमेकं सर्वत्र भवति(ते) मृत्युजिच्छिवम् ।
तच्चामृतेशं परमं तृतीयं पदमुत्तमम् ॥ ४७ ॥
आख्यातं तव देवेशि किमन्यत् कथयामि ते ।

सर्वत्र क्षित्याद्यनाश्रितान्ते, तदेवैकमद्वितीयम्, तत्त्वं पारमार्थिकं स्वरूपम्, शिवं श्रेयोरूपम्, मृत्युजिद्भवति । तृतीयमिति प्रोक्तस्थूलसूक्ष्मज्ञानद्वयापेक्षया, तवेत्यनुग्रहैकपरायाः, किमन्यत् कथयामीति नातोऽन्यद्रहस्यं कथनीयं किञ्चिदस्तीत्यर्थः ॥

एतदुपसंहरति—

(विनिवृत्त हो जाता है =) सांसारिक स्थिति को छोड़ देता है ॥ ४५ ॥

इसलिये जो (साधक)—

अपने भावना के बल से आत्मा की इस प्रकार भावना करता है । वह अत्यन्त निर्मल परम शान्त शिवभाव को प्राप्त हो जाता है ॥ ४६ ॥

अपने निर्विकल्पक संवेदन की जो भावना = विकल्प के परित्याग से सम्पादना, उसका जो बल = विमर्श की दृढ़ता, उसके द्वारा भावना करनी चाहिये ॥ ४६ ॥

और भी—

वही एक तत्त्व जो कि सर्वव्यापी और शिव है, मृत्युञ्जय (के नाम से ज्ञात) होता है । वही परम अमृतेश और उत्तम तृतीय पद है । हे देवेशि ! (मैंने उसको) तुम्हें बतलाया, तुमको और क्या बतलाऊँ ॥ ४७-४८- ॥

सर्वत्र = पृथिवी से लेकर अनाश्रित शिवपर्यन्त; वही एक = अद्वितीय; तत्त्व = पारमार्थिक स्वरूप; शिव = कल्याणकारी, मृत्युजित् होता है । तीसरा = उपर्युक्त स्थूल सूक्ष्म दो ज्ञानों की अपेक्षा । तुमको जो कि अनुग्रहपरायणा हो; दूसरा क्या कहूँ—इसके अतिरिक्त कोई और रहस्य कथनीय नहीं है ॥

इसका उपसंहार करते हैं—

एवं मृत्युजिता सर्वं ध्यात्वा व्याप्तं विमुच्यते ॥ ४८ ॥

योगी ॥ ४८ ॥

एतच्च—

सर्वकालं तु कालस्य वञ्चनं कथितं प्रिये ।

अकालकलितचिद्धामसमावेशोपदेशात् ॥

प्रकृतमुपसंहृत्य पूर्वप्रस्तुतमुपसंहरति—

एवं तु त्रिविधं देवि मया ते प्रकटीकृतम् ॥ ४९ ॥
कालस्य वञ्चनं नाम..........

एष च—

................योगः परमदुर्लभः ।

किं च—

अनेनाभ्यासयोगेन मृत्युजिद् भवति(ते) नरः ॥ ५० ॥

न केवलमात्मनः, यावत्—

इस प्रकार योगी सब कुछ को मृत्युञ्जय से व्याप्त हुआ ध्यान कर मुक्त हो जाता है ॥ ४८ ॥

योगी (मुक्त हो जाता है) ॥ ४८ ॥

और यह—

हे प्रिये ! काल का अपसारक सर्वकाल तुमको बतलाया गया ॥४९-॥

अकालकलित चिद्धाम के समावेश के उपदेश के कारण (यह कहा गया) ॥

प्रस्तुत का उपसंहार कर पूर्वप्रस्तुत को उपसंहृत करते हैं—

हे देवि ! इस प्रकार मैंने तुम्हें काल का तीन प्रकार का वञ्चन (= त्याग) बतलाया ॥ -४९-५०- ॥

यह—

योग परम दुर्लभ है ॥ -५०- ॥

और भी—

इसके अभ्यासयोग से मनुष्य मृत्युजित् हो जाता है ॥ -५० ॥

न केवल अपनी मृत्यु बल्कि—

अनेनैव तु योगेन लोकानुग्रहकाम्यया।
भवते मृत्युजिद्योगी सर्वप्राणिषु सर्वदा ॥ ५१ ॥

एतज्ज्ञाननिष्ठो विश्वानुग्रहकरणक्षम इत्यर्थः ।

यत्त्वत्राधिकारे परं ज्ञानमुक्तम्—

एष मृत्युञ्जयः ख्यातः शाश्वतः परमो ध्रुवः ।
अस्मात् परतरो नास्ति सत्यमेतद्वदाम्यहम् ॥ ५२ ॥

शिष्याणामत्रार्थे दृढ आश्वासो जायतामित्याशयेनादरादुक्तमर्थमत्युपादेयत्वात् पुनः पुनरादिशति—

यत्परामृतरूपं तु त्रिविधं चोदितं मया ।
तदभ्यासाद् भवेज्जन्तुरात्मनोऽथ परस्य वा ॥ ५३ ॥
अमृतेशसमो देवि मृत्युजिन्नात्र संशयः ।

किञ्चेमं मृत्युजिन्नाथम्—

येन येन प्रकारेण यत्र यत्रैव संस्मरेत् ॥ ५४ ॥
तेन तेनैव भावेन स योगी कालजिद् भवेत् ।

संसारी लोगों के ऊपर कृपा करने की इच्छा से इस योग के द्वारा योगी सभी प्राणियों के विषय में सर्वदा मृत्युजित् होता है । (अर्थात् अन्य प्राणियों को भी मृत्यु से छुटकारा दिला सकता है) ॥ ५१ ॥

इस ज्ञान में परिनिष्ठित योगी विश्व के ऊपर अनुग्रह करने में सक्षम होता है ॥

इस अधिकार जो पर ज्ञान कहा गया—

वह शाश्वत परम ध्रुव मृत्युञ्जय कहा गया है । इससे बढ़कर कुछ नहीं है । यह मैं सत्य कह रहा हूँ ॥ ५२ ॥

इस विषय में शिष्यों को दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो इस आशय से आदरपूर्वक कहे गये अर्थ को, अत्यन्त ग्राह्य होने के कारण, बार-बार कह रहे हैं—

जो तीन प्रकार का पर अमृत मैंने (तुमको) बतलाया उसके अभ्यास से मनुष्य अपने और दूसरे के लिये अमृतेशतुल्य होकर मृत्युजित् हो जाता है । हे देवि ! इसमें संशय नहीं है ॥ ५३-५४- ॥

इस मृत्युञ्जयभट्टारक का—

योगी जिस-जिस प्रकार से जहाँ-जहाँ (उसका) स्मरण करता है उसी-उसी भाव से वह कालजयी हो जाता है ॥ -५४-५५- ॥

येन येनेत्याणवेन शाक्तेन शाम्भवेन वा । यत्र यत्रेति नात्र देशकालावस्थादिनियम इत्यर्थः ॥

अयं च योगी—

यत्र यत्र स्थितो वापि येन येन व्रतेन वा॥ ५५ ॥
येन येन च योगेन भावभेदेन सिद्ध्यति ।

येन येन योगेन तत्तत्संहितासु योगपादोक्तेन, भावभेदेनेत्येतत्तत्त्वनिष्ठभावनाविशेषेण ॥

यच्चेदममृतेशनाथाख्यं परं तत्त्वम्—

तदेकं बहुधा देवि ध्यातं वै सिद्धिदं भवेत् ॥ ५६ ॥
द्वैताद्वैतविमिश्रे वा एकवीरेऽथ यामले ।
सर्वशास्त्रप्रकारेण सर्वदा सिद्धिदं भवेत् ॥ ५७ ॥

एकमिति पराद्वयस्वतन्त्रचित्सतत्त्वम्, अत एव बहुधेत्येतत्स्वातन्त्र्यावभासितभाविपटलवक्ष्यमाणश्रीसदाशिवतुम्बुरुभैरवकुलेश्वरादिरूपतया ध्यातं सिद्धिं ददात्येवेत्यर्थः । परमाद्वैतरूपत्वाच्चास्य नाथस्य द्वैताद्वैतादिसर्वप्रकारक्रोडीकारित्वं न विरुध्यते । वक्ष्यति चैकविंशाधिकारे—

जिस-जिस = आणव, शाक्त अथवा शाम्भव उपाय से । जहाँ-जहाँ = इस विषय में देश काल अवस्था का नियम (= प्रतिबन्ध) नहीं है—यह तात्पर्य है ॥

और यह योगी—

जहाँ-जहाँ, जिस-जिस व्रत से तथा जिस-जिस योग से स्थित होता है, भावना के भेद से (वहाँ-वहाँ) उसे (वह) सिद्धि मिलती है ॥ ५५-५६- ॥

जिस-जिस योग से = भिन्न-भिन्न संहिताओं में योगपाद में कथित (योग) से । भाव के भेद से = इस तत्त्व में स्थित भावनाविशेष के द्वारा ॥

जो यह अमृतेशनाथ नामक पर तत्त्व है—

एक होने पर भी अनेक प्रकार से ध्यात होने पर यह सिद्धिदाता हो जाता है । द्वैत, अद्वैत, विमिश्र (= द्वैताद्वैत), एकवीर, यामल, सब में सब शास्त्रों के प्रकार में यह सिद्धि प्रदान करता है ॥ -५६-५७ ॥

एक = पर अद्वय स्वतन्त्र चित्तत्त्व । इसीलिये बहुधा = स्वातन्त्र्य के कारण अवभासित भावी पटल में वक्ष्यमाण सदाशिव तुम्बुरु भैरव कुलेश्वर आदि के रूप में ध्यात होने पर सिद्धि को देता ही है । यतो हि यह अमृतेशनाथ परम अद्वैत रूप है इसलिये इनके यहाँ द्वैत अद्वैत आदि सभी भेदों का क्रोडीकारित्व (= सङ्गम)

'अद्वैतं कल्पनाहीनं चिद्घनम् ।' (२१।२३) इति ॥ ५७ ॥

किं च—

चिन्तारत्नं यथा लोके चिन्तितार्थफलप्रदम् ।
तथैव मन्त्रराजस्तु चिन्तितार्थफलप्रदः ॥ ५८ ॥

अत्रत्य इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

किं च—

मन्त्राणां सप्तकोटीनामालयः परमो बली ।

तेषामपि पराद्वयैकवीर्यत्वात् ॥

अपि च—

भावहीनास्तु ये मन्त्राः शक्तिहीनास्तु कीलिताः ॥ ५९ ॥
वर्णमात्राविहीनास्तु गुर्वागमविवर्जिताः ।
भ्रष्टाम्नायविहीना ये आगमोज्झितविघ्निताः ॥ ६० ॥
न सिद्ध्यन्ति यदा देवि जप्ता इष्टाः सहस्रशः ।
असिद्धा रिपवो ये च सर्वांशकविवर्जिताः ॥ ६१ ॥
आद्यन्तसंपुटेनैव साद्यर्णेन तु रोधिताः ।
मन्त्रेणानेन देवेशि अमृतेशेन जीविताः ॥ ६२ ॥

परस्पर विरुद्ध नहीं होता । इक्कीसवें अधिकार में कहेंगे भी—

'वह तत्त्व अद्वैत कल्पनाहीन और चिद्घन है' ॥ ५७ ॥

और भी—

संसार में जिस प्रकार चिन्तामणिरत्न चिन्तितविषयक फल देता है उसी प्रकार यह मन्त्रराज चिन्तित अर्थरूपी फल को देने वाला है ॥ ५८ ॥

और भी—

यह सात करोड़ मन्त्रों का आलय है अत एव परम बली है ॥ ५९-॥

क्योंकि वे (सात करोड़ मन्त्र) भी परमवीर्य वाले हैं ॥

और भी—

जो मन्त्र भावहीन, शक्तिहीन, कीलित, वर्णमात्राविहीन, गुरु की परम्परा से रहित, भ्रष्ट आम्नाय के कारण नष्ट, आगम से त्यक्त, विघ्नित हैं तथा इष्टरूप में हजारों बार जप किये जाने पर भी सिद्ध नहीं होते, उसी प्रकार जो असिद्ध शत्रु हैं सर्वांश से रहित है आदि वर्ण के सहित आद्यन्त सम्पुट

सिद्ध्यन्ति ह्यप्रयत्नेन जप्ता इष्टा न संशयः।
ध्याताः सर्वप्रदा देवि भवन्ति न वचोऽनृतम् ॥ ६३ ॥

भावहीना अज्ञातवीर्याः, शक्तिहीनाः साञ्जनाः । यथोक्तम्—

'साञ्जनास्तेऽण्डमध्यस्थाः सात्त्वराजसतामसाः ।' इति ।

कीलिता व्यत्यस्तवर्णपदाः, गुर्वाम्नायविवर्जिताः शिष्यैः स्वयमेव पुस्तकाद् गृहीताः, भ्रष्टाम्नाया अज्ञातसंहितोत्थानाः, तत एव विनष्टाः, आगमोज्झितैर्विघ्निता नित्यं क्षुद्रसिद्धिविनियोगेन विघ्नाभिभूताः कृताः । असिद्धा रिपवो ये इति नामाक्षरान्मन्त्राक्षरं मातृकाक्रमेणाङ्गुलिपर्वचतुष्टये पुनःपुनरावर्तनया गण्यमानं यदि (प्रथमं पर्व स्पृशति तदा सिद्धं भवति यदि) द्वितीयं पर्व स्पृशति, तदा सिद्धं साध्यं तदुच्यते । यदि तृतीयं पर्व स्पृशति, तदा सुसिद्धं भवति । अथ चतुर्थं पर्व स्पृशति, तदास्य विरुध्यते । सर्वे अंशका भावस्वभावपुष्पपाताद्याख्याः । एवमादि च श्रीस्वच्छन्दादेर्ज्ञेयम् । एवमीदृशा अपि मन्त्रा नेत्रनाथसंपुटीकारेण इष्टा ध्याता जप्ताश्च सर्वसिद्धिप्रदा भवन्ति । न संशय इति, न वचोऽनृतमिति

होने से रोधित हैं, हे देवेशि ! वे सब इस अमृतेशमन्त्र से जीवित होने पर यथेष्ट जाप किये जाने पर बिना प्रयत्न के सिद्ध हो जाते हैं—इससे सन्देह नहीं । हे देवि ! ध्यान किये जाने पर ये सर्वप्रद होते हैं यह वचन झूठा नहीं है ॥ -५९-६३ ॥

भावहीन = जिनकी शक्ति ज्ञात नहीं है अर्थात् शक्तिरहित, मलिन । जैसा कि कहा गया—

'वे (जीव) साञ्जन है जो अण्ड (= ब्रह्माण्ड) के मध्य में स्थित हैं और सत्त्व रजस् तमस् से युक्त है ।'

कीलित = अक्षरों को या पदों को उलट-पलट कर बनाये गये । गुरु आम्नाय से रहित = शिष्यों के द्वारा स्वयं पुस्तक से गृहीत । भ्रष्टाम्नाय = अज्ञात संहिता से प्राप्त, इसी कारण विनष्ट । आगम के उज्झित होने से विघ्नित = सदा छोटी सिद्धियों में प्रयुक्त होने के कारण विघ्नाभिभूत । असिद्ध रिपु = असिद्ध मन्त्र एवं रिपुमन्त्र । साधक का नाम और मन्त्रों के अक्षरों को मातृका के क्रम से स्वर एवं व्यञ्जन को अलग-अलग कर चारो अंगुलियों के पर्वों से आवर्त्तन के साथ गणना करने पर यदि (पहले पर्व का स्पर्श करता है तो सिद्ध होता है); दूसरे पर्व को छूता है तो सिद्धसाध्य कहा जाता है । यदि तृतीय पर्व का स्पर्श करता है तो सुसिद्ध होता है । चतुर्थ को छूता है तो इसका विरोधी होता है । सर्वांश = भावस्वभाव = मन्त्रों के छह प्रकार के भाव स्वभाव पुष्पपात आदि सभी अंशक मन्त्रनाथ के जप से दूर हो जाते हैं । इस सबको स्वच्छन्द[1] आदि से जानलेना

---

१. द्रष्टव्य—स्व०तं० अष्टमपटल

चोक्त्यानाश्वस्तानामप्याश्वासं रोहयति ॥ ६३ ॥

उपसंहरति—

इति सर्वं समाख्यातं रहस्यं परमं प्रिये ॥ ६४ ॥

प्रथमाधिकारे यत् परमं रहस्यं प्रश्नितम्, तदित्युक्तदृशा सर्वं समाख्यातमिति शिवम् ॥ ६४ ॥

चिदानन्दघनं धाम शाङ्करं परमामृतम् ।
मृत्युजिज्जयति श्रीमत् स्वावेशेनोद्धरज्जगत् ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योते अष्टमोऽधिकारः ॥ ८ ॥

चाहिये । ऐसे भी मन्त्र नेत्रनाथ से सम्पुटित कर इष्ट ध्यात और जप्त होने पर सर्व सिद्धिप्रद होते हैं । 'संशय नहीं हैं' 'वचन झूठा नहीं है' इन वचनों से अविश्वासी लोगों के मन में भी विश्वास उत्पन्न करते हैं ॥

उपसंहार करते हैं—

हे प्रिये ! इस प्रकार समस्त परम रहस्य कहा गया ॥ ६४ ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के अष्टम अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ८ ॥

प्रथम अधिकार में जो परम रहस्य पूछा गया था वह उक्त रीति से सब का सब कह दिया गया ॥ ६४ ॥

चिदानन्दघन, परमअमृत, श्रीमान् तथा अपने आवेश से जगत् का उद्धार करने वाला शाङ्कर तेज सबसे बढ़कर है ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के अष्टम अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ८ ॥

नवमोऽधिकारः

*** नेत्रोद्योतः ***

स्वच्छस्वच्छन्दचिन्नेत्रं चित्रानुग्रहहेतुतः ।
सदाशिवादिभी रूपैः प्रस्फुरज्जयति प्रभुः ॥

अथाधिकारसङ्गतिं कुर्वती श्रीदेव्युवाच—

श्रुतं देव मया सर्वं माहात्म्यं मन्त्रनायके[1] ।
अधुना श्रोतुमिच्छामि यदुक्तं विभुना मम ॥ १ ॥
सर्वागमविधानेन भावभेदेन सिद्धिदम् ।
वामदक्षिणसिद्धान्तसौरवैष्णववैदिके ॥ २ ॥
यथेष्टसिद्धिदं देवं यथेष्टाचारयोगतः ।
तदाख्याहि सुरेशान चिन्तारत्नफलोदयम् ॥ ३ ॥

*** ज्ञानवती ***

अधिकार इहाङ्कगे प्रभोर्वामाद्यं ह्यनुसृत्य पूजनम् ।
सुशिवस्य समर्चनं ब्रुवन् जयतात् कोऽपि मणेः फलप्रदः ॥

प्रभु (= समर्थ) एवं स्वच्छ-स्वच्छन्द चित् नेत्र विचित्र अनुग्रह के कारण सदाशिव आदि रूपों से स्फुरित होते हुए सर्वोत्कृष्ट हैं ।

अब अधिकार की सङ्गति बैठाती हुयी देवी ने कहा—

हे देव ! मैंने मन्त्रनायक (= अमृतेश मन्त्र) का सम्पूर्ण माहात्म्य सुना । अब मैं, जैसा कि विभु आपने मुझसे कहा—समस्त आगमों के विधान से भावभेद के अनुसार सिद्धि देने वाले देव, वाम, दक्षिण, सिद्धान्त, सौर, वैष्णव एवं वैदिक प्रक्रियाओं में यथेष्ट आचारद्वारा यथेष्ट सिद्धि देने वाले हैं, हे सुरेशान ! उस चिन्तामणिरत्न के समान फल देने वाले को बतलाइये ॥ १-३ ॥

---

१. यहाँ षष्ठी अर्थ में सप्तमी का प्रयोग आर्ष है ।

सर्वमुक्तं माहात्म्यमित्यधिकाराष्टकोक्तम् । उक्तमित्यधिकाराष्टके 'येन येन हि योगेन भावभेदेन' (८।५६) इत्यादिना 'सिद्धिदम्' इत्यन्तेन । (८।५७) वामेत्यादि भाव्यधिकारासूत्रणाय । यथेष्ट आचारस्तत्तत्स्रोतोदेवतानां सुप्रसिद्धो न तु सङ्कीर्णः । यद्वक्ष्यति—

'येषु येषु समाचारो मया शास्त्रेषु भाषितः ।
स्रोतःसु स तथा कार्यो विशेषाद्यागहोमयोः ॥' (१६।२१) इति ।

चिन्तारत्नादिव फलोदयो यतः ॥ ३ ॥

एतन्निश्चयाय श्रीभगवानुवाच—

शृणु सुन्दरि तत्त्वेन परमार्थं वदामि ते ।

प्रश्नितेऽर्थे इत्यर्थात् ॥

तत्र परमाद्वयचिन्मात्रपरमार्थस्याप्यस्य भगवतो यथा तत्तच्चित्रदेवतात्मतोपपन्ना, तथा क्रमेणादिशति—

अमृतेशविधानेन मृत्युजित् कथितं मया ॥ ४ ॥

सब उक्त माहात्म्य = आठवें अधिकार में उक्त माहात्म्य । आठवें अधिकार में 'येन येन हि योगेन भावभेदेन (८।५६) यहाँ से लेकर' सिद्धिदम्, (८.५७) तक कहा गया । 'वाम' इत्यादि का कथन भावी अधिकारों के आसूत्रण के लिये है । यथेष्ट आचार = तत्तत् आम्नाय की देवताओं का सुप्रसिद्ध न कि सङ्कीर्ण (आचार)। जैसा कि कहेंगे—

जिन-जिन शास्त्रों में मेरे द्वारा जो-जो आचार कहा गया है सम्प्रदायों में वह उसी प्रकार किया जाना चाहिये, विशेषतया याग और होम के सन्दर्भ में । (१६. २१)

('चिन्तारत्नफलोदयम्' की व्याख्या करते हैं—) चिन्तामणिरत्न के समान जिससे फल मिलता है वह ॥

इसका निश्चय करने के लिये श्री भगवान् ने कहा—

हे सुन्दरी ! सुनो, मैं तुम्हें तत्त्वतः परमार्थ बतला रहा हूँ ॥ ४- ॥

प्रश्न किये गये अर्थ के विषय में—इतना अर्थात् (= स्वयं समझ लेना चाहिये) ॥

परम अद्वय चिन्मात्र परमार्थ रूप यह भगवान् जिस प्रकार तत्तत् विचित्र देवता के रूप में स्फुरित होते हैं उसे क्रम से बतला रहे हैं—

मैंने अमृतेश के विधान से मृत्युज्जय का वर्णन किया ॥ -४ ॥

यत् प्रथमाधिकारादौ—

तदेवं परमं देवममृतेशमनामयम् ।
स्वभावस्तत्समुद्दिष्टं व्यापकं शाश्वतं ध्रुवम् ॥ ५ ॥
न तस्य रूपं वर्णो वा परमार्थेन विद्यते ।
यस्मात् सर्वगतो देवः सर्वागममयः शुभः ॥ ६ ॥
व्यापकः सर्वमन्त्राणां सर्वसिद्धिप्रदायकः ।

तन्निर्णीतमहावीर्यममृतेशं देवं विशेषानुपादानाद् विश्वस्य स्वभावो यत् सम्यगुद्दिष्टम्, न तस्य भावि सदाशिवादिरूपं नाम वा पारमार्थिकमपि तु—

'आत्मानमत एवायं ज्ञेयीकुर्यात् ।' इति,
'स्वातन्त्र्यान्मुक्तमात्मानं स्वातन्त्र्यादद्वयात्मनः ।
प्रभुरीशादिसङ्कल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत् ॥' (१।५।१६)

इति प्रत्यभिज्ञोद्दिष्टनीत्या पुंसामनुग्रहाय तथावभासितम् । युक्तं चैतद्यस्माद्देवः क्रीडादिमयः, सर्वं गच्छति सर्वरूपतया स्फुरति, तत एव तत्तदुपदेश्योपदेशि-नानाशास्त्ररूपः सर्वशास्त्राणां वाक्यैकवाक्यरूपतया परामर्शात्मकभगवदेकरूपत्वात्, अतश्च शुभः पराद्वयश्रेयोमयः । केवलं यत्र परमेश्वरेण सा परा विमर्शमयता न

जो कि प्रथम अधिकार आदि में—

तो इस प्रकार जो अमृतेश परम देव और अनामय हैं, (विश्व के) स्वभावभूत वे व्यापक शाश्वत और ध्रुव हैं । परमार्थतः उनका न कोई रूप है न रंग । यतो हि वह देव सर्वगत, सर्वागममय शुभ एवं सभी मन्त्रों में व्यापक हैं इसलिये सर्वसिद्धिप्रदायक हैं ॥ ५-७- ॥

तत् = निर्णीतमहावीर्य वाले, अमृतेश देव, विशेष का कथन न होने के कारण सबके स्वभाव रूप कहे गये हैं । (उनका) भावी सदाशिव आदि रूप अथवा नाम पारमार्थिक नहीं है बल्कि—

'इसलिये आत्मा को ज्ञेय बनाना चाहिये ।' तथा

'स्वातन्त्र्य के कारण अद्वयरूप अपने का स्वामी (परमेश्वर) स्वातन्त्र्य के कारण मुक्त अपने को सङ्कल्प के द्वारा ईश्वर आदि के रूप में निर्मित कर व्यवहार कराता है ।'

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में उक्त इस नीति के अनुसार पुरुषों (= जीवों) के अनुग्रह के लिये उन-उन रूपों में भासित होता है । यह (अवभासन) ठीक भी है, क्योंकि वह देव अर्थात् क्रीडामय है । सर्वगत हैं = समस्त विश्व के रूप में स्फुरित हो रहे हैं । इसी कारण तत्तत् उपदेश्यों के लिये उपदेशक अनेक शास्त्रों के रूप वाले हैं, क्योंकि समस्त शास्त्र वाक्यैकवाक्यता की दृष्टि से परामर्शात्मक भगवत्स्वरूप हैं ।

प्रकाश्यते, ते सृष्ट्यादिपा(मा)त्रवाक्यैकवाक्यतामचेतयमाना अवान्तरवाक्यार्थ-विश्रान्तास्तत्तन्मितव्याप्तिकशास्त्रविनेयाः । ततश्चोक्तयुक्त्या सर्वागममयो देवस्तत एव सर्वमन्त्रानप्यभेदेन व्याप्य स्थितोऽतश्च सर्वसिद्धिप्रदः ॥

एतद् दृष्टान्तेन घटयति—

निर्मलं स्फटिकं यद्वत् तन्तौ प्रोतं सितादिके ॥ ७ ॥
प्रतिबिम्बेत सर्वत्र येन येन हि रञ्जितम् ।
तत्तद् दर्शयतेऽन्येषां न स्वभावेन रञ्जितम् ॥ ८ ॥
तथा तथैव देवेशः सर्वागमनियोजितः ।
फलं ददाति सर्वेषां साधकानां हि सर्वतः ॥ ९ ॥

प्रतिबिम्बेतेति प्रतिबिम्बं गृह्णीयात् । न स्वभावेनेति स्वच्छैकरूपत्वात्, सर्वागमेषु नियोजितः सर्वात्मत्वात् तत्तदागमोक्तदेवतारूपतया ध्यातः, सर्वेभ्यः साधकेभ्यः फलं ददाति ॥

यत एवम्—

इसलिये वह शुभ = पर अद्वय श्रेयोमय है । जिस व्यक्ति के अन्दर परमेश्वर के द्वारा वह परविमर्शमयता प्रकाशित नहीं की जाती वे सृष्टि आदि पञ्चकृत्य के पात्र होते हुए अर्थात् संसार चक्र के चक्कर में पड़कर समस्त शास्त्रों की वाक्यैकवाक्यता (= अद्वैतत्व की प्राप्ति) को नहीं जानते फलतः (शास्त्रों के) अवान्तर अर्थ को ही अन्तिम प्रतिपाद्य मान बैठते हैं । वे भिन्न-भिन्न 'मितव्याप्ति वाले शास्त्रों के द्वारा उपदेश्य होते हैं । चूँकि उक्त युक्ति के अनुसार देव सर्वागममय है इसलिये सब मन्त्रों में अभिन्न रूप से व्याप्त होकर स्थित है और इसी कारण सर्वसिद्धिप्रद हैं ॥

इसको दृष्टान्त से घटाते (= स्पष्ट करते) हैं—

जिस प्रकार निर्मल स्फटिक सफेद लाल आदि अनेक रंग के धागे में पिरोये जाने पर जिस-जिस रंग के धागे से पिरोया गया है सर्वत्र उसी-उसी रंग में प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है और दूसरों को उसी-उसी रंग वाला दिखाई देता है जबकि स्वभावेन वह रंगयुक्त नहीं है । उसी प्रकार यह देवेश समस्त आगमों में नियोजित हुआ समस्त साधकों को सब प्रकार का फल देता है ॥ -७-९ ॥

प्रतिबिम्बित होता है = प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है; स्वभाव से नहीं, क्योंकि वह स्वच्छ है । सब आगमों में नियोजित = सर्वात्मक होने के कारण तत्तत् आगमों में उक्त देवता के रूप में ध्यात होकर सब साधकों को फल देता है ॥

चूँकि ऐसा है—

तस्मात् स्रोतःसु सर्वेषु चिन्तामणिरिवोज्ज्वलः ।
भावभेदेन वै ध्यातः सर्वागमफलप्रदः ॥ १० ॥
शिवः सदाशिवश्चैव भैरवस्तुम्बुरुस्तथा ।
सोमसूर्यस्वरूपेण वह्निरूपधरो विभुः ॥ ११ ॥

सर्वेषु स्रोतस्सु उज्ज्वलो भ्राजमानः शिवो भावभेदेनाशयविशेषौचित्येन सदाशिवादिरूपतया ध्यातः सिद्धान्तवामदक्षिणादिशास्त्रोक्तं फलं प्रददाति ॥ ११ ॥

युक्तं चैतदित्याह—

यतो ज्ञानमयो देवो ज्ञानं च बहुधा स्थितम् ।
नियन्त्रितानां बद्धानां त्राणं तन्नेत्रमुच्यते ॥ १२ ॥

देवः परमेश्वरो ज्ञानमयश्चिन्मात्रपरमार्थः । तच्च ज्ञानं बहुधेति स्वातन्त्र्यात् सङ्कोचमाभास्य नानात्वमाश्रित्य स्थितम् । अतश्च सङ्कोचाभासभाजो दर्शनोपासाभिः स्वस्वरूपप्रथाहेतुतया यतो देवस्त्राणम्, तस्मान्निरुक्तदृशा नेत्रमुच्यते, न तु चक्षुर्गोलकतया ॥ १२ ॥

इस कारण चिन्तामणि के समान उज्ज्वल वह देव सभी सम्प्रदायों में भावना के भेद से ध्यान किये जाने पर समस्त आगमों में वर्णित (समस्त) फल को देता है । व्यापक वह परमेश्वर शिव, सदाशिव, भैरव, तुम्बुरु, सोम, सूर्य अग्नि का रूप धारण करता है ॥ १०-११ ॥

समस्त स्रोतों में उज्ज्वल = भ्राजमान शिव, भावना के भेद से = आशयविशेष के औचित्य के कारण, सदाशिव आदि के रूप में ध्यात होने पर सिद्धान्त वाम दक्षिण आदि शास्त्रों में वर्णित फल को देता है ॥ ११ ॥

यह ठीक भी है—यह कहते हैं—

चूँकि वह परमेश्वर ज्ञानमय है और ज्ञान अनेक प्रकार से स्थित है इसलिये नियन्त्रित = बद्ध, जीवों का त्राण होने से वह नेत्र कहा जाता है ॥ १२ ॥

देव = परमेश्वर ज्ञानमय चिन्मात्र परमार्थ है और वह ज्ञान अनेक प्रकार का है अर्थात् स्वातन्त्र्य के कारण संकोच को आभासित कर अनेक रूप में स्थित है । इसलिये संकोचाभास वाले स्वरूप को छिपाने के कारण देव के द्वारा नियन्त्रित = आभासित हैं । इस कारण बद्ध हैं, अनेक दर्शनों के अनुपालन के द्वारा स्वस्वरूपप्रथा का कारण होने से यह देव उनका त्राण है इसलिये निरुक्त की दृष्टि से वह नेत्र कहा जाता है न कि आँख के गोलक के रूप में । ('नी' धातु से त्रल् प्रत्यय जोड़ने पर 'नेत्र' शब्द बनता है । नी का अर्थ है नियन्त्रण-बन्धन उससे त्राणरक्षा करने वाला 'नेत्र' है) ॥ १२ ॥

अयमेव च—

मृत्योरुत्तारयेद्यस्मान्मृत्युजित्तेन चोच्यते ।
अमृतत्वं ददात्येवममृतेश इति स्मृतः ॥ १३ ॥

मृत्योर्देहप्राणादिजवञ्जवीभावात् । अमृतत्वं रुद्रशक्तिसमावेशम् ॥ १३ ॥

एवं सर्वगतो देवो बहुरूपो मणिर्यथा ।
सर्वैराराधितो देवि स्वसिद्धिफलवाञ्छया ॥ १४ ॥
सर्वेषां फलदो देवः प्रार्थितार्थविधायकः ।

एवमित्युक्तनीत्या । स्वसिद्धिफलवाञ्छयेति तदिच्छावग्राहिततत्फलाभिनिवेशतया ॥ १४ ॥

यत एवम्—

तस्माद् भावानुरूपेण साधकः साधने स्थितः ॥ १५ ॥
येन येनैव भावेन तस्य तत्फलदो भवेत् ।

भावनुरूपेणाशयानुगुणेन । भावेन भावनाप्रकारेण ॥ १५ ॥

इत्थं चान्तर्बहिर्यागयोः—

और यही—

जिस कारण मृत्यु से पार कराता है इसलिये (यह देव) मृत्युजित् कहा जाता है । चूँकि यह अमृतत्व प्रदान करता है इसलिये इसे अमृत कहा गया है ॥ १३ ॥

मृत्यु से = देह प्राण आदि के जवञ्जवीभाव (= धारण करने और छोड़ने) से । अमृतत्त्व = रुद्रशक्तिसमावेशत्व ॥ १३ ॥

इस प्रकार मणि के समान अनेक रूप धारण करनेवाले देव अपने सिद्धिरूपी फल की इच्छा से सबके द्वारा आराधित होने पर सबके लिये फलदायक होते हैं क्योंकि वे प्रार्थित अर्थ के विधाता हैं ॥ १४-१५- ॥

इस प्रकार = उक्तनीति से । अपने सिद्धिरूपी फल की इच्छा से = उसकी इच्छा से अवग्राहित उस फल की अभिनिवेशता के कारण ॥ १४ ॥

चूँकि ऐसा है—

इसलिये साधक भाव के अनुरूप जिस-जिस भाव से साधना में स्थित होता है देव उसको वह-वह फल देते हैं ॥ १५-१६- ॥

भाव के अनुरूप = आशय के अनुगुण । भाव से = भावना के प्रकार से

इस प्रकार अन्तर्याग और बहिर्याग में—

यः सदाशिवरूपेण सदा ध्यायति साधकः ॥ १६ ॥
सदाशिवतनुस्तस्य भवतीव सुरेश्वरि ।

सदाशिवतनुर्भवति सादाशिवीमिव मूर्तिमनुग्रहायाश्रयति ॥ १६ ॥

उपपन्नं चैतदित्याह—

सर्वास्ता (स्तनवो) ह्येष सर्वानुग्रहकारकः ॥ १७ ॥

अतश्च श्रीमदघोरवक्त्रानुगुण्येनायम्—

सद्यो वामो ह्यघोरश्च पुरुषेशानविग्रहः ।

ध्यातव्य इति शेषः ॥

अस्य च मन्त्रराजस्य पराद्वैतरूपतया विश्वात्मकत्वादनेनैवाङ्गासनादि न्यस्यमित्याह—

अनेन हृदयादीनि न्यस्तव्यानि वरानने ॥ १८ ॥
अनेनैव तु मन्त्रेण स्वासनं परिकल्पयेत् ।

अनया विशेषोक्त्या पूर्वोक्ताङ्गमन्त्राणामपवादो दर्शितः । एवकारोऽन्यूना(न)-

---

जो साधक (उनका) सदाशिव रूप से (= साधक) सदा ध्यान करता है हे सुरेश्वरी ! इसका शरीर सदाशिव के शरीर जैसा हो जाता है ॥ -१६-१७- ॥

सदाशिवतनु हो जाता है = अनुग्रह के लिये सदाशिव की मूर्त्ति का आश्रयण करता है ॥ १६ ॥

यह उपपन्न (= सिद्ध) है—यह कहते हैं—

वे सभी (शरीर शिवमय ध्यात होते हैं इस कारण) यह (= साधक) सबके ऊपर अनुग्रह करने वाला हो जाता है ॥ -१७ ॥

इसलिये श्रीमत् अघोरवक्त्र के आनुकूल्य के कारण यह (मन्त्रराज)—

सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान शरीर वाले के रूप में ध्यान करने योग्य है ॥ १८- ॥

चूँकि यह मन्त्रराज पर अद्वैतरूप होने के कारण विश्वात्मक है, इसलिये इसी के द्वारा अङ्ग आसन आदि का भी न्यास करना चाहिये—यह कहते हैं—

हे वरानने ! इसी से हृदय आदि का न्यास करना चाहिये । इसी मन्त्र से अपना आसन भी बनाना चाहिये ॥ -१८-१९- ॥

इस विशेष उक्ति के द्वारा पूर्वोक्त अङ्गमन्त्रों का बाध दिखलाया गया । उक्त

तिरिक्ततामाह । शोभनमभेदव्याप्त्यावस्थितम्, स्वं चानन्तान्तमासनं स्वासनम् । यदुक्तं श्रीकालोत्तरे—

'बीजाङ्कुरं परा शक्त्या पश्चादानन्तमासनम् ।
अनन्तं चान्तगं कुर्यात् क्रमेणैव षडानन ॥' इत्यादि ॥

भगवतः सदाशिवाकारं ध्यानमाह—

चन्द्रार्बुदप्रतीकाशं हिमाद्रिनिचयोपमम् ॥ १९ ॥
पञ्चवक्त्रं विशालाक्षं दशबाहुं त्रिलोचनम् ।
नागयज्ञोपवीतं तु व्याघ्रचर्माम्बरच्छदम् ॥ २० ॥
बद्धपद्मासनासीनं सिद्धपद्मोपरिस्थितम् ।

देवं ध्यायेत् ॥

किं चास्य—

त्रिशूलमुत्पलं बाणमक्षसूत्रं समुद्गरम् ॥ २१ ॥
दक्षिणेषु करेष्वेवं वामेषु शृण्वतः परम् ।

श्लोक में एवकार अन्यूनता और अनतिरिक्तता को बतलाता है । (अब स्वासन शब्द का स्वारस्य बतलाते हैं—सु =) शोभन = अभेदव्याप्ति से स्थित, आसन अथवा स्व = अपना अनन्तपर्यन्त आसन स्वासन है । जैसा कि श्रीकालोत्तर[1] में कहा गया है—

'पहले शक्ति (= ॐकार) के द्वारा बीजांकुरण (= बीज को अङ्कुरित करे अर्थात् उसको तीस तत्त्वात्मक बनाये) बाद में अनन्तसम्बन्धी आसन होना चाहिये । हे षडानन ! अनन्त को क्रमशः अन्तगामी बनाना चाहिये' । इत्यादि ॥

भगवान् सदाशिव के आकार का ध्यान बतलाते हैं—

दश करोड़ (= असंख्य) चन्द्रमा के समान स्वच्छ कान्ति वाले, हिमालय के समूह के समान (विशाल), पाँच मुख वाले, विशाल आँखों वाले, दश भुजा तीन नेत्रों वाले, सर्प का यज्ञोपवीत और व्याघ्र के चमड़े का वस्त्र धारण किये हुए, पद्मासन लगाये सिद्ध कमल के ऊपर बैठे हुए ॥ -१९-२१- ॥

देव का ध्यान करना चाहिये ॥

तथा—

दायें हाथों में त्रिशूल, कमल, बाण, अक्षमाला, मुद्गर इसी प्रकार बायें हाथ में स्फेटक (= चोट पहुँचाने वाला अस्त्र-शस्त्र) दर्पण, धनुष,

---

१. द्रष्टव्य—सार्धत्रिशतिकालोत्तर तन्त्र ५.१.

स्फेटकादर्शचापं च मातुलुङ्गं कमण्डलुम् ॥ २२ ॥

स्फेटकमुद्यमनकम् ॥ २२ ॥

किं च—

चन्द्रार्धमौलिनं देवमापीतं पूर्ववक्त्रतः ।

ध्यायेत् ॥

अस्य च—

दक्षिणं कृष्णभीमोग्रं दंष्ट्रालं विकृताननम् ॥ २३ ॥
कपालमालाभरणं जगत्संत्रासकारकम् ।
पश्चिमं हिमकुन्दाभं वामं रक्तोत्पलप्रभम् ॥ २४ ॥
ऊर्ध्ववक्त्रं महेशानि स्फटिकाभं विचिन्तयेत् ।

स्पष्टम् ॥

एवं ध्यात्वा तु देवेशं पूजयेद्विधिपूर्वकम् ॥ २५ ॥

विधिः सिद्धान्तोक्तः प्रकारः ॥ २५ ॥

क्व पूजयेत् ?—इत्याह—

मातुलुङ्ग (= जम्भीरी नीबू) और कमण्डलु धारण किये हैं ॥ -२१-२२ ॥

स्फेटक = उद्यमनक (= ऊपर उठाकर फेंका जाने वाला अस्त्र) ॥ २२ ॥

और भी—

उनके शिर पर अर्धचन्द्र है और उनका पूर्व वक्त्र कुछ पीत है—इस प्रकार का ॥ २३- ॥

ध्यान करना चाहिये ॥

और—

दक्षिण मुख काला भयङ्कर, उग्र, विकृत, कपालमाला को धारण किये हुए तथा जगत् के सन्त्रास को उत्पन्न करनेवाला है । पश्चिम वाला मुख हिम अथवा कुन्द के समान तथा वाम (= उत्तरदिग्वर्त्ती) मुख लाल कमल के समान कान्तिवाला है । हे महेशानि ! ऊर्ध्व वक्त्र स्फटिक के समान है—ऐसा ध्यान करना चाहिये ॥ देवेश का इस प्रकार ध्यान कर उनकी विधिपूर्वक पूजा करनी चाहिये ॥ -२३-२५ ॥

विधि = सिद्धान्त में कथित प्रकार ॥ २५ ॥

कहाँ पूजन करे—यह बतलाते हैं—

स्वमूर्तौ स्थण्डिले लिङ्गे जले वा कमलोपरि ।

स्वमूर्तिर्मुख्येत्यादावुक्ता ॥

तत्र च—

ईशानाद्यांश्च सद्योऽन्तान् स्वदिक्षु प्रतिपूजयेत् ॥ २६ ॥

मूलमन्त्रेणैव ईशानपूर्वादिदिक्षु ईशानादिवक्त्रावरणक्रमेण प्रपूजयेत् ॥ २६ ॥

तदग्रे—

आग्नेय्यादौ हृदादीनि न्यस्येत् पूजाविधानतः ।

पूजाविधिनिमित्तमग्नीशरक्षोवायुविदिक्षु हृच्छिरःशिखाकवचानि, पूर्वादिदिक्चतुष्टयेऽस्त्रम्, देवाग्रे नेत्रमितीत्थमङ्गानि न्यस्येत् । तदुक्तं तत्रैव—

'आग्नेय्यां हृदयं न्यस्येदैशान्यां तु शिरस्तथा ।
नैर्ऋत्यां तु शिखां न्यस्येद्वायव्यां कवचं तथा ॥
अस्त्रं दिक्ष्वथ विन्यस्येत् कर्णिकायां सदाशिवम् ।'

(कालो० ७।७-८) इति ।

अपनी (= बहुरूप = मृत्युञ्जयभट्टारक की) मूर्त्ति (= शरीर) में, स्थण्डिल (= मिट्टी का चबूतरा), लिङ्ग, जल अथवा कमल के ऊपर (पूजा करे) ॥ २६- ॥

स्वमूर्त्ति मुख्य है—इत्यादि श्लोक में कथित ॥

ईशान से लेकर सद्योजात तक की अपनी-अपनी दिशाओं में पूजा करनी चाहिये ॥ -२६ ॥

ईशान पूर्व आदि दिशाओं में ईशान आदि मुखों के आवरणक्रम से मूलमन्त्र से ही पूजा करनी चाहिये ॥ २६ ॥

उसके आगे—

आग्नेयी आदि दिशाओं में पूजा के विधान के साथ हृदय आदि का न्यास करना चाहिये ॥ २७- ॥

पूजाविधि के लिये अग्नि ईशान नैर्ऋत एवं वायव्य कोणों में क्रमशः हृदय शिरः शिखा और कवच, पूर्व आदि चार दिशाओं में अस्त्र, देवता के अग्रभाग में नेत्र इस प्रकार अङ्गों का न्यास करे । वही वहाँ कहा गया—

'आग्नेयी दिशा में हृदय का, ऐशान दिशा में शिर, नैर्ऋत्य में शिखा, वायवी दिशा में कवच का न्यास करना चाहिये । (पूर्व आदि) दिशाओं में अस्त्र और कर्णिका में सदाशिव का न्यास करे ।' (कालो० ७।७-८)

नेत्रस्य ज्योतीरूपतया प्राधान्यात् कर्णिकाग्रे स्थानम् । यदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'ज्योतीरूपप्रतीकाशं नेत्रं मध्ये तु संस्थितम्।' (२।१११) इति ॥

यदा चैवं पूजयेत् कश्चित्—

तदा सिध्यत्यसंदेहं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २७ ॥

आराधकवर्ग इति शिवम् ॥

परानुग्रहहेवाकाश्रितसादाशिवाकृति ।
मृत्युजिज्जयति श्रीमच्छाङ्करं नेत्रमद्वयम् ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-
नेत्रोद्योते नवमोऽधिकारः ॥ ९ ॥

ज्योतिरूप होने के कारण नेत्र का प्रधानतया कर्णिका के अग्रभाग में स्थान है। जैसा कि स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया—

'ज्योतिरूप के समान नेत्र मध्य में स्थित है।' (२।१११)

जब कोई इस प्रकार पूजा करे—

'तो निःसन्देह सिद्ध हो जाता है यह मैं तुमसे सत्य कह रहा हूँ' ॥ -२७ ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के
नवम अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती
नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ९ ॥

(कोई) = आराधक वर्ग ॥

परानुग्रह के हेवाक (= उत्कट इच्छा) के कारण सदाशिव की आकृति को धारण करने वाला अद्वय और शोभायुक्त शाङ्कर नेत्र, जो कि मृत्युञ्जय है, सर्वोत्कर्षेण विराजमान है।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के नवम अधिकार की
आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य
राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ९ ॥

दशमोऽधिकारः

* नेत्रोद्योतः *

पाशराशिकवलीकृतिदक्षं दक्षिणं वपुरघोरममोघम् ।
भैरवं श्रयदनुग्रहहेतोः शाङ्करं जयति नेत्रमणुत्रम् ॥

पूर्वोद्दिष्टभैरवात्मतां भगवतो निर्णेतुं श्रीभगवानुवाच—

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि भैरवागमभेदितम् ।
भिन्नाञ्जनचयप्रख्यं कल्पान्तदहनात्मकम् ॥ १ ॥
पञ्चवक्त्रं शवारूढं दशबाहुं भयानकम् ।
क्षपामुखगणप्रख्यं गर्जन्तं भीषणस्वनम् ॥ २ ॥
दंष्ट्राकरालवदनं भ्रुकुटीकुटिलेक्षणम् ।
सिंहासनपदारूढं व्यालहारैर्विभूषितम् ॥ ३ ॥

---

* ज्ञानवती *

भैरवागमपद्धत्या पूजनं वर्णयन् विभोः ।
यामलीयस्वरूपस्य साङ्गस्याथ जयत्यजः ॥

पाशराशि का निगरण करने में दक्ष, अमोघ, अघोर दक्षिण अनुग्रह के लिये भैरवशरीर धारण करने वाला, जीवों का रक्षक शाङ्कर नेत्र सब से ऊर्ध्व में है ।

भगवान् की पूर्वोद्दिष्ट भैरवात्मता को बतलाने के लिये श्री भगवान् ने कहा—

अब मैं भैरवागमों में बतलाये गये (मृत्युञ्जय) का वर्णन करुँगा । वे भिन्न अञ्जनसमूह के समान, कल्पान्त अग्निवाले, पञ्चमुख, शव (= सदाशिव) पर बैठे हुए, दश भुजाओं वाले, भयानक, क्षपामुख (= सायंकाल) के गण देवताओं के मुख्य, गरजते हुए, भीषण स्वर वाले, दाँतों के कारण भयङ्कर मुख वाले, कुटिल भौंह और आँखों वाले, सिंहासन पर बैठे हुए, सर्प की माला से विभूषित, कपाल की माला धारण किये

कपालमालाभरणं दारितास्यं महातनुम् ।
गजत्वक्प्रावृतपटं शशाङ्ककृतशेखरम् ॥ ४ ॥
कपालखट्वाङ्गधरं खड्गखेटकधारिणम् ।
पाशाङ्कुशधरं देवं वरदाभयपाणिकम् ॥ ५ ॥
वज्रहस्तं महावीरं परश्वायुधपाणिकम् ।
भैरवं पूजयित्वा तु तस्योत्सङ्गगतां स्मरेत् ॥ ६ ॥
प्रलयाग्निसमाकारां लाक्षासिन्दूरसप्रभाम् ।
ऊर्ध्वकेशीं महाकायां विकरालां सुभीषणाम् ॥ ७ ॥
महोदरीं पञ्चवक्त्रां नेत्रत्रयविभूषिताम् ।
नखरालां कोटराक्षीं मुण्डमालाविभूषिताम् ॥ ८ ॥
भैरवोक्तभुजां देवीं भैरवायुधधारिणीम् ।
इच्छाशक्तिरिति ख्यातां स्वच्छन्दोत्सङ्गगामिनीम् ॥ ९ ॥
अघोरेशीति विख्यातामेतद्रूपधरां स्मरेत् ।

भैरवागमेषु दक्षिणस्रोतःसमुत्थेषु स्वच्छन्दचण्डत्रिशिरोभैरवादिषु भेदितं भेदसंहारित्वेन दीप्तविशिष्टरूपतया प्रतिपादितं भगवतो मृत्युजितः स्वरूपं वक्ष्यामि। भिन्नेत्यादिना भेदसंहर्तृत्वेनातिकृष्णमहादीप्तरूपतोक्ता । शवोऽत्र सदाशिवः । यथोक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

हुए, खुले मुख वाले, विशालकाय, हाथी के चमड़े से शरीर ढंकने वाले, मस्तक पर चन्द्रमा को धारण किये हुए, कपाल खट्वाङ्ग धारण करने वाले, खड्ग खेट (= तलवार, ढाल) धारी, पाश अंकुश, वरदमुद्रा एवं अभयमुद्राधारी, हाथ में वज्र लिये हुए, परशु नामक आयुध को धारण किये हुए हैं । इस प्रकार के भैरव का पूजन कर उनकी गोद में बैठी हुई (इच्छा शक्ति) का स्मरण करे । प्रलय अग्नि के समान आकार वाली, लाक्षा और सिन्दूर के समान कान्तिवाली, खड़े बालों एवं विशाल शरीर वाली, विकराल, भयङ्कर, बड़े उदरवाली, पाँच मुखों तीन नेत्रों वाली, बड़े नखों एवं गड्ढे में धँसी आँखों वाली, मुण्डमाला से विभूषित, भैरव के खाद्य पदार्थों का भोजन करने वाली, भैरव के शस्त्रों को धारण करने वाली, स्वच्छन्दभैरव की गोद में बैठी, अघोरेशी नाम से विख्यात इच्छाशक्ति नामक देवी का ध्यान करना चाहिये ॥ १-१०- ॥

भैरवागमों में = दक्षिणस्रोतः से उत्पन्न, स्वच्छन्द चण्ड भैरव त्रिशिरोभैरव आदि में, भेदित = भेदसंहारक के रूप में दीप्त विशिष्टरूप में प्रतिपादित, भगवान् मृत्युञ्जय के स्वरूप को बतलाऊँगा । भिन्नाञ्जन = इत्यादि कथन के द्वारा भेदसंहारक के रूप में अतिकृष्ण महादीप्तरूपता कही गयी । शव = सदाशिव । जैसा कि स्वच्छन्द तन्त्र में कहा गया—

'ब्रह्मविष्णुमहेशानं शवान्तं परिकल्पयेत्।' (९।३९) इति ।

गर्जन्तमिति नादामर्शपरम् । दारितं व्यात्तमाननं यस्य । गजत्वगेव प्रावृतः प्रावरणीकृतः पटो येन । कपालेत्यादि सव्यापसव्यक्रमेण दशभुजत्वनिर्णयाय । पूजयित्वेति अनेनैव मन्त्रेण हृदाद्यङ्गसहितमुक्तवक्ष्यमाणस्थित्या अमुष्यैव सर्वत्राधिकारात् । कोटराक्षीमित्यन्तर्लक्ष्यां बहिर्दृष्टिं च । इच्छाशक्तिरित्यनेनाकृतिमत्त्वेऽपि परव्याप्तिसारत्वमुक्तम् । न विद्यते घोरं भेदात्म भेदाभेदप्रधानं च रूपं यासां पराद्वयधामप्रथनात्मकानुग्रहकर्त्रीणाम्, ता अघोरा मरीचिरूपाः शक्तयस्तासामीशीं स्वामिनीं स्मरेत् पूजार्थं ध्यायेत् । यदत्र भैरवाकृतौ रहस्यमस्ति, तत स्वच्छन्दोद्द्योते वितत्य मया दर्शितम् तद्वदाकृत्यन्तरेष्वपि ज्ञेयम् । शिष्टं स्पष्टम् ॥

एतच्च परचिदात्मकस्वच्छन्दभैरवतदिच्छाशक्त्यात्मभैरवीयामलस्वरूपं मया—

सर्वतन्त्रेषु च प्रोक्तं प्रच्छन्नं न स्फुटीकृतम् ॥ १० ॥

सिद्धान्तेष्वपि निष्कलस्वतन्त्रपारमेशव्याप्तेर्भावात् ॥ १० ॥

केवलं गूढत्वात् तत्र—

'ब्रह्मा विष्णु महेश की शव पर्यन्त कल्पना करनी चाहिये ।' (९.३८)

गर्जना करते हुए = नाद का आमर्श करते हुए । दारित = बाँये (= खोले) मुँह वाले । हाथी का चर्म ही जिसका प्रावरण है वह । कपाल खट्वाङ्ग आदि का वर्णन उनके दायीं बायीं दश भुजाओं को बतलाता है । पूजा करके—इसी मन्त्र से हृदय आदि अङ्गों के सहित, क्योंकि उक्त एवं वक्ष्यमाण स्थिति के अनुसार इसी (मन्त्र) का सर्वत्र अधिकार है । कोटराक्षी—अन्तर्लक्ष्य बाह्य दृष्टिवाली (= शाम्भवी-मुद्रा धारण की हुयी) । इच्छाशक्ति के द्वारा यह कहा गया कि आकृतिमान् होने पर भी वह सर्वत्र व्याप्त है । (अघोरेशी) = जिनका घोर = भेदात्मक अथवा भेदाभेदात्मक रूप नहीं हैं तथा जो पर अद्वय तत्त्व का ज्ञान कराने वाली है वे किरणरूपी शक्तियाँ, उनकी ईश्वरी = स्वामिनी । उसका स्मरण = पूजा के लिये ध्यान, करे । भैरव की आकृति में जो रहस्य है उसे मैंने स्वच्छन्दोद्योत में विस्तार से कह दिया है । उसी प्रकार अन्य आकृतियों के भी विषय में जानना चाहिये । शेष स्पष्ट है ॥

परचिदात्मक स्वच्छन्दभैरव और उसकी इच्छाशक्तिरूपा भैरवी का यह यामल स्वरूप

सभी तन्त्रों में प्रच्छन्नरूप से कहा गया है, स्पष्ट नहीं किया गया ॥ -१० ॥

सिद्धान्त में भी निष्कल स्वतन्त्र पारमेश्वरी व्याप्ति है ही ॥ १० ॥

ममाशयो न केनापि लक्षितो भुवि दुर्लभः ।

स्थूलदृशो हि न रहस्यमाम्रष्टुं क्षमाः ।

तथा च श्रीकालोत्तरेऽपि—

'नादाख्यं यत्परं बीजं ।' (१।५)

इत्यादि,

'पञ्चैतानि तु तत्त्वानि यैर्व्याप्तमखिलं जगत् ।' (८।२) इति,
'एवं ज्ञात्वा महासेन श्वपचानपि दीक्षयेत् ।'

इत्याद्यतिरहस्यमन्यथा व्याकुप्येत ॥

एतत् प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमाह—

व्याधिनिग्रहणाद्येषु पापेषु क्षयहेतवे ॥ ११ ॥
गोब्राह्मणेषु रक्षार्थं शान्तौ पुष्टौ सदा यजेत् ।

व्याधिकृतं निग्रहणमाक्रमणम् । आदिशब्दादाध्यादयः । तेषु पापेषु शान्तये

केवल गूढ होने से वहाँ—

मेरे दुर्लभ आशय को इस धरती पर कोई नहीं जान पाया ॥ ११- ॥

स्थूल दृष्टि वाले लोग इस रहस्य का आमर्शन करने में सक्षम नहीं हैं ॥

श्री कालोत्तर तन्त्र में भी—

'नाद नामक जो पर बीज है ।' (१।५)

यहाँ से लेकर

'ये पाँच तत्त्व हैं जिनके द्वारा संसार व्याप्त है ।'

'हे महासेन ! इस प्रकार ज्ञान करने के बाद (ज्ञानी आचार्य) चाण्डालों को भी दीक्षा दे सकता है ।'

इत्यादि अति रहस्य अन्यथा कुपित हो जायेगा (अर्थात् अनुचित अर्थ भासित कराने लगेगा) ॥

प्रसङ्गतः इसका कथन कर अब प्रस्तुत को कहते हैं—

रोगों को हटाने के लिये, पापों का नाश करने के लिये, गो ब्राह्मण की रक्षा के लिये तथा शान्ति और पुष्टि कार्य में सदा (भैरव यामल की) पूजा करनी चाहिये ॥ -११-१२- ॥

व्याधि के द्वारा किया गया—निग्रह = आक्रमण । 'आदि' शब्द से आधि का

रक्षाशान्तिपुष्ट्यर्थं चैतद् भैरवयामलं यजेत । गोब्राह्मणेष्वित्येतदन्ताः सप्तम्यः षष्ठ्यर्थे ॥

अथवा हिमकुन्देन्दुमुक्ताफलसमद्युतिम् ॥ १२ ॥
चन्द्रकोटिसमप्रख्यं स्फटिकाचलसंनिभम् ।

भैरवयामलं ध्यायेत् ॥

कल्पान्तदहनप्रख्यं जपाकिंशुकसंनिभम् ॥ १३ ॥
सूर्यकोटिसमाकारं रक्तं वा तमनुस्मरेत् ।
अथवा पद्मरागाभं हरितालसमद्युतिम् ॥ १४ ॥

एकः कथं नाना ?—इत्याशङ्क्याह—

इच्छारूपधरं देवमिच्छासिद्धिफलप्रदम् ।

चिद्भैरव एव तत्तत्सिद्ध्यभिलाषुकतत्तत्साधकाशयेनेच्छया तत्तद्रूपं गृह्णातीत्यर्थः ॥

अतश्च—

भी ग्रहण करना चाहिये । उन पापों के होने पर उनकी शान्ति के लिये = रक्षा शान्ति और पुष्टि के लिये इस भैरवयामल की पूजा करनी चाहिये । 'गो ब्राह्मणेषु' इत्यादि सर्वत्र 'सप्तमी' विभक्ति का प्रयोग षष्ठी के अर्थ में किया गया है ॥

अथवा हिम, कुन्दपुष्प, कपूर, अथवा मुक्ताफल के समान कान्ति वाले, करोड़ों चन्द्रमा के समान चमक या शोभा वाले तथा स्फटिक पर्वत के समान भैरवयामल का ध्यान करना चाहिये ॥ -१२-१३- ॥

अथवा कल्पान्त (= महाप्रलय) की अग्नि के समान, जपा (= गुड़हल = अड़हुल) या किंशुक (= पलाश के फूल) के समान, कोटिसूर्य के समान आकार वाले लाल रंग के (भैरवयामल का), अथवा पद्मराग मणि की आभा के समान आभावाले हरिताल के समान चमक वाले भैरवयामल का ध्यान करे ॥ -१३-१४ ॥

प्रश्न—(यह भैरव) एक होते हुए अनेक कैसे हैं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

वह देव अपनी इच्छा के अनुसार रूप धारण करने वाले तथा इच्छानुरूप सिद्धि देने वाले हैं ॥ १५- ॥

चिद्भैरव ही तत्तत् सिद्धियों के अभिलाषी तत्तत् साधकों के आशय के अनुसार स्वेच्छया तत्तत् रूप का ग्रहण करते हैं ॥

इसलिये—

यादृशेनैव वपुषा साधकस्तमनुस्मरेत् ॥ १५ ॥
तादृशं भजते रूपं तादृक्सिद्धिप्रदं शुभम् ।

'चन्द्रकोटि' (१०।१३) इत्यादिरूपं देवं न प्राग्वत् शवारूढम्, अपि तु—

पद्ममध्यस्थितं ध्यायेत् पूजयेद्विधिना ततः ॥ १६ ॥
यथानुरूपनैवेद्यपुष्पधूपासवैर्विभुम् ।

विधिर्निरोधार्घदानादिः । यदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'पश्चादर्घः प्रदातव्यः सुरया सुसुगन्धया ।' (२।१३६)

इत्यादि । यथानुरूपं ध्यानानुसारि ॥ १६ ॥

प्रोक्तभैरवयामलस्य संमुखं प्राग्दक्षिणपश्चिमवामदिक्षु सिद्धारक्ताशुष्कोत्पलहस्ताख्या देवीः क्रमेणादिशति—

गोक्षीरसदृशीं देवीं हारहाससमप्रभाम् ॥ १७ ॥
सुशुद्धस्फटिकप्रख्यां कुन्देन्दुशशिनिर्मलाम् ।
चतुर्भुजां त्रिनेत्रां च वक्त्रैकेन विभूषिताम् ॥ १८ ॥

साधक (उस भैरव के) जिस प्रकार के शरीर को मन में रखकर उनका ध्यान करता है वे (= चिद् भैरव) उसी प्रकार के शुभ एवं सिद्धिप्रद रूप को धारण करते हैं ॥ -१५-१६- ॥

(यह रूप) इस अधिकार के १३ वें श्लोक में वर्णित 'चन्द्रकोटि' इत्यादि वाला है न कि पूर्व की भाँति शवारूढ बल्कि ।

कमल के मध्य में स्थित उनका ध्यान करना चाहिये । उसके बाद विधिपूर्वक उस व्यापक देव की यथानुरूप नैवेद्य पुष्प धूप आसव से पूजा करनी चाहिये ॥ -१६-१७- ॥

विधि = निरोध अर्घदान आदि, जैसा कि स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया—

बाद में सुगन्धित सुरा से अर्घ देना चाहिये (२।१३-)

यथानुरूप = ध्यान के अनुसार ॥ १६ ॥

उपर्युक्त भैरवयामल के सम्मुख पूर्व दक्षिण पश्चिम एवं उत्तर दिशाओं में क्रमशः सिद्धा रक्ता शुष्का और उत्पलहस्ता नामक देवियों को बतलाते हैं—

गाय के दूध के समान = (हर = भगवान् शंकर के) हास (अथवा हीरा के हार एवं हास[1]) के समान कान्तिवाली, सुन्दर शुद्ध स्फटिक के समान शोभावाली, कुन्द पुष्प कपूर एवं चन्द्रमा के समान निर्मल, चार

---

१. साहित्य शास्त्र में हास को स्वच्छ उज्जवल कहा गया है ।

सिताम्बरधरां देवीं सितहारविभूषिताम् ।
सारङ्गासनसंस्थां तु वज्रहस्तां महाबलाम् ॥ १९ ॥
पाशाङ्कुशधरां देवीं घण्टाध्वनिनिनादिनीम् ।
पूर्वस्यां दिशि तिष्ठन्तीं देवदेवस्य संमुखीम् ॥ २० ॥
यस्तु ध्यायति युक्तात्मा क्षिप्रं सिध्यत्यसौ नरः ।

इन्दुः कर्पूरम् सारङ्गो हरिणः । देवाभिमुख्येन दिक्पूर्वा ॥

सिद्धामुक्त्वा, रक्तामाह—

सूर्यकोटिसमप्रख्यां ज्वलिताग्निसमप्रभाम् ॥ २१ ॥
सिन्दूरराशिसदृशीं विद्युद्रूपां भयङ्कराम् ।
त्रिनेत्रां भीमवदनां स्थूलकायां महोदरीम् ॥ २२ ॥
लम्बोदरीं लम्बकुचां प्रेतारूढां महाबलाम् ।
कपालमालाभरणां व्याघ्रचर्मकटिस्थलाम् ॥ २३ ॥
गजचर्मोत्तरीयां च मुण्डमालाविभूषिताम् ।
महोल्कामिव राजन्तीं भासयन्तीं दिगम्बराम् ॥ २४ ॥
चतुर्भुजामेकवक्त्रां खड्गखेटकधारिणीम् ।
कपालखट्वाङ्गधरां दक्षदिक्संस्थितां स्मरेत् ॥ २५ ॥

भुजाओं तीन नेत्रों और एक मुख वाली, श्वेतवस्त्र धारण की हुयी, श्वेत हार से विभूषित, हिरण पर सवार, अत्यन्त बलशाली, वज्र, पाश, अंकुश को हाथों में धारण की हुयी और एक हाथ से घण्टा बजाने वाली, देवाधिदेव के समक्ष पूर्व दिशा में बैठी हुयी (सिद्धा) देवी का जो युक्तात्मा ध्यान करता है वह शीघ्र ही सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ -१७-२१- ॥

इन्दु = कपूर । सारङ्ग = हिरण । देवता के सामने = पूर्वदिशा में ॥

सिद्धादेवी का वर्णन कर रक्ता को बतलाते हैं—

करोड़ों सूर्य के समान कान्तिवाली, जलती हुयी अग्नि के समान प्रभावाली, सिन्दूर की राशि जैसी, बिजली के रूपवाली भयङ्करी, तीन नेत्रों, भयङ्कर मुख, स्थूल शरीर, बड़े पेट, लम्बे उदर तथा लम्बे स्तनों वाली, प्रेतपर आरूढ़, महाबला, कपालमाला का आभूषण धारण की हुयी, कमर में बाघ का चर्म लपेटे हुयी, ऊपर हाथी का चमड़ा धारण की हुयी, मुण्डमाला से विभूषित, बड़ी उल्का के समान दिशाओं को प्रकाशित करती हुयी, नग्न शरीर चार भुजाओं तथा एक मुख वाली, तलवार ढाल, कपाल और खट्वाङ्ग को धारण की हुयी दक्षिण दिशा में स्थित (रक्ता देवी) का

दिगम्बरामिति गजचर्मोत्तरीयामित्येतदपेक्षोऽयमर्थाद्विकल्पः ॥ २५ ॥

शुष्कामाह—

कृष्णारुणां महादीप्तां निर्मांसां विकृताननाम् ।
सुशुष्कां कोटराक्षीं च एकवक्त्रां चतुर्भुजाम् ॥ २६ ॥
त्रिनेत्रां भीमवदनां व्यालहारविभूषिताम् ।
ऊर्ध्वकेशीं महाकायां मुण्डमालाविभूषिताम् ॥ २७ ॥
स्नायुरज्जुनिबद्धाङ्गीं नरचर्मकटिच्छदाम् ।
व्याघ्रचर्माम्बरधरां खड्गखेटकधारिणीम् ॥ २८ ॥
अन्त्रासृङ्मांससंपूर्णपिटकं बिभ्रतीं करे ।
त्रोटयन्तीं महान्त्राणि पश्चिमायां दिशि स्मरेत् ॥ २९ ॥
कुम्भीरासनसंस्थां तु देवदेवस्य संमुखाम् ।

सुशुष्कत्वादेव स्नायुरज्जुषु निबद्धान्यङ्गानि यस्याः, पिटकं पात्रविशेषः ॥

आसनेऽस्याः यः कुम्भीर उक्तः, स चैवमधुनोच्यते—

उष्ट्रग्रीवो गजस्कन्धो ह्यश्वकर्णो हुडाननः ॥ ३० ॥

ध्यान करे ॥ -२१-२५ ॥

'दिगम्बरा' और 'गजचर्मोत्तरीया' कहने का तात्पर्य यह है कि दोनों में से एक ही रूप का ध्यान करना चाहिये ॥ २५ ॥

शुष्का को बतलाते हैं—

कुछ काली कुछ लाल, अत्यन्त दीप्त, मांसरहित, विकृत मुखवाली, शुष्क, कोटराक्षी, एक मुख चार भुजाओं तीन नेत्रोंवाली, भीमवदना, साँपों के हार से विभूषित, ऊपर खड़े बालों से युक्त विशाल शरीर वाली, मुण्डमाला धारण की हुयी, स्नायु की रस्सी से बद्ध अङ्गों वाली, आदमी के चमड़े को कटि में पहनी हुयी, बाघ के चमड़े से ढँकी शरीर वाली, खड्ग खेटक को धारण की हुयी, आँत, रक्त, माँस से पूर्ण पिटारी को हाथ में ली हुयी, बड़ी-बड़ी आँतों को तोड़ती हुयी (शुष्का देवी का) पश्चिम दिशा में ध्यान करे । यह देवी कुम्भीर पर सवार तथा देवाधिदेव के सम्मुख स्थित रहती है ॥ २६-३०- ॥

सुशुष्क होने से ही स्नायुरूपी रस्सियों से इसके अङ्ग बँधे मालुम पड़ते हैं । पिटक = एक पात्र (= ढक्कन वाला बर्तन)॥

इसके आसन के विषय में जो कुम्भीर कहा गया अब उसको बतला रहे हैं—

उसकी गर्दन ऊँट की गर्दन के समान, कन्धे हाथी के कन्धे के समान

व्याडजङ्घोपमाकारो वज्रायुधनखोपमः ।
कूर्मपृष्ठो मीनपुच्छः कुम्भीरः परिकीर्तितः ॥ ३१ ॥

हुडस्य मेषस्येव आननं यस्य । वज्राख्येनायुधेन नखोपमा यस्य ॥ ३१ ॥

उत्पलहस्तामाह—

नीलोत्पलदलश्यामा शारदाम्बरसंनिभा ।
त्रिनेत्रा चैकवक्त्रा च नीलाम्बरविभूषिता ॥ ३२ ॥
सिंहपृष्ठसमारूढा शरचापकरोद्यता ।
शक्तिहस्ता महादेवी ध्याता चेष्टफलप्रदा ॥ ३३ ॥
सिद्धा रक्ता तथा शुष्का तथा चोत्पलहस्तिका ।
चतुर्दिक्षु स्थिता देव्यो भैरवस्य गणाम्बिके ॥ ३४ ॥

किं च—

विदिक्षु दूत्यो विन्यस्या वह्न्यादीशदिगन्ततः ।
काली चैव कराली च महाकाली तथैव च ॥ ३५ ॥
भद्रकालीति विख्याता देवीरूपेण संस्थिताः ।

एताश्च क्रमेण—

कान घोड़े के कान जैसे और मुख भेड़ का है । आकार व्याड (चीता, शेर) की जङ्घा जैसा है उसके नख वज्र के समान हैं; पीठ कछुये की पीठ जैसी पूँछ मछली जैसी है । यही कुम्भीर कहा गया है ॥ -३०-३१ ॥

हुड = भेंड़ के मुख के समान मुख वाला । जिसके नख की उपमा वज्रायुध की है ॥ ३१ ॥

उत्पलहस्ता को बतलाते हैं—

नील कमल की पंखुड़ी के समान श्याम, शरत्कालीन बादल के समान, तीन नेत्रों और एक मुख वाली, नील वस्त्र से विभूषित, सिंह की पीठ पर सवार, हाथ में धनुष, बाण, शक्ति (एवं अभयमुद्रा) धारण की हुयी महादेवी ध्यान किये जाने पर इष्ट फल को देती है । हे गणों अथवा गणेश की माता ! सिद्धा रक्ता शुष्का और उत्पलहस्ता भैरव की ये चारो देवियाँ चारो दिशाओं में स्थित हैं ॥ ३२-३४ ॥

और भी—

अग्नि कोण से लेकर ईशान कोण तक चार विदिशाओं में दूतियों का न्यास करना चाहिये । काली, कराली, महाकाली और भद्रकाली नाम से विख्यात वे दूतियाँ देवी के रूप में स्थित है ॥ ३५-३६- ॥

किन्त्वेता द्विभुजा देव्यः पद्मासनमवस्थिताः ॥ ३६ ॥
कर्तिकामुण्डधारिण्यः..........

सर्वा एव । कर्तिका वीरकर्तिका ॥

किं च—

...............किङ्करा द्वारदेशतः ।

क्रमेण चतुर्षु द्वारेषु—

क्रोधनो वृन्तकश्चैव कर्षणोऽथ गजाननः ॥ ३७ ॥
द्विभुजा विकृतास्याश्च खड्गखेटकपाणयः ।

एतच्च देव्यष्टकस्य किङ्कराणां च मुख्यभैरवयामलपरिवारत्वे रूपमुक्तम् ॥

काम्यविषये त्वाह—

शान्त्यर्थं तु सिताः सर्वे...........

सर्वे च सर्वाश्च इत्येकशेषः ॥

और ये क्रम से—

दो भुजाओं वाली देवियाँ कमलासन पर बैठी हैं तथा कर्त्तिका (=छोटी तलवार या कैंची) तथा मुण्ड (हाथ में) लिये हुए हैं ॥ -३६-३७- ॥

कर्त्तिका = वीरकर्त्तिका (= कैंची चाकू जैसा घातक हथियार) ॥ ३६ ॥

तथा—

द्वार प्रदेश में किङ्करों (को नियुक्त करे) ॥ -३७- ॥

क्रमशः चारो द्वारों पर—

क्रोधन, वृन्तक, कर्षण और गजानन की नियुक्ति करे । (ये सब) दो भुजावाले, विकृत मुखों वाले तथा हाथ में खड्ग और ढाल लिये होते हैं ॥ -३७-३८- ॥

ये आठ देवियाँ और किङ्कर मुख्य भैरवयामल के परिवार के रूप में कहे गये हैं ॥

काम्य कर्म के विषय में कहते हैं—

शान्तिकर्म के विषय में सब (देवतायें और किङ्कर) श्वेत वर्ण के होते हैं (ऐसा ध्यान करे) ॥ -३८- ॥

'सर्वे' शब्द में एकशेष समास हैं । (विग्रह है—सर्वे च; सर्वाश्च । 'पुमान् स्त्रिया' (पा.सू. १.२.६७) से यहाँ पुल्लिङ्ग का प्रयोग है) ॥

.............रूपं वा कर्मभेदतः ॥ ३८ ॥

एषां ध्यायेत् । 'वश्ये रक्तं स्तम्भे पीतम्' इत्यादिकम्, किङ्करान्तश्च परिवारो मूलमन्त्रेण पूज्य इति भाविरक्षाविधेर्ज्ञातम् ॥ ३८ ॥

तदाह—

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि राजरक्षां विधानतः ।
मन्त्रसंपुटयोगेन मध्ये नाम समालिखेत् ॥ ३९ ॥
तदूर्ध्वे भैरवं देवममृतेशं यजेत् प्रिये ।
देव्यो दलेषु तेनैव तथैवाद्यन्तयोजिताः ॥ ४० ॥
दूत्यस्तथा नियोज्यन्ते मूलमन्त्रेण किङ्कराः ।
पद्मबाह्ये सुशुल्कं तु लिखेत्तच्छशिमण्डलम् ॥ ४१ ॥
चतुष्कोणं तु तद्बाह्ये वज्रलाञ्छनलाञ्छितम् ।
रोचनाकुङ्कुमेनैव क्षीरेण सितया तथा ॥ ४२ ॥
लिखित्वा पूजयेच्छान्तौ सर्वश्वेतोपचारतः ।
यथानुरूपनैवेद्यैर्घस्मरैर्बलिनासवैः ॥ ४३ ॥

गोरोचनाकुङ्कुमक्षीरसितशर्करोल्लिखितपद्मकर्णिकामध्ये साध्यनाम प्राग्वद् नेत्र-

---

अथवा कर्म के भेद से इनके रूप का ध्यान करना चाहिये ॥ -३८ ॥

'वश्य कर्म में रक्त रूप एवं स्तम्भन कार्य से पीत रूप (का ध्यान करे)' इत्यादि ।

किङ्करपर्यन्त (भैरवयामल के) परिवार की मूल मन्त्र से पूजा करनी चाहिये— यह भावीरक्षा विधि से ज्ञात है ॥ ३८ ॥

वही कहते हैं—

अब विधि के साथ राजरक्षा का विधान बतलाऊँगा । (पद्मकर्णिका के) मध्य में मन्त्र से सम्पुटित साध्य का नाम लिखे । हे प्रिये ! उसके ऊपर अमृतेश भैरव की पूजा करे । उसी (= मूल मन्त्र) से दलों में आद्यन्त योजित देवियों दूतियों की पूजा करें । किङ्करों का भी मूलमन्त्र से नियोजन करे । कमल के बाहर चन्द्रमण्डल को सुशुक्ल (= अच्छी तरह सफेद) लिखना चाहिये । उसके बाहर चारो कोणों को वज्र से चिह्नित करे । गोरोचन, कुङ्कुम, क्षीर (= घृत) एवं चीनी से उनको लिखकर पूजा करे । शान्तिकर्म में सब सामग्री श्वेत होनी चाहिये । उसी के अनुरूप नैवेद्य और खाने योग्य बलि तथा आसव से पूजा करे ॥ ३९-४३ ॥

गोरोचना, कुङ्कुम, घी ,चीनी से लिखित कमल की कर्णिका के मध्य में साध्य

मन्त्रसंपुटितं चन्द्रमण्डलगतं लिखित्वा, तत्पृष्ठे मूलेनैवामृतेशभैरवं प्रकरणात् सदेवीकं पूजयेत् । प्रागुक्तदिक्क्रमेण देवीर्दूतीश्च दलेषु मन्त्रसंपुटिता नामतो लिखित्वार्चयेत् । चतुर्षु दिग्दलाग्रेषु तथैव मन्त्रसंपुटितान् किङ्करान् लिखित्वा बहिर्वज्रलाञ्छितं चतुरश्रं कृत्वा क्रमेण मन्त्रचक्रमेतद् राजरक्षार्थं सर्वश्वेतोपचारैर्महासंभारैरर्चयेत् । नैवेद्यैर्यो बलिस्तेन सहितैरासवैरिति संबन्धः ॥ ४३ ॥

एवमर्चां कृत्वा—

सितचन्दनसंमिश्रान् कर्पूरक्षोदधूसरान् ।
साक्षतांस्तण्डुलतिलान् सितशर्करया सह ॥ ४४ ॥
घृतक्षीरसमायुक्तान् होमयेद्यस्तु यत्नधीः ।

यत्ने पराप्यायनादौ धीर्ध्यानसंविद्यस्य ॥

यदर्थं होमं कुर्यात्तस्य—

महाशान्तिर्भवेत् क्षिप्रं गृहीतो यदि मृत्युना ॥ ४५ ॥

का नाम पूर्व की भाँति नेत्रमन्त्र से सम्पुटित चन्द्रमण्डल के भीतर लिखकर उसके पीछे मूल मन्त्र से ही प्रकरणानुसार देवी के सहित अमृतेश भैरव की पूजा करे । पूर्वोक्त दिशाक्रम से देवियों और दूतियों को मन्त्र से सम्पुटित नामपूर्वक लिख कर उनकी पूजा करे । चारो दिग्दलाग्रों में उसी प्रकार मन्त्र से सम्पुटित किङ्करों को लिख कर बाहर वज्र से चिह्नित क्रम से चौकोर बनाकर राजरक्षा के लिये इस मन्त्रचक्र की श्वेत वस्तुओं के द्वारा विस्तृतरूप से पूजा करे । बलि के साथ आसव का नैवेद्य निवेदन करे ॥ ४३ ॥

इस प्रकार पूजा कर—

सफेद चन्दन, कपूर का चूर्ण, अक्षत तण्डुल, तिल, चीनी, घी, दूध को मिलाकर यत्नपूर्वक जो विद्वान् हवन करेगा, ॥ ४४-४५- ॥

यत्नधी = यत्न अर्थात् परम आप्यायन आदि में, धी = ध्यान है जिसका ।

जिसके लिये होम किया जाय वह साध्य,

यदि वह मृत्यु से ग्रसित है तो भी उसको शीघ्र महाशान्ति मिलेगी ॥ -४५ ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के दशम अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १० ॥

मृत्युनापि यद्याक्रान्तः साध्यस्तस्य रक्षाचक्रार्चाहोमतः शान्तिर्भवत्येवेति शिवम् ॥

व्याधीनामगदं दिव्यमाधीनां मूलकर्तनम् ।
उपद्रवाणां दलनं श्रये चिन्नेत्रभैरवम् ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योते दशमोऽधिकारः ॥ १० ॥

यदि मृत्यु से भी आक्रान्त है तो उसको रक्षाचक्र की पूजा तथा होम से शान्ति मिलती ही है ॥

व्याधियों को दूर करने के लिये दिव्य औषधि आधियों का मूलच्छेद करने वाले और उपद्रवों के नाशक चिन्नेत्रभैरव का आश्रयण करता हूँ ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के दशम अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १० ॥

एकादशोऽधिकारः

*** नेत्रोद्योतः ***

सर्वसौभाग्यसंभोगवमनं वामदर्शनम् ।
दर्शयत्परमानन्दि नौमि नेत्रं त्रिशूलिनः ॥

दक्षिणस्रोतोऽनुष्ठानात्मतां मृत्युजिन्नाथस्य प्रदर्श्य, वामदर्शनात्मतादर्शनाय श्रीभगवानुवाच—

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि तन्त्रमुत्तरमुत्तमम् ।
मन्त्रेणानेन यष्टव्यं सर्वसिद्धिफलोदयम् ॥ १ ॥

उत्तमत्वमस्य पराद्वयसारैतन्मन्त्रव्याप्तियुक्त्यैव ॥ १ ॥

*** ज्ञानवती ***

वामस्रोतसमपेक्ष्य पूजनं तुम्बुरोः सहितदूतिकिङ्करम् ।
वर्णयत्परमचक्रपद्धतिं नौमि नेत्रमखिलोपकारकम् ॥

समस्त सौभाग्य एवं सम्यक् भोग को देने वाले, (वाम =) सुन्दर दर्शन वाले (अथवा वाममार्ग को दिखाने वाले) परम आनन्द को दिखलाने वाले त्रिशूली के नेत्र को हम नमस्कार करते हैं ।

मृत्युञ्जयभट्टारक की दक्षिणाम्नायसम्बन्धी अनुष्ठानविधि को बतलाने के बाद अब वामदर्शनात्मता को दिखलाने के लिये श्री भगवान् ने कहा—

अब मै उत्तम उत्तरतन्त्र को बतलाऊँगा । समस्त सिद्धियों के फल को देने वाले का इस (= मूलभूत नेत्र) मन्त्र से पूजन करना चाहिये ॥ १ ॥

इसकी उत्तमता इसलिये है कि यह पराद्वय के सारभूत इस मन्त्र की व्याप्ति वाला है ॥ १ ॥

तत्र—

सर्वोपद्रवशान्त्यर्थमष्टपत्रे कुशेशये ।
पूर्वोक्तमण्डले देवि मध्ये देवं च तुम्बुरुम् ॥ २ ॥
दशबाहुं सुरेशानं पञ्चवक्त्रं त्रिलोचनम् ।

मूलमन्त्रन्यस्तासनोपरि मूलेनैव विन्यस्य—

सादाशिवेन वपुषा वक्त्राण्यस्य प्रकल्पयेत् ॥ ३ ॥

मूलेनैव ॥ ३ ॥

तं चार्धचन्द्रशिरसं राजीवासनसंस्थितम् ।
हिमकुन्देन्दुधवलं तुहिनाचलसंनिभम् ॥ ४ ॥
नागयज्ञोपवीतं च सर्पभूषणभूषितम् ।
सर्वाभरणसंयुक्तं व्याघ्रचर्मकटिस्थलम् ॥ ५ ॥
गजचर्मपरीधानं वृषारूढं महाबलम् ।
खड्गचर्मधरं देवं टङ्ककन्दलभूषितम् ॥ ६ ॥
पाशाङ्कुशधरं देवं चक्रहस्ताक्षसूत्रिणम् ।
वरदाभयहस्तं च सर्वकिल्विषनाशनम् ॥ ७ ॥

ध्यायेत् । राजीवासनं शुद्धविद्यापद्मव्याप्त्या, तदुपरि वृषभो नादशक्तिव्याप्त्या,

---

उस (अनुष्ठान) में—

हे देवि ! समस्त उपद्रवों की शान्ति के लिये अष्टदल कमल के ऊपर पूर्वोक्त मण्डल के मध्य में दश भुजा पाँच मुख तीन नेत्रों वाले तुम्बुरु देव (की स्थापना करनी चाहिये) ॥ २-३- ॥

इसके मुखों की कल्पना सदाशिव के शरीर (मूलमन्त्र) के द्वारा करनी चाहिये ॥ -३ ॥

मूलमन्त्र के द्वारा ॥ ३ ॥

शिर पर अर्धचन्द्र, कमल के आसन पर स्थित, हिम कुन्द चन्द्रमा के समान धवल, बर्फ के पर्वत के समान विशाल नाग का यज्ञोपवीत धारण किये, सर्प के अलङ्कार से अलङ्कृत, समस्त आभूषणों से युक्त, कटिप्रदेश में व्याघ्रचर्म धारण किये, हाथी का चर्म ओढ़े हुए, बैल पर सवार, महाबली, हाथ में खड्ग और ढाल, कुठार और कपाल, पाश और अङ्कुश, चक्र और अक्षमाला, वरद एवं अभय मुद्रा धारण किये हुए, समस्त पापों के नाशक के रूप में उनका ध्यान करना चाहिये ॥ ४-७ ॥

कमलासन-शुद्धविद्या की व्याप्ति के कारण । उसके ऊपर वृषभ = नाद शक्ति

तदुपरि चिन्मूर्तिर्देवः । टङ्कः आयुधविशेषः । कन्दं कपालम् ॥ ७ ॥

अस्य च—

सर्वदिक्षु स्थिता देव्यः पूर्वादौ दूत्य एव च ।
आग्नेय्यादिविदिक्ष्वेवं किङ्करा द्वारदेशतः ॥ ८ ॥

दूतीः किङ्करांश्च नामत उद्दिशति—

जम्भनी मोहनी चैव सुभगा दुर्भगा तथा ।
दूतयस्तु समाख्याताः किङ्करान् शृण्वतः परम् ॥ ९ ॥
क्रोधनो वृन्तकश्चैव गजकर्णो महाबलः ।

तुम्बुरुनाथस्य—

सव्यापसव्ये गायत्रीं सावित्रीं विनिवेशयेत् ॥ १० ॥
अध ऊर्ध्वेऽङ्कुशं मायां विन्यस्येत्तदनन्तरम् ।

तदनन्तरमिति—किङ्करास्तु समस्तमन्त्रचक्रस्य बहिः ।

इत्थं क्रमेण—

सर्वाण्येतानि योज्यानि मूलमन्त्रेण सर्वदा ॥ ११ ॥

एषां ध्यानमाह—

की व्याप्ति के कारण, उसके ऊपर चिन्मूर्त्ति देव । टङ्क = एक प्रकार का शस्त्र (= कुल्हाड़ी), कन्दल = कपाल ॥ ७ ॥

इसके चारों ओर पूर्व आदि चारों दिशाओं में देवियाँ और आग्नेयी आदि विदिशाओं में दूतियाँ तथा द्वारदेश में किङ्कर स्थित हैं ॥ ८ ॥

दूतियों और किङ्करों का नाम बतलाते है—

जम्भनी, मोहनी, सुभगा और दुर्भगा ये दूतियाँ कही गयी हैं । इसके बाद किङ्करों को सुनो । वे है—क्रोधन, वृन्तक, गजकर्ण और महाबल ॥ ९-१०- ॥

तुम्बुरुनाथ के—

बायें दायें गायत्री और सावित्री का विनिवेश करे । उसके बाद नीचे और ऊपर अङ्कुश और माया का न्यास करे ॥ -१०-११- ॥

उसके बाद—किङ्करों को समस्त मन्त्रचक्र के बाहर रखे ॥

इस प्रकार क्रमशः—

इन सबकी सदा मूल मन्त्र से योजना करे ॥ -११ ॥

सितरक्तपीतकृष्णा देव्यो वै चतुराननाः ।

आसां मध्यात्—

चतुर्भुजा त्रिनेत्रा च टङ्ककन्दलधारिणी ॥ १२ ॥
दण्डाक्षसूत्रहस्ता च प्रेतोपरि विराजते ।
जया देवी तु विजया रक्तवर्णा चतुर्भुजा ॥ १३ ॥
चतुर्वक्त्रा त्रिनेत्रा च शरकार्मुकधारिणी ।
खड्गचर्मधरा देवी ह्युलूकोपरि संस्थिता ॥ १४ ॥
अजिता पद्मगर्भा च चतुर्वक्त्रा चतुर्भुजा ।
शक्तिघण्टाधरा देवी चर्मपट्टिसधारिणी ॥ १५ ॥
अश्वारूढा महादेवी सर्वाभरणभूषिता ।

अजिता जयन्ती ॥

भिन्नेन्द्रनीलसदृशी चतुर्वक्त्रा विभूषिता ॥ १६ ॥
चतुर्भुजा त्रिनेत्रा च पाशाङ्कुशधरा तथा ।
रत्नपात्रगदाहस्ता दिव्यासनसुसंस्थिता ॥ १७ ॥
सौवर्णाम्बरसंवीता स्वर्णभूषणभूषिता ।

इनका ध्यान बतलाते हैं—

ये देवियाँ श्वेत, रक्त, पीत एवं कृष्ण वर्ण की तथा चार मुखों वाली हैं ॥ १२- ॥

इनमें से—

जया नामक देवी चारभुजाओं तीन नेत्रों वाली, कुठार-कपाल-धारिणी, हाथ में दण्ड और अक्षमाला धारण कर प्रेत के ऊपर विराजमान है । विजया रक्तवर्णा, चतुर्भुजा, चतुर्वक्त्रा, त्रिनेत्रा, धनुषबाण धारण करने वाली, खड्ग एवं ढाल धारण कर उल्लू के ऊपर स्थित है । अजिता

अर्थात् जयन्ती

जो कि पद्मगर्भा (= इसकी नाभि से कमल निकला है) है, चार मुख, चार भुजा वाली है । यह देवी हाथ में शक्ति घण्टा चर्म और पट्टिस (= तेजधार की बर्छी) धारण की हुयी है । सर्वाभरणभूषिता यह देवी घोड़े पर सवार है ।

अपराजिता

नीलम के समूह की भाँति, चारमुख, चारभुजा, तीन नेत्र वाली; हाथ में रस्सी, अङ्कुश, रत्नपात्र, गदा धारण की हुयी, सोने का वस्त्र स्वर्ण के

अपराजितेत्यर्थात् ।

एताश्च—

स्वदिक्षु संस्थिता इष्टा ध्याताः सिद्धिफलप्रदाः ॥ १८ ॥

विदिक्षु तु—

दूत्यस्तद्रूपधारिण्यः किन्तु वक्त्रैकभूषिताः ।
द्विभुजाश्च त्रिनेत्राश्च मुण्डकर्तरिभूषिताः ॥ १९ ॥

क्रमेणैव—

मत्स्यः कूर्मस्तु मकरो भेकस्तासां तथासनम् ।

किं च—

किङ्कराः खड्गहस्ताश्च द्विभुजाश्चर्मधारिणः ॥ २० ॥
एकवक्त्रास्त्रिनेत्राश्च भ्रुकुटीकुटिलेक्षणाः ।
सितादिवर्णभेदेन ध्याताः सिद्धिफलप्रदाः ॥ २१ ॥

सितादीत्यादिशब्दाद् रक्तपीतकृष्णाः ॥

आभूषण को धारण की हुयी दिव्य आसन पर बैठी है ॥ -१२-१८- ॥

अपनी-अपनी दिशाओं में स्थित ये देवियाँ इष्ट होने पर ध्यान किये जाने पर सिद्धि देती हैं ॥ -१८ ॥

विदिशाओं में—

दूतियाँ भी उन्हीं (देवियों) का रूप धारण की होती हैं किन्तु उनके एक मुख दो भुजायें और तीन नेत्र होते हैं । वे मुण्ड एवं कैंची धारण की होती हैं ॥ १९ ॥

उनके आसन क्रम से मछली, कछुआ, घड़ियाल और मेढक होते हैं ॥ २०- ॥

और भी—

(द्वारदेशस्थ) किङ्कर हाथ में खड्ग और ढाल लिये होते हैं । वे दो भुजा, एकमुख, तीन नेत्रों वाले होते हैं । भौहें और आँखें टेढ़ी होती हैं । सित आदि वर्ण के भेद से ध्यान किये गये वे सिद्धि का फल देते हैं ॥ -२०-२१ ॥

'सितादि'—यहाँ 'आदि' पद से रक्त पीत और कृष्ण अर्थ लिया जाता है ॥

गायत्री रक्तवर्णाभा वक्त्रैकेन विभूषिता ।
बद्धपद्मासनासीना ध्यानोन्मीलितलोचना ॥ २२ ॥
सावित्री सितवर्णेन ध्यानान्तर्गतलोचना ।
तथैवावयवा देवी.........

तथैवावयवेत्येकवक्त्रा देवी चतुर्भुजा च, किन्तु पाशाङ्कुशपुस्तकाक्षसूत्रकरा इयम् । देवीति गायत्री सावित्री च ॥

किं च—

.....माया कृष्णा चतुर्भुजा ॥ २३ ॥
महापटावगूहिन्यासंपुटाकारयुग्मतः ।

महेति विततेनाख्यातिव्याप्तिना पटेन पार्श्वगपाशाङ्कुशवत् करयुग्मधृतेन शिरःस्थेन निगूहत्याच्छादयति विश्वमवश्यम्, तथा आ ईषत् संपुटाकारेण युग्मेनान्तःकृतविश्वाच्छादनव्याप्तिना करद्वयेनोपलक्षिता ॥ २३ ॥

किं च—

अङ्कुशो भैरवाकारः पाशाङ्कुशधरो विभुः ॥ २४ ॥
कपालखट्वाङ्गधरो वसाऽसृङ्मांसलम्पटः ।

गायत्री रक्तवर्ण की और एक मुख वाली है । पद्मासन बाँधकर बैठी वह ध्यान करती हुयी आँखे खुली रखती है । सावित्री का रंग श्वेत है और ध्यान करती हुयी आँखें बन्द रखती है । ये देवियाँ उसी प्रकार अवयवों वाली हैं ॥ २२-२३- ॥

उसी प्रकार अवयव = एक मुख चार भुजाओं वाली । किन्तु यह देवी (= सावित्री) पाश अङ्कुश पुस्तक और अक्षमाला हाथ में लिये हैं । देवी = गायत्री और सावित्री ॥

और भी—

माया कृष्णा (= काले रंग की एवं) चारभुजा वाली है । महापट से (अपने को) ढँके हुए हैं तथा दोनों (हाथ) कुछ सम्पुटित हैं ॥ २३-२४-॥

महापट = विस्तृत अख्याति व्याप्ति (= अज्ञान) वाले पार्श्वगामी पाश अङ्कुश के समान दोनों हाथों से पकड़े गये शिरःस्थित पट के द्वारा विश्व को ढँक रही है । तथा कुछ सम्पुटाकार तथा जिसके भीतर समस्त विश्व आच्छादित हैं ऐसे दो हाथों वाली है ॥ २३ ॥

(इस देव का) अङ्कुश भैरवाकार है । (भैरवाकार) वे विभु पाश और अङ्कुश, कपाल और खट्वाङ्ग को धारण किये हुए हैं तथा वसा मांस एवं

भैरवाकार इति भ्रुकुटीकरालदंष्ट्रालवक्त्रः । अत एव श्रीनन्दिशिखायाम्—

'एकवक्त्रो महाभीमः ।'

इत्युक्तम् । तथा—

'..........................स्निग्धविद्रुमसंनिभः ।
पाशाङ्कुशाकारशिराः साध्यस्याकर्षणः परः ॥'

इति तत्रैवाभिधानादेवंरूपः चिन्त्यः ॥ २४ ॥

उक्तवक्ष्यमाणस्य मन्त्रचक्रस्यासनन्यासार्थमाह—

नावं क्षीरार्णवं चोर्वीं शक्तिमाधारिकां शुभाम् ॥ २५ ॥
आसनार्थं प्रयुञ्जीत शान्त्यर्थं सितनीरजम् ।

व्योमव्याप्त्या आधारशक्तिः तदुपरि उर्वी पृथ्वी, तदूर्ध्वे तत्त्वव्याप्त्या क्षीरार्णवः, तदूर्ध्वे प्लवनचलनधर्मतया तेजोवायुद्वयव्याप्त्या नौः । एतावती च शुद्धविद्यातत्त्वव्याप्तिकसिताब्जस्य कन्दभूः । यथोक्तं श्रीपूर्वे—

रक्त के लोलुप हैं ॥ -२४-२५- ॥

भैरवाकार = विकराल भ्रुकुटी एवं दाँतों वाले मुख को धारण किये हुए । इसीलिये श्री नन्दिशिखा में कहा गया है—

एक मुख वाले महा भयङ्कर ॥

तथा,

'..........स्निग्ध मूँगे के समान, पाश और अङ्कुश के आकार के शिर वाले, साध्य के लिये परम आकर्षण ।'

ऐसा वहीं (= नन्दिशिखा में) कथन होने से उसी प्रकार का ध्यान करना चाहिये ॥ २४ ॥

उक्त एवं वक्ष्यमाण मन्त्रचक्र के आसन के न्यास के लिये कहते हैं—

आसन के लिये नौका, क्षीर का समुद्र, पृथ्वी, शुभ आधारशक्ति का एवं शान्ति के लिये श्वेत कमल (के आसन) का प्रयोग करना चाहिये ॥ -२५-२६- ॥

व्योमव्याप्ति के कारण आधारशक्ति, उसके ऊपर उर्वी = पृथ्वी, उसके ऊपर तत्त्व की व्याप्ति के कारण क्षीरार्णव, उसके ऊपर प्लवन चलन रूपी धर्म के कारण तेज एवं वायु इन दो की व्याप्ति के कारण नौका (का प्रयोग करणीय) है । शुद्ध विद्यातत्त्व की व्याप्ति वाले श्वेत कमल की इतनी कन्दभूमि है । जैसा कि श्रीपूर्वशास्त्र में कहा गया—

'आदावाधारशक्तिं तु नाभ्यधश्चतुरङ्गुलाम् ।
धरां सुरोदं पोतं च कन्दश्चेति चतुष्टयम् ॥' (मा०वि० ८।५५)

इति ॥ २५ ॥

एवमासनमन्त्रचक्रस्य ध्यानमुक्त्वाऽत्रैव विशेषमाह—

सर्व एव तु देवेशि सुशुल्काः(सुशुक्लाः) शान्तिकारकाः ॥ २६ ॥
रक्ताः पीतास्तथा कृष्णा ध्यातव्याः कर्मभेदतः ।

वश्यादिवैचित्र्येण ॥ २६ ॥

प्रागधिकारान्त इवेहापि रक्षाविधिमाह—

अथान्यं संप्रवक्ष्यामि चक्रराजं महाबलम् ॥ २७ ॥

महाबलं शान्त्यादावप्रतिहतम् ॥ २७ ॥

तत्र—

आद्यन्तसंपुटेनैव मध्ये नाम समालिखेत् ।
देवं देवीश्च दूतीश्च पूर्ववद्विधिना न्यसेत् ॥ २८ ॥
मध्ये दलेषु विदलेष्वन्यतः सर्वतःसुधी ।

'पहले नाभि के नीचे चार अङ्गुल लम्बी चौड़ी आधारशक्ति का उसके बाद पृथ्वी, तत्पश्चात् सुरोद (= शराब का समुद्र) नाव और कन्द इन चार (का ध्यान करना चाहिये)' । (मा.वि.८.५५) ॥ २५ ॥

उस प्रकार आसनमन्त्रचक्र का ध्यान बतला कर इसी में विशेष बतलाते हैं—

हे देवेशि ! ये सब सुशुक्ल (पूर्णतया श्वेत) तथा शान्तिकारक है । कर्म के भेद के अनुसार इनका रक्त पीत एवं कृष्णा ध्यान करना चाहिये ॥ २६-२७- ॥

(कर्मभेद =) वश्य आदि कर्मों की विचित्रता के अनुसार ॥ २६ ॥

पूर्व अधिकार के अन्त (में वर्णित) की भाँति यहाँ भी रक्षाविधि को बतलाते हैं—

अब अत्यन्त बलशाली अन्य चक्रराज को कहूँगा ॥ -२७ ॥

महाबली = शान्ति आदि कार्य में अव्याहत ॥ २७ ॥

उसमें—

आदि और अन्त में सम्पुटित कर मध्य में नाम लिखना चाहिये । पूर्वविधि की भाँति देव, और दूतियों का न्यास करे । विद्वान् मध्य में दल एवं बिदलों में सर्वत्र (क्रम से साध्य का नाम इत्यादि लिखे) ॥२८-२९-॥

पूर्वोक्तगोरोचनादिद्रव्योल्लिखिताब्जकर्णिकायां चन्द्रमण्डलमध्ये मन्त्रसंपुटितं साध्यनाम लिखित्वा, उपरि सावित्रीगायत्रीसहितं देवं ध्यात्वा सितोपचारेण पूजयेत्। पूर्वादिदिक्पत्रेषु जयादिदेवीचतुष्टयमाग्नेय्यादिविदिग्दलेषु जम्भन्यादिदूतीः मन्त्रसंपुटिता नामतो लिखित्वा पद्मस्य बहिर्दिक्चतुष्टये किङ्करांस्तद्बहिर्मायाङ्कुशौ, तद्बहिर्वज्रलाञ्छितचतुरश्रसंनिवेशं लिखित्वा सर्वमन्त्रचक्रं सितोपचारेणार्चयेदिति पिण्डार्थः । दूतीश्चेति चकारात् किङ्करान् मायाङ्कुशद्वयं च । अन्यत इति पद्मक्षेत्राद् बहिर्दिक्षु किङ्करादिन्यासः । सर्वत इत्यनेन मायाङ्कुशयोर्बहिश्चतुष्कोणं पुरं सूचितम् ॥

एतच्च रक्षाचक्रम्—

यथानुरूपैर्नैवेद्यैर्भूरिशान्त्यर्थमात्मनः ॥ २९ ॥
अन्यस्य वा प्रयोक्तव्यं........

लिखित्वाभ्यर्च्य बन्धनीयम् ॥

किं च—

.........यष्टव्यं शान्तिकर्मणि ।

बहिर्मण्डलकं कृत्वा ॥

पूर्वोक्त गोरोचना आदि द्रव्यों से उल्लिखित कमल की कर्णिका में चन्द्रमण्डल के मध्य में मन्त्र से सम्पुटित साध्य का नाम लिखकर ऊपर सावित्री गायत्री के सहित देव का ध्यान करने के बाद श्वेत वस्तुओं से (उनका) पूजन करे । पूर्व आदि दिशाओं के दलों पर जया आदि दूतियों का नाम मन्त्र से सम्पुटित कर लिखने के बाद कमल के बाहर, चारों दिशाओं में किङ्करों, उसके बाहर माया और अंकुश, उसके बाहर वज्र से चिह्नित चौकोर सन्निवेश बनाकर सम्पूर्ण मन्त्रचक्र की श्वेत वस्तुओं से पूजा करनी चाहिये । 'दूतीश्च' में चकार से माया और अङ्कुश इन दोनों का ग्रहण करना चाहिये । अन्यतः = पद्मक्षेत्र के बाहर दिशाओं में किङ्कर आदि का न्यास करे । 'सर्वतः' = इस कथन से माया एवं अङ्कुश के बाहर चतुष्कोण भूपुर का संकेत किया गया है ॥

इस रक्षाचक्र का—

यथानुरूप नैवेद्य के द्वारा अपनी या दूसरे की अत्यधिक शान्ति के लिये प्रयोग करना चाहिये ॥ -२९-३०- ॥

लिखकर पूजा करने के बाद (हाथ या गले में) बाँध देना चाहिये ॥

तथा—

शान्तिकर्म में

अत्रौचित्येन होममाह—

तिलतण्डुलमध्वाज्यक्षीरशर्करया सह ॥ ३० ॥
होमयेत् पूर्ववत् कुण्डे प्रशस्तेन्धनदीपिते।

मन्त्रचक्रतृप्त्यर्थमित्यर्थात् । पूर्ववदिति वर्तुल इत्यर्थः ॥ ३० ॥

एवं कृते रक्ष्यस्य—

महाशान्तिः प्रजायेत सत्यं मे नानृतं वचः॥ ३१ ॥

एताश्च—

सर्वरक्षाविधानेषु याज्या देव्यः सुसिद्धिदाः।

प्रोक्तपद्मक्रमेण ॥ ३१ ॥

बहिर्यागे क्रमान्तरेणापि—इत्याह—

पङ्क्तिष्ठा वा यजेद्देवीर्मध्ये देवं च तुम्बुरुम् ॥ ३२ ॥
सर्वाः श्रियः समाप्नोति साधकः संयतेन्द्रियः।

एकाग्रचित्त एव ॥

बाहर मण्डल बनाकर

पूजा करे ॥ -३०- ॥

औचित्य के कारण यहाँ होम को बतलाते हैं—

पूर्व की भाँति बनाये गये प्रशस्त इन्धन से दीप्त कुण्ड में तिल, चावल, मधु, घी, दूध और शर्करा के साथ हवन करे ॥ -३०-३१- ॥

(यह हवन) मन्त्रचक्र की तृप्ति के लिये होता है । पूर्व की भाँति = गोल आकार वाले ॥ ३० ॥

ऐसा करने पर रक्ष्य की—

महाशान्ति होती है—यह मेरा वचन सत्य है, झूठ नहीं ॥ -३१ ॥

समस्त रक्षाविधानों में सुसिद्धि देने वाली इन देवियों की पूजा करनी चाहिये ॥ ३२- ॥

उपर्युक्त पद्म के क्रम से ॥ ३१ ॥

बाह्य याग में क्रमान्तर भी बतलाते हैं—

अथवा पङ्क्ति में स्थित देवियों की तथा मध्य में तुम्बुरु देव की पूजा करे । ऐसा कर संयतेन्द्रिय साधक समस्त ऐश्वर्यों को प्राप्त करता है ॥ -३२-३३- ॥

अन्यस्य वा प्रयुञ्जानो जयत्यत्र न संशयः ॥ ३३ ॥

अत्र जगति । जयति ईहिताप्त्या सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति शिवम् ॥ ३३ ॥

सर्वाः सिद्धीर्वमद्वामस्रोतश्चक्रार्चनक्रमात् ।
मृत्युजिज्जयति श्रीमन्नेत्रं शाक्तामृतोल्बणम् ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योते एकादशोऽधिकारः ॥ ११ ॥
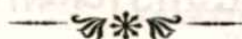
यदि वह एकाग्रचित्त हो ॥

अन्य के लिये प्रयोग करने वाला इस संसार में विजय प्राप्त करता है ॥ -३३ ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के एकादश अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ११ ॥

यहाँ = संसार में । विजय प्राप्त करता है = ईप्सित की प्राप्ति के कारण सबसे बढ़कर हो जाता है ॥ ३३ ॥

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के एकादश अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ११ ॥

द्वादशोऽधिकारः

*** नेत्रोद्योतः ***

यत्कामान्तकमप्यनन्तजनताकामैकसंपूरणं
यद्विश्वान्तकमन्तकान्तकमलं यच्चाकुलं सत्कुलम् ।
सर्वोल्लासि समग्रभेददलनात्त्राणं त्रिलोक्याः परं
शार्वं तन्नयनं स्वधामनयनं धामत्रयात्म स्तुमः ॥

ऊर्ध्वदक्षिणवामस्रोतोरूपतामुन्मील्य, तदविभेदसारकुलाम्नायमयतामपि मृत्युजिन्नाथस्य दर्शयितुं श्रीभगवानुवाच—

अथातः संप्रवक्ष्यामि कुलाम्नायनिदर्शनम् ।
यागं होमं जपं कार्यं येन सर्वमवाप्नुयात् ॥ १ ॥

*** ज्ञानवती ***

यागादिकं निरुच्याथ मातृकाः सास्त्रवाहनाः ।
वर्ण्यते काम्यहोमादि येन तन्नेत्रमर्चये ॥

जो कामान्तक (= कामदेव का नाशक) होते हुए भी अनन्त जनसमूह के काम (= इच्छा) का एक मात्र पूरक होता है; जो विश्व का अन्तक होता हुआ अन्तक (= मृत्यु या यमराज) का पूर्ण अन्तक होता है, जो अकुल होता हुआ सत्कुल (अस्ति कुलं = शक्तिः यस्य सः सत्कुलः = शक्तियुक्त) है; सबको प्रसन्न करने वाला है; समस्त भेद का नाश करने के कारण त्रैलोक्य का सर्वश्रेष्ठ त्राण है; तीन धाम (= तेज = सूर्य चन्द्र और अग्नि) वाले, अपने धाम (= स्थान, स्वरूप प्राप्ति) को प्राप्त कराने वाले उस शाङ्कर नेत्र की हम स्तुति करते हैं ।

मृत्युञ्जयभट्टारक की ऊर्ध्व दक्षिण और वाम सम्प्रदायरूपता को स्पष्ट कर उससे अभिन्न तत्त्व वाली कुलाम्नायरूपता को दिखाने के लिये श्री भगवान् ने कहा—

कुलाम्नाये निदर्शनं प्रकाशो यस्य तादृशं कार्यं कर्तव्यं यागहोमादि सम्यक् संप्रवक्ष्यामि, येन साधकः सर्वं भोगं मोक्षं प्राप्नोति । तत्रादौ ऐशान्यादि-वायव्यदिगन्तं गणेशवटुकगुर्वादीन्, प्राग्दक्षिणपश्चिमासु श्रीखगेन्द्रकूर्ममेषनाथान् सदूतीसंतानान्, उदीच्यां श्रीमच्छन्दकुङ्कुणाम्बादिसाधिकारराजपुत्रषट्कं सदूतीकमिति इहत्यमन्त्रपूर्वं पादान्तमर्चयेदिति कुलाम्नायदर्शनशब्दार्थः ॥ १ ॥

अथैतद्युगगुरुपङ्क्त्यन्तः—

पद्ममध्ये तु संपूज्यो भैरवः पूर्वचोदितः ।
पूर्वादिदिग्दलावस्था ह्यष्टौ देव्यः स्वभावतः ॥ २ ॥
ब्रह्मादिदेवतानां च स्वरूपायुधवाहनाः ।

ब्रह्मादीनां स्वभावत इति तदीयेन सृष्ट्यादिकारिणा स्वरूपेण । स्वानि ब्रह्मादिसंबन्धीनि रूपायुधवाहनानि यासाम् ।

ता नामतो दर्शयति—

ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा॥ ३ ॥
वाराही चैव माहेन्द्री चामुण्डा बहुरूपिणी ।

अब इसके बाद मैं कौलसम्प्रदाय में बतलाये गये याग होम जप कर्मों को बतलाऊँगा जिससे (साधक) सब कुछ प्राप्त करता है ॥ १ ॥

जिसका कौल सम्प्रदाय में निदर्शन = प्रकाश, है ऐसे याग होम आदि करणीय कार्य को सम्यक् बतलाऊँगा जिससे साधक समस्त भोग मोक्ष प्राप्त करता है । उसमें पहले ईशान कोण से लेकर वायव्य कोणपर्यन्त गणेश, वटुकभैरव, गुरु आदि की पूजा करने के बाद पूर्व दक्षिण पश्चिम दिशा में दूती के साथ गरुड़ कूर्म मेष नाथ की उत्तर दिशा में दूती के सहित श्री मच्छन्द कुङ्कुणाम्बादि साधिकार छह राजपुत्रों की यहाँ के मन्त्र से लेकर पादपर्यन्त पूजा करे—यह कुलाम्नाय दर्शन का शब्दार्थ है ॥ १ ॥

युग (= चार) गुरुपङ्क्ति के भीतर स्थित—

कमल के मध्य में पूर्व वर्णित भैरव की, पूर्व आदि आठ दलों में स्थित ब्रह्मा आदि देव की आठ देवियों की उनके स्वरूप आयुध एवं वाहन के साथ पूजा करे ॥ २-३- ॥

ब्रह्मा आदि के स्वभावानुसार—उनके सृष्टि आदि करने वाले स्वरूप से। अपने = ब्रह्मा आदि से सम्बद्ध रूप आयुध और वाहन है जिन (देवियों के) ॥ २-२- ॥

उन (देवियों) को नाम से बतलाते हैं—

ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, माहेन्द्री, चामुण्डा और

आद्याश्चतस्त्रः पूर्वदक्षिणादिदिक्षु । अपरा ऐशवायव्यादिविदिक्षु । एवमनुलोम-प्रतिलोमाभ्यां सर्गसंहारक्रमक्रोडीकारोभवतीति गुरवः ॥

आसां रूपायुधासनभेदं स्फुटयति—

ब्रह्मादिबहुरूपान्तं रूपमासां स्ववाहनम् ॥ ४ ॥
स्वायुधं चैव सर्वासां स्वरूपेण विभूषितम् ।

ब्रह्मादीनां यदरुणत्वचतुर्भुजत्वादिरूपं तदेवासाम् (रूपम्)। तद्वाहनमेव च वाहनं, तच्च हंसवृषमयूरगरुडैरावणकुम्भीरप्रेतरूपम् । वाराह्यास्तु वाहनं न दृश्यते। तदायुधमेव चायुधम्, तच्च दण्डत्रिशूलशक्तिचक्रवज्रखड्गरूपम्, एतच्च दक्षिणहस्ते। एतच्चासनादि सर्वं स्वेन स्वभावेन भ्राजमानम् ॥

अन्यत्र हस्तत्रये साधारविधिमाह—

कपालखट्वाङ्गधरा वरा[1]भयकरोद्यताः ॥ ५ ॥

वामो वरदः ॥ ५ ॥

बहुरूपिणी ॥ ३-४- ॥

(इनमें से) पहले चार की पूर्व दक्षिण आदि दिशाओं में, शेष चार की ईशान आदि कोणों में पूजा करे । इस प्रकार अनुलोम प्रतिलोम से सृष्टि और संहार का क्रम अपनाना चाहिये—ऐसा गुरु लोग कहते हैं ॥

उनके रूप आयुध और आसन के भेदों को स्पष्ट करते हैं—

ब्रह्मा से लेकर बहुरूप तक के जो रूप आसन और आयुध है वे ही इन सब देवियों के रूप आसन और आयुध हैं ॥ -४-५- ॥

ब्रह्मा आदि का जो अरुणत्व चतुर्भुजत्व आदि रूप है वही (रूप) इन (देवियों) का भी है । उनका वाहन ही इनका वाहन है और वह है—हंस, वृषभ, मयूर, गरुड़, ऐरावण, कुम्भीर और प्रेत । वाराही का वाहन नहीं दिखायी पड़ता । उन (= ब्रह्मा आदि) के आयुध ही इनके आयुध हैं और वे हैं—दण्ड, त्रिशूल, शक्ति, चक्र, वज्र और खड्ग । यह दायें हाथ में है । यह आसन आदि सब अपने-अपने स्वभाव के अनुसार विराजमान रहते हैं ॥

अन्य तीन हाथों में साधार विधि को बतलाते हैं—

हाथ में कपाल एवं खट्वाङ्ग को तथा वरद एवं (वाम हस्त में) अभय मुद्रा को ये देवियाँ धारण की हुयी हैं ॥ -५ ॥

(देवियों का) बाँया हाथ वरदमुद्रा में रहता है ॥ ५ ॥

---

१. 'वरा'—इत्यस्य स्थाने 'वामा'—इति पाठो युक्तः । उद्योते 'वामो वरदः' इति वचनात् ।

दिक्क्रमेण न्यासमुक्त्वा पङ्क्तिक्रमेणाप्याह—

पङ्क्तिष्ठा वा यजेद्देवीः सर्वाभीष्टफलप्रदाः ।

देवस्य सव्यापसव्ययोश्चतुष्कं चतुष्कमित्यर्थः ॥

किं चेमाः—

सर्वेषामेव शान्त्यर्थं प्राणिनां भूतिमिच्छता ॥ ६ ॥
भूरियागेन यष्टव्या यथाकामानुरूपतः ।

शान्तिकादौ सितादिरूपेणेत्यर्थः ॥

विशेषाद्देवि यष्टव्या भूभृतामपि दैशिकैः ॥ ७ ॥

महासंभारेणेत्यर्थः ॥ ७ ॥

यतस्ते—

आसामेव प्रसादेन राज्यं निहतकण्टकम् ।
भुञ्जते सर्वराजानः सुभगा ह्यवनीतले ॥ ८ ॥

युक्तं चैतदित्याह—

दिशाओं के क्रम से न्यास को बतला कर अब पंक्ति के क्रम से भी कहते हैं—

अथवा समस्त अभीष्ट फल को देने वाली, पंक्ति में स्थित देवियों की पूजा करे ॥ ६- ॥

देव के बायें-दायें चार-चार की संख्या में (देवियों का पूजन करे) ॥

और भी इन (देवियों) की—

समस्त प्राणियों के ऐश्वर्य का इच्छुक साधक शान्ति के लिये यथाकामानुरूप अधिक से अधिक वस्तुओं से पूजा करे ॥ -६-७- ॥

शान्ति आदि कर्म में श्वेत आदि वस्तुओं से (पूजा करे) ॥

हे देवि ! राजाओं की (शान्ति आदि के लिये) विशेष रूप से (इनकी) पूजा करनी चाहिये ॥ -७ ॥

(विशेष रूप से =) बहुत अधिक वस्तुओं के द्वारा ॥ ७ ॥

क्योंकि वे—

सौभाग्यवान् राजा लोग पृथ्वीतल पर इन्हीं की कृपा से निष्कण्टक राज्य का भोग करते हैं ॥ ८ ॥

यस्मादेतज्जगत्सर्वं देवीनां तु स्वभावजम् ।
एता योनिस्वरूपास्तु देवादिजगतः प्रिये ॥ ९ ॥
सर्वास्ताः सर्वदुःखौघहारिण्यः प्राणिनां प्रिये ।
रक्षन्ति मातृवच्चैताः पालयन्ति जगत् सदा ॥ १० ॥

विश्वकारणत्वाद्विश्ववद् भूतसर्गं स्वत एव रक्षन्ति किं पुनरर्चिता इत्यर्थः ॥ १० ॥

किं च—

कोष्ठे वै कार्षिका यद्वच्छक्तिरूपं जगत् प्रिये ।
प्रलये धारयन्ति स्म सृजन्तीह पुनश्च ताः ॥ ११ ॥

यथा कृषीवलाः प्रलये पौषमासात्मनि संहारकाले शक्तिरूपं बीजावस्थावशेषं स्थावररूपं जगत् कोष्ठे कुसूले धारयन्ति पुनः सृजन्ति वापोन्मुखं कुर्वन्ति तथा देव्यो विश्वात्मजगत्संहारकालेषु संस्कारावशेषं पुनश्च सृष्ट्युन्मुखं संपादयन्ति ॥ ११ ॥

यद्वच्च कार्षकाः काले बीजवापं प्रकुर्वते ।

यह उचित भी है—यह कहते हैं—

हे प्रिये ! यह संसार देवियों के स्वभाव से उत्पन्न हुआ है । देवताओं से लेकर संसार तक की उत्पत्ति की ये ही कारण हैं । ये सब देवियाँ प्राणियों के समस्त दुःखों का हरण करने वाली हैं तथा माता के समान सदा संसार की रक्षा और पालन करती हैं ॥ ९-१० ॥

विश्व का कारण होने से ये विश्व की भाँति प्राणियों की भी स्वभावतः रक्षा करती हैं और पूजित होने पर तो कहना ही क्या ॥ १० ॥

और भी—

जिस प्रकार कृषक लोग प्रलय काल में शक्तिरूप धान्य को कोष्ठ = कुसूल (= डेहरी = कोठिला आदि) में रखते हैं उसी प्रकार प्रलय काल में ये देवियाँ जगत् को अपनी कुक्षि में धारण करती हैं और बाद में सृष्टि करती हैं ॥ ११ ॥

जिस प्रकार किसान प्रलयकाल = पौष माघ जो कि संहार काल होता है, में शक्तिरूप = बीज अवस्था में अवशिष्ट, स्थावररूप जगत् को कोष्ठ = कुसूल (= डेहरी आदि भण्डारण स्थल), में रखते हैं और फिर सृष्टि करते हैं = बोवाई करते हैं, उसी प्रकार देवियाँ भी विश्वरूप जगत् को संहारकाल में संस्कारावशेष करके रखती हैं और बाद में उसे सृष्टि की ओर बढ़ाती है ॥ ११ ॥

फलाय तद्वत् फलदा ब्रह्मकल्पसिसृक्षया ॥ १२ ॥

काल इति वसन्ते[1] । फलदा इति देव्यः । ब्रह्मेति ब्रह्मणो यः कल्पः स्वदिनात्मा, तत्र या सिसृक्षा तया हेतुभूतया । ब्रह्मकल्पशब्दः सदाशिवान्त-दिनोपलक्षणपरः । देव्य एव हि तत्तत्सदाशिवादिब्रह्मान्तकारणाधिष्ठानेन सृष्ट्यादि कुर्वते । यदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे[2]—

'ब्राह्मी नाम विभोः शक्तिर्यत्रेच्छा तत्र पातयेत् ।' इति ।

तथा

'वैष्णव्यास्तु स्मृतो विष्णुः...................... ।' इति ॥ १२ ॥

यतश्च—

कल्पादौ कल्पमध्यान्ते व्याप्नुवन्ति जगच्च ताः ।
तस्मात् सर्वप्रकारेण शान्त्यर्थं हितकारिकाः ॥ १३ ॥
यष्टव्या देवि होतव्या ध्यातव्याः सिद्धिकामतः ।

जिस प्रकार कृषक लोग फल प्राप्त करने के लिये (उचित) समय पर बीज की (खेतों में) बोवाई करते हैं उसी प्रकार ब्रह्मकल्प की सृष्टि करने की इच्छा से फल देने वाली (देवियाँ भी) सृष्टि करती हैं ॥ १२ ॥

समय पर = वसन्त ऋतु में । फल देने वाली = देवियाँ । ब्रह्मकल्प = ब्रह्मा का जो कल्प = उनका अपना दिन, उसमे जो सिसृक्षा, उसके कारण । ब्रह्मकल्प शब्द सदाशिव पर्यन्त दिन को संकेतित करता है । देवियाँ ही सदाशिव से लेकर ब्रह्मा तक कारण के अधिष्ठान से सृष्टि करती हैं । जैसा कि स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया—

'व्यापक परमेश्वर की ब्राह्मी नामक शक्ति है । उसकी जहाँ इच्छा होती है वहाँ (वह उसे) गिराता है (= सृष्टि में लगा देता है) ॥'

तथा

'वैष्णवी शक्ति से विष्णु (उत्पन्न होते हैं)' ॥ १२ ॥

क्योंकि—

कल्प के आदि मध्य और अन्त में वे देवियाँ जगत् को व्याप्त कर लेती हैं इसलिये सिद्धि चाहने वालों के द्वारा शान्ति के लिये इन हितकारियों की पूजा होम और ध्यान करना चाहिये ॥ १३-१४- ॥

---

१. वसन्ते बीजवपनमिति वर्णनेनानुमीयते यदुद्योतकारः काश्मीरिक आसीत् यतो हि तत्र क्षेत्रे वसन्त एवं बीजवपनादि कार्मं प्रारभ्यते पूर्व मासेषु हिमवच्छैत्याधिक्यात् ।

२. स्वच्छन्दतन्त्रे नोपलभ्यते ।

होतव्या इति होमेन तर्पणीयाः । सिद्धिकामत इति सिद्धिकामेन ॥

किं च—

सर्वबीजैस्त्रिमध्वक्तैस्तिलैर्वा श्रीफलैः शुभैः ॥ १४ ॥
पुष्पैर्वा सुप्रशस्तैश्च फलैर्वान्यैः सुहोमितैः ।
सर्वसिद्धिप्रदा देव्यः सर्वकामफलप्रदाः ॥ १५ ॥

सर्वसिद्धिप्रदस्वभावत्वात् सर्वाणि कामफलानि प्रददतीत्यर्थः ।

अत्र च—

'सर्वकामप्रदो होमस्तिलैः शस्तो घृतान्वितैः ।
धान्यैर्धनार्थसिद्ध्यर्थं घृतगुग्गुलुहोमतः ॥
जायते विपुला सिद्धिरधमा मध्यमोत्तमा ।
श्वेतारबिन्दैराज्याक्तैर्बिल्वैश्च श्रियमाप्नुयात् ॥' (२।२८०-२८१)

इत्यादि श्रीस्वच्छन्दोक्तमनुसर्तव्यमिति शिवम् ॥ १५ ॥

होतव्य हैं = होम के द्वारा तर्पणीय है । सिद्धिकाम से = सिद्धि चाहने वाले के द्वारा ॥

और भी—

समस्त कामनाओं को पूरी करने वाली ये देवियाँ समस्त बीजों (= यव, तण्डुल आदि) त्रिमधु (= दूध घी और मधु) से युक्त तिल, बेल के फल, पुष्प (= कमल जवाकुसुम आदि) अथवा अन्य प्रशस्त फलों से होम करने पर समस्त सिद्धियों को देती हैं ॥ -१४-१५ ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के द्वादश अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १२ ॥

स्वभावतः सर्वसिद्धिप्रद होने से समस्त कामनाओं को पूरी करती हैं ।

इस विषय में—

'घृत से युक्त तिल का होम सर्वकामप्रद होता है । धान्य के होम से धन की सिद्धि प्राप्त होती है । घी और गुग्गुलु के होम से अधम मध्यम और उत्तम सिद्धियाँ मिलती है । घी से उपलिप्त श्वेत कमल एवं बेल के फल (या पञ्चाङ्ग) से हवन करने पर लक्ष्मी की प्राप्ति होती है ।' (स्व०तं. २।२८०-२८१)

विश्वसर्गादिकृत्स्वाभावैरिञ्च्यादिकुलक्रमात् ।
अकुलो जयति श्रीमानेकश्चिन्नेत्रभैरवः ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योते द्वादशोऽधिकारः ॥ १२ ॥

इत्यादि स्वच्छन्दतन्त्रोक्त वचन का अनुसरण करना चाहिये ॥ १५ ॥

विश्व की सृष्टि आदि (= स्थिति और संहार) करनेवाली अपनी आभा (= चिन्मरीचियों) से ब्रह्मा से लेकर कुल (= सृष्टि) क्रम की अपेक्षा अकुल, जो कि श्रीमान् चिन्नेत्र भैरव है, सबसे बढ़कर है ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के द्वादश अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १२ ॥
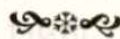
त्रयोदशोऽधिकारः

* नेत्रोद्योतः *

स्फुरत्परामृतासारापूरैरापूर्य तन्मयम् ।
भक्तिभाजां जगत्सर्वं दर्शयन्नेत्रमाश्रये ॥

अधिकारसङ्गतिपूर्वं वस्तूपक्षेप्तुं श्रीभगवानुवाच—

एवं वै मन्त्रराजस्य कौलिकश्चोदितो विधिः ।
पुनरन्यत् प्रवक्ष्यामि विधानं यत्फलप्रदम् ॥ १ ॥

इहत्यव्याप्त्या पूर्णभोगापवर्गदम् ॥ १ ॥

---

* ज्ञानवती *

वराहरव्यादिशरीरवन्तं जयादिदेवीभिरुपास्यमानम् ।
सदर्चनेनाशु फलप्रदं तं त्रिलोचनं शंकरमानतोऽस्मि ॥

स्फुरित होते हुए पर अमृत के प्रवाह से समस्त संसार को पूर्णरूपेण पूरित करने वाले उस नेत्र का हम आश्रयण करते हैं जिसकी कृपा से भक्तजन इस संसार को तन्मय (= परचिन्मय) देखते हैं ।

अधिकारसंगतिपूर्वक वस्तु का उपक्षेप करने के लिये श्रीभगवान् ने कहा—

इस प्रकार मन्त्रराज की कौलिक विधि बतलायी गयी । अब दूसरा विधान बतलाऊँगा जो कि फल देने वाला होता है ॥ १ ॥

यहाँ (= कुलदर्शन) की व्याप्ति से पूर्ण भोग और अपवर्गदायक है (कौल लोग 'पवर्गान्त्यत्रयासेवी ब्रह्मचारी स उच्यते'[1] के अनुसार इसी संसार में भोग और अपवर्ग मानते हैं । पवर्गान्त्यत्रय = मांस, मद्य और मैथुन) ॥ १ ॥

---

१. तं०आ० २८,२९ आह्निक

तत्र—

नारायणं चतुर्बाहुं पद्मपत्रायतेक्षणम् ।
अतसीपुष्पसङ्काशमेकवक्त्रं द्विलोचनम् ॥ २ ॥
शङ्खचक्रगदापद्मसर्वाभरणभूषितम् ।
दिव्याम्बरधरं देवं दिव्यपुष्पोपशोभितम् ॥ ३ ॥
स्फुरन्मुकुटमाणिक्यकिङ्किणीजालमण्डितम् ।
दिव्यकुण्डलधर्तारमुत्थितं तु सदा स्मरेत् ॥ ४ ॥

शङ्खचक्रगदापद्मानि च सर्वाभरणानि चेति समासः । स्मरेदिति, इहत्यमन्त्र-विमृश्यमानमित्यर्थात् ॥ ४ ॥

अथवा पक्षिराजस्थं सुश्वेतं तु मनोरमम् ।
त्रिवक्त्रं सौम्यवदनं वराहहरिभूषितम् ॥ ५ ॥
भुजैः षड्भिः समायुक्तं वराभयसमन्वितम् ।
उत्सङ्गेऽस्य श्रियं ध्यायेत्तद्वर्णायुधधारिणीम् ॥ ६ ॥
लावण्यकान्तिसदृशीं देवदेवस्य संमुखीम् ।

वराभय इति पूर्वोक्तशङ्खाद्याधिक्येनोक्तम् । लावण्यकान्ती संनिवेशावयव-सौन्दर्ये ॥

इस विषय में—

चतुर्बाहु, कमल पत्र के समान विशाल आँखों वाले, अलसी (= तीसी) के पुष्प की कान्ति वाले, एक मुख दो आँखों वाले, शङ्ख चक्र गदा पद्म और समस्त आभूषणों को धारण किये हुए, दिव्यवस्त्रधारी, दिव्यपुष्प से उपशोभित, चमकते हुए मुकुट के माणिक्य और किङ्किणीजाल से अलङ्कृत, दिव्य कुण्डलधारी, खड़े रहने वाले नारायण का सदा ध्यान करे ॥ २-४ ॥

('शङ्खचक्रगदापद्मसर्वाभरण' का समास बतलाते हैं—) शङ्खचक्र... समासः । स्मरण करे—यहाँ अर्थात् यह समझना चाहिये कि इस ग्रन्थ में उक्त मन्त्र के द्वारा विमृश्यमान (का स्मरण) ॥ ४ ॥

अथवा गरुड़ पर सवार, श्वेतवर्णवाले, मनोरम, तीन मुखों वाले, सौम्यवदन, वराह और सिंह से सुशोभित, छह भुजाओं से सुशोभित, वरद एवं अभय मुद्रा से समन्वित, अपनी गोद में तत्तद् वर्ण एवं आयुध को धारण की हुयी सौन्दर्य और कान्ति जैसी तथा देवाधिदेव के सम्मुख स्थित लक्ष्मी को लिये हुए, का ध्यान करना चाहिये ॥ ५-७- ॥

वराभय—(चार हाथों में) शङ्ख आदि से अधिक दो मुद्रायें । लावण्य और

अस्यावरणयुक्त्या—

चतुर्दिक्षु स्थिता देवीर्विदिक्ष्वङ्गानि पूजयेत् ॥ ७ ॥

अङ्गानां विन्यासः प्राग्वत् ॥ ७ ॥

देवीराह—

जया लक्ष्मीस्तथा कीर्तिर्माया वै दिक्षु ता यजेत् ।

ताश्च—

पाशाङ्कुशधरा देव्यो वरदाभयपाणिकाः ॥ ८ ॥
देवस्य संमुखे ध्यायेच्छ्रीवर्णा रूपधारिणीः ।
देवस्य सदृशाङ्गानि तद्वर्णास्त्रधराणि च ॥ ९ ॥

देवस्य सादृश्यादङ्गानामन्तरङ्गत्वादादौ पूजा ।

एवं श्रीजयासंहितादृष्ट्योक्त्वा मायावामनिकास्थित्याप्याह—

अथवाष्टभुजं देवं पीतवर्णं सुशोभनम् ।
मेषोपरिस्थितं देवि दिग्वस्त्रं चोर्ध्वलिङ्गिनम् ॥ १० ॥

कान्ति का अर्थ है—अवयवों (= अङ्गों) का सन्निवेश और सौन्दर्य ॥

इसके आवरणयुक्ति के अनुसार—

चारों दिशाओं में स्थित देवियों की तथा चारों कोणों में अङ्गों की पूजा करे ॥ -७ ॥

अङ्गों का विन्यास पूर्व की भाँति करे ॥ ७ ॥

देवियों को बतलाते हैं—

जया, लक्ष्मी, कीर्त्ति और माया की चारो दिशाओं में पूजा करे ॥ ८-॥

और वे—

देवियाँ हाथ में पाश अङ्कुश वरद एवं अभय मुद्राओं को धारण करने वाली तथा उन्हीं के सदृश अङ्गों और अस्त्रों को धारण करने वाली होती हैं ॥ -८-९ ॥

देव के समान होने के कारण अन्तरङ्ग होने से अङ्गों की पहले पूजा होती है ॥

श्रीजयासंहिता की दृष्टि से कथन कर अब मायावामनिका की दृष्टि से वर्णन करते हैं—

अथवा पीतवर्ण, सुशोभन, आठ भुजावाले, मेष के ऊपर स्थित, नग्न,

अस्य पूर्वोक्तकरषट्कायुधाद्यतिरेकिकरद्वयनिवेशमाह—

शृङ्गं वष्टभ्य चैकेन.............

मेषस्य संबन्धि । स्थितमित्यर्थात् ।

तथा—

.......चेया (केना) रोद्यतपाणिकम् ।
बालरूपं यजेन्नित्यं क्रीडन्तं योषितां गणै: ॥ ११ ॥

अस्य च—

चतुर्दिक्षु स्थिता देव्यो दिगम्बरमनोरमा: ।
कर्पूरी चन्दनी चैव कस्तूरी कुङ्कुमी तथा ॥ १२ ॥

एताश्च—

तद्रूपधारिका देव्य इच्छासिद्धिफलप्रदा: ।

यद्वा—

बहुनात्र किमुक्तेन विश्वरूपं तु तं स्मरेत् ।
अनेकवक्त्रसंघातैरनेकास्त्रभुजैस्तथा ॥ १३ ॥

यद्वा—

शयनस्थं विवाहस्थमर्धलक्ष्मीयुतं तथा ॥ १४ ॥

ऊपर उठे हुए लिङ्गवाले देव की पूजा करें ॥ १० ॥

इनके छह हाँथों में पूर्वोक्त आयुध के अतिरिक्त शेष दो हाथों के आयुध को बतलाते हैं—

एक हाथ से मेष की सींग को पकड़ कर दूसरे हाथ में केनार (= खोपड़ी) उठाये हुए हैं । स्त्रियों के साथ खेलते हुए बालरूप इनकी पूजा करे ॥ ११ ॥

इसकी चारो दिशाओं में कर्पूरी, चन्दनी, कस्तूरी और कुङ्कुमी नामक देवियाँ नग्न एवं सुन्दर रूप में स्थित हैं । उन (देव) का रूप धारण करने वाली ये देवियाँ ईप्सित फल को देती हैं ॥ १२-१३- ॥

अथवा—

इस विषय में बहुत कहने से क्या लाभ ? अनेक मुखों तथा अनेक अस्त्रों एवं भुजाओं से युक्त विश्वरूप उनका ध्यान करे ॥ १३ ॥

अथवा—

केवलं नरसिंहं वा वराहं वामनं स्मरेत् ।
कपिलोऽप्यथवा पूज्यश्चाव्यक्तो वापि निष्कलः॥ १५ ॥

अव्यक्त इत्येतदाख्यः, स च निष्कलः सुशान्तस्वरूपः ॥ १५ ॥

किं च—

येन येन प्रकारेण भावभेदेन संस्मरेत् ।
तस्य तन्मयतामेति इत्याज्ञा पारमेश्वरी ॥ १६ ॥

मृत्युजिद्धामेत्यर्थात् ॥ १६ ॥

इदानीं सौरसंहितावेदादिदृष्टसूर्यादिदेवताकारेणापि मृत्युजिदाराधनमाह—

तेजोमयमतो वक्ष्ये येन सिद्धिर्भवेन्नृणाम् ।
रक्तपद्मनिभाकारं लाक्षारससमप्रभम् ॥ १७ ॥
सिन्दूरराशिवर्णाभं पद्मरागसमप्रभम् ।
कुसुम्भरागसङ्काशं दाडिमीकुसुमप्रभम् ॥ १८ ॥
कल्पान्तवह्निसदृशमेकवक्त्रं त्रिलोचनम् ।
चतुर्भुजं महात्मानं वरदाभयपाणिकम् ॥ १९ ॥

शयन (= बिस्तर) पर स्थित, विवाह में स्थित, अर्धाङ्ग में लक्ष्मी लिये हुए अथवा केवल नरसिंह, वराह, वामन, कपिल, अथवा निष्कल अव्यक्त रूप में पूजा करे ॥ -१४-१५ ॥

अव्यक्त = इस नाम वाले । और वह निष्कल अर्थात् सुशान्तरूप वाले हैं ॥ १५ ॥

क्या और

जिस-जिस प्रकार से भावभेद के द्वारा उन

मृत्युञ्जय तेज

का स्मरण किया जाय, उस (= उपासक) को उसी रूप में वे प्राप्त होते हैं—यह परमेश्वर की आज्ञा है ॥ १६ ॥

अब सौरसंहिता अथवा वेद आदि में दृष्ट सूर्य आदि देवता के आकार में भी मृत्युञ्जय की पूजा को बतलाते हैं—

इसके बाद तेजोमय को कहूँगा जिससे मनुष्यों को सिद्धि मिलती है ।

लाल कमल, लाक्षारस, सिन्दूरराशि, पद्मराग, कुसुम्भराग, अनार का फूल, कल्पान्तवह्नि इन सबके समान, एक मुख तीन नेत्र चार भुजा वाले, वरद एवं अभय मुद्रा को हाथों में धारण किये हुए महात्मा

सूर्यं ध्यायेत् ॥ १९ ॥

स च—

वज्रमेकेन हस्तेन रश्मिमेकेन धारयेत् ।

तं च—

सप्ताश्वरथमारूढं नागयज्ञोपवीतिनम् ॥ २० ॥
रक्तमाल्याम्बरधरं रक्तगन्धानुलेपितम् ।
अथवाष्टभुजं देवि लोकपालायुधान्वितम् ॥ २१ ॥
त्रिवक्त्रं घोरवदनं त्रिनेत्रं विकृताननम् ।
अश्वोपरिसमारूढं पद्ममध्ये सदा यजेत् ॥ २२ ॥

लोकपालायुधानि वज्रशक्तिदण्डखड्गपाशध्वजगदात्रिशूलानि ॥ २२ ॥

भगवत आवरणान्याह—

हच्छिरश्च शिखा वर्म लोचनास्त्रं प्रपूजयेत् ।

प्राग्वत् सर्वाङ्गानि न्यस्येदिति यावत् ॥

अत्र च—

सूर्य का ध्यान करना चाहिये ॥ १९ ॥

वह और

एक हाथ में वज्र तथा दूसरे हाथ में (रथ वाले घोड़ों की) लगाम लिये हैं ऐसा ध्यान करे ॥ २०- ॥

तब और

सात घोड़ों वाले रथ पर आरुढ़, साँप का यज्ञोपवीत पहने हुए, रक्तवस्त्र एवं रक्तमाला से शोभित, रक्तगन्ध का लेप किये हुए, तीन मुख वाले, घोरवदन, तीन नेत्रों वाले, विकृतमुख वाले, अश्व पर आरुढ़ सूर्य का कमल के मध्य में ध्यान करें ॥ २०-२२ ॥

लोकपालों के आयुध हैं—वज्र, शक्ति, दण्ड, खड्ग, पाश, ध्वज, गदा और त्रिशूल ॥ २२ ॥

भगवान् के आवरणों को बतलाते हैं—

हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्र और अस्त्र की पूजा करनी चाहिये ॥ २३- ॥

पूर्व की भाँति समस्त अङ्गों का न्यास करे ॥

पद्ममध्ये यजेद्देवं ग्रहानष्टौ द्वितीयके ॥ २३ ॥

चन्द्रादिषट्कं केतुराहू चेति ग्रहाः । द्वितीयके इत्यावरणे ॥ २३ ॥

नक्षत्राणि तृतीये तु यथासंख्यं त्रिभिस्त्रिभिः ।
दलाग्रे त्रितयं पूज्यं लोकपालांश्चतुर्थके ॥ २४ ॥
पञ्चमे पद्मसंस्थाने अस्त्राण्यष्टौ प्रपूजयेत् ।

त्रिभिस्त्रिभिर्विभक्तानि नक्षत्राणि पूर्वादिदलाष्टके चतुर्विंशतिः त्रयं च पूर्वदलाग्र इति नक्षत्रावरणं तृतीयम्, लोकपालावरणं चतुर्थमस्त्रावरणं पञ्चमम् ॥

प्रकारान्तरेणाप्याह—

उत्थितं केवलं वापि द्विभुजं रश्मिसंयुतम् ॥ २५ ॥
विश्वकर्मस्वरूपं वा विश्वाकारं जगत्पतिम् ।
चतुर्भुजं महात्मानं टङ्कपुस्तकधारिणम् ॥ २६ ॥
संदंशं वामहस्तेन सूत्रं वै दक्षिणेन तु ।
देवैः सिद्धैश्च गन्धर्वैः स्तूयमानं विचिन्तयेत् ॥ २७ ॥

यहाँ—

कमल के मध्य में देव (= सूर्य) की तथा द्वितीय आवरण में चन्द्र भौम बुध गुरु शुक्र शनि राहु और केतु की पूजा करनी चाहिये ॥ -२३ ॥

आठ ग्रह अर्थात् चन्द्र आदि छह एवं राहू तथा केतू । द्वितीय आवरण में ॥ २३ ॥

तीसरे आवरण में क्रमशः तीन-तीन के हिसाब से (आठ दलों में २४ नक्षत्रों की तथा) दल के अग्रभाग में तीन (नक्षत्रों) की पूजा करे । चतुर्थ आवरण में लोकपालों की, पञ्चम पद्मसंस्थान में आठ अस्त्रों की पूजा करे ॥ २४-२५- ॥

तीन-तीन के समूहों में विभक्त नक्षत्रों को पूर्व आदि आठ दलों में (पूजा करने पर) चौबीस (नक्षत्र पूजित होते हैं) । शेष तीन नक्षत्र पूर्वदल के अग्रभाग में (इस प्रकार २७ नक्षत्रों की पूजा हो जाती है) । यह तृतीय नक्षत्रावरण है । लोकपालों का आवरण चतुर्थ और अस्त्रों का आवरण पञ्चम है ॥

प्रकारान्तर से भी उनके रूप को बतलाते हैं—

खड़े रहने वाले, दो भुजा वाले, रश्मि (= किरणों अथवा रस्सी) से युक्त की पूजा करे । अथवा जगत्पति, विश्वाकार महात्मा विश्वकर्मा की पूजा करे जो कि चार भुजा, टङ्क (= छीनी), छोटा या सुन्दर पुस्त (= पलस्तर करने वाला काष्ठयन्त्र), बायें हाँथ में संदंश (= सँड़सी) और

संदंशमिति बिभ्रतम् ॥ २७ ॥

उक्तवक्ष्यमाणं सर्वम्—

स्थलेऽनले जले चैव पर्वताग्रे प्रपूजयेत् ।
यत्र वा रोचते चित्ते इच्छासिद्धिफलप्रदम् ॥ २८ ॥

अस्य भगवतो देवतास्विव नाश्रयेष्वपि कोऽपि नियमः । चित्ते इति चतुर्थ्यर्थे सप्तमी ॥

किं च—

शङ्खकुन्देन्दुधवलं त्रिनेत्रं रुद्ररूपिणम् ।
सादाशिवेन रूपेण वृषारूढं विचिन्तयेत् ॥ २९ ॥
चतुर्भुजं महात्मानं शूलाभयसमन्वितम् ।
मातुलुङ्गधरं देवमक्षसूत्रधरं प्रभुम् ॥ ३० ॥

वृषारूढं चतुर्भुजमिति सदाशिवरूपाद्विशेषः ॥ ३० ॥

एवमेव—

दायें हाँथ में सूत्र (= सूत) धारण किये हुए हैं । देवता सिद्ध एवं गन्धर्वों के द्वारा स्तुति किये जाते हुए का ध्यान करे ॥ -२५-२७ ॥

संड़सी लिए हुए ॥ २७ ॥

उक्त और वक्ष्यमाण रूप वाले—

इच्छानुरूप सिद्धि देने वाले सब रूपों की स्थल, अग्नि, जल में अथवा जहाँ मन प्रसन्न हो वहाँ पूजा करें ॥ २८ ॥

देवताओं के समान इन भगवान् का भी आश्रय के विषय में कोई नियम नहीं है (इनकी कहीं भी पूजा हो सकती है) । 'चित्रे' इसमें सप्तमी विभक्ति का प्रयोग चतुर्थी के अर्थ में है ('चित्रे' की जगह 'चित्ताय' होना चाहिए) ।

अथवा—

शङ्ख कुन्द (पुष्प) चन्द्रमा के समान धवल, तीन नेत्रवाले, रूद्ररूपी, बैल पर आरुढ़ का सदाशिव के रूप में ध्यान करना चाहिये । ये महात्मा देव चार भुजाओं में त्रिशूल, अभयमुद्रा, मातुलुङ्ग (= जम्भीरी नीबू) और अक्षमाला धारण किये हैं ॥ २९-३० ॥

वृषारुढ़ और चार भुजा वाला होना सदाशिव के रूप से अधिक है ॥ ३० ॥

इसी प्रकार—

अथो बहुभुजं देवं नाट्यस्थं चिन्तयेत् प्रभुम् ।
उमार्धधारिणं यद्वा विष्णोरर्धार्धधारिणम् ॥ ३१ ॥
विवाहस्थं च वा ध्यायेत् समीपस्थं प्रपूजयेत्।

समीपस्थमित्युमादेव्या इत्यर्थात् ॥

किं च—

ब्रह्मा चतुर्मुखः सौम्यो रक्तवर्णः सुलोचनः ॥ ३२ ॥
लम्बकूर्चः सुतेजाश्च हंसारूढश्चतुर्भुजः ।
दण्डाक्षसूत्रहस्तश्च कमण्डल्वभये दधत् ॥ ३३ ॥
वेदैश्चतुर्भिः संयुक्तः सर्वसिद्धिफलप्रदः ।

वेदैरिति साकारैः पार्श्वस्थैः ।

किं च—

बुद्धः पद्मासनगतः प्रलम्बश्रुतिचीवरः ॥ ३४ ॥
पद्माक्षः पद्मचिह्नश्च मणिबद्धो जगद्धितः ।
समाधिस्थो महायोगी वरदाभयपाणिकः ॥ ३५ ॥

अनेक बाहु वाले, नाट्यस्थ (= ताण्डव की मुद्रा में स्थित), उमा को वाम भाग में धारण किये हुए अथवा विष्णु के अर्ध (= लक्ष्मी) को अपने अर्ध (= वाम भाग) में धारण किये हुए विवाहस्थ या उमा देवी के समीपस्थ रूप में पूजा करें ॥ ३१-३२- ॥

और भी—

सर्वसिद्धिफल को प्रदान करने वाले ब्रह्मा का ध्यान करे । वे चतुर्मुख, सौम्य, रक्तवर्ण, सुलोचन, लम्बी दाढ़ीवाले, तेजस्वी, हंसारुढ़, चतुर्भुज, चारों हाथों में दण्ड, अक्षमाला, कमण्डलु और अभय मुद्रा धारण किये हुए तथा देवता का आकार धारण किये हुए पार्श्वस्थ चारो वेदों से युक्त है ॥ ३२-३४- ॥

वेदों से = (देवता का) आकार धारण किये हुए तथा (ब्रह्मा के) पास में खड़े हुए ॥ ३२-३३ ॥

और भी—

बुद्ध के रूप में देव का ध्यान करें । ये बुद्धदेव पद्मासन लगाये हुए, लम्बे कान एवं लम्बा चीवर धारण किये हुए, कमल के समान नेत्र वाले, पद्मचिह्न, मणिबद्ध, जगत् के हितकारी, समाधिस्थ, महायोगी, हाथ में वरद एवं अभय मुद्रा वाले, अक्षमाला एवं कमल धारण किये हुए हैं । इस

अक्षसूत्रधरो देवः पद्महस्तः सुलोचनः ।
एवं ध्यातः पूजितश्च स्त्रीणां मोक्षफलप्रदः ॥ ३६ ॥

पद्ममिवाक्षिणी यस्य । पद्मं चिह्नं करादौ लाञ्छनं यस्य । मणिबद्ध इत्याहिताग्न्यादित्वाद् निष्ठायाः परत्वम् ॥

यद्वा—

बहुनात्र किमुक्तेन पौनःपुन्येन सुन्दरि ।
कार्तिकेयश्च कामश्च सूर्यः सोमो विनायकः॥ ३७ ॥
लोकपालास्तथा सर्वे येऽन्ये वा देवयोनिजाः।
गारुडे भूततन्त्रे च वाग्विधानेषु सर्वतः ॥ ३८ ॥
न्यायारहतयोगेषु वैदिकाद्येष्वनेकशः ।
यामले चैकवीरे च नवके त्रिकभेदतः ॥ ३९ ॥
समभेदे च देव्याख्ये दुर्गाख्ये विन्ध्यवासिनि ।
चण्डिकाद्ये चतुष्के च स्वयम्भूत्थे महेश्वरे ॥ ४० ॥
प्राक्प्रतिष्ठितरूपे वा ऋषिमानुषयोजिते ।
आयुधे विविधे चैव विद्यापीठेषु सर्वतः ॥ ४१ ॥
सर्वपातालतन्त्रेषु नागेषु द्रामिडेषु च ।
शक्तयो वा ह्यनन्ताश्च मन्त्रेणानेन सुव्रते ॥ ४२ ॥

प्रकार ध्यान किये गये ये स्त्रियों के लिये मोक्षप्रद होते हैं ॥ -३४-३६ ॥

(पद्माक्ष =) कमल के समान आँखें हैं जिनकी वे । (पद्मचिह्न =) जिसके हाथ आदि में कमल का चिह्न हैं वे । मणिबद्ध = अग्न्याधान आदि करने के कारण परमनिष्ठावान् (अथवा मणि = लिङ्ग का अग्रभाग, उसको बाँधने वाले = वश में करने वाले अर्थात् जितेन्द्रिय) ॥

अथवा—

हे सुन्दरी ! यहाँ बार-बार कहने से क्या लाभ । गारुड, भूततन्त्र, वाग्विधान, न्याय, बौद्ध, योग, वैदिक आदि, यामल, एकवीर, त्रिक के भेद, नवात्मक चक्र, सममत, देवी दुर्गा, विध्यवासिनी, चण्डिका आदि, चतुष्क, स्वयम्भू के रूप में उत्पन्न महेश्वर अथवा पूर्व प्रतिष्ठित रूप, ऋषि-मनुष्य के द्वारा आयोजित विविध आयुधों, विद्यापीठों, समस्त पातालतन्त्रों, नागों, द्रामिडों में सर्वत्र (इष्टदेव के रूप में स्वीकृत) कार्त्तिकेय, काम, सूर्य, चन्द्र, गणेश, लोकपाल अथवा अन्य जो सभी देव वे सब तथा अनन्त शक्तियाँ हैं वे इस (नेत्र) मन्त्र के द्वारा विधिपूर्वक पूजित होने पर समस्त सिद्धियों को देती हैं । हे सुव्रते ! ये सब सर्वदा

विधानेनार्चिताः सर्वे सर्वसिद्धिफलप्रदाः ।
भवन्त्यवितथाः सर्वे सत्यं मे नानृतं वचः ॥ ४३ ॥

सूर्य इति प्राक् संहितास्थित्योक्तः, इह तु बाह्यः । अन्ये इति ध्रुवान्ताः । कार्तिकेयाद्या ये च देवाः, गारुडाद्येषु द्रामिडान्तेषु च याः शक्तयो देवताः, सर्वे तेऽनेनैव मन्त्रेण, विधानेनेति तत्तच्छास्त्रप्रसिद्धेनेतिकर्तव्यताभेदेनार्चिताः सर्वसिद्धिफलप्रदा भवन्ति, इति संबन्धः । न्यायशास्त्रे नरेभ्यो भिन्नः सर्वज्ञत्वादिगुणो महेश्वरो देवता, आर्हतेषु अर्हन्, योगे क्लेशाद्यस्पृष्टः पुरुषविशेषः, वैदिकमाद्यं येषु पौराणिकेतिहासिकेषु कर्मसु तत्र या अग्न्याद्या देवताः, यामल इति ब्रह्मयामलरुद्रयामलादौ, एकवीर इति परात्रीशिकामतत्रिंशिकादौ, नवक इति नवात्मचक्रादौ, त्रिक इति षडर्धनयेषु, समभेदे चेति समविषमाख्येषु मतनयेषु, देव्याख्य इति महाघोराजयादिभेदेषु, विन्ध्यवासिनीत्येतदाख्यदेवताप्रतिपादके, चण्डिकाद्ये चतुष्के इति दक्षिणवामस्रोतसि तत्तद्देवताचतुष्टयाराधनप्रतिपादिनि, स्वयंभूत्वेनोत्थितो यो महेश्वरो लिङ्गमूर्तिस्तत्र, तत्तत्तत्त्वावतारानुसारमाम्नायसिद्धेऽधिष्ठातरि देवताविशेषे प्राक्प्रतिष्ठिते ऋषिमानुषयोजिति इति समानाधिकरणे सप्तम्यौ । विविधे खड्गनाराचादौ, नागेष्विति तत्तन्नागाकारेषु, द्रामिडेष्विति द्रामिडादिलोकाविगीतप्रसिद्धिसिद्धेषु देवताकारेषु । अवितथा इत्यादि प्राग्वत् ॥ ४३ ॥

सफल होती हैं—यह मेरा वचन सत्य है अनृत नहीं ॥ ३७-४३ ॥

सूर्य = पहले संहिता की स्थिति से कहे गये और यहाँ बाह्य रूप से । अन्य = ध्रुव आदि । कार्त्तिकेय आदि जो देव लोग है, गारुड़ से लेकर द्रामिड पर्यन्त जो शक्ति देवतायें हैं वे सब इसी मन्त्र और विधान से = तत्तत् शास्त्रों में प्रसिद्ध इतिकर्त्तव्यताभेद से, पूजित होने पर सर्वसिद्धि रूपी फल को देते हैं—ऐसा अन्वय समझना चाहिये । न्यायशास्त्र में आदमियों से भिन्न सर्वज्ञत्व आदि गुणों वाले महेश्वर देवता हैं । जैनों में अर्हन्, योग में क्लेश आदि से असंस्पृष्ट पुरुषविशेष, वेद से लेकर पौराणिक ऐतिहासिक अनुष्ठानों में जो अग्नि आदि देवतायें हैं । यामल = ब्रह्मयामल रुद्रयामल आदि, एकवीर = परात्रीशिका मतत्रिंशिका आदि । नवक = नवचक्र आदि, त्रिक = षडर्धशास्त्र, समभेद = समविषय नामक मत शास्त्र । देव्याख्य = महाघोरा जया आदि । विन्ध्यवासिनी = इस नाम वाली देवता का प्रतिपादक शास्त्र । चण्डिका आदि चार = दक्षिण वाम मार्ग में तत्तत् चार देवताओं की पूजा के प्रतिपादक शास्त्र । स्वयंभू के रूप में उत्पन्न जो महेश्वर = लिङ्गमूर्त्ति उनके विषय में, तत्तत् तत्त्व के अवतार के अनुसार आम्नायसिद्ध तत्तत् अधिष्ठातृ देवताविशेष । 'प्राक्प्रतिष्ठते' एवं 'ऋषिमानुषयोजिते' यहाँ दोनों स्थलों में सामानाधिकरण्य में सप्तमी हैं । (इनका सम्बन्ध महेश्वरे से है) । विविध आयुध = खड्ग बाण आदि । नाग = तत्तत् नागों के आकार वाले । द्रामिड = आदि (द्रविड आदि) लोगों में एकमत से प्रसिद्ध देवता के रूप ॥ ४३ ॥

किं चायम्—

सर्वसाधारणो देवः सर्वसिद्धिफलप्रदः ।
सर्वेषामेव मन्त्राणां जीवभूतो यतः स्मृतः ॥ ४४ ॥

ततः—

प्रतिष्ठापूजने चैव भद्रपीठार्घपात्रके ।
अग्निसंस्करणे चैव न्यासध्यानादिवाहने ॥ ४५ ॥
विकल्पो नैव कर्तव्यः सर्वसाधारणो यतः।

वाहन इत्यासने । विकल्प इति द्वैताद्वैतशास्त्रोक्तव्याप्तिभेदाशयेन नात्र शङ्कितव्यम्, यतोऽयं देवः प्रोक्तपरमाद्वयव्याप्त्या सर्वसाधारणः, विश्ववैचित्र्यचित्रस्य समभित्तितलोपम इत्यर्थः ॥

अतश्च—

सङ्करोऽत्र न जायेत तस्माच्छङ्कां परित्यजेत्॥ ४६ ॥

अन्यत्रेव नात्र मन्त्रादिसङ्करः कोऽपीत्यर्थः ॥

अयमप्यस्य मन्त्रराजस्य महिमा, यत्—

सकृज्जप्तः शरीरस्थः सकृज्जप्तोऽर्घपात्रके ।

यह देव सर्वसाधारण तथा सर्वसिद्धि रूपी फल को देने वाले हैं । चूँकि यह समस्त मन्त्रों के प्राण के रूप में माने गये हैं ॥ ४४ ॥

इसलिये—

प्रतिष्ठा, पूजा, भद्रपीठ, अर्घपात्र, अग्न्याधान, न्यास, ध्यान, आसन आदि के विषय में विकल्प नहीं ढूँढना चाहिये क्योंकि यह (नेत्र) देव सर्वसाधारण हैं ॥ ४५-४६- ॥

वाहन में = आसन में । विकल्प...... = द्वैत अद्वैत शास्त्रों में उक्त व्याप्तिभेद के आशय से वहाँ शङ्का नहीं करनी चाहिये । क्योंकि यह देव उपर्युक्त परम अद्वय व्याप्ति के कारण सर्वसाधारण हैं अर्थात् विश्ववैचित्र्य चित्र की समतल आधारशिला है ॥

इसलिये—

इस विषय में साङ्कर्य नहीं होता । अतः शङ्का का परित्याग करना चाहिये ॥ -४६ ॥

जैसे अन्यत्र साङ्कर्य है उस प्रकार यहाँ मन्त्र आदि का साङ्कर्य नहीं है ॥

इस मन्त्रराज की यह भी महिमा है कि—

सकृद्धस्तेषु विन्यासो मानसे तु सकृज्जपात् ॥ ४७ ॥
बाह्यस्थितः सकृत्पूज्यः सकृच्चन्द्रार्कमूर्तिषु ।
सकृद्धोमे सकृज्जप्ये उदके तु सकृद्यजेत् ॥ ४८ ॥
सकृत्सकृच्च सर्वत्र पूजयेत् परमेश्वरम् ।

सकृद्विभातत्वादस्यैवमुक्तम् ॥

अत. एव—

प्राणायामादिकः क्लेशो मुद्रा योगश्च धारणा ॥ ४९ ॥
नैवोपयुज्यते ह्यस्य मन्त्रराजस्य सुव्रते ।

अस्य च भगवतोऽर्चनादि सर्वम्—

व्यवसायेन कर्तव्यमन्यथा नैव.........

सुखोपायमहामन्त्रवीर्यानुप्रवेशनेन, न तु क्लेशेनेत्यर्थः ॥

यदि तु प्राणायामप्रयासादि आश्रीयेत, तदेतदत्र—

...............दूषणम् ॥ ५० ॥

एक बार जप करने पर यह देव शरीर में स्थित हो जाते हैं । इसी प्रकार अर्घपात्र, हस्तन्यास और मन में भी एक ही बार जपने पर स्थित हो जाते हैं । बाहर स्थित भी इनकी एक ही बार पूजा करनी चाहिये । चन्द्र सूर्य की मूर्त्तियों में, होम, उदक आदि में इनका एक बार यजन करे । सर्वत्र इस परमेश्वर की एक ही बार पूजा करे ॥ ४७-४९- ॥

इनके सकृत् विभात (= एक ही और अन्तिम बार प्रकाशित) होने के कारण ऐसा कहा गया ॥

इसलिये—

हे सुव्रते ! इस मन्त्रराज के लिये प्राणायाम आदि का क्लेश, मुद्रा, योग, धारणा आदि युक्त (= उचित) नहीं है ॥ ४९-५०- ॥

इस भगवान् की पूजा आदि सब—

व्यवसाय (= सामान्य स्थिति एवं दृढ़विश्वास) के साथ करनी चाहिये अन्यथा नहीं ॥ -५० ॥

सुखपूर्वक महामन्त्र वीर्य के अनुप्रवेश से न कि कष्ट के साथ—यह अर्थ है ॥

यदि प्राणायाम या प्रयास आदि को अपनाया गया तो यहाँ

दोष हो जाता है ॥ -५० ॥

भवति ॥

व्यवसायेन तु क्रियमाणम्—

निश्छिद्रं साधकेन्द्रस्य राज्ञो राष्ट्रविवृद्धये ॥

भवतीति शिवम् ॥

समानतन्त्रप्रतितन्त्रभेदो न चासनाधेयभिदास्ति यस्य ।
नियन्त्रणात्रोटि सकृद्विभातं चिदात्म नेत्रं प्रणमामि शार्वम् ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योते त्रयोदशोऽधिकारः ॥ १३ ॥

व्यवसाय (= मन एवं शरीर की सामान्य स्थिति), में किया गया यह—

साधक राजा की निश्छिद्र राष्ट्रवृद्धि के लिये होता है (अथवा निश्चित रूप से अखण्ड राष्ट्र की वृद्धि के लिये होता है) ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के त्रयोदश अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १३ ॥
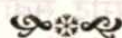
जिसके यहाँ समानतन्त्र प्रतितन्त्र का भेद, आसन और आधेय का भेद नहीं है, नियन्त्रण (= बन्धन) को नष्ट करने वाले, नित्यप्रकाशमान, चित्स्वरूप इस शाङ्कर नेत्र को मैं प्रणाम करता हूँ ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के त्रयोदश अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽधिकारः

* नेत्रोद्योतः *

निजौजसोज्जृम्भ्य निजौजसैव यन्मन्त्रचक्रं स्फुरयन्निजात्म ।
अनुग्रहायाधिकरोति नेत्रं नुमस्तदैशं द्वयदृक्प्रशान्त्यै ॥

एवमियताधिकारकदम्बकेन सर्वदर्शनाभेदिमहारहस्यपराद्वयरूपता मन्त्रराजस्य यथाप्रश्नं निर्णीतेत्यपरमन्त्राणामनुपयोगितां संभावयमाना श्रीदेव्युवाच—

यदि देव परत्वेन वर्णितो मन्त्र उत्तमः ।
सर्वेषामेव तन्त्राणां देवतानां च सर्वतः ॥ १ ॥
हृदयं परमं ह्येष मन्त्रराट् सर्वसिद्धिदः ।
किमन्यैर्मन्त्रमुख्यैश्च जप्तैरिष्टैर्वद स्व मे ॥ २ ॥

---

* ज्ञानवती *

मन्त्रमहानिचयो य इहास्ते यामलरूपप्रसूतमवेहि ।
इत्थमुदीरणयुक्तमहं तन्नेत्रमजस्रमवत् प्रणमामि ॥

जो मन्त्रचक्र को अपने तेज से उज्जृम्भित (= उत्पन्न अथवा प्रकाशित) कर अपने आत्मस्वरूप मन्त्रचक्र को अपने ही मन्त्रचक्र से स्फुरित करते हुए उसे अनुग्रह के लिये अधिकृत करते हैं, द्वैतदृष्टि के नाश के लिये मैं उस ऐश्वर नेत्र को प्रणाम करता हूँ ।

यहाँ तक के अधिकारों के द्वारा मन्त्रराज की सर्वदर्शनसम्मत महारहस्य-पराद्वयरूपता प्रश्नानुसार बतलायी गयी । अब अपर मन्त्रों की अनुपयोगिता की सम्भावना करती हुयी श्री देवी ने कहा—

हे देव ! यदि पररूप में वर्णित उत्तम मन्त्र समस्त तन्त्रों देवताओं का सब प्रकार से हृदय, मन्त्रों का राजा तथा समस्त सिद्धियों को देने वाला है

किमित्यस्यादौ तर्हिशब्दोऽध्याहार्यः । चकारश्चित्रैस्तदाराधनप्रकारैरपि किमिति समुच्चिनोति ।[1] स्वेति पदं भिन्नम् ॥ २ ॥

एवं पृष्टः श्रीभगवानुवाच—

साधु साधु महेशानि पृष्टोऽहं यत्त्वयानघे ।
तदहं संप्रवक्ष्यामि यत्सारं परमं ध्रुवम् ॥ ३ ॥

यद्वस्तु त्वयाहं पृष्टस्तत् सम्यग्वक्ष्यामि, यस्मादेतद् ध्रुवं निश्चितं सत् परं रहस्यम् ॥ ३ ॥

तद्वक्तुमुपक्रमते—

आसीदिदं शक्तिरूपमनौपम्यमनामयम् ।
शिवं सर्वगतं शुद्धमप्रतर्क्यमतीन्द्रियम् ॥ ४ ॥

इदमिति देहादिप्रमात्रपेक्षयेदन्तावभास्यं यत्किंचित्, तद्देहाद्यनाविष्टपरचित्प्रमात्रपेक्षया शक्तिरूपं परप्रमात्रभिन्नम् । अतश्च—

तो (अन्य) मुख्य मन्त्रों को जपने एवं उनकी पूजा से क्या (लाभ) ? यह मुझे बतलाइये ॥ १-२ ॥

क्या (लाभ) इसके पहले 'तो' शब्द को जोड़ना चाहिये । चकार का अर्थ है—उनकी आराधना के विचित्र प्रकारों से । वदस्व में 'स्व' पद अलग है । (उसका अर्थ है—आप मेरे अपने हैं अथवा मैं आपकी अपनी हूँ उस मुझको) ॥ १-२ ॥

इस प्रकार पूछे गये भगवान् ने कहा—

हे महेश्वरि ! हे निष्पापे ! जो तुमने मुझसे पूछा वह अति उत्तम है । जो परम ध्रुव और सारभूत है वह मैं तुमको बतलाऊँगा ॥ ३ ॥

जो वस्तु तुमने मुझसे पूछा उसे मैं भली भाँति बतलाऊँगा । क्योंकि यह ध्रुव = निश्चित, होते हुए परम रहस्य है ॥ ३ ॥

उसको कहने का उपक्रम करते हैं—

यह (विश्व पहले) शक्तिरूप, अनुपम, अनामय, शिवप्रद, सर्वगत, शुद्ध, तर्क से परे और अतीन्द्रिय था ॥ ४ ॥

यह = देह आदि प्रमाता की अपेक्षा 'इदम्' रूप में अवभास्य यत्किञ्चित् रूप। वह देह आदि से अनाविष्ट परम चैतन्य प्रमाता की अपेक्षा शक्तिरूप परप्रमाता से अभिन्न था । इसलिये—

---

१. अस्यार्थः परात्रिंशिकाद्वितीयश्लोकव्याख्यानेऽभिनवीये द्रष्टव्यः ।

'स्वात्मेव स्वात्मना पूर्णा भावा भान्त्यमितस्य तु (ई०प्र० २।१।७)

इति स्थित्यानौपम्यादिरूपम् । शिष्टं प्रागेव व्याकृतप्रायम् ॥ ४ ॥

अतश्च—

सिसृक्षुः स्वेच्छया देवि ज्ञानशक्त्या क्रियात्मकः ।
प्रथमो ह्येष देवेशः सर्वज्ञः सर्वगः शिवः ॥ ५ ॥
सर्वसर्वात्मको देव आदिसृष्टिप्रवर्तकः ।

यच्छक्तिरूपं विश्वमासीत् शक्तेः शक्तिमदैकात्म्यात् स एष प्रथमः प्रधानमाद्यश्च, सर्वं सर्वं यस्य स सर्वसर्वः, आत्मा स्वरूपं यस्य तादृक्, स्वयेच्छया तथैव ज्ञानशक्त्येति तद्रूपतामाप्तया क्रियात्मको गृहीतक्रियाशक्तिभूमिकः सन् अनाश्रितसदाशिवाद्याभासिन्या आदिसृष्टेर्गर्भीकृतानन्तावान्तरसर्गसंहारप्रपञ्चायाः प्रवर्तक उल्लासकः ॥

एवमादिसृष्टिमुल्लास्य तद्भूमावेव—

ततोऽनु मन्त्रसृष्टिर्वै शिवेन परमात्मना ॥ ६ ॥
नानाप्रकारा रचिता पृथग्भेदव्यवस्थया ।

'उस अमित (परमेश्वर) का स्वात्मा ही अपने द्वारा पूर्ण भावों के रूप में भासित होता है ।' (ई.प्र. २।१।७)

के अनुसार अनौपम्य आदि रूप वाला था । शेष अंशों की प्रायः पहले ही व्याख्या कर दी गयी है ॥ ४ ॥

इसलिये—

हे देवि ! सृष्टि करने की इच्छा वाले वे देव जब अपनी इच्छा एवं ज्ञान शक्ति के द्वारा क्रियात्मक बनते हैं तो यह देवेश प्रथम सर्वज्ञ सर्वगामी शिव सर्वसर्वात्मक होते हुए आदिसृष्टि के प्रवर्त्तक बन जाते हैं ॥ ५-६- ॥

शक्ति और शक्तिमान् के अभिन्न होने के कारण जो यह शक्तिरूप विश्व था वही प्रथम = प्रधान और आद्य था । सब-सब है जिसका वह है—सर्व-सर्व यह सर्व-सर्व है आत्मा = स्वरूप जिसका, वह है—सर्वसर्वात्मक । (यह देव) अपनी इच्छा और उसी प्रकार ज्ञान शक्ति के द्वारा तद्रूपता को प्राप्त कर क्रियात्मक = क्रियाशक्ति की भूमिका को स्वीकार कर लेता है । ऐसा होकर वह अनाश्रित शिव, सदाशिव आदि के रूप में आभासित होने वाली आदि सृष्टि अर्थात् अव्यक्त अवस्था में वर्त्तमान अनन्त अवान्तर सृष्टिसंहारप्रपञ्च का प्रवर्त्तक = उल्लासक, हो जाता है ॥

इस प्रकार आदि सृष्टि को उल्लासित कर उसी भूमि पर—

यथा तथैव देवेशः सर्वसर्वात्मकः परः ॥ ७ ॥
साधारणो मन्त्रनाथः सर्वेषामेव वाचकः ।
यदा तदा हि सर्वेषामात्मभूतो ह्यलेपकः ॥ ८ ॥

तत इति तद्भित्तावेव । अन्विति स्वतन्त्रप्रकाशात्मबोधप्राधान्यात्मना आनुरूप्येण । भेदव्यवस्थयेत्यनुग्राह्यानुग्रहवैचित्र्याभासनाशयेन । शिवेन नानामन्त्र-सृष्टिर्यथा रचिता, तथैव मन्त्रसृष्टेः पराद्वयव्याप्तिर्मा निमाङ्क्षीदित्याशयेन सर्व-सर्वात्मकः, परो विश्वमन्त्रपालनपूरणकृत्, साधारणो महासामान्यरूपः, अत एव सच्छब्द इव घटादीनां सर्वेषां वाचकः स्वाभिन्नमाहात्म्यामर्शनः, शिवेनैव परमात्मना रचितो निजमहाशक्त्यात्मोन्मीलितः, यदा चैवं तदा सर्वेषामात्मभूतः, हि इति यस्मादेवं तस्मादयमलेपको वेदवैष्णवगारुडसिद्धान्तादिमन्त्रैर्न लिप्यते नोपरज्यते न भेदव्याप्तिं ग्राह्यते, लेपकाभिमतानां तेषां तच्चित्प्रकाशसारमहामन्त्र-वीर्यात्मतां विना वस्तुत्वाभावात् ॥

अतश्च—

मन्त्रकोट्यो ह्यसंख्याता व्यक्ताव्यक्ता व्यवस्थिताः ।
सर्वास्ताः सिद्धिदास्तेन आद्यन्तेन निरोधिताः ॥ ९ ॥

इसके बाद परमात्मा शिव के द्वारा जिस प्रकार पृथग् भेदव्यवस्था के अनुसार अनेक प्रकार की सृष्टि रची गयी उसी प्रकार वह देवेश पर सर्वसर्वात्मक साधारण मन्त्रनाथ सभी के वाचक हो जाते हैं और इस प्रकार निर्लिप्त होते हुए भी वे सब के आत्मभूत है ॥ -६-८ ॥

ततः = उसी भित्ति (आधार) पर, अनु = स्वतन्त्र प्रकाशरूप बोध की प्रधानता के अनुरूप । भेद व्यवस्था के द्वारा = अनुग्राह्य अनुग्रह के वैचित्र्य के आभासन के उद्देश्य से । शिव के द्वारा जिस प्रकार अनेक मन्त्रों की सृष्टि की गयी उसी प्रकार मन्त्रसृष्टि की पराद्वय व्याप्ति नष्ट न हो जाय इस आशय से विश्व परमात्मा शिव ने सर्वसर्वात्मक पर = समस्त मन्त्रों का पालन पूरण करने वाला, साधारण = महासामान्यरूप, इसलिये 'सत्' शब्द के समान समस्त घट आदि का वाचक = स्वाभिन्न माहात्म्य का आमर्शन करने वाला, निजमहाशक्ति स्वरूप (यह मन्त्र) बनाया । चूँकि यह सबका आत्मस्वरूप है इसलिये अलेपक = वेद वैष्णव गारुड़ सिद्धान्त आदि मन्त्रों से लिप्त = उपरक्त = भिन्न नहीं होता । लेपक के रूप से स्वीकृत वे (मन्त्र) उस चित् प्रकाशसार वाले महामन्त्र के वीर्य के बिना वस्तुतः हैं ही नहीं ॥

इसलिये—

व्यक्त अव्यक्त व्यवस्थित असंख्य करोड़ वे सब मन्त्र आदि और अन्त में (मन्त्रराज = नेत्रतन्त्र से) सम्पुटित होने पर सिद्धि प्रदान करते हैं । इस

एतत्संपुटयोगेन जप्ताः सिद्धिफलप्रदाः ।
तदर्थं तव सुश्रोणि स्नेहेन प्रकटीकृतम् ॥ १० ॥
रहस्यं परमं सत्यं..........

असंख्याता इति परिवारापेक्षया । व्यक्ताव्यक्ताः सकलनिष्कलरूपाः । आद्यन्तेति 'सृष्टिं तु संपुटीकृत्य' (प०त्री० ३) इत्याम्नायनीत्या तदेव महामन्त्रवीर्यात्म चिद्धाम आदिभूतं स्वभित्तौ मन्त्रचक्रमुन्मील्य चित्प्रकाशेनैवाच्छुरयति, इत्ययमत्र वीर्यप्राधान्येन निरोधार्थो विवक्षितः, संपुटीकारस्तु मन्त्रपाठयुक्त्या ॥

एतच्च यत ईदृक् परं रहस्यमतः—

...........नाख्येयं यस्य कस्यचित् ।

अनिवृत्तभेदवासनाकलङ्कस्य ॥

यतः—

गुप्तः सुसिद्धिदो देवि प्रकटः सिद्धिहा भवेत्॥ ११ ॥

शोभना सिद्धिर्मुक्तिपर्यवसाना भुक्तिः ॥ ११ ॥

तस्मात् सुगुप्तः कर्तव्यः संप्रदायो मुखागमः ।

मन्त्र से सम्पुटित कर जपने पर सिद्धि देते हैं । हे सुश्रोणि ! इसीलिये प्रेमपूर्वक मैंने इस परम रहस्य सत्य को तुमको बतलाया ॥ ९-११- ॥

असंख्य-परिवार की अपेक्षा से । व्यक्त अव्यक्त = सकल निष्कल रूप । आद्यन्त..............................—'सृष्टि को सम्पुटित कर' (प.त्री. ३) इस आम्नाय की नीति के अनुसार वही आदिभूत महामन्त्रवीर्य वाला चिद्धाम अपने ही ऊपर मन्त्रचक्र का उन्मीलन कर उसे चित् प्रकाश से युक्त करता है । वीर्यप्रधान होने के कारण यही निरोधार्थ यहाँ विवक्षित है । सम्पुटीकार तो मन्त्रपाठ की युक्ति से होता है ॥

चूँकि यह इस प्रकार का परम रहस्य है इसलिये

जिस किसी को बतलाने योग्य नहीं हैं ।

(जिस किसी को =) जिसकी भेदवासना रूपी मलिनता निवृत्त नहीं हुयी है उसको ॥

क्योंकि—

हे देवि ! यह (मन्त्रराज) गुप्त सुष्ठुसिद्धि देने वाला है । जो इसे प्रकट करता है उसकी सिद्धि नष्ट हो जाती है ॥ -११ ॥

सु = शोभन सिद्धि = वह भोग जिसका अन्त मोक्ष में होता है ॥ ११ ॥

मुखात् परशक्त्यात्मनो वक्त्रादागमः प्रसरणं यस्य सोऽयं व्याख्यातरहस्यात्मा सम्यक् तीव्रतमशक्तिपातं विचार्य तद्वते दीयत इति संप्रदायोऽयं सुष्ठु गुप्तः स्वविश्रान्तः कर्तव्य इति शिवम् ॥

आद्यन्तस्फुरणात्मवीर्यरुचिरश्रीमन्त्रराजोम्भितं
स्वस्मिन् धाम्नि विधाय शम्बरकुलं तत्तुल्यवीर्यं स्फुरत्।
नानानुग्रहकर्मकेलिमभितो निर्वाहयच्छाङ्करं
नेत्रं नौमि समग्रशक्तिपरमानन्दामृतैरुल्बणम् ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योते चतुर्दशोऽधिकारः ॥ १४ ॥

इस कारण (शिव के) मुख से निकला हुआ यह आगम सम्प्रदाय अत्यन्त गोपनीय रखना चाहिये ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के चतुर्दश अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १४ ॥

मुख = परशक्तिरूप मुख, से आगम = प्रसरण हुआ है, जिसका वह मुखागम = व्याख्यातरहस्य वाला । (सम्प्रदाय =) सम्यक् = तीव्रतम शक्तिपात का विचार कर उस शक्तिपात वाले को जो दिया जाय वह सम्प्रदाय, सुष्ठु गुप्त = स्वविश्रान्त, रखना चाहिये ॥

आदि से अन्ततक (अथवा आदि और अन्त में) स्फुरणा स्वरूप वीर्य की शोभा वाले श्रीमन्त्रराज से प्रादुर्भूत, अपनी ही भित्ति पर शम्बरसमूह (धार्मिक अनुष्ठान या संस्कारसमूह या वैभव) की रचना कर उसी के वीर्य की भाँति स्फुरित होने वाले, सर्वत्र अनेक जीवों के ऊपर अनुग्रह क्रीड़ा का निर्वाह करने वाले तथा समग्रशक्ति एवं परम आनन्दामृत से परिपूर्ण शाङ्कर नेत्र को मैं नमस्कार करता हूँ ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के चतुर्दश अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽधिकारः

*** नेत्रोद्योतः ***

सर्वसर्वात्मविलसत्स्फारसंवित्स्फुरारुणम् ।
रक्षोघ्नं सर्वरक्षाकृच्छार्वं नेत्रमुपास्महे ॥

एवं निर्णीतमाहात्म्यस्य मन्त्रराजस्य रक्षाहेतुतामपि निर्णेतुं श्रीभगवानुवाच—

अतः परं प्रवक्ष्यामि सर्वरक्षाकरो यथा ।
मन्त्रनाथो महोग्रं च धूपं रक्षोघ्नचोदितम् ॥ १ ॥

यथेति येन होमादिप्रकारेण, महोग्रमिति सर्वोपद्रवप्रशमनं धूपम्, तथा रक्षोघ्नतया चोदितं रक्षोघ्नशब्दवाच्यं वस्तु प्रवक्ष्यामि । उपलक्षणं चैतत्पुष्पादेः ॥ १ ॥

*** ज्ञानवती ***

अवनरीतिनिदेशनतत्परं दितिसुतघ्नसुधूपविधायकम् ।
जयति नेत्रमनन्तमहोदयं निखिलसिद्धिप्रदं परमेशितुः ॥

सर्वसर्वात्मरूप से शोभायमान स्फार वाली संवित् के स्फुरण से अरुण, राक्षसों के नाशक और सबकी रक्षा करने वाले शिव के नेत्र की हम उपासना करते हैं ।

इस प्रकार जिसका माहात्म्य बतलाया जा चुका है वह मन्त्रराज रक्षा भी करता है—इसे बतलाने के लिये श्री भगवान् ने कहा—

इसके बाद जिस प्रकार यह मन्त्रनाथ सबकी रक्षा करता है, रक्षोघ्न नामक उस महोग्र धूप (आदि) को बतलाऊँगा ॥ १ ॥

यथा = जिस होम आदि प्रकार से । महोग्र = समस्त उपद्रवों को शान्त करने वाली धूप, और राक्षसों का नाशक रक्षोघ्न कही जाने वाली वस्तुयें बतलाऊँगा । यह (रक्षोघ्न) पुष्प आदि का उपलक्षण[1] है ॥ १ ॥

---

१. स्वबोधकत्वे सति स्वेतरबोधकत्वम्—उपलक्षणत्वम् ।

यतोऽनेन मन्त्रेण—

सप्तवाराभिजप्तस्तु रक्षोघ्नो यस्य दीयते ।

यश्च तम्—

शिरःस्थं धारयेन्नित्यं सर्वदोषैः स मुच्यते ॥ २ ॥

अथ रक्षोघ्नस्य नामानि निर्ब्रुवन् माहात्म्यं प्रदर्शयति—

सर्वदैत्यक्षयार्थं तु मदुक्तेनैव ब्रह्मणा ।
सेर्ष्याणां चैव सर्वेषामभिचारो यतः कृतः ॥ ३ ॥
तदासौ सर्षपः प्रोक्तः पाति रक्षति सर्वतः ।

सेर्ष्याणां मात्सर्यपूर्णानां दानवादीनाम्, सेर्ष्येभ्यः पाति रक्षति, इति कृत्वा अक्षरसारूप्यात् सर्षप इत्यर्थः ॥

यदा रक्षांसि सर्वाणि विद्रुतानि हतानि च ॥ ४ ॥
तदा देवि मया प्रोक्ता रक्षोघ्ना प्रथिता भुवि ।

रक्षांसि घ्नन्ति, इति कृत्वा रक्षोघ्ना इति मया प्रोक्ता भुवि प्रथिता इत्यर्थः ॥

आहवेषु च सर्वेषु दैत्यैः सह सुरोत्तमैः ॥ ५ ॥

इस मन्त्र से सात बार अभिजप्त (= जपपूर्वक अभिमन्त्रित) रक्षोघ्न (= पुष्प आदि) जिस व्यक्ति को दिया जाता है और जो उसे सदा शिर पर धारण किये रहता है वह समस्त दोषों से मुक्त हो जाता है ॥ २ ॥

अब रक्षोघ्न के नामों को बतलाते हुए उसका माहात्म्य बतलाते हैं—

(सर्षप शब्द का स्पष्टार्थ बतलाते हैं—) मेरे द्वारा आग्रह किये गये ब्रह्मा ने समस्त दैत्यों के नाश के लिये जिसके द्वारा ईर्ष्यायुक्त सब (दैत्यों) का अभिचार किया इसलिये यह (वस्तु) सर्षप कही गयी । यह सब प्रकार से रक्षा करती है ॥ ३-४- ॥

ईर्ष्या से युक्त = मात्सर्य से भरे हुए, दानव आदि की । (सर्षप = सरसो, की व्युत्पत्ति बतलाते है—) सेर्ष्य (= ईर्ष्या से युक्त) से, पा—रक्षा करने के कारण अक्षर समान होने से सर्षप नाम पड़ा (सर्षप शब्द सेर्ष्यप का अपभ्रंश है) ॥

हे देवि ! जब सभी राक्षस मार दिये गये या भाग गये तब मैंने इसे रक्षोघ्न कहा और धरती पर प्रचारित कर दिया ॥ -४-५- ॥

राक्षसों का नाश करती है इस कारण मैंने इसे पृथ्वी पर रक्षोघ्ना के नाम से विख्यात किया ॥

नियुक्ता दुष्टहन्तारः सिद्ध्यर्थं रिपुनाशने ।
तेषामर्थो यदा सिद्धस्तेन सिद्धार्थका भुवि ॥ ६ ॥
ख्याता दर्पहरा देवि भूतानां दुष्टचेतसाम् ।

रिपुनाशनविषये सुरैः स्वात्मसिद्ध्यर्थं यतो दुष्टहन्तारो नियुक्ताः, एभ्यश्च तेषां सुराणां सिद्धोऽर्थः प्रयोजनं यदा, तदा सिद्धार्थकाः ख्याताः ।

यदा सर्वेषु भूतेषु भयत्रस्तेषु सर्वतः ॥ ७ ॥
नीराजनविधानेन नामाङ्कं जुहुयात् प्रिये ।
वह्नौ संक्रुद्धमनसा मन्त्री रक्षार्थमुद्यतः ॥ ८ ॥
तदा नीराजनं ख्यातं सर्वश्रेयस्करं परम् ।

सर्वतो भयत्रस्तेष्वाध्यात्मिकादिदोषोपद्रुतेषु, नीराजनविधानेनेति वक्ष्यमाणेन, नीराजनमिति निःशेषेण राजनं दीपनम्, एतत् सर्षपाख्यं वस्तु ख्यातं प्रथितम् ॥

यश्चायं रक्षोघ्नः, असौ—

सितादिर्युगभेदेन वर्ततेऽनुग्रहे बली ॥ ९ ॥

(सरसो का सिद्धार्थ नाम पड़ने का कारण बतलाते हैं—)

दैत्यों के साथ समस्त युद्धों में शत्रुनाश के लिये उत्तम देवताओं के द्वारा दुष्टहन्ता के रूप में (ये सरसो के दाने) नियुक्त किये गये । उन (देवताओं) का प्रयोजन जब सिद्ध हो गया (अर्थात् शत्रु नष्ट हो गये) तब यह पृथिवी पर सिद्धार्थक के नाम से विख्यात हुई । हे देवि ! यह दुष्टचित्त वाले प्राणियों का दर्प हर लेती है ॥ -५-७- ॥

शत्रुनाश के विषय में देवताओं के द्वारा स्वात्मसिद्धि के लिये ये दुष्टहन्ता के रूप में नियुक्त किये गये । जब उन देवताओं का इनके कारण प्रयोजन सिद्ध हो गया तो ये सिद्धार्थक (= सिद्धः अर्थः = प्रयोजन यैः ते सिद्धार्थाः, सिद्धार्था एव सिद्धार्थकाः—स्वार्थे 'कन्') के नाम से विख्यात हुये ॥

जब समस्त प्राणी सब प्रकार से भय से त्रस्त हो गये तो हे प्रिये ! रक्षा के लिये उद्यत मन्त्री ने नीराजनविधान से (साध्य का) नाम लेकर क्रुद्ध मन से अग्नि में हवन किया । तब से (यह सर्षप) सर्वश्रेयस्कर नीराजन के नाम से विख्यात हुयी ॥ -७-९- ॥

सब प्रकार से भयत्रस्त होने पर = आध्यात्मिक आदि दोषों से उपद्रुत होने पर । नीराजन विधान-जो कि आगे कहा जायगा—उससे । (नीराजन शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हैं—) निःशेषेण (= पूर्ण रूप से) राजन = दीपन (= चमकने वाला) यह = सरसो नामक वस्तु ख्यात = प्रसिद्ध हुआ ॥

कृतादियुगभेदेन सितरक्तपीतकृष्णरूपैर्बलवाननुग्रहे प्रवर्तते ॥ ९ ॥

तत्र—

शुक्लः सर्वप्रदः ख्यातो रक्तो राज्यप्रदायकः ।
पीतो रक्षाकरः प्रोक्तः कृष्णः शत्रुविनाशकृत् ॥ १० ॥

एवं वर्णभेदाश्रयः कर्मभेदः पुराकल्पेऽभूत् ॥ १० ॥

संप्रति तु—

चतुर्युगेषु सर्वत्र पीतकृष्णौ द्विरूपकौ ।
राजसर्षपगौराख्यौ.........

राजसर्षपो राजिका, गौरः पीतः ॥

............द्विरूपोऽन्तर्हितः प्रिये ॥ ११ ॥

सितो लोहितश्चेति द्विरूपोऽद्य तु उत्तमत्वान्न प्रचरतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

यह जो रक्षोघ्न है यह—

युग के भेद से श्वेत आदि रूप वाला अनुग्रह में ब्रलवान् होता है ॥ -९ ॥

सत्ययुग में श्वेत, त्रेता में रक्त, द्वापर में पीत एवं कलियुग में काली सरसो अनुग्रह में बलवान् होती है ॥ ९ ॥

उनमें—

शुक्ल सरसों सब सिद्धियों को देने वाली, लाल राज्य देने वाली, पीत रक्षा करने वाली और काली सरसों शत्रु का विनाश करने वाली होती है ॥ १० ॥

इसी प्रकार प्राचीन कल्प में कर्म का भेद वर्णभेद के अधीन हुआ करता था ॥ १० ॥

इस समय—

चारों युगों में सर्वत्र पीली और काली दो रूपों वाली राई तथा सरसों (ग्राह्य है) ॥ ११- ॥

राजसर्षप = राजिका (राई) । गौर = पीत ॥

हे प्रिये ! शेष दो रूप वाली (सरसों) छिप गयी ॥ ११ ॥

श्वेत और लोहित दो रूप वाली सरसों उत्तम होने के कारण प्रचलन में नहीं है ॥ ११ ॥

एतत् प्रसङ्गादुक्त्वा, प्रकृतमाह—

यदा मृत्युवशं यातः सर्वभूतैरुपद्रुतः ।
तदा तु घृतसंयुक्तं गोक्षीरसितशर्करा ॥ १२ ॥
तिलैर्विमिश्रितं कृत्वा जुहुयात् सर्वशान्तिदम् ।

यात इति साध्य इत्यर्थात् । कृत्वेति प्रकृतं सर्षपम् । हवनमत्र मूलेन ॥

तिलैः कृष्णैः समायुक्तं राजसर्षपमुत्तमम् ॥ १३ ॥
त्र्यक्तं वै जुहुयात् सद्यः सर्वशान्तिफलप्रदम् ।

त्र्यक्तं त्रिमधुसिक्तम् ॥

अनेनैवाभिमन्त्र्यैतद्यस्य हस्ते प्रदीयते ॥ १४ ॥
सौभाग्यमतुलं तस्य जायते नात्र संशयः ।

अनेनेति मूलेन । एवकार ऊहप्रयोगाभावं ध्वनति । एतदिति राजसर्षप-वस्तु ॥

सप्तकृत्वोऽभिसंमन्त्र्य मन्त्रेणानेन मन्त्रवित् ॥ १५ ॥

इतना प्रसङ्गवश कहकर अब प्रस्तुत को कहते हैं—

जब (कोई व्यक्ति) समस्त भूतों से उपद्रुत हुआ मृत्यु के वश में हो जाय तो (गाय का) घी, गाय का दूध, चीनी और तिल से मिश्रित कर (सरसों का) हवन करे । यह होम सर्वशान्तिप्रद होता है ॥ १२-१३- ॥

हो जाय अर्थात् साध्य (वश में हो जाय) । मिलाकर-प्रकृत सरसो को । यहाँ हवन मूलमन्त्र से करना चाहिये ॥

काले तिल से मिश्रित उत्तम राई को त्र्यक्त (= गाय के घी मधु और दूध में मिलाकर) कर हवन करे तो सद्यः समस्त शान्ति मिलती है ॥ -१३-१४- ॥

त्र्यक्त = त्रिमधु (घी, दूध और मधु) से युक्त ॥

इसी मूल मन्त्र से अभिमन्त्रित कर यह (= सरसों) जिसके हाथ में दिया जाय उसको अतुल ऐश्वर्य प्राप्त होता है—इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ -१४-१५- ॥

इससे = मूल मन्त्र से । 'अनेनैव' पद में एवकार यह बतलाता है कि अन्य 'ऊह' का प्रयोग नहीं करना चाहिये (अर्थात् यहाँ मन्त्र के साथ साध्य का गोत्र, नाम, उद्देश्य आदि की योजना नहीं करनी चाहिये) । यह = राजसर्षप वस्तु (= राई) ॥

मूर्ध्नि प्रपातयेद्यस्य सर्वदोषैः स मुच्यते ।

मन्त्रविद्वीर्यज्ञ:, एतच्च सर्वत्र । प्रपातयेदिति सर्षपमेव ॥

पूर्वोद्दिष्टोपलक्षितवस्तुनिर्णयायाह—

अभिमन्त्र्य वासांसि चौषधम् ॥ १६ ॥
समालम्भेन वाभिमन्त्रितम् ।
दीयते यस्य तस्य हिंसकः ॥ १७ ॥
(नैव हिंसां करोत्यहिंसक:) ॥

वा एवार्थे । तेऽस्य वनेभि—(प्रविष्टस्य) हिंसां नैव कुर्वन्तीत्यर्थ: ॥ १७ ॥

दिग्विदिक्षु जपेद्यस्य रक्षार्थं प्रयतात्मनः ।
दिवा वा यदि वा रात्रौ स्वपतो जाग्रतोऽपि वा ॥ १८ ॥
अवध्यः सर्वभूतैश्च भुवि तिष्ठत्यसौ नरः ।

सर्षपमित्यर्थात् ॥

उपसंहरति—

इस मन्त्र से सात बार अभिमन्त्रित कर यह सर्षप जिसके शिर पर गिरा दी जाय वह सब दोषों से मुक्त हो जाता है ॥ -१५-१६- ॥

मन्त्र का वेत्ता = मन्त्र के वीर्य (= शक्ति) को जानने वाला । इसे सभी पूर्वापर श्लोकों के साथ कर्त्ता के रूप में जोड़ना चाहिये । गिराये—सरसो को ही ॥

पूर्वोद्दिष्ट के द्वारा उपलक्षित वस्तु के निर्णय के लिये कहते हैं—

वस्त्रों एवं औषध को अभिमन्त्रित कर (धारण करने से अथवा) समालम्भन = (उबटन, लेप) के द्वारा अभिमन्त्रित (यह राजसर्षप) जिसको दिया जाता है । हिंसक जन्तु उसका (शरीर स्पर्श कर अहिंसक हो जाते हैं और हिंसा नहीं करते) ॥ -१६-१७ ॥

वे (= हिंस्र जन्तु) । वन में अभिप्रविष्ट उस (सर्षप से उपलिप्त व्यक्ति) की हिंसा नहीं करते ॥ -१७ ॥

(इस मन्त्र से अभिमन्त्रित सरसों को) दिशाओं एवं विदिशाओं (कोणों) में (फेंकने के बाद) प्रयतात्मा जिसकी रक्षा के लिये (यह फेंकी गयी है) दिन में या रात्रि में चाहे वह मनुष्य सो रहा हो या जाग रहा हो समस्त प्राणियों से अवध्य होकर पृथ्वी पर विचरण करता है ॥१८-१९-॥

(प्रकरण का) उपसंहार करते हैं—

राजरक्षाविधानं तु मयैतत् प्रकटीकृतम् ॥ १९ ॥
तव स्नेहात् प्रशस्तं तु रहस्यं सर्वसिद्धिदम् ।

प्रजानुकूले राजनि रक्षिते, विश्वं रक्षितं भवतीति प्राधान्याश्रयाद्राजशब्दः । तवेत्यनुजिघृक्षामय्याः ॥

अतश्च—

नृपाणां नृपपत्नीनां तत्सुतानां द्विजादिषु ॥ २० ॥
आचार्यः कुरुते यस्तु सर्वानुग्रहकारकः ।
मन्त्रज्ञः साधको वाथ स पूज्यः सर्वथा प्रभुः ॥ २१ ॥
संमानैर्विविधैर्नित्यं दानैर्विविधविस्तरैः ।

कुरुत इति उक्तवक्ष्यमाणदृष्ट्या रक्षाम्, मन्त्रज्ञः साधक इति कल्पोक्ताराधनया सिद्धमन्त्रः, तस्याचार्यतुल्यत्वेन—

'एषा वै धारणादीक्षा कर्तव्या योगिनात्र तु ।
मन्त्रसिद्धेन वा देवि कृता वै सुकृता भवेत्॥' (५।८७)

इति श्रीस्वच्छन्दोक्तत्वात् सर्वथाचार्यः सन्तोष्य इति ॥

मैंने तुम्हारे प्रेमवश प्रशस्त रहस्यपूर्ण एवं समस्त सिद्धियों को देने वाला यह राजरक्षाविधान बतलाया ॥ -१९-२०- ॥

प्रजाओं के अनुकूल रहने वाले राजा की रक्षा होने पर समस्त विश्व रक्षित होता है इसलिये प्रधान होने के कारण (सर्षप के साथ) राज शब्द का प्रयोग हुआ है । तुम्हारे = अनुग्रह करने की इच्छा से युक्त की ॥

इसलिये—

राजाओं, राजपत्नियों, उनके पुत्रों और ब्राह्मण आदि के विषय में जो सर्वानुग्रहकारक मन्त्रज्ञ आचार्य अथवा साधक (यह अनुष्ठान) करता है उस प्रभु की, सर्वदा अनेक प्रकार के संमान तथा अनेक प्रकार के प्रशस्त दान से पूजा करनी चाहिये ॥ -२०-२२- ॥

करता है—उक्त एवं वक्ष्यमाण दृष्टि से रक्षा को । मन्त्रज्ञ साधक = कल्प में उक्त आराधना के द्वारा सिद्धमन्त्र वाला व्यक्ति । वह आचार्य के तुल्य है—

'हे देवि ! यह धारणादीक्षा योगी के द्वारा की जानी चाहिये । अथवा मन्त्रसिद्ध आचार्य के द्वारा की गयी (दीक्षा) फलवती होती है ।'

इस स्वच्छन्दतन्त्र के वचन के अनुसार आचार्य को सब प्रकार से सन्तुष्ट करना चाहिये ॥

एतत् दृष्टान्तप्रमुखं स्फुटयति—

यथा मन्त्रान्तसंयुक्तः स्वाहा होमे प्रशस्यते ॥ २२ ॥
तथा सर्वेषु कार्येषु दक्षितो मन्त्रवित् सदा ।
फलप्रदो भवेत् सद्यः सर्वशान्तिप्रदः शुभः॥ २३ ॥

मन्त्रस्यान्ते संयुक्त इत्युच्चरितः । स्वाहेति स्वाहाशब्दः । दक्षित इति दक्षिणया तोषितः । फलं मुक्तिसिद्धी, एवमुत्तरत्र ॥ २३ ॥

किं च—

सुधा यथा च नागानां पितृणां च स्वधा यथा ।
नमस्कारश्च देवानां वौषट् शान्तौ प्रशस्यते ॥ २४ ॥
मन्त्रज्ञानां तथा नित्यं दानं संमानमुत्तमम् ।
फलप्रदं भवत्याशु सर्वसिद्धिप्रदायकम् ॥ २५ ॥

स्वधेति स्वधाशब्दः । स्पष्टमन्यत् ॥ २५ ॥

एतदेवोपपादयति—

ज्ञानशक्तौ स्थिता मन्त्रास्तज्ज्ञान चेतसि स्थितम् ।
तच्चेतः पूजितं तुष्टं सात्त्विकं तु भवेत् सदा ॥ २६ ॥

इसको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

जिस प्रकार होम कार्य में मन्त्र के अन्त में स्वाहा को जोड़ना उत्तम समझा जाता है उसी प्रकार सभी कार्यों में मन्त्रवेत्ता दक्षिणा से सन्तुष्ट होने पर सद्यः फलप्रद शान्तिप्रद और शुभ होता है ॥ -२२-२३ ॥

मन्त्र के अन्त में संयुक्त = उच्चरित । स्वाहा = स्वाहा शब्द । दक्षितः = दक्षिणा के द्वारा सन्तुष्ट किया गया । फल = मुक्ति और सिद्धि । ऐसा ही आगे भी समझना चाहिये ॥ -२३ ॥

जिस प्रकार नागों (= देवताओं) के लिये अमृत (अथवा हाँथियों के लिये सुधा = मधु, अथवा सापों के लिये दूध), पितरों के लिये स्वधा, देवताओं के लिये नमः और शान्ति के लिये वौषट् शब्दों का प्रयोग उत्तम समझा जाता है उसी प्रकार मन्त्र के ज्ञाताओं के लिये दान, सम्मान सदा शीघ्र फलप्रद और सर्वसिद्धिप्रद होता है ॥ २४-२५ ॥

उसी को उपपन्न करते हैं—

मन्त्र ज्ञानशक्ति में स्थित हैं और वह ज्ञान मन में स्थित रहता है । वह चित्त पूजित और सन्तुष्ट होने पर सात्त्विक हो जाता है । सत्त्व में ही लक्ष्मी

सत्त्वस्थास्तु श्रियो नित्यं लक्ष्मीस्तत्रैव वर्तते।
रजस्तमोविनाशेन मन्त्राः सत्त्वोदये स्थिताः ॥ २७ ॥
सिद्धिप्रदा भवन्त्याशु यतोऽतीव सुनिर्मलाः।

मननत्राणधर्मकत्वाद् मन्त्रा ज्ञानशक्तौ स्थितास्तद्वीर्यसारा इत्यर्थः । तच्च वीर्यात्म ज्ञानं चेतसि स्थितं वीर्यानुसन्धानं परं चित्तमाश्रितम् । तच्च चेतः पूजितमिति भक्तिभरेणाराधितम्, अतश्च भक्त्युद्रेकावलोकनोन्मिषद्विकासं सात्त्विकं जायत इति,

'स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या ।
मायातृतीये त एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः ॥' (४।१।४)

इति प्रत्यभिज्ञोक्तनीत्योन्मज्जत्सत्त्वप्रकृतिभूतज्ञानशक्तिरूपतामाप्नोति । एवंभूते च सत्त्वे सर्वाः श्रियो महाभोगलक्ष्म्यः स्थिताः, मोक्षलक्ष्मीश्च तत्रैव तिष्ठति । अतश्च चाञ्चल्यसंकुचत्तात्मकरजस्तमोविनाशेन प्रोक्तविकासात्मकसत्त्वोदये मन्त्रा अतीव सुनिर्मला इति प्राप्तज्ञानशक्त्यात्ममहावीर्या आशु सदा सर्वसिद्धिदा भवन्तीति ॥

अत एवम्—

एवं धनसम्पत्ति रहती है । मन्त्र भी सत्त्ववान् प्राणी में रहते हुए रजस् एवं तमस् का विनाश कर शीघ्र सिद्धि देते हैं क्योंकि (वे मन्त्र) अतीव निर्मल होते हैं ॥ २६-२८- ॥

मनन एवं त्राण धर्म वाले होने के कारण मन्त्र ज्ञानशक्ति में रहते हैं अर्थात् ज्ञानशक्ति के द्वारा वे बलवान् होते हैं । वह वीर्यवाला ज्ञान चित्त में रहता है अर्थात् वीर्यानुसन्धान वाले परचित्त में स्थित होता है । वह चित्त पूजित होकर = भक्ति के भार से युक्त इसलिये भक्ति के उद्रेक के अवलोकन से, विकास को प्राप्त होता हुआ सात्त्विक हो जाता है ।

'परमेश्वर के स्वाङ्गरूप भावों में जो ज्ञान और क्रिया है माया के साथ जुड़कर वे ही पशु (= जीव) के सत्त्व रजस् एवं तमस् हो जाते हैं । (अर्थात् ज्ञान सत्त्व क्रिया रजस् एवं माया तमस् बन जाती है)' (४-१-४)

इस ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्त नीति के अनुसार सत्त्व का प्रादुर्भाव होने पर यही सत्त्व ज्ञानरूप हो जाता है । इस प्रकार के सत्त्व में समस्त श्री = महाभोगलक्ष्मी स्थित रहती है । इसलिये चाञ्चल्य एवं संकोच रूपी रजस् एवं तमस् के विनाश से विकासात्मक सत्त्व का जब उदय होता है तब मन्त्र अतीव निर्मल हो जाते हैं । अर्थात् ज्ञानशक्ति रूप महावीर्य को प्राप्त कर वे सर्वदा शीघ्र फलदायी होते हैं ॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन ह्याज्ञैषा पारमेश्वरी ॥ २८ ॥
परिपाल्या प्रयत्नेन...........

सर्वप्रयत्नेन आज्ञेति निश्चिताज्ञेत्यर्थः । एषेति सर्वप्रकारमाचार्याराधनं कार्यमित्येवंरूपा ॥

तेन प्रयत्नेनैतां पालयतः—

............सिद्धिमुक्ती न दूरतः ।

शीघ्रं भवत इत्यर्थः ॥

आधिकारिकमर्थमुपसंहरन् रहस्यतामस्य दर्शयति—

अनुत्तरविधानं तु न दद्यात् परदीक्षिते ॥ २९ ॥
स्वशिष्ये दीक्षिते दद्यादन्यथा न प्रसिद्ध्यति।

परदीक्षितस्य द्वैतशिष्यत्वादद्वयाननुप्रविष्टत्वादिति शिवम् ॥

चूँकि ऐसा है—

इस कारण सब प्रयास कर परमेश्वर की इस आज्ञा का पालन करना चाहिये ॥ -२८-२९- ॥

सब प्रयत्न से आज्ञा = निश्चित आज्ञा । यह = सब प्रकार से आचार्य की पूजा करनी चाहिये—ऐसी ॥

उस प्रयत्न के साथ इस आज्ञा का पालन करने वाले की सिद्धि और मुक्ति दूर नहीं रहतीं ॥ २९- ॥

अर्थात् शीघ्र प्राप्त हो जाती हैं ॥

आधिकारिक अर्थ का उपसंहार करते हुए इसकी रहस्यता को दिखलाते हैं—

इस अनुत्तर विधान को दूसरे सम्प्रदाय के आचार्य के द्वारा दीक्षित व्यक्ति को नहीं देना (= बतलाना) चाहिये । अपने दीक्षित शिष्य को देना चाहिये अन्यथा यह सिद्ध नहीं होता ॥ -२९ ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के
पञ्चदश अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती
नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १५ ॥

क्योंकि परदीक्षित द्वैतवादी का शिष्य होने से अद्वयवाद में अनुप्रविष्ट नहीं

यदामर्शपरामर्शोन्मिषत्पूर्णसुधा परम् ।
सौभाग्यं तनुते तत्तन्नेत्रं शाङ्करं श्रये ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योते पञ्चदशोऽधिकारः ॥ १५ ॥
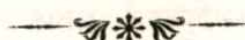
होता ॥

जिसके आमर्श के परामर्श से निकलने वाली पूर्ण सुधा (भक्तों के लिये) परम सौभाग्यदायिनी होती है मैं उस शाङ्कर नेत्र की शरण में जाता हूँ ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के पञ्चदश अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १५ ॥

षोडशोऽधिकारः

*** नेत्रोद्योतः ***

विचित्रैराचारैरुपचित(वि)चित्राकृतिफलं
चिदेकात्मस्वात्मस्फुरणमविचित्रं दिशति यत् ।
जगच्चित्रोल्लेखाश्रयलसदचित्रस्वमहिम
स्तुमः शार्वं नेत्रं तदसमसुखोल्लाससरसम् ॥

पूर्वाधिकाराधिगतसर्वदेवतात्मकश्रीमन्मृत्युजित्स्वरूपमनुभाष्य, तत्प्राप्तिहेतुसमयाचारादि निर्णिनाययिषुः श्रीदेव्युवाच—

कथितं देवदेवेन रहस्यं परमाद्भुतम् ।
सर्वागममयो देव एकवीरो महाबलः ॥ १ ॥

*** ज्ञानवती ***

कलौ नानादुःखैर्दलितपुरुषाणां स्वमहसा
महाव्याधित्राणं सकलमनुराजं दिशति यत् ।
त्रिधाचार्यानुक्त्वा त्रिविधकृतिसिद्ध्यै ननु ब्रुवद्
रहस्यं तन्नेत्रं जयति शशिमौलेः पशुपतेः ॥

जो विचित्र आचारों (= क्रियाओं) के द्वारा विचित्र आकृति की रचना करता है, केवल चेतनरूप में अविचित्र आत्मस्फुरणा को बतलाता है, विचित्र संसार के उत्कीर्णन का आश्रय होते हुए भी जो अचित्र अपनी महिमा वाला है, अनौपम्य सुखोल्लास से सरस उस शार्व नेत्र की हम स्तुति करते हैं ।

पूर्व अधिकारों में अधिगत (= ज्ञात) सर्वदेवतात्मक श्रीमान् मृत्युञ्जय के स्वरूप का कथन कर उनकी प्राप्ति के कारणभूत समयाचार आदि के निर्णय की इच्छुक श्रीदेवी ने कहा—

देवाधिदेव आपने परम अद्भुत रहस्य को बतलाया । मृत्युञ्जय महादेव समस्त आगममय, एकवीर, महाबलशाली, वाम दक्षिण सिद्धान्त इन तीनों

वामदक्षिणसिद्धान्त भेदत्रयविभेदतः ।
वैष्णवादिसमायुक्तः सरहस्यमुदाहृतः ॥ २ ॥
सर्वदेवमयो ह्येष मृत्युजिद् व्यापकः शिवः ।
बहुभिः संप्रदायैश्च यष्टव्यो भावभेदतः ॥ ३ ॥
नानाक्रियोपचारेण नानासिद्धिफलप्रदः ।
अधुना श्रोतुमिच्छामि संशयो मे हृदि स्थितः ॥ ४ ॥
त्वदृते संशयस्यास्य च्छेता न ह्युपपद्यते ।
पृथक् पृथक् समाचारः पूर्वं देवेन भाषितः ॥ ५ ॥
कथमस्मिन् समाचारः सामान्यः पूर्वचोदितः ।

रहस्यत्वं सर्वागममय इत्युक्त्या व्यक्तीकृतम् । एक इति अद्वितीयः । वीरः सर्वकार्यकरणक्षमः । महाबलः सर्वमन्त्रवीर्यभूतः । वैष्णवादीति वैष्णवे आकारे, आदिशब्दाद् ब्रह्मसौरादौ सम्यगभेदव्याप्त्या आ समन्ताद्युक्तः । सरहस्यमिति कुलप्रक्रियया उदाहृत उक्तः । व्यापक इति एतत्सर्वदेवमयत्वे हेतुः, अतश्च शिवः परमाद्वयश्रेयोरूपः । संप्रदायैरिति तत्तच्छास्त्रोक्तज्ञानयोगरूपैः । भावभेदत इति आराधकचित्तौचित्यात् । श्रोतुमिच्छामीत्युक्तेः पृथगिति श्लोकेन विषयो दर्शितः । पूर्वमित्यादावुक्तासु नानासंहितासु । सामान्य इति देवस्य महासामान्यरूपत्वात्

भेदों से भिन्न, वैष्णव आदि से भलीभाँति युक्त तथा रहस्य के साथ कहे गये हैं । यह मृत्युञ्जय भगवान् सर्वदेवमय, व्यापक, कल्याणकारी हैं । भावभेद के अनुसार अनेक सम्प्रदायों के द्वारा पूजनीय हैं । अनेक प्रकार की क्रिया एवं उपचार (= वस्तु) से (पूजित होने पर) अनेक सिद्धि प्रदान करते हैं । मेरे हृदय में एक संशय है । आपके बिना इस संशय को दूर करने वाला कोई नहीं है । आपने पहले पृथक्-पृथक् समाचार को बतलाया । इसमें सामान्य आचार कैसे सम्भव है—यह सुनना चाहती हूँ ॥ १-५- ॥

(मृत्युञ्जय की) रहस्यता को 'सर्वागममयः' इस कथन से संकेतित किया गया । एक = अद्वितीय । वीर = सभी कार्यों को करने में सक्षम । महाबली = समस्त मन्त्रों का वीर्यभूत । वैष्णव आदि = विष्णु के आकार में, आदि शब्द से ब्रह्मा सूर्य आदि का आकार समझना चाहिये । इन सब में सम = सम्यक् = अभेदरूप से व्याप्त होकर, आयुक्त = आ = समन्तात् = सब प्रकार से, युक्त है । रहस्य के साथ = कुलप्रक्रिया के द्वारा, उदाहृत = कहा गया । व्यापक होना सर्वदेवमयत्व में कारण है इसलिये शिव = परम अद्वय श्रेयोरूप । सम्प्रदायों के द्वारा = तत्तत् शास्त्रों में उक्त ज्ञान योग रूप (सम्प्रदायों) के द्वारा । भावभेद के अनुसार = आराधक के चित्त को ध्यान में रखकर । 'पृथक् ... चोदित' इस श्लोक से विषय बतलाया गया । पूर्व = पहले उक्त अनेक संहिताओं में । सामान्य = मृत्युञ्जय

सामान्येनैव आचारेण भाव्यम्, न चासौ कोऽपि लक्ष्यत इत्याशयशेषः । पूर्वचोदित इति पूर्वं हि नवमाधिकारे—

'एवं सर्वगतो देवो बहुरूपो मणिर्यथा ।
सर्वैराराधितो देवि सुसिद्धिफलवाञ्छया ॥' (९।१४)

इत्यादिना आराधित इति सामान्येनैवोक्तम् ॥

किं च—

कथमेकेन मन्त्रेण सर्वे सिद्ध्यन्ति पूजिताः ॥ ६ ॥

यतस्तत्र तत्र शास्त्रे—

बीजैः कूटैस्तथा पिण्डैर्मालामन्त्रैरशेषतः ।
वाच्यवाचकभेदेन सर्वसिद्धिफलप्रदाः ॥ ७ ॥

उक्ताः । बीजैः स्वरैः । कूटैः पिण्डपदात्मभिः । पिण्डैर्नवात्मादिभिः । मालामन्त्रैः पदसमुदायरूपैः । वाच्यवाचकभेदः परावाक्प्राधान्येन बीजानाम्, पश्यन्तीदृशा पिण्डानाम्, मध्यमायुक्त्या मालामन्त्राणाम्, पश्यन्तीमध्यमाभ्यां कूटानाम् ॥ ७ ॥

महादेव के महासामान्यरूप होने के कारण सामान्य आचार होना चाहिये; ऐसा कोई आचार दिखाई नहीं पड़ता । पूर्व चोदित = पूर्व-नवम अधिकार में (चोदित = बतलाया गया)—

'इस प्रकार देव सर्वगामी एवं अनेक रूपों वाले हैं । जैसे चिन्तामणि रत्न (आराधक को ईप्सित फल देता है उसी प्रकार) हे देवि ! सुष्ठुसिद्धि की इच्छा से आराधित देव सबको इष्ट फल देते हैं ।' (९।१४)

इत्यादि के द्वारा आराधित यह सामान्यतया कहा गया ॥

और भी—

एक ही मन्त्र से पूजित होकर कैसे सब देवता सिद्ध हो जाते हैं ॥ ६ ॥

क्योंकि अलग-अलग शास्त्र में—

बीजाक्षरों, कूटाक्षरों, पिण्डों एवं मालामन्त्रों से सर्वत्र वाच्यवाचकभेद से (मन्त्र) सर्वसिद्धिप्रद कहे गये हैं ॥ ७ ॥

बीज = स्वरवर्ण । कूट = वर्णसमूहरूपी पद । पिण्ड के द्वारा = नवात्मा आदि के द्वारा । माला मन्त्र = पदसमुदायरूप मन्त्र । परावाक् की प्रधानता से बीजों का, पश्यन्ती की दृष्टि से पिण्डों का, मध्यमा की दृष्टि से मालामन्त्रों का और पश्यन्ती मध्यमा की दृष्टि से कूटों का वाच्यवाचकभेद होता है ॥ ७ ॥

अतश्च तावतां नानामन्त्रवाच्यानाम्—

कथमेकेन मन्त्रेण पूजनार्हो नरो भवेत् ।
भवन्तीह सुराः सर्वे कथं वापि प्रसादतः ॥ ८ ॥
मनुष्याणां हितार्थाय कारुण्यात् परमेश्वर ।

एकेन सामान्यमन्त्रेण अनिर्ज्ञातविशेषा ब्रह्मविष्ण्वाद्याः सर्वे सुराः कथं प्रसादतः प्रसादीभवन्ति, मानवानामज्ञाततद्विशेषाणां कथं प्रसीदन्तीत्यर्थः ॥

किं च—

कलिमासाद्य सिद्ध्यन्ति मनुजा दुःखमोहिताः॥ ९ ॥
दारिद्र्यानलसन्तप्ता नानामृत्युभयान्विताः ।
पापैकनिरताः क्रूराः शौचाचारबहिष्कृताः ॥ १० ॥
हिंसापैशुन्यनिरतास्तपःसत्यविवर्जिताः ।
योगिनीशाकिनीभिश्च डाव्या डामरिकादिभिः ॥ ११ ॥
भूतैर्यक्षैरपस्मारैर्मुद्रिताः प्राणिनो यथा ।
सिद्ध्यन्ति विगतायासास्तथा ब्रूहि महेश्वर ॥ १२ ॥

यथा सिद्ध्यन्तीति येन दुःखदारिद्र्यादिप्रशमनेनोपायेन परामपरां वा सिद्धि-

---

इसलिये अनेक मन्त्रों के वाच्य उतने (देवताओं) का—

(पूजक) मनुष्य एक मन्त्र से पूजनार्ह (पूजा करने के योग्य) कैसे होता है । हे परमेश्वर ! सभी देवता एक ही मन्त्र से कैसे मनुष्यों के हित के लिये करुणा कर प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ८-९- ॥

एक ही सामान्य मन्त्र से अनिर्ज्ञातविशेष वाले ब्रह्मा विष्णु आदि सभी देवता कैसे प्रसन्न हो जाते हैं अर्थात् अज्ञाततद्विशेष मनुष्यों के ऊपर कैसे प्रसन्न होते हैं (मनुष्य ब्रह्मा विष्णु आदि तत्तद् देवताओं के भिन्न-भिन्न मन्त्रों का जपादि नहीं करता केवल नेत्रतन्त्र का जपादि करता है तो भी वे ब्रह्मा आदि उस पूजक के ऊपर कैसे प्रसन्न हो जाते हैं) ॥

जो मनुष्य कलियुग के आने पर दुःखों से मोहित है, दारिद्र्य की आग में जल रहे, अनेक प्रकार की मृत्यु से भयभीत, पाप कर्म में लिप्त, क्रूर, शौच और आचार से विरत, हिंसा चुगली में लगे हुए हैं, तपः सत्य से दूर जो प्राणी योगिनी, शाकिनी, डावी, डामरिका आदि तथा भूत, यक्ष और मिर्गी से आक्रान्त हैं । वे बिना परिश्रम के जिस प्रकार उक्त दुःखों से मुक्त होते हैं । हे महेश्वर ! उसे बतलाइये ॥ -९-१२ ॥

जिस प्रकार सिद्ध होते हैं = जिस दुःख दारिद्र्य आदि के शामक उपायों के

माप्नुवन्ति, तं प्रकारं ब्रूहीति संबन्ध: । शौचं चित्तवित्तदेहविषयम् । शाकिन्यादीनां स्वरूपमग्रे दर्शयिष्याम: ॥

एतत्प्रश्ननिर्णयाय श्रीभगवानुवाच—

साधु साधु महाभागे यथापृष्टं वदामि ते ।

एवं प्रतिज्ञाय कलिमासाद्येति यदुक्तम्, तदाशयेन तावदाह—

अल्पायुषस्तथा मर्त्या मोहोपहतचेतस: ॥ १३ ॥
दुष्टाचाररता: नित्यमसत्सङ्गोपसेविन: ।
निन्दका बलिन: क्रूरा जरारोगवशीकृता: ॥ १४ ॥
दुष्टाचाररता मूर्खा: परेर्ष्यासेविन: सदा ।
महाभयाक्रान्तनिभा दारिद्र्यानलपीडिता: ॥ १५ ॥
नास्तिक्यवादिनो दुष्टाश्चौराचारसमन्विता: ।
अभक्ता देवगुरुषु मात्सर्याधमसेविन: ॥ १६ ॥
तीर्थोपवासनियमैर्व्रतै: कष्टतरैस्तथा ।
सिद्धिहीनास्तु ते सर्वे न मुक्ता इति निश्चय: ॥ १७ ॥
तेषामुद्धरणार्थं तु मन्त्रराजं महाबलम् ।

द्वारा परा अथवा अपरा सिद्धि को प्राप्त करते हैं उस प्रकार को बतलाइये । शौच = मन धन और तन विषयक (शौच) । शाकिनी आदि का स्वरूप आगे बतलायेंगे ॥

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये श्रीभगवान् ने कहा—

हे महाभागे ! धन्यवाद । तुमने जैसा प्रश्न किया उसके अनुसार मैं कह रहा हूँ ॥ १३- ॥

इस प्रकार की प्रतिज्ञा कर 'कलियुग के आने पर' ऐसा जो कहा गया उस आशय से कहते हैं—

(कलियुग में) मनुष्य अल्पायु, मोहग्रस्त, दुष्ट आचरण वाले, सदा असत्सङ्ग में रहने वाले, निन्दक, बली (= जबर्दस्ती करने वाले, बल के कारण दूसरों को दु:ख देने वाले), क्रूर, जरा एवं रोग से आक्रान्त, दुष्ट आचरण करने वाले, मूर्ख, दूसरों से ईर्ष्या रखने वाले, महाभय से मानों पीड़ित, दारिद्र्यरूपी आग में झुलस रहे, नास्तिक्यवादी, दुष्ट, चोरी इत्यादि में लगे हुए, देवता गुरु में भक्ति न रखने वाले, मत्सरी एवं नीच व्यक्ति की सेवा में रत रहते हैं । कष्टप्रद तीर्थयात्रा, तीर्थसेवन, उपवास व्रत नियम करने पर भी सिद्धि को नहीं प्राप्त करते, न मुक्त होते हैं यह

येन चेष्टेन ध्यातेन पूजितेन सुरार्चिते ॥ १८ ॥
सङ्गच्छन्ति परं स्थानं निर्वाणं भेषजं परम् ।
भविष्यति महादेवि कलिः कष्टतरो यतः ॥ १९ ॥
तदर्थं परमार्थोऽयं माया ते प्रकटीकृतः ।

आदावेव विदितकारुणिकत्व(त्त)दाशयेन मयेत्यर्थः । अयमिति मृत्युजिन्नाथ-रूपः ॥

अतश्च सर्वथा—

परमार्थः परत्वेन मृत्युजित् सर्वतोमुखः ॥ २० ॥
भावभेदेन यष्टव्यो मोक्षसिद्धिमभीप्सता ।

सर्वतो मुखानि तत्तद्देवताध्यानादीनि द्वाराणि प्राप्त्युपाया यस्य स, परत्वेन सर्वोत्कृष्टचिदानन्दाद्वयव्याप्त्या भवानां बुद्धिधर्माणां रागादीनां भेदेन विदलनेन परमार्थरूपः परमोपादेयो मृत्युजित् मुमुक्षुणा यष्टव्यः ।

अस्य च नियताकृत्युपायाश्रयिभिराचारादिर्नियत एव आश्रेय इत्याह—

येषु येषु समाचारो मया शास्त्रेषु भाषितः ॥ २१ ॥
स्रोतःसु स तथा कार्यो विशेषाद्यागहोमयोः ।

निश्चित है । हे सुरार्चिते ! जिस के यजन पूजन ध्यान से लोग परम स्थान, निर्वाण को प्राप्त करते हैं और जो (सांसारिक कष्टों को दूर करने की) महौषधि है । हे महादेवि ! चूँकि कलियुग महाकष्टप्रद है अतः उसके लिये मैंने यह (महामृत्युञ्जय मन्त्र) तुमको बतलाया ॥ -१३-२०- ॥

मैं पहले ही करुणापूर्ण समझा गया इस करुणापूर्ण आशयवाले मेरे द्वारा । यह = मृत्युञ्जयनाथ रूप महामन्त्र ॥

इसलिये सब प्रकार से—

मोक्ष की सिद्धि चाहने वाले को चाहिये कि वह परमार्थतः सर्वतोमुखी मृत्युञ्जयभट्टारक की भावभेद से पूजा करे ॥ -२०-२१- ॥

(सर्वतोमुख =) तत्तद् देवता के ध्यान आदि ही जिसके द्वार अर्थात् प्राप्ति के उपाय हैं—वह । पररूप से = सर्वोत्कृष्ट चिदानन्द की व्याप्ति से । (भावभेदतः =) भावों = राग द्वेष आदि बुद्धिधर्मों, के भेद = नाश के द्वारा । परमार्थरूप = परम उपादेय मृत्युजित्, का पूजन मुमुक्षु को करना चाहिये ॥

इसकी नियत आकृति और उपाय का आश्रयण करने वाले को नियत ही आचार आदि का पालन करना चाहिये—यह कहते हैं—

जिन-जिन शास्त्रों में मैंने जो-जो सदाचार कहा है (उन शास्त्रों के

आकृतिशबलतावद् द्रव्यादिशाबल्यं न कार्यमित्यर्थः । आचारशबलतापि चिदभेदमय्येवेति चेत्, तर्हि आचारनियम इव आकृतिनियम इत्युक्तम्—

'पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा ।
निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ॥'

(वि०भै० १४७)

इत्येवावशिष्यते । एतद्दशासमापन्नस्य च योगीन्द्रस्य सततोदितरहस्यपूजादिजुषो न किञ्चित् कर्तव्यमस्ति । यथोक्तमस्मत्प्रभुभिः स्तोत्रे—

'तव न का किल न स्तुतिरम्बिके
सकलशब्दमयी वत ते तनुः ।
निखिलमूर्तिषु मे भवदन्वयो
मनसिजासु बहिष्प्रसरासु च ॥
इति विचिन्त्य शिवे शमिताशिवे
जगति जातमयत्नवशादिदम् ।
स्तुतिजपार्चनचिन्तनवर्जिता न खलु
काचन कालकलास्ति मे ॥' इति ।

अद्वयधाम प्रविविक्षून् प्रति त्वाकृतिनियमवदाचारनियमः, तत्रापि परमेश्वराद्वय-

---

अनुसार आचरण करने वाले उन-उन) सम्प्रदायों में वह उसी प्रकार किया जाना चाहिये; विशेषरूप से याग और होम के सन्दर्भ तो अवश्य ही इस नियम का पालन करना चाहिये ॥ -२१-२२- ॥

आकृति में मिश्रण की भाँति द्रव्य में मिश्रण नहीं करना चाहिये । यदि यह कहा जाय कि आचार का मिश्रण भी चिदभेदमय ही है तब आचारनियम की भाँति आकृति के ध्यान में भी नियम हो जायगा । यही कहा गया—

'पुष्प आदि के द्वारा की गयी (पूजा यथार्थ पूजा) नहीं है । निर्विकल्पक महाव्योम में बुद्धि को स्थिर करना और आदरपूर्वक उसमें सबका लय हो जाना ही (वास्तविक) पूजा है ।' (वि.भै. १४७)

इस दशा को प्राप्त योगीन्द्र निरन्त उदित रहस्यरूप पूजा करता रहता है इसलिये (स्थूल जगत् में) उसके लिये कोई कर्त्तव्य करणीय नहीं रहता । जैसे कि हमारे प्रभु (= गुरु श्रीराम) ने स्तोत्र में कहा है—

'हे अम्बिके ! कौन सा शब्द तुम्हारी स्तुति नहीं है । तुम्हारा तो शरीर ही सकल शब्दमय है । मन में उत्पन्न (= कल्पित) एवं बाहर फैली हुयी समस्त मूर्त्तियों में आपकी ही व्याप्ति है । हे संसार में अमङ्गल का नाश करने वाली शिवे ! ऐसा सोचकर यह (स्तोत्र) बिना प्रयत्न के उत्पन्न हो गया । आपकी स्तुति जप पूजन ध्यान को छोड़कर संसार में मेरी कोई भी कालकला नहीं है ।'

हेतुमन्त्रवीर्यानुसन्धानमुपदिष्टमिति यथोक्तमेव ज्याय: ॥

ननु प्रणवादिसाधारणमन्त्रान्तरसद्भावेऽस्यैवायमियान् प्रकर्ष: कुत?—इत्याशङ्क्य परममहेश्वरनियोग एवात्र हेतु:—इत्याशयेन आह—

अन्ये सामान्यतो देवि न सिद्ध्यन्ति कदाचन ॥ २२ ॥
किन्त्वस्मिंश्चाधिकारोऽस्ति त्रिविधे सर्वसिद्धिदे ।

अन्ये इति प्रणव-मातृका-माया-व्योमव्यापि-षडक्षर-प्रासाद-बहुरूपा: सामान्यत: पराद्वयस्फुरत्तात्ममहासत्तारूपपरचैतन्यात्मनि सामान्येन कदाचित् सिद्ध्यन्ति, न जातु तत्प्राप्तिहेतवो भवन्ति, अपि तु तत्तच्छास्त्रोक्ततत्तद्दैवतोचितपदप्रापका: । सामान्यत इति आवृत्त्या योज्यम् । अस्मिन्नेव च प्रोक्तवक्ष्यमाणसर्वसर्वात्मकतात्म-महाव्याप्तिके मन्त्रराजे—

'त्रिधा तिसृष्व ।' (१।१)

इत्येतच्छ्लोकव्याख्यातसतत्त्वत्रैविध्ये तत एव सर्वसिद्धिप्रदेऽयमधिकार इति प्रोक्तसामान्यसिद्धिप्रदत्वमैश्वरनियोगादस्ति । यथोक्तं प्राक्—

अद्वय धाम में प्रवेश चाहने वालों के लिये आकृति के नियम के समान आचार का भी नियम है । उसमें भी परमेश्वर के साथ अद्वैत स्थिति की प्राप्ति में कारणभूत मन्त्रवीर्य के अनुसन्धान का उपदेश किया गया । इसलिये जो कहा गया वह ठीक है ॥

प्रश्न—प्रणव आदि साधारण मन्त्रों के रहने पर भी इसी (= नेत्र मन्त्र) का इतना प्रकर्ष कैसे है ?—यह शङ्का कर परम महेश्वर का नियोग (= आदेश) ही इसमें कारण है—इस आशय से कहते हैं—

हे देवि ! अन्य मन्त्र सामान्यतया कदाचित् ही सिद्ध होते हैं । किन्तु इस सर्वसिद्धिदायक त्रिविध (मन्त्रराज) में यह अधिकार है ॥ -२२-२३-॥

अन्य = प्रणव (= ॐ) मातृका, (= अ...क्ष) माया, (= ह्रीं), व्योमव्यापी (= वं, ग्लूं) षडक्षर (= ॐ नम: शिवाय), प्रासाद (= हं, हौं), बहुरूप (= क, म, कं), ये सब पर अद्वय स्फुरत्ता वाले महासत्तारूप पर चैतन्य की सामान्यतया कदाचित् ही सिद्धि देते हैं अर्थात् कभी भी उसकी प्राप्ति के हेतु नहीं बनते । वे तत्तत् शास्त्रों में उक्त तत्तद् देवतोचित पद की प्राप्ति कराते हैं । श्लोक में आये हुए 'सामान्यत:' पद को दो बार पढ़ना चाहिये (एक 'न सिध्यन्ति' के साथ दूसरा 'अस्मिन्' के साथ) । इसी = प्रोक्त एवं वक्ष्यमाण सर्वसर्वात्मकता वाली महाव्याप्तिवाले मन्त्रराज में—

'तीन अवस्थाओं में तीन प्रकार से.........' (१.१)

इस श्लोक में व्याख्यात तीन प्रकार के तत्त्वों में और इसीलिये सर्वसिद्धिप्रद में

'देवेशः सर्वसर्वात्मकः परः ।
साधारणो मन्त्रनाथः सर्वेषामेव वाचकः ॥' (१४।८) इति ।

अतश्चायं प्रणवादिसाधारणमन्त्रान्तराणां क्रमकुलमतषडर्धादिविशेषमन्त्राणामपि च वाचकत्वात् साधारणासाधारणो विशेषविशेषश्चाभिधीयत इति गुरवः ॥

यत एवम्, तस्मात्—

द्वैताद्वैतविमिश्रे वापीष्टो वै सिद्धिदो भवेत् ॥ २३ ॥
यस्मात् सर्वगतो देवो विश्वरूपो मणिर्यथा ।

विश्वं रूपं यस्यासौ स्वस्वातन्त्र्यावभासितविश्वमूर्तिः अत एव प्रोक्तदृशा एकवीरोऽपि स्वातन्त्र्यगृहीतविश्वात्मद्वैतमूर्तिस्तस्या अपि मूर्तेरद्वयचित्प्रकाशभित्तिलग्नतया प्रकाशमानत्वाद् द्वयाद्वयरूपोऽपि, इति कृत्वा परमाद्वयानुत्तररूपोऽयं सर्वगतत्वात् सिद्धान्तविशेषतन्त्रेषु द्वैताद्वैतविमिश्ररूपेषु इष्टः सिद्धिदो भवत्येव । मणिरत्र चिन्तामणिः ॥

अतश्च न केवलमित्थं महाद्वयव्याप्त्या सर्वत्र जीवन्मुक्तिप्रदोऽयम्, यावत्—

यह अधिकार है अर्थात् यह मन्त्र ईश्वर की आज्ञा से सर्वसिद्धिप्रद हैं । जैसा कि पहले कहा गया—

'वह देवेश सर्वोत्तर एवं सर्वसर्वात्मक है । वह मन्त्रनाथ सर्वसाधारण और सबका वाचक हैं' ॥ (१४।८)

इसलिये यह प्रणव आदि दूसरे साधारण मन्त्रों का तथा क्रम कुल मत त्रिक आदि विशेष मन्त्रों का वाचक होने के कारण साधारण असाधारण, विशेष अविशेष अथवा (विशेष का विशेष) कहा जाता है—ऐसा हमारे गुरु कहते हैं ॥

चूँकि ऐसा है इसलिये—

द्वैत अद्वैत अथवा मिश्र (= द्वैताद्वैत) रूप में भी इसकी पूजा होने पर यह सिद्धि प्रदान करता है क्योंकि यह देव चिन्तामणि के समान विश्वरूप है ॥ -२३-२४- ॥

(विश्वरूप =) विश्व ही है रूप जिसका वह अर्थात् अपने स्वातन्त्र्य के द्वारा विश्व के रूप में अवभासित । इसलिये उक्त रीति से एकवीर होते हुए भी स्वातन्त्र्य के द्वारा विश्वरूप द्वैतमूर्त्ति धारण करने वाला । वह मूर्त्ति भी चूँकि अद्वय चित् रूपी भित्ति पर प्रकाशित हो रही है इसलिये द्वयाद्वय रूप भी है । इस प्रकार परम अद्वय अनुत्तर रूप यह सर्वगत होने के कारण द्वैताद्वैतमिश्र रूप सिद्धान्तविशेषतन्त्रों में पूजित होने पर सिद्धिप्रद होता ही है ॥

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि महा अद्वय व्याप्ति के कारण यह सर्वत्र

साधकस्येच्छया चेष्टः सिद्धिदो भवति ध्रुवम् ॥ २४ ॥

ध्रुवं निश्चितमेव सर्वसिद्धिप्रदो भवति ॥ २४ ॥

एतदुपसंहरति—

योऽसौ सर्वगतो देवः सर्वेष्वन्तर्गतो विभुः ।
सिद्धिमुक्तिप्रदाताऽसौ न वर्णाः परमार्थतः ॥ २५ ॥
यस्मात्तस्मात् सदा देवि यष्टव्यो भावभेदतः ।

यस्मात् स्वतन्त्राद्वयचिदात्मा महेश्वरः सिद्धिमुक्ती प्रददाति परमार्थतः, न तु वर्णास्तेषां वर्णत्वेनेतरवर्णेभ्योऽविशेषात्, तस्मात् स्वच्छस्वतन्त्रस्फुरच्चित्परामर्श-परमार्थो मन्त्रनाथो भावभेदत इति मुमुक्षुबुभुक्षुभिर्यष्टव्यः । बुभुक्षवोऽपि हि अद्वयधामामर्शपुरःसरं कर्मणि प्रवर्तमाना विघ्नैर्नाभिभूयन्त इति श्रीसर्वाचारभट्टारक उक्तम् । योऽसावित्यादि प्रागेव व्याकृतम् ॥

अथ—

यागमस्य प्रवक्ष्यामि क्रियते तु यथेच्छया ॥ २६ ॥

जीवन्मुक्ति दे देता है किन्तु—

साधक की इच्छा से पूजित होने पर यह निश्चित ही सिद्धिप्रद होता है ॥ २४ ॥

ध्रुव = निश्चित ही सिद्धिप्रद होता है ॥ २४ ॥

इसका उपसंहार करते हैं—

जो यह सर्वगामी व्यापक देव सबके अन्तर्गत हैं वही परमार्थतः सिद्धि और मुक्ति को देने वाले हैं न कि (उनके संकेतक) वर्ण । इसलिये हे देवि ! भावभेद के साथ उनका सदा पूजन करना चाहिये ॥ २५-२६- ॥

चूँकि स्वतन्त्र अद्वय चिदात्मा महेश्वर ही परमार्थतः सिद्धि और मुक्ति देते हैं न कि (उनके वाचक) वर्ण क्योंकि वे भी वर्ण होने के कारण दूसरे वर्णों के समान (आशुविनाशी) है; इसलिये भोगेच्छु और मोक्षेच्छु साधकों को चाहिये कि वे स्वच्छ स्वतन्त्र स्फुरत्‌चित्परामर्शपरमार्थ वाले मन्त्रनाथ (= मृत्युञ्जयभट्टारक) की भावभेद के साथ पूजा करें । बुभुक्षु लोग भी यदि अद्वयधाम का आमर्शन करने के बाद कर्म में प्रवृत्त होते हैं तो विघ्नों से अभिभूत नहीं होते—ऐसा सर्वाचारभट्टारक नामक ग्रन्थ में उद्धृत किया गया है । जो यह इत्यादि की पहले ही व्याख्या कर दी गयी है ॥

अब—

मैं इस (मृत्युञ्जय भट्टारक) के याग को बतलाऊँगा (यह याग) अपनी

पर्वताग्रे नदीतीरे गवां गोष्ठेऽथ चत्वरे ।
वने चोपवने रम्ये देशकालानुरूपतः ॥ २७ ॥
सर्वशल्यविनिर्मुक्ते दुष्टसत्त्वविवर्जिते ।
पुण्यधर्मिष्ठसंवासे पापाचारविवर्जिते ॥ २८ ॥
यत्र निन्दापराः पौरा न दृश्यन्ते कदाचन ।
यन्न पश्यन्ति ते दुष्टाः सङ्कीर्णाः सर्वसङ्कराः ॥ २९ ॥
तस्मिन् यजेन्महामन्त्रमीतिभिः परिवर्जिते ।

देवतोद्देशेन द्रव्यप्रक्षेपो यागः । यथेच्छयेति पर्वताग्रादिष्विच्छानतिक्रमेण यत्रेच्छा तत्र कार्य इत्यर्थः । देशकालानुरूपत इति देशकालसौकर्येणेत्यर्थः । पुण्यश्चासौ धर्मिष्ठसंवास इति समासः । सङ्कीर्णा विलोमजाः । सर्वसङ्करा इति क्षुद्रपापिष्ठहिंस्रादिभिः सर्वैः सङ्करो व्यामिश्रता येषाम् । ईतयोऽतिवृष्ट्याद्याः ॥

यद्वा—

गृहे यागः प्रकर्तव्य आचार्यैस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ ३० ॥

इच्छानुसार पर्वताग्र (= पर्वत की चोटी या पर्वत के पास की भूमि), नदीतीर, गोशाला, चौराहा, जंगल, सुन्दर बगीचा में देशकाल के अनुरूप करना चाहिये । यज्ञस्थल समस्त प्रकार के शल्य (= काँटा कङ्कड़ आदि) से मुक्त, दुष्ट (= हिंस्र) प्राणियों से रहित, पुण्य एवं धर्मात्मा लोगों के द्वारा निवसित, पापियों से रहित, होना चाहिये । जिस नगर या ग्राम के निवासी किसी की निन्दा न करते हों; जिस स्थान को दुष्ट, संकीर्ण विचार वाले सर्वसङ्कर लोग न देख सकें और जो ईतियों[1] से रहित हो, उस स्थान में महामन्त्र का याग करना चाहिये ॥ २६-३०- ॥

किसी देवता या देवसमूह को उद्दिष्ट कर द्रव्य का त्याग याग कहलाता है । इच्छानुसार = पर्वताग्र आदि में इच्छा का अतिक्रमण न करते हुए जहाँ इच्छा हो वहाँ करना चाहिये ॥ देशकाल के अनुरूप = देश काल की सुविधा को ध्यान में रखकर । ('पुण्यधर्मिष्ठसंवासे' पद में समास बतलाते हैं—) पुण्य होते हुए धर्मी लोग जहाँ रहते हों । संकीर्ण = विलोमज (= माता उच्च वर्ग की और पिता निम्न वर्ग का हो उससे उत्पन्न सन्तान) । सर्वसङ्कर = क्षुद्र पापी एवं हिंस्र मनुष्यों तथा जानवरों से मिश्रित स्थान । ईतियाँ = अतिवृष्टि आदि ॥

अथवा—

तत्त्वदर्शी आचार्यों के द्वारा घर में याग किया जाना चाहिये ॥ -३० ॥

---

१. अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः ।
प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः ॥

तत्त्वदर्शितां विना तु न आचार्यत्वं किंचित् ॥

स च—

सुगुप्तस्तु प्रकर्तव्यो विशेषाच्छान्तिकर्मणि ।

विशेषशब्दो नित्येऽपि गुप्तिमाह ॥

नैमित्तिके कर्मण्यनुग्रहप्राधान्यात्र नियम इत्याह—

दीक्षाकाले तु कर्तव्यं मण्डलं यत्र तत्र हि ॥ ३१ ॥

गृहे वा पर्वताग्रादौ वा ॥ ३१ ॥

काम्ये तु गुप्ते एव स्थाने इत्याह—

शान्तौ पुष्टौ प्रयत्नेन सुगुप्तं यजनं ध्रुवम् ।

ध्रुवं निश्चितं कृत्वा ॥

अत्रोपपत्तिमाह—

यस्माद्धिंसापरा लोके दृश्यन्ते सिद्धिहिंसकाः ॥ ३२ ॥

सिद्धिहिंसकशब्दवाच्याः क्षुद्रा योगिनीभूतपिशाचाद्या यतो हिंसापरा दृश्यन्ते, ततः सुगुप्ततैव युक्ता ॥ ३२ ॥

तत्त्वदर्शिता के बिना आचार्यत्व कुछ नहीं है ॥

और वह—

शान्तिकर्म में विशेषतया गोपनीय ढंग से करे ॥ ३१- ॥

विशेष शब्द नित्यकर्म में भी गोपनीयता को बतलाता है ।

दीक्षाकाल में जहाँ कहीं भी मण्डल बनाना चाहिये ॥ -३१ ॥

(यत्र-तत्र =) घर में अथवा पर्वताग्र आदि में ॥ ३१ ॥

काम्यकर्म में गुप्त स्थान में ही (याग करे)—यह कहते हैं—

शान्ति और पुष्टि कर्म में प्रयत्नपूर्वक अत्यन्त गुप्त ढंग से निश्चय कर यजन करना चाहिये ॥ ३२- ॥

इसमें तर्क देते हैं—

क्योंकि संसार में सिद्धि के हिंसक हिंसापरक (प्राणी) देखे जाते हैं ॥ -३२ ॥

चूँकि सिद्धिहिंसक शब्द के वाच्य क्षुद्र योगिनी भूत पिशाच आदि हिंसापरक

तर्हि—

कीलनं चैव मन्त्राणां भेदनं मोहनं तथा ।
संत्रासं ताडनं चैव जम्भनं स्तम्भनं तथा ॥ ३३ ॥
रिपुत्वकरणं चान्यत् प्रत्यङ्गिरत्वमेव हि ।
सर्वहानिविधायित्वं क्रियते दुष्टमन्त्रिभिः ॥ ३४ ॥

तत्र—

'जाज्वल्यमानं संचिन्त्य पादाङ्गुष्ठात्तु मस्तकम् ।
प्रविश्याधोमुखं कृत्वा अपानस्थान आत्मनः ॥
दग्धकाष्ठसमप्रख्यं साध्यमुल्मुकरूपिणम् ।
त्यक्तदेहं विचिन्त्यैवं मन्त्रच्छेदः कृतो भवेत् ॥
कीलनं मोहनं चैव तेजोहानिस्तथा भवेत् ।
रक्षाच्छेदश्च भवति सत्यं नास्त्यत्र संशयः ॥
सर्वद्विष्टश्च भवति न मन्त्रस्तस्य सिद्ध्यति ।'

इति ध्यानयुक्त्या, तथा—

'ककारपुटयोर्मध्ये यस्य नाम समुल्लिखेत् ।
तद्बाह्ये वह्निभवनं रेफाष्टकविभूषितम् ॥
लिखित्वा स्थापयेद्यन्त्रं कपालोभयसंपुटे ।
यस्य नाम्ना महागौरि मन्त्रच्छेदस्तु तस्य वै ॥

देखे जाते हैं इसलिये सुष्ठु गोपनीयता ही ठीक है ॥ ३२ ॥

वे दुष्टमन्त्रीगण मन्त्रों का कीलन, भेदन, मोहन, संत्रास, ताड़न, जम्भन, स्तम्भन, शत्रुत्वकरण, प्रत्यङ्गिरत्व एवं सर्वहानिविधायित्व करते हैं ॥ ३३-३४ ॥

'(जिसका मन्त्रच्छेद करना हो उसको) पैर के अंगूठे से लेकर शिर पर्यन्त जलता हुआ ध्यान करना चाहिये । यह सोचना चाहिये कि वह अधोमुख होकर अपने (या मेरे) गुदामार्ग में प्रवेश कर गया तथा जले हुए काष्ठ के उल्मुक के समान मर गया । ऐसा ध्यान करने पर (साध्य का) मन्त्रच्छेद हो जाता है । उसका कीलन मोहन और तेजोहानि हो जाती है । रक्षा का भी कर्त्तन हो जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं है । उस व्यक्ति से सब लोग द्वेष करने लगते हैं और उसका मन्त्र सिद्ध नहीं होता ॥'

इस प्रकार ध्यान की युक्ति से (कीलन आदि होते हैं) । तथा

'दो ककारों के बीच जिसका नाम लिख दिया जाय और उसके बाहर (चारो ओर) आठ रेफ से विभूषित अग्निभवन बनाया जाय । इस प्रकार यन्त्र को

जायते सिद्धिहानिश्च विद्विष्टः सर्वतो भवेत् ।

इत्यादियन्त्रयुक्त्या च श्रीकुलार्णवोक्तया, तथा—

'आकारश्छेदने प्रोक्त ऋकारस्ताडने.........'

इत्यादिना श्रीमदुच्छुष्मतन्त्राद्यादिष्टाकारादिसंपुटीकारयुक्त्या देहस्थयोगसहितैतत्ताडनादि दुष्टाः कुर्वन्ति । कीलनमन्यादृशत्वापादनम्, भेदनं साध्यसांमुख्यत्यागम्, मोहनं निर्वीर्यीकरणम्, जम्भनं कार्यकरणासाध्यसामर्थ्याधानम्, स्तम्भनं निश्चेष्टत्वापादनम्, प्रत्यङ्गिरत्वं भूतादिदमनप्रयुक्तस्य मन्त्रस्य प्रयोक्तारं प्रति विरुद्धकारित्वम् । स्पष्टमन्यत् ॥ ३४ ॥

एवं दशप्रकारेण प्रयतन्ते हि हिंसकाः ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सुगुप्ते शरणोपरि ॥ ३५ ॥
स्वगृहे कारयेद्यत्नाद्यागं होमं जपं तथा ।

हिर्यस्मादर्थे । स्वगृह इति तत्र यथारुचि गुप्तीकर्तुं शक्यत्वात् ॥

किं चायम्—

लिखकर दो कसोरों में बन्द कर हे महागौरि ! जिसके नाम से (पूजन करे) उसका मन्त्रच्छेद हो जाता है । उसकी सिद्धि की हानि होती है और सब लोग उससे द्वेष करने लगते हैं ।'

इत्यादि श्रीकुलार्णवतन्त्र में कथित यन्त्रयुक्ति से तथा—

'मन्त्र के छेदन में आकार एवं ताड़न अर्थ में ऋकार का प्रयोग किया जाता है ।'

इत्यादि उच्छुष्म तन्त्र आदि में उक्त आकार आदि के संपुटीकार की युक्ति से दुष्ट लोग देहसंयोग के सहित इस (= मन्त्र) का ताड़न आदि करते हैं । कीलन = मन्त्रों के स्वरूप को बदल देना । भेदन = साध्य की सम्मुखता का त्याग । मोहन = मन्त्र या मन्त्रसाधक को वीर्यरहित करना । जम्भन = कार्य को करने में असाध्य सामर्थ्य को लगाना । स्तम्भन = निश्चेष्ट बनाना । प्रत्यङ्गिरत्व = भूत आदि के दमन में प्रयुक्त मन्त्र को प्रयोक्ता के विरुद्ध लगाना ॥ ३४ ॥

इस प्रकार हिंसक लोग दश तरह से प्रयास करते हैं । इसलिये सब प्रयत्न कर अच्छी तरह गुप्त शरण (= घर) के ऊपर, अपने घर में प्रयत्नपूर्वक याग होम और जप करना चाहिये ॥ ३५-३६- ॥

'हि' का प्रयोग 'यस्मात्' अर्थ में है । अपने घर में—

क्योंकि वहाँ अपनी इच्छानुसार गोपनीयता बरती जा सकती है ॥

यह—

अत्यन्तफलदः श्रेष्ठः सुगुप्तो मृत्युजित् सदा ॥ ३६ ॥
मण्डले स्थण्डिले कुम्भे निर्विशङ्केन चेतसा ।

भवत्येवामुतः फलमिति निश्चितमनसा कुम्भादौ सुगुप्तो नाथो नित्यमिष्टोऽभीष्टफलप्रदः ॥

किं च—

हर्म्योपरि तथा होमो विशेषाच्छान्तिपुष्टिदः ॥ ३७ ॥

तथेति सुगुप्त्या निःसंशयतया च ॥ ३७ ॥

अतश्च—

न विकल्पोऽत्र देवेशि...........

कार्यः ॥

यतः—

.............विकल्पाद्रौरवं व्रजेत् ।

तदुक्तमन्यत्र—

'नान्यच्छिद्रं प्रपश्यामि मन्त्रिणां मन्त्रसाधने ।

श्रेष्ठ मृत्युजित् निःशङ्क चित्तवाले व्यक्ति के द्वारा मण्डल, स्थण्डिल, घट में भली भाँति गुप्त होने पर अत्यन्त फलप्रद होता है ॥ -३६-३७-॥

'इससे निश्चित ही फल मिलता है'—इस प्रकार निश्चित मन से कुम्भ आदि में सुगुप्त भगवान् मृत्युञ्जय नित्य पूजित होने पर अभीष्ट फल देते हैं ॥

तथा—

घर के ऊपर उस प्रकार होम करने से (ये महादेव) विशेषरूप से शान्ति और पुष्टि देने वाले होते हैं ॥ -३७ ॥

उस प्रकार = गोपनीयता एवं निःसंशयता के साथ ॥ ३७ ॥

इसलिये—

हे देवेशि ! इस विषय में विकल्प नहीं
करना चाहिये ॥ ३८- ॥

क्योंकि—

विकल्प करने से व्यक्ति रौरव नरक में जाता है ॥ ३८- ॥

वही अन्यत्र कहा गया—

यत्र तादृक्तथालिङ्गः केवलं विचलत्यसौ ॥' इति ॥

तेन यो निष्कम्पः साधकः—

यागं होमं तु तत्रैव सर्वसिद्धिफलप्रदम् ॥ ३८ ॥

संशय्य प्रवृत्तं तु—

तस्करं तु विजानीयात् सिद्धिहानिं करोति यः ।
नाधिकारी भवेद्वै स तन्त्रेऽस्मिन् पारमेश्वरे ॥ ३९ ॥

अनाश्वस्तहृदयतया पारमेशे च्छद्मना प्रवर्तमानश्चौरवद् बध्यत इत्यर्थः ॥३९॥

यत एवम् तेन—

सर्वदः स भवेद्देवि तत्त्वविच्चाध्वविद् गुरुः ।

तत्त्ववित् साक्षात्कृतप्रकाशानन्दघनपरमशिवात्मस्वस्वरूपः । अध्ववित् क्रियाशक्तिविकासात्म विश्वं चिन्वानः । यत एवम्, तत एव स्वस्थानोल्लसितं सर्वफलमसौ दातुं क्षमः ॥

किं च—

'मन्त्रियों की मन्त्रसाधना में (मैं) कोई छिद्र (= दोष, विकल्प) नहीं देखता । जो वैसा (= अच्छिद्र) नहीं है और तथालिङ्ग (उस प्रकार अर्थात् अच्छिद्र जैसा दिखलाई पड़ता है) केवल वही विचलित (= सन्देहयुक्त) होता है ।'

इसलिये जो दृढ़ विश्वासवाला साधक है—

याग और होम उसी के विषय में सर्वसिद्धिप्रद होते हैं ॥ -३८ ॥

संशय के साथ (होम आदि में) प्रवृत्त होने वाले को—

तस्कर समझना चाहिये । जो सिद्धि की हानि करता है इस पारमेश्वर तन्त्र में वह अधिकारी नहीं है ॥ ३९ ॥

अनाश्वस्त हृदय होने के कारण पारमेश्वर तन्त्र में छल करने वाला चोर के समान मारा जाता है ॥ ३९ ॥

चूँकि ऐसा है इसलिये—

हे देवि ! तत्त्ववेत्ता एवं अध्ववेत्ता वह गुरु सर्वदायक हो जाता है ॥ ४०- ॥

तत्त्ववेत्ता = जो प्रकाशानन्दघन परमशिव का साक्षात्कार करने से शिवस्वरूप हो गया है वह । अध्ववेत्ता = क्रियाशक्ति के विकासस्वरूप विश्व का ज्ञाता । चूँकि ऐसा है इसलिये वह स्वस्थान में उल्लसित समस्त फल देने में सक्षम है ॥ ३९ ॥

एवं व्याप्तिं तु यो वेत्ति परापरविभागतः ॥ ४० ॥
स भवेन्मोचकः साक्षाच्छिवः परमकारणम् ।

साधकानामिव सिद्धिर्मुमुक्षूणां मुक्तिस्तत्त्वविद एवेत्यर्थः । साक्षाच्छिवः परमकारणमिति विशेषणमत्र भेदवाद इव परमशिवाद् मुक्तशिवानामन्यत्वं न आशङ्क्यमित्याशयात् ॥

एतदेव व्यतिरेकमुखेन द्रढयति—

शिवतत्त्वमविज्ञाय दीक्षां प्रकुरुते तु यः ॥ ४१ ॥

तेन सह दीक्ष्या नापवर्गगामिनः, अपि तु—

अन्धेनैव यथान्धस्तु सर्वे ते श्वभ्रपातिनः ।

एवकारो यथोक्तशिवतत्त्वज्ञानहीनस्य लेशेनाप्यनुन्मिषितपरनेत्रप्रकाशत्वं ध्वनति ॥

अतश्चाविज्ञाततत्त्वोऽनधिकृतोऽपि जीविकया प्रवृत्तः—

और भी—

जो पर अपर विभाग के साथ इस प्रकार की व्याप्ति को जानता है वह साक्षात् परम कारण शिवस्वरूप होकर (मुमुक्षुओं का) मोचक हो जाता है ॥ ४०-४१- ॥

जिस प्रकार साधकों की सिद्धि (तत्त्ववेत्ता गुरु के द्वारा सम्पन्न होती है) उसी प्रकार मुमुक्षुओं की मुक्ति भी तत्त्ववेत्ता के ही द्वारा होती है । 'साक्षात् शिव' एवं 'परम कारण' ये दोनों विशेषण यह संकेत करते हैं कि जैसे भेदवाद में मुक्त शिव परमशिव से भिन्न होते हैं वैसा यहाँ नहीं है । (यहाँ अभेदवाद में मुक्तशिव एवं परमशिव एक ही हैं) ॥

इसी बात को उल्टी रीति से पुष्ट करते हैं—

जो दैशिक शिवतत्त्व को बिना जाने दूसरे को दीक्षा देता है ॥ -४१ ॥

उसके साथ दीक्ष्य शिष्य अपवर्ग नहीं प्राप्त करते इतना ही नहीं है बल्कि—

जैसे अन्धे के द्वारा नीयमान अन्धा व्यक्ति (गड्ढे में गिरता है उसी प्रकार) ये सब श्वभ्र (= गड्ढा = नरक) में गिरते हैं ॥ ४२- ॥

एवकार यह बतलाता है कि जो यथोक्त शिवतत्त्वज्ञान से रहित है उसे लेशमात्र भी परनेत्र का प्रकाश प्राप्त नहीं होता ॥

इसलिये मृत्युञ्जयभट्टारक रूपी तत्त्व को न जानने वाला अधिकारी न होते हुए भी यदि इस शास्त्र में जीविकोपार्जन के लिये प्रवृत्त होता है तो वह—

आत्मानं च तथा शिष्यान्नयेन्निरयसङ्कटम् ॥ ४२ ॥

यत एवम्—

तस्मात्तत्त्वविदाचार्यः श्रीमान् सर्वप्रदो भवेत् ।

श्रीमान् जीवन्मोक्षलक्ष्म्या आलिङ्गितः ॥

न च तत्त्ववित्त्वं विना कर्मिणोऽप्याचार्यस्य प्रवृत्तिर्युक्ता—इत्याह—

यावन्न तत्त्वविच्छैवे कथं कर्माणि कारयेत् ॥ ४३ ॥
मन्त्रज्ञो मन्त्रयागे तु परस्यैवात्मनोऽपि वा ।

मननत्राणधर्मकपराशक्तिवीर्यसारमन्त्रकरणके यागे शिवाध्वरे यानि पूजाहोम-दीक्षादिकर्माणि तानि यावन्न परममहेश्वरात्मस्वात्मतत्त्ववित्, अत एव तत्स्फुरत्तात्मकमहावीर्यसारमन्त्रज्ञः शैवे शास्त्रे आचार्यस्तावत् कथं कारयेत्, कुर्वन्ति मन्त्रकरणानि कथं प्रयुञ्जीत । परस्य आत्मनोऽपि वेत्यत्रायमर्थः—आत्मन एवासौ कर्तुं न किंचित् क्षमः, किं पुनः परस्येति ॥

स्वयं को तथा शिष्यों को भी नरकरूपी संकट में डाल देता है ॥ -४२ ॥

चूँकि ऐसा है—

इस कारण तत्त्ववेत्ता आचार्य (स्वयं) श्रीमान् और (शिष्यों के लिये) सर्वप्रद होता है ॥ ४३- ॥

श्रीमान् = जीवन्मोक्षरूपी लक्ष्मी से युक्त ॥

तत्त्वज्ञान के बिना सत्कर्म का सम्पादन करने वाले आचार्य की भी उस शास्त्र में प्रवृत्ति ठीक नहीं है—यह कहते हैं—

जब तक कोई साधक (मन्त्रयागविषयक) तत्त्व को भली भाँति नहीं जान लेता तब तक शैवशास्त्रसम्बन्धी कार्यों का अनुष्ठान वह कैसे करायेगा । वह मन्त्रज्ञ दूसरे का अथवा स्वयं अपना भी (कल्याण करने में समर्थ नहीं होता) ॥ -४३-४४- ॥

मनन एवं त्राण धर्म वाली पराशक्ति के वीर्यसार स्वरूप मन्त्र के द्वारा सम्पन्न होने वाले याग = शैवाध्वर, में जो पूजा होम दीक्षा आदि कर्म हैं उन्हें शैवशास्त्र-विषयक आचार्य तब तक कैसे सम्पन्न करा सकता है जब तक कि वह परममहेश्वर रूप आत्मतत्त्व को जानने के बाद उस आत्मतत्त्व की स्फुरत्ता वाले महावीर्यवान् मन्त्र को नहीं जानता । (वह सिद्धि प्राप्त करने के लिये) मन्त्रों का साधन रूप में प्रयोग नहीं कर सकता । दूसरे का अथवा अपना—इसका यह अर्थ है कि यह अपना ही भला नहीं कर सकता फिर दूसरों की भलाई की क्या बात ॥

ननु मन्त्रमण्डलादिमाहात्म्येन दीक्षा सेत्स्येति किमाचार्यस्य तत्त्वज्ञतयेति चित्रमण्डलोल्लिखनमन्त्रन्याससतत्पठनतिलाज्यप्रक्षेपमात्रकृतप्रयासानां मोहमपोहयति महेश्वरः—

यावन्न निर्मला मन्त्रास्तावत्सिद्धिः कथं भवेत् ॥ ४४ ॥
निर्मलः स भवेच्चेत्तत्तस्था मन्त्राः सुनिर्मलाः ।
तदुद्भूततास्तत्समाश्च भवेयु सर्वसिद्धिदाः ॥ ४५ ॥

यद्याचार्यो निर्मलः प्रशान्तदेहपुर्यष्टकादिकालुष्योन्मिषत्स्वच्छस्वच्छन्दचिदानन्दसमावेशशाली ततस्तदुद्भूतास्तच्छक्तिवीर्यसारतया उच्चरन्तो मन्त्रा अपि तत्समा निर्मलाः सर्वसिद्धिप्रदा भवन्ति । यथोक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'मन्त्राः करणरूपास्तु पशुकार्यस्य साधने ।
आचार्यः कारणं तत्र शिवरूपो यतः स्मृतः ॥' (३।१६०)

इति । स्पन्देऽपि—

'तदाक्रम्य' (२।१)

इत्यादि

प्रश्न है कि—मन्त्र मण्डल आदि के माहात्म्य से दीक्षा सम्पन्न हो जाती है, आचार्य के तत्त्वज्ञ होने न होने से क्या । चित्र मण्डल के उल्लेख, मन्त्रन्यास, उसके पाठ, तिलघृत के हवनमात्र से प्रयास करने वालों का मोह परमेश्वर नष्ट कर देते हैं—

जब तक मन्त्र निर्मल नहीं होते तब तक सिद्धि कैसे होगी । जब वह (आचार्य) निर्मल होगा तो उसमें स्थित मन्त्र भी निर्मल होंगे । उस (आचार्य) से उत्पन्न उसके समान (वे मन्त्र) सर्वसिद्धिदायक होते हैं ॥ -४४-४५ ॥

यदि आचार्य निर्मल अर्थात् प्रशान्तदेहपुर्यष्टक (= मन बुद्धि अहङ्कार और पञ्च तन्मात्रा अथवा पञ्च प्राण) आदि की मलिनता से रहित, उन्मिषत् स्वच्छ स्वच्छन्दचिदानन्दसमावेशशाली है तो उससे उद्भूत = उसके शक्तिरूपी वीर्य के रूप में उच्चरित होने वाले मन्त्र भी उसी के समान निर्मल एवं सर्वसिद्धिप्रद होते हैं । जैसा कि स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया—

'पशुकार्य की सिद्धि में मन्त्र करणरूप होते हैं । उस (करणरूपता में) आचार्य कारण होता है क्योंकि (वह आचार्य) शिवरूप माना गया है ।' (३।१६०)

स्पन्दकारिका में भी—

'उस (बल) को आकान्त कर.......... ॥' (२-२)

यहाँ से लेकर

'तेनैते शिवधर्मिणः ॥' (२।२)

इत्यन्तम् ॥ ४५ ॥

तत्समा इत्युक्तिं स्फुटयति—

शिवशक्तिनियोगाच्च मन्त्राणामुदयः परः ।
सर्वत्र फलदा मन्त्रा यतस्तेऽतः शिवाः स्मृताः ॥ ४६ ॥
तस्माच्छिवसमाः सर्वे नित्यानुग्रहकारिणः ।

शिवशक्तिनियोगः परप्रकाशानन्दोपोद्बलितत्वम्, ततो मन्त्राणां वाच्यवाचकाभेदस्फुरत्तासाराणां पर उदयो भवति, अतश्च सर्वत्र फलदाः । यत एवमतस्ते स्मृता एवंरूपतया विमृष्टाः शिवैकरूपाः । तस्मादिति ईदृशेन शिवसमानत्वेन एते नित्यमनुग्रहं ताच्छील्येन कुर्वन्ति ॥

शिवावेशज्ञस्यैवाचार्यस्यैते शिवरूपाः सन्तः फलन्तीति प्रकृतमनुबध्नाति—

शिवश्चाचार्यरूपेण तेनैते फलदाः स्मृताः ॥ ४७ ॥

रूपशब्दः शिवाचार्ययोर्न अधिष्ठात्रधिष्ठेयता मन्तव्येति बोधयति । तदुक्तं[1]

'इस कारण वे (= मन्त्र) शिवधर्मी है ।'

यहाँ तक (वही बात कही गयी है) ॥ ४५ ॥

'उसके समान हैं'—इस उक्ति को स्पष्ट करते हैं—

शिव और शक्ति के नियोग से मन्त्रों का उत्कृष्ट उदय होता है । चूँकि मन्त्र सर्वत्र फलदायी होते हैं इस कारण उन्हें शिव माना गया है । इसलिये वे सब शिव के समान नित्य अनुग्रहकारी हैं ॥ ४६-४७- ॥

शिवशक्ति का नियोग = पर प्रकाश रूप आनन्द से दोनों का उद्बलित होना । इसके फलस्वरूप वाच्य वाचक के अभेद की स्फुरत्ता तत्त्व वाले मन्त्रों का पर उदय होता है । इसलिये वे सर्वत्र फलप्रद होते हैं । चूँकि ऐसा है इसलिये वे शिवरूप माने गये हैं । इस कारण = इस प्रकार की शिवसमानता के कारण, ये मन्त्र स्वभावत; सदा अनुग्रह करते हैं ॥

जो आचार्य शिवावेश को जानता है उसी के लिये ये शिवरूप मन्त्र फल देते हैं—इस प्रस्तुत (विषय) को पुनः कहते हैं—

शिव आचार्य के रूप में (रहते हैं) इसलिये (आचार्योक्त ये मन्त्र) फलदायी माने गये हैं ॥ -४७ ॥

रूप शब्द यह बतलाता है कि शिव और आचार्य में अधिष्ठातृअधिष्ठेय

---

१. स्वच्छन्दतन्त्रे नोपलभ्यते ।

श्रीस्वच्छन्दे—

'मण्डलस्थोऽहमेवात्र'

इत्युपक्रम्य

'साक्षात् स्वदेहसंस्थोऽहं कर्तानुग्रहकर्मणाम् ।' इति ॥ ४७ ॥

एतदेव स्वप्रतिज्ञया हृदि रोहयति—

यावन्न तत्त्वविन्मन्त्री गुरुर्वा साधकोऽपि वा ।
तावन्न फलदो देवि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ४८ ॥

साधकः फलदः स्वस्मै, अपिशब्दात् पुत्रकोऽपि ॥

एतद्वैधर्म्योक्त्या द्रढयति—

अन्यथा भोगसंयुक्त आचार्यः फलदो नहि ।

पानाशनावेशवैवश्यपोषितशरीरित्वाभिनिवेशः पशुनिर्विशेष एवेत्यर्थः ॥

यत एवम्—

सम्बन्ध नहीं मानना चाहिये वही बात श्री स्वच्छन्दतन्त्र में कही गयी है—

'इस मण्डल में मैं ही रहता हूँ ।'

ऐसा प्रारम्भ कर—

(आचार्य के रूप में) मैं साक्षात् अपनी देह में स्थित होकर अनुग्रह कर्मों का कर्त्ता होता हूँ ॥ ४७ ॥

इसी को अपनी प्रतिज्ञा के द्वारा हृदय मे आरोपित करते हैं—

हे देवि ! साधक गुरु अथवा मन्त्री जब तक तत्त्व को नहीं जान लेता तब तक वह फलप्रदान नहीं कर सकता, यह मैं तुमसे सत्य कहा रहा हूँ ॥ ४८ ॥

साधक अपने लिये ही फलप्रद नहीं होता । श्लोक में आये 'अपि' शब्द का संकेत पुत्रकदीक्षाप्राप्त व्यक्ति की ओर है ॥

इसी बात को वैधर्म्य की उक्ति से पुष्ट करते हैं—

अन्य प्रकार से भोग में संयुक्त आचार्य फलप्रद नहीं होता ॥ ४९- ॥

पान भोजन आवेश (= काम भावना आदि) की विवशता से पोषित शरीर के द्वारा आत्मा को भी वैसा (= पान आदि करने वाला) ही मानने वाला (आचार्य) पशु के तुल्य होता है ॥

चूकिं ऐसा है—

तस्मात्तु तत्त्वविच्छ्रेष्ठः सर्वदा सर्वकर्मसु ॥ ४९ ॥

नित्यादिषु ॥ ४९ ॥

किं च—

तेन यो दीक्षितो जन्तुः.............

असौ—

.............ब्रह्महापि शिवो भवेत्।

अस्य महाप्रभावतामादिशति—

यत्र यत्र स्थितो देशे यश्चैवं तु विधिं यजेत् ॥ ५० ॥
येन येनोपचारेण भावभेदेन येन वा ।
सामान्येन विशेषेण कौलिकेनाथ सुव्रते ॥ ५१ ॥
तत्तत्साधयते शीघ्रं यथा देवः सदाशिवः ।

एवमिति शिवावेशोन्मिषन्मन्त्रज्ञतया यो विधिं शाम्भवं विनियोगं यजेद् यागेन संपादयेत्, भावभेदेन तत्तदाराध्यदेवताराधनौचित्येन यो यो द्वैताद्वैतविमिश्ररूप उपचार आचारस्तेन तेनासौ तत्तदभीष्टं झटिति घटयति सदाशिवनाथवत् ॥

न च तत्त्वज्ञस्य कुण्डमण्डलप्रमाणादिनियमः—इत्याह—

इसलिये सभी कर्मों से सर्वदा तत्त्ववेत्ता (आचार्य आदि) श्रेष्ठ होता है ॥ -४९ ॥

(सर्वकर्म =) नित्य नैमित्तिक आदि कर्म ॥ ४९ ॥

इस कारण जो जन्तु दीक्षित हो गया है वह ब्रह्मघाती होने पर भी शिव ही होता है ॥ ५०- ॥

इस (= दीक्षित) के महाप्रभाव को भी बतलाते हैं—

हे सुव्रते ! (ऐसा पुरुष) जिस किसी स्थान में रहकर इस प्रकार से जिस-जिस वस्तु से और जिस भावभेद से सामान्य विशेष अथवा कौलिक विधान के अनुसार यजन करता है वह व्यक्ति शीघ्र ही इसकी सिद्धि कर लेता है जैसे कि देव सदाशिव (सिद्ध कर लेते हैं) ॥ -५०-५२- ॥

इस प्रकार = शिवावेश के कारण मन्त्रों के उन्मेष के साथ । जो आचार्य, विधि = शाम्भव विनियोग, का यजन करता है, = याग के द्वारा सम्पादन करता है, भाव के भेद से = तत्तत् आराध्य देवता के अनुरूप आराधन विधि से, जो-जो द्वैत अद्वैत मिश्र (= द्वैताद्वैत) रूप उपचार = आचार, उस-उस से तत्तत् अभीष्ट को शीघ्र प्राप्त कर लेता है जैसे कि सदाशिव प्रभु (प्राप्त करते हैं) ॥

चतुरश्रे वर्तुलेऽथ हस्तमात्राधिकेऽपि वा ॥ ५२ ॥
आचार्यस्येच्छया सर्वं सिद्ध्यति व्याप्तिवेदनात् ।

व्याप्तिज्ञतैव आचार्यीया समस्तसिद्धिसाधनी ॥

व्याप्तिं लेशतो दर्शयति—

क्रियाशक्तिस्वरूपेण कुण्डल्या व्याप्तिभावनात् ॥ ५३ ॥
तत्कुण्डं व्यापकं ज्ञात्वा सर्वज्ञस्तु भवेद् गुरुः ।

निजक्रियाशक्त्यात्मकोर्ध्वकुण्डलिनीव्याप्त्या कुण्डस्य व्यापकतां ज्ञात्वा शिवावेशशाली दैशिको दीक्षादिना भोगमोक्षप्रदो भवति ॥

व्याप्तिज्ञतैव फलदेति व्यतिरेकतोऽन्वयतश्चादिशति—

यावन्न विन्दते व्याप्तिं कुण्डस्यैवात्मनोऽपि च ॥ ५४ ॥
साध्यस्यैव पशोश्चैव पाशानां च षडध्वनः ।
बालवत् क्रीडते तावत् कार्यं तस्य कथं भवेत् ॥ ५५ ॥

तत्त्वज्ञ के लिये कुण्ड मण्डल प्रमाण आदि का नियम नहीं है—यह कहते हैं—

आचार्य की इच्छा से चौकोर, अथवा गोल, एक हाथ के परिमाण से अधिक स्थण्डिल, कुण्ड में भी (पूजन हवन आदि करने से) सब सिद्ध हो जाता है क्योंकि (आचार्य) व्याप्ति ज्ञान वाले होते हैं ॥ -५२-५३- ॥

आचार्य की व्याप्तिज्ञता ही समस्त सिद्धियों की साधिका होती है ॥

संक्षेप में व्याप्ति को भी दिखलाते हैं—

क्रियाशक्ति के रूपवाली कुण्डली की व्याप्तिभावना के द्वारा उस (हवन) कुण्ड को व्यापक जानकर गुरु सर्वज्ञ (= सर्वसिद्धिप्रद) होता है ॥ -५३-५४- ॥

अपनी क्रियाशक्ति रूप ऊर्ध्वकुण्डलिनी की व्याप्ति के द्वारा कुण्ड की व्यापकता को जानकर शिवावेशशाली आचार्य दीक्षा आदि के द्वारा भोगमोक्षप्रद होता है ॥

व्याप्तिज्ञता ही फल देती है—इस बात को व्यतिरेक और अन्वय के द्वारा बतलाते हैं—

आराधक जब तक कुण्ड, आत्मा, साध्य, पशु, और षडध्वारूपी पाश की व्याप्ति को नहीं जानता तब तक (आराधना, अनुष्ठान नहीं बल्कि) बच्चे की भाँति खेल करता है । फिर उसका कार्य कैसे हो सकता

यः पुनर्वेत्ति चात्मानं शिवशक्तिस्वरूपकम् ।
स सर्वफलदः श्रेष्ठः स कर्ता सर्वविच्छिवः ॥ ५६ ॥

तत्र कुण्डस्य ऊर्ध्वकुण्डलिनीशक्त्यात्मा, आत्मनः परशिवसमवायिनी, साध्यस्य आराध्यस्य मन्त्रस्य पराशक्तिस्फुरत्तावीर्यसारा व्याप्तिरित्युक्तम् । पशोस्तु—

'शब्दराशिसमुत्थस्य' (स्प० ३।१३)

इति नीत्या गृहीतसङ्कोचशिवात्मकता आणवमायीयकार्माणामपूर्णमन्यताभिन्नवेद्यप्रथाशुभाशुभादिसंस्काररूपाणां सत्त्वरजस्तमसां च पारमेशेच्छाज्ञानक्रियाशक्तिसङ्कोचप्रकर्षस्वभावा व्याप्तिः । यथोक्तम्—

'स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥' (३।२।४) इति,
'भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम् ।
कर्तर्यबोधे कार्मं तु........................ ॥' (३।२।५) इति,
'स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या ।

है । और जो आत्मा को शिवशक्तिस्वरूप जानता है वह श्रेष्ठ, समस्त फलों को देने वाला कर्त्ता सर्ववेत्ता शिव हो जाता है ॥ -५४-५६ ॥

उस कुण्ड की व्याप्ति ऊर्ध्व कुण्डलिनी शक्तिरूपा, आत्मा की (व्याप्ति) परशिवसमवायिनी, साध्य = आराध्य मन्त्र, की (व्याप्ति) पराशक्तिस्फुरत्ता वीर्य तत्त्व वाली है—ऐसा कहा गया है । पशु की व्याप्ति—

'शब्दराशि से उत्पन्न (शक्तिवर्ग की भोग्यता को प्राप्त, कला के द्वारा विलुप्त वैभववाला साधक पशु माना गया है ।)' (स्प.का. ३.१३)

इस नीति के अनुसार गृहीतसंकोचशिवात्मकता रूपा, अपूर्णमन्यता भिन्नवेद्यप्रथा तथा शुभाशुभ संस्कार रूप आणव मायीय कार्म मलों की एवं सत्त्व रजस् तमस् की पारमेश्वरी इच्छा ज्ञान क्रिया शक्ति के संकोच के प्रकर्ष स्वभाव वाली है । जैसा कि कहा गया—

'बोध के स्वातन्त्र्य की हानि और स्वातन्त्र्य का बोध न होना यह दो प्रकार का आणव मल अपने स्वरूप की अपहानि (= संकोच) के कारण होता है ।' (ई.प्र. ३.२.४)

'भिन्न वेद्य का विस्तार यहाँ मायीय मल कहा गया है जो कि जन्म एवं भोग को सम्पन्न कराता है । कर्त्ता का बोध न होने पर कार्म मल होता है ॥' (ई.प्र.३.२.५)

'अपने अङ्गरूप भावों के विषय में परमेश्वर का ज्ञान क्रिया तथा माया में ही

मायातृतीये त एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः ॥' (३।२।३)

इति च प्रत्यभिज्ञायाम्, स्पन्देऽपि—

'निजाशुद्ध्यासमर्थस्य' (१।९)

इत्यादि । वर्णमन्त्रपदकलातत्त्वभुवनाख्यस्य षडध्वनोऽपि परसूक्ष्मस्थूलरूपतावस्थितवाचकतद्वाच्याभासरूपक्रियाशक्तिस्फारसतत्त्वता । तत्राप्यभेदेन विश्वं विमृशन्ति वर्णाः, भेदाभेदाभ्यां मन्त्राः, भेदेन पदानि । पूर्वः पूर्वश्च अध्वाऽत्रोत्तरत्र व्यापकतया स्थितः, उत्तर उत्तरः पूर्वत्र व्याप्यतया स्थितोऽन्तर्भूत इति सर्वं सर्वत्रास्ति । अत एव गर्भीकृतेतराध्वपञ्चकैकाध्वशुद्धिस्तत्र तत्र शास्त्रे चोदिता । तथा श्रीस्वच्छन्दे—

'भुवनव्यापिता तत्त्वेष्वनन्तादिशिवान्तके ।
व्यापकानि च षट्त्रिंशन्मन्त्रवर्णपदात्मकाः ॥
तत्त्वान्तर्भाविनः सर्वे वाच्यवाचकयोगतः ।
कलान्तर्भाविनस्ते वै निवृत्त्याद्याश्च ताः स्मृताः ॥' (४।९५-९७)

इत्याद्युक्तम् । एतच्च तदुद्योते निर्णीतमस्माभिः । एवं मण्डलादावपि

पशु के सत्त्व रजस् एवं तमस् गुण हैं ॥' (ई.प्र.३.२.३)

ऐसा ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया है । तथा स्पन्दकारिका में भी—

'अपनी अशुद्धि के कारण असमर्थ (तथा कर्त्तव्यों के अभिलाषी व्यक्ति का क्षोभ जब समाप्त हो जाता है तब उसे परमपद की प्राप्ति होती है ।)' (स्प.का. १.९) इत्यादि ।

वर्ण मन्त्र पद कला तत्त्व भुवन नामक छह अध्वा की व्याप्ति पर सूक्ष्म स्थूलरूप में अवस्थित वाचक और उसके वाच्याभासरूप क्रियाशक्ति की स्फारतत्त्वता रूप है । उसमें भी वर्ण अभेदेन, मन्त्र भेदाभेदपूर्वक तथा पद भेद के साथ विश्व का विमर्श करते हैं । उपर्युक्त छह अध्वाओं में पूर्व-पूर्व अध्वा उत्तर-उत्तर अध्वा में व्यापक रूप से तथा उत्तर-उत्तर अध्वा पूर्व-पूर्व में व्याप्य रूप से अन्तर्भूत है । इस प्रकार सब कुछ सर्वत्र है । इसीलिये पाँच अध्वाओं को अपने अन्दर समाहित करने वाली एकाध्वशुद्धि भिन्न-भिन्न शास्त्रों में वर्णित है ।

श्रीस्वच्छन्दतन्त्र में—

'अनन्तनाथ से लेकर शिवपर्यन्त तत्त्वों में भुवनों की व्याप्ति है । मन्त्र वर्ण एवं पदस्वरूप ३६ तत्त्व (= पृथ्वी से लेकर पुरुष तक २५ + माया और उसके ५ कञ्चुक = ३१ + शुद्ध विद्या + ईश्वर + सदाशिव + शक्ति + शिव = ३६ तत्त्व) व्यापक हैं । वाच्य वाचक भाव से वे सब तत्त्व के अन्तर्भूत हैं और वे तत्त्व कलाओं के अन्तर्भूत हैं । वे कलायें निवृत्ति आदि (= प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ता और शान्त्यतीता) हैं ।' (४.९५-९७)

परमेशाभेदसारत्वपर्यवसाना यादृशी व्याप्तिः, तथा तत्रैव वितत्य दर्शितम् । अत एव—

[१]'मण्डलस्थोऽहमेवात्र..................... ।'

इत्यादि विततं श्रीस्वच्छन्दादौ देवदेवेन आदिष्टमित्यलम् । कार्यमिति भोगमोक्षादि । यस्तु आत्मानं मुख्यतया चकारसमुच्चितं मन्त्रादि सर्वं शिवं प्रकाशमानयता प्रकाशैकघनशिवरूपं तथाविधतत्स्वातन्त्र्याद् दर्पणनगरवद् भेदेनैव स्फुरणाम् शक्तिरूपं च वेत्ति, असावभेदसर्वज्ञसर्वकर्तृशिवरूपो भोगमोक्षप्रदः श्रेष्ठः । उक्तं च प्राक्—

'स्वपरस्थेषु भूतेषु' (८।१८)

इत्यादि । श्रीत्रिशिरोभैरवेऽपि—

'जीवः शक्तिः शिवस्यैव सर्वत्रावस्थितापि सा ।
स्वरूपप्रत्ययारूढा ज्ञानस्योन्मीलनाच्छिवा ॥' इति ॥ ५६ ॥

पूर्वोक्तक्रियाशक्तिमयस्य कुण्डस्य—

इत्यादि कहा गया है । यह हमने उस (= स्वच्छन्दतन्त्र) की उद्योत टीका में स्पष्ट कर दिया है । इसी प्रकार मण्डल आदि में भी परमेश्वराभेद रूपा जैसी व्याप्ति है वैसी वहाँ विस्तारपूर्वक दिखलाई गयी है । इसीलिये स्वच्छन्दतन्त्र में देवाधिदेव ने

'यहाँ भी मण्डल में मैं ही स्थित हूँ ।'

इत्यादि विस्तारपूर्वक कहा है । श्लोक सं० ५५ में 'कार्य' का अर्थ है—भोग मोक्ष आदि । और जो साधक मुख्य रूप से आत्मा को तथा श्लोक सं० ५६ में आये 'च' के द्वारा समुच्चित मन्त्र आदि सब कुछ शिव = प्रकाशैकघन शिवरूप, है और उसी के स्वातन्त्र्यवश दर्पणनगर[२] की भाँति भिन्न शक्तिरूप है—ऐसा समझता है वह अभेद सर्वज्ञ सर्वकर्त्ता शिवरूप होता हुआ भोग एवं मोक्ष देने वाला तथा श्रेष्ठ है । पहले कहा भी गया है—

'अपने एवं दूसरे में स्थित प्राणियों में' इत्यादि ।

त्रिशिरोभैरव में भी 'जीव शिव की ही शक्ति है । वह (= शक्ति) सर्वत्र स्थित है । ज्ञान के उन्मीलित होने पर जब वह स्वरूपज्ञान पर आरुढ़ होती है तो शिवा कहलाती है' ॥ ५६ ॥

पूर्वोक्त क्रियाशक्तिमय कुण्ड की—

---

१. स्वच्छन्दतन्त्रे नोपलभ्यते ।
२. जिस प्रकार दर्पण में दृश्यमान नगर दर्पण से भिन्न नहीं होता उसी प्रकार परमेश्वर से भिन्न दिखलायी पड़ने वाले मन्त्र आदि भी वस्तुतः उससे भिन्न नहीं हैं ।

ज्ञानशक्तिमयो वह्निर्व्याप्यव्यापकभेदतः ॥

आचार्येण ज्ञातव्यः ॥

यश्च ईदृगाचार्यः—

स ज्ञाता सर्वकर्ता च मोक्षदः फलदो गुरुः ॥ ५७ ॥

ज्ञाता तत्त्वज्ञः । सर्वकर्ता परशक्तिस्फारात्मा । फलदः सिद्धिदः ॥ ५७ ॥

किं च—

षडध्वातीतयागं तु यजते यस्तु दैशिकः ।
मायोदधौ स नौभूतः सर्वत्राणकरः शिवः ॥ ५८ ॥

षडध्वातीतश्चिदानन्दघनः परमशिवः, स एव इज्यंत इति व्युत्पत्त्या यागो याज्यस्तं यो दैशिक आचार्यो यजेत, मायाब्धौ नौरिव सर्वस्य त्राणकृत् शिवरूपः ॥ ५८ ॥

यथोक्तां तु व्याप्तिमज्ञात्वा—

अध्वमध्यगतं यागं यः करोत्यविचारतः ।
नासौ मोचयितुं शक्तः परमात्मानमेव वा ॥ ५९ ॥

वह्नि व्याप्यव्यापक भेद से ज्ञानमय एवं शक्तिमय है ॥ ५७- ॥

ऐसा आचार्य के द्वारा समझा जाना चाहिये ॥

और जो आचार्य ऐसा है—

वह ज्ञाता, सर्वकर्त्ता, मोक्षदायक, फलप्रद गुरु होता है ॥ -५७ ॥

ज्ञाता = तत्त्वज्ञ । सर्वकर्त्ता = परशक्ति का स्फाररूप । फलद = सिद्धिप्रद है ॥ ५७ ॥

और भी—

जो आचार्य षडध्वातीत याग का अनुष्ठान करता है वह मायारूपी समुद्र में नौका के समान सबकी रक्षा करने वाला शिव है ॥ ५८ ॥

षडध्वातीत = चिदानन्दघन परमशिव । वही पूजित होता है इस व्युत्पत्ति से याग अर्थात् याज्य है, उसकी जो दैशिक = आचार्य, पूजा करता है वह मायारूपी सागर में नौका की भाँति सबका रक्षक शिव स्वरूप है ॥ ५८ ॥

यथोक्त व्याप्ति को जाने बिना—

जो (आचार्य) अध्वमध्यगत याग को बिना विचारे करता है वह न तो अपने को और न दूसरे को मुक्त कराने में समर्थ है ॥ ५९ ॥

यागं पूजाहोमादिरूपम्, अध्वगतमिति याज्ययजनाधारयजनयाजकादि सर्वं भेदमयं मन्वानोऽविचारतस्तत्त्वाविमर्शात् । आत्मानमेव वेति वाशब्द उत्तरपक्षदार्ढ्ये ॥ ५९ ॥

एष च—

नैव सिद्धिं तु लभते न कार्यकरणे क्षमः ।

प्रत्युतास्य भेदप्रमातृतया देहाद्यात्माभिमानिनः—

षडध्वना तु तेनैव बन्धनं तु मलं स्मृतम् ॥ ६० ॥

तेनैवेति परमशिवतयाऽपरिज्ञातेन ॥ ६० ॥

एवंविधस्य चास्य—

मायीयाणवकार्मं तु विसरेद् बन्धकारणम् ।

विसरेत् प्रत्युत विशेषेण सरेत् प्रसरेत् ॥

अतश्चासौ—

पशोश्चैव न तत्रस्थः शक्तो वै मोचने गुरुः ॥ ६१ ॥

याग = पूजा होम आदि । अध्वगत = याज्य, यज्ञ का आधार, यजन, याजक आदि सबको भेदमय शब्द मानता हुआ, तत्त्व को न जानने के कारण विचारहीन है । 'आत्मानमेव वा' यहाँ 'वा' (= परस्पर भिन्न) का प्रयोग उत्तरपक्ष की दृढ़ता के अर्थ में प्रयुक्त है ॥ ५९ ॥

और यह (आचार्य)—

न तो सिद्धि प्राप्त करता है न कार्य को करने में सक्षम होता है ॥ ६०- ॥

बल्कि भेदप्रमाता होने के कारण देह आदि को आत्मा मानने वाले इसका—

'उसी षडध्वा के द्वारा बन्धन हो जाता है और (वह बन्धन) मल कहा गया है ॥ -६० ॥

उसी से = परमशिव के रूप में अपरिज्ञात (अध्वा) से ॥ ६० ॥

इस प्रकार के इस (आचार्य) के लिये—

आणव मायीय और कार्म मल बन्धन के कारण के रूप में प्रसृत होते हैं ॥ ६१- ॥

विसृत होते हैं = विशेषरूप से फैलते हैं ।

इसलिये—

तत्रस्थोऽध्वमध्यगत: । गुरुरिति नाममात्रेण, यद्वा देहादिमयत्वाद्भार-भूत: ॥ ६१ ॥

युक्तं चैतत्—

अध्वमध्यगता: पाशा: प्ररोहन्ति सदात्मन: ।

अध्वमध्यगततया भिन्नतां मन्वानस्य ॥

अतश्चोक्तोपदेशयुक्त्या आत्मानम्—

तदतीतं परं ज्ञात्वा को न मुच्येत बन्धनात् ॥ ६२ ॥
को वा मोक्षप्रदो न स्यात् क: सिद्धिं लभते न च ।
को न दाता भवेन्मन्त्री क: कार्ये न क्षम: प्रिये ॥ ६३ ॥

तदतीतमध्वातीतं परमशिवैकरूपम् । दातेति साधकेभ्य: सिद्धे: । कार्ये इति रक्षाप्यायनादौ ॥

अतश्च—

उस (अध्वा) में स्थित गुरु पशु को मुक्त कराने में समर्थ नहीं होता है ॥ -६१ ॥

उसमें स्थित = अध्वा के मध्य में स्थित । वह नाममात्र का गुरु है (वास्तविकरूप में नहीं) अथवा देह आदिमय होने से भारभूत है ॥ ६१ ॥

यह ठीक भी है—

अध्वा के मध्य में वर्त्तमान पाश सदात्मा (= अन्य वस्तुओं को परमात्मा के अतिरिक्त सत् मानने वाले) के लिये प्ररूढ़ होते रहते हैं ॥ ६२- ॥

(सदात्मा के लिये =) अध्वा के मध्य में स्थित होने से भिन्नता को मानने वाले के लिये ॥

इसलिये उक्त उपदेश की युक्ति के द्वारा अपने को—

उस (अध्वा) से परे परमेश्वर रूप में समझ कर कौन सा साधक बन्धन से मुक्त नहीं होता । अथवा कौन सा (आचार्य) मोक्षप्रद नहीं होता या कौन व्यक्ति सिद्धि को नहीं प्राप्त करता । हे प्रिये ! कौन सा मन्त्रानुष्ठानकर्त्ता (साधकों के लिये) दाता नहीं बनता और कौन सा मनुष्य कार्य पूरा करने में सक्षम नहीं होता ॥ -६२-६३ ॥

उससे परे = अध्वा से परे परमशिवैकरूप । दाता = साधकों को सिद्धि देने वाला । कार्य में = रक्षा संतृप्ति आदि में ॥

इसलिये—

यः परः सर्वतोरुद्रस्तं ज्ञात्वा तन्मयो भवेत् ।

य इति असामान्यः, परोऽनुत्तरः, समस्तरुग्द्रावणाद् रुद्रः । ज्ञात्वेति स्वात्मरूपतया प्रत्यभिज्ञाय ॥

अतत्त्वज्ञस्तु—

मानोन्मानप्रमाणादि वेत्ति वै योऽध्वनो गुरुः ॥ ६४ ॥
शिल्पिवत् स भवेद्दक्षो विचित्राकारकारकः ।
न मोक्षदस्तु भवति नासौ सिद्धिफलप्रदः ॥ ६५ ॥

वेष्टनोर्ध्ववैपुल्यमानं मानोन्मानप्रमाणम्, आदिशब्दात् तत्त्वादीनामौत्तराधर्यक्रमम् । विचित्राकारकारक इति नानासंनिवेशमात्रकल्पकः, न तु व्याप्तिज्ञः ॥ ६५ ॥

यत एवमज्ञा गुरवो हेयाः—

तस्माच्छिवसमाः सर्वे द्रष्टव्यास्तत्त्ववेदिनः ।

शिवसमाधिस्थैरित्यर्थात् ।

जो पर रुद्र है उसे सब प्रकार से जानकर तन्मय हो जाना चाहिये ॥ ६४- ॥

जो = असाधारण । पर = अनुत्तर, (= सबसे बढ़कर वर्त्तमान) । रुद्र = समस्त रोगों (= आधि व्याधियों अज्ञान आदि) को द्रावण = भगाने के कारण रुद्र । जानकर = अपने आत्मा के रूप में पहचान कर ॥

जो तत्त्वज्ञ नहीं है—

ऐसा जो गुरु अध्वा का मान उन्मान प्रमाण आदि जानता है वह शिल्पी के समान विचित्र आकार का निर्माता मात्र है । वह न तो मोक्ष दे सकता है और न सिद्धि ॥ -६४-६५ ॥

वेष्टन (= लम्बाई) ऊर्ध्व (= ऊँचाई) वैपुल्य (= चौड़ाई) की माप क्रमशः मान उन्मान और प्रमाण है । 'आदि' शब्द से तत्त्व आदि का ऊर्ध्वाधर क्रम समझना चाहिये । विचित्राकारकारक = केवल अनेकअवयवसंरचना की कल्पना करने वाला न कि परमेश्वर की व्याप्ति को जानने वाला ॥ ६५ ॥

चूँकि इस प्रकार के अज्ञानी गुरु हेय होते हैं—

इसलिये जितने तत्त्वज्ञाता आचार्य हैं उनको शिव के समान समझना चाहिये ॥ ६६- ॥

शिवसमाधिस्थ लोगों के द्वारा—

यद्यपि—

कर्मी योगी तथा ज्ञानी आचार्यस्त्रिविधः स्मृतः ॥ ६६ ॥

तत्र तत्र शास्त्रे ॥ ६६ ॥

तथापि—

कर्मयोगौ तु देवेशि ज्ञानमूलौ फलप्रदौ ।
पृथग्भेदो न दृश्येत ज्ञानाद्वै योगकर्मणोः ॥ ६७ ॥

क्रियायास्तद्विशेषफलात्मनश्च योगस्य ज्ञानशक्तिस्फाररूपत्वान्न ज्ञानात् पृथक् भेदोऽस्ति, अपि तु ज्ञानदर्पणान्तः प्रतिबिम्बितत्वेन भिन्नाभासत्वमिव ॥ ६७ ॥

यत एवम्—

तस्मादाचार्यमुख्यस्तु ज्ञानवान् सर्वदो भवेत् ।

ज्ञानवान् परचित्समावेशात्मकप्रशस्तज्ञाननित्ययुक्तो यः, स एव कर्मयोगादि-प्रधानाचार्याणां मध्ये मुख्य आचार्यः । स एव सर्वदो भवति । तदुक्तं श्रीकामिकायाम्—

'ज्ञानमूलो गुरुः प्रोक्तः सप्तसत्रीप्रवर्तकः ।' इति ।

यद्यपि

भिन्न-भिन्न शास्त्रों में कर्मी योगी और ज्ञानी के भेद से आचार्य तीन प्रकार के कहे गये हैं, तथापि हे देवेशि ! कर्म और योग ज्ञानमूलक होने पर ही फल प्रदान करते हैं । इसलिये योग और कर्म को ज्ञान से भिन्न नहीं देखना चाहिये ॥ -६६-६७ ॥

क्रिया और उसके विशेष फलरूप योग ज्ञान शक्ति के स्फार हैं इसलिये उनका ज्ञान से पृथक् कोई भेद नहीं है । वे ज्ञानरूपी दर्पण के भीतर प्रतिबिम्बित होने के कारण भिन्न जैसे प्रतीत होते हैं ॥ ६७ ॥

चूँकि ऐसा है—

इसलिये ज्ञानवान् आचार्य ही सब कुछ दे सकता है ॥ ६८- ॥

जो ज्ञानवान् = परचित्समावेशात्मक प्रशस्त ज्ञान से नित्य युक्त है, वही कर्मप्रधान या योगप्रधान आचार्यों में मुख्य होता है । वही सर्वदायक होता है । श्री कामिकातन्त्र में कहा गया—

सात सत्रों[1] (= अन्नदान इत्यादि सात प्रकार के अनुष्ठानों) का प्रवर्त्तक ज्ञानी

---

१. 'दीक्षा व्याख्या कृपा मैत्री शास्त्रचिन्ता शिवैकता ।
अन्नादिदानमित्येतत् पालयेत् सप्तसत्रकः ॥' (तं०आ० २३.२२-२३)

श्रीसिद्धामतेऽपि—

'ज्ञानेन तु महासिद्धो भवेद्योगीश्वरस्त्विह ।' इति ॥

ज्ञानवत्त्वादेव ह्यसौ—

शिवाश्रयः शिवस्थस्तु शिवशक्तिप्रचोदितः॥ ६८ ॥
निर्मिमीते जगत्सर्वं शिवरूपो यतः स्मृतः।

शिव आश्रयो भित्तिरूपत्वेनावलम्बनीयो यस्य, तत एव शिवशक्त्या प्रचोदितोऽनुग्रहादौ कर्मणि प्रवर्तितः, तथापि च

'संबन्धे सावधानता' (वि०भै० १०६)

इति नीत्या शक्त्यवष्टम्भेन शिवे परचिद्धाम्नि स्थितस्तत्समावेशशाली, अतश्च शिवस्वभावः सन् जगद् निर्मिमीते निमेषोन्मेषदशासु शब्दादिपञ्चकात्म विश्वं चिद्रसाश्यानविलापनात्मना भेदेनाभेदेन चाभासयति ॥

अयं हि—

ही गुरु कहा गया है ।

श्री सिद्धामत में भी—

'ज्ञान के द्वारा व्यक्ति इस संसार में महासिद्ध और योगीश्वर हो जाता है ।'

ज्ञानवत्त्व (= ज्ञान) के कारण ही—

शिव के आधार वाला, शिव में स्थित, शिव की शक्ति से प्रेरित होकर संसार का निर्माण करता है । क्योंकि यह (= शिवावेश वाला आचार्य) शिवरूप माना गया है ॥ -६८-६९- ॥

शिवाश्रय = शिव ही हैं आश्रय = भित्तिरूप में अवलम्बनीय जिसका, वह । इसी कारण शिवशक्ति के द्वारा प्रचोदित = अनुग्रह आदि कार्यों के लिये प्रेरित, होता है । तो भी—

'(ग्राह्यग्राहक के) सम्बन्ध में (योगी लोग) विशेष सावधान रहते हैं ।' (वि.भै. १०६)

इस नियम से शक्ति के अवष्टम्भ (= सहारा) के कारण परचित्धाम शिव में स्थित = शिवसमावेशशाली फलतः शिवस्वभाव वाला होता हुआ वह (आचार्य) जगत् का निर्माण करता है = निमेष और उन्मेष दशाओं में शब्द आदि पाँच तन्मात्राओं वाले विश्व को चिद्रस की क्षीणता और विलापन रूपी भेद एवं अभेद के द्वारा आभासित करता है ॥

यह—

इच्छाज्ञानक्रियायोगशिवशक्तिविशारदः ॥ ६९ ॥

इच्छाज्ञानक्रियाशक्तिभिर्योगो वीर्यं ययोः प्रकाशानन्दात्मनोः शिवशक्त्योः, तत्र विशारदस्तत्समावेशमयः ॥ ६९ ॥

एवंभूतं हि दीक्षाकर्म—

यः करोति शिवेच्छातो ज्ञात्वा चाप्यध्वसंस्थितिम्।

पूर्वोक्तदृशा क्रियाशक्तिस्फारव्याप्त्या व्याप्यस्याध्वनः संस्थितिं ज्ञात्वा यः शिवरूपस्य स्वात्मनः संबन्धिन्या इच्छया करोति ।

तस्य संबन्धिनी—

अचिन्त्या मन्त्रशक्तिर्वै परमेशमुखोद्भवा ॥ ७० ॥
यद्यत्प्रकुरुते ज्ञानी शिवशक्तिसमाश्रयात् ।

परमेशमुखं परा शक्तिः ॥ ७० ॥

अचिन्त्यमन्त्रशक्तिश्चायम्—

तत्तन्निष्पद्यते तस्य शिवशक्तिप्रभावतः ॥ ७१ ॥
तस्य वै संमुखा मन्त्रा दृष्टप्रत्ययकारकाः ।

इच्छा ज्ञान क्रिया योग वाले शिवशक्ति (के समावेश) में विशारद हो जाता है ॥ -६९ ॥

इच्छा ज्ञान क्रिया शक्तियों से योग = वीर्य है जिन दोनों का ऐसे प्रकाशानन्दरूप, शिव एवं शक्ति में विशारद = शिवशक्तिसमावेशमय हो जाता है ॥ ६९ ॥

इस प्रकार का दीक्षा क्रम—

जो (आचार्य) अध्व की संस्थिति को जानकर शिव (शिवस्वरूप अपनी) इच्छा से इस प्रकार का दीक्षा कर्म करता है ॥ ७०- ॥

पूर्वोक्त दृष्टि से क्रियाशक्ति के स्फार की व्याप्ति से व्याप्य अध्वा की स्थिति को जानकर जो शिवस्वरूप अपनी इच्छा से (दीक्षाकर्म) को करता है ॥

उसकी—

परमेश्वर के मुख (= पराशक्ति) से उत्पन्न

मन्त्रशक्ति अद्भुत हो जाती है ।

वह ज्ञानी शिवशक्ति के समावेश से युक्त होकर जो जो (कार्य) करता है शिवशक्ति के प्रभाव से अचिन्त्य मन्त्रशक्ति वाला यह उस-उस (कार्य)

दृष्टेत्युक्तिं स्फुटयति—

शान्तिकादीनि कर्माणि विषभूतग्रहादिषु ॥ ७२ ॥
क्षणेन कुरुते सर्वं.......

शान्तिकादीनि विषादिविषयाणि च निर्विषीकरणत्वादीनि कर्माणीति योज्यम् ॥

नन्वस्य यदि करणे सामर्थ्यम्, तत् 'शिवशक्तिप्रभावतः' इति किमुक्तम्?— इत्याशङ्क्य तस्यैव सर्वत्र मूलकारणत्वमित्याह—

.............शिवः परमकारणम् ।

स एव हि ततद्भूमिकाविष्टस्तत्तत्करोति । यथोक्तं श्रीश्रीकण्ठ्याम्—

'प्रवर्तेतेश्वरात् सर्वं निवर्तेत तथेश्वरात् ।' इति ॥

अतश्च—

तं प्रबोधयते यस्तु ज्ञानयोगबलान्वितः ॥ ७३ ॥
मन्त्रशक्तिप्रभावेण स दीक्ष्यान् दीक्षयेत् प्रिये ।

प्रबोधयते स्वात्मान्तर्निगूहितस्वरूपं देहादिनिमज्जनोन्मज्जच्चिद्घनतया

के फल को प्राप्त करता है । दृष्टप्रत्ययकारक (= प्रत्यक्ष विश्वास दिलाने वाले) मन्त्र उसके सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं ॥ -७०-७३- ॥

दृष्टप्रत्ययकारकाः—इस उक्ति को स्पष्ट करते हैं—

(वह आचार्य) शान्ति कर्म तथा विष भूत ग्रह आदि विषयक समस्त कर्म (निर्विषीकरण आदि) को एक क्षण में कर डालता है ॥

प्रश्न—यदि समस्त कार्यों के करने में (स्वयं) इसका सामर्थ्य है तो फिर 'शिवशक्ति प्रभावतः' ऐसा क्यों कहा गया ?—यह शङ्का कर—शिव शक्ति ही सर्वत्र मूल कारण है—यह कहते हैं—

शिव ही परम (= मूल) कारण है ॥ ७३- ॥

वही तत्तद् भूमिकाओं से आविष्ट होकर तत्तत् कार्य करता है (आचार्य आदि तो केवल माध्यम बनते हैं) । जैसा कि श्रीकण्ठीसंहिता में कहा गया है—

'ईश्वर के कारण ही सब प्रवृत्त होता है और ईश्वर के कारण ही सब निवृत्त होता है' ॥

इसलिये—

हे प्रिये ! ज्ञानयोग के बल से युक्त जो आचार्य उसका प्रबोधन कर लेता है वह मन्त्रशक्ति के प्रभाव से दीक्ष्य जनों को दीक्षित करता है ॥ ७३-७४- ॥

साक्षात्करोति ज्ञानयोगयोर्बलेन प्ररूढ्या अन्वितो युक्तः, अतश्च वीर्यसारमाहात्म्याद् दीक्ष्यान् दीक्षयत्येव ॥

एतदेव दीक्षानिरुक्तिभङ्ग्या स्फुटयति—

क्षयं नयत्यसौ पाशान् ददात्येव परं पदम् ॥ ७४ ॥
योजन्या योजने शक्तः शिवशक्तिप्रभावतः ।

यस्मात् प्रोक्तशिवशक्तिप्रभावतोऽसौ श्रीस्वच्छन्दाद्यादिष्टयोजनिकाक्रमस्थित्या योजने शिष्यस्य परापरपदैक्यापादने शक्तः, तस्मात् पाशक्षपणशिवात्मपरपद-दानात्मिकां दीक्षामयमेव कर्तुमर्हतीति युक्तमुक्तम् ॥

सर्वस्रोतःकर्मस्वेष एव प्रभवति—इत्याह—

प्रत्ययस्तु भवेत्तस्य दृष्टो नान्यस्य कस्यचित् ॥ ७५ ॥
गारुडे मातृतन्त्रे च वामे स्रोतसि दक्षिणे ।
ज्येष्ठे चण्डासिधारे च प्रत्यक्षफलदा क्रिया ॥ ७६ ॥

यतोऽस्य दृष्ट इहैव प्रत्ययः शिवसमावेशात्मा साक्षात्कारो भवति, ततो

प्रबोधित करता है = अपने अन्दर छिपे हुए स्वरूप का देह आदि के निमज्जन के कारण उन्मज्जित चिद्घन के रूप में साक्षात्कार करता है, ज्ञानयोग के बल से = प्ररुढ़ि से, अन्वित = युक्त, इसलिये वीर्यसार की महिमा से (वह आचार्य) दीक्ष्य जनों को दीक्षित करता ही है ॥

इसी बात को दीक्षा की निरुक्ति[1] के द्वारा स्पष्ट करते हैं—

यह (आचार्य) पाशों को नष्ट करता है तथा (दीक्षित को) परमपद की प्राप्ति कराता है । शिवशक्ति के प्रभाव से यह (गुरु) योजनिका दीक्षा के द्वारा (शिष्य को परमपद से) जोड़ने में समर्थ होता है ॥ ७४-७५- ॥

चूँकि प्रोक्त शिवशक्तिप्रभाव से यह (आचार्य) स्वच्छन्दतन्त्र आदि में आदिष्ट योजनिका क्रम की स्थिति से शिष्य को जोड़ने में = परापर पद के साथ ऐक्यसम्पादन में, समर्थ होता है इसलिये पाश का नाश एवं परमपद से जोड़ने वाली दीक्षा को करने में यही समर्थ हैं—यह ठीक ही कहा गया है ॥

समस्त स्रोत (= साम्प्रदायिक) कर्मों में यही समर्थ होता है—यह कहते हैं—

उसी को दृष्टप्रत्यय होता है अन्य को नहीं । गारुड, मातृतन्त्र, वाम एवं दक्षिण स्रोतों में, ज्येष्ठ एवं चण्डअसिधार व्रत में (इस आचार्य के द्वारा अनुष्ठित) क्रिया प्रत्यक्ष फल देती है ॥ -७५-७६ ॥

---

१. दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयन्ते पशुवासनाः ।
दानक्षपणयुक्तत्वात् दीक्षा तेनेह कीर्त्तिता ॥

गारुडे पूर्वस्मिन्, मातृतन्त्रादौ पश्चिमे, जयादिनये वामे, भैरवशास्त्रे च दक्षिणे, चण्डासिधारादावूर्ध्वे ज्येष्ठे च मतकुलादौ रहस्ये स्रोतसि, सर्वत्रास्य क्रिया विषभूतशमनमेलभाग्यविचित्रानुग्रहादिरूपा प्रत्यक्षमेव फलदा सद्यः प्रत्ययेत्यर्थः ॥ ७६ ॥

एतदीया हि—

अत्यन्तमलिनस्यास्य पुंसो विद्धस्य मायया ।
कर्मणा भोगसक्तस्य अभिलाषान्वितस्य च ॥ ७७ ॥
मोक्षं ददाति दीक्षासौ क्रियाख्या ज्ञानरूपिणी ।

अत्यन्तमलिनत्वमेव मायया कर्मणेत्युक्ताभ्यां मायीयकार्ममलाभ्याम्, तथा

'अभिलाषो मलोऽत्र तु' (स्व ४।१०५)

इति श्रीस्वच्छन्ददृष्ट्या आणवमलेनाभिलाषान्वितस्येत्युक्तेन व्यक्तीकृतम् । क्रियाख्येति क्रियेत्याख्या यस्याः सा वस्तुतो ज्ञानस्वरूपिणीति कृत्वा आचार्येणोभयज्ञेनापि ज्ञानविश्रान्तेन भाव्यमित्याह । यदुक्तमन्यत्र—

'न क्रियारहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया।
क्रियाज्ञानविनिष्पन्न आचार्यः पशुपाशहा ॥ इति ॥

चूँकि इस (आचार्य) को यहीं पर दृष्टप्रत्यय = शिवसमावेश रूप साक्षात्कार, हो जाता है इसलिये गारुड़ = पूर्वतन्त्र, मातृतन्त्र आदि = पश्चिमतन्त्र, जय आदि वाम तन्त्र, भैरवशास्त्र रूप दक्षिण तन्त्र, चण्ड असिधार आदि ऊर्ध्व तन्त्र, ज्येष्ठ मत कुल आदि रहस्य स्रोतों में सर्वत्र इस की क्रिया = विषशमन, भूतशमन, मेलक, सौभाग्य, विचित्र, अनुग्रह—आदि कार्य प्रत्यक्ष फल देते हैं ॥ ७६ ॥

इस आचार्य की—

क्रिया ज्ञानरूपिणी यह दीक्षा, अत्यन्त मलिन, मायीय एवं कार्ममल से आविद्ध, भोगों में आसक्त, इच्छाओं से भरे हुए शिष्य को मोक्ष देती है ॥ ७७-७८- ॥

मायीय एवं कार्म मलों से युक्त होना ही अत्यन्त मलिनता है । तथा—

'अभिलाषा ही यहाँ (= शैव शास्त्र में) मल है ।' (स्व.तं. ४।१०५)

इस स्वच्छन्दतन्त्र के अनुसार अभिलाषान्वित का अर्थ है—आणवमल से युक्त । क्रियाख्या—क्रिया है नाम जिसका वह दीक्षा वस्तुतः ज्ञानरूपिणी है । इस प्रकार आचार्य को क्रिया और ज्ञान दोनों का ज्ञाता होना चाहिये । जैसा कि अन्यत्र कहा गया—

'न क्रिया से रहित ज्ञान होता है न ज्ञान से रहित क्रिया होती है

होत्रादिक्रियाया अपि महाविमर्शमयी आन्तरी शक्तिः प्राणितरूपा—इत्याह—

उन्मना तु परा शक्तिर्ज्ञानरूपावधूतिका ॥ ७८ ॥
सा क्रियेत्यभिधीयेत न क्रिया त्वध्वमध्यगा ।

परेत्यनवच्छिन्नस्फुरत्तात्मा । ज्ञानरूपेति—

'तस्मात्सा तु परा विद्या' (४।३९५)

इति श्रीस्वच्छन्द उक्तत्वात् । अवधूतिकेत्यवहतं धूतं कम्पो यस्यां सा तथा, नित्योदितेत्यर्थः । सा क्रिया । यदुक्तं श्रीप्रत्याभिज्ञायाम्—

'इत्थं तथा घटपटाद्याभासजगदात्मना ।
तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुता कर्तृता क्रिया ॥' (२।४।२१) इति ।

अध्वमध्यगेत्येवंविधमहाविमर्शात्मक्रियाशक्तिव्याप्तिशून्यनिःसारपूजाहोमाद्यात्मा ॥

यथा च प्रोक्तक्रियाशक्तिव्याप्तिसारा पूजाक्रिया, तथा ज्ञानयोगावपि तद्-व्याप्तिमयावेवेत्याह—

इसलिये क्रिया एवं ज्ञान दोनों से युक्त वह आचार्य ही पशु के पाश का नाशक होता है' ॥ ७७-७८- ॥

होम आदि क्रियाओं का भी प्राण महाविमर्शमयी (= ज्ञानमयी) आन्तरी शक्ति ही है—यह कहते हैं—

उन्मना जो कि पराशक्ति, ज्ञानरूपा और अवधूतिका है, वही (वस्तुतः) क्रिया कही जाती है न कि अध्वाओं के बीच चलने वाली (क्रियायें वास्तविक क्रियायें हैं) ॥ -७८-७९- ॥

परा = अनवच्छिन्न स्फुरत्ता रूपा । ज्ञानरूपा—

'इस कारण वह (= उन्मना शक्ति) परा विद्या है ।' (४.३९५)

ऐसा स्वच्छन्दतन्त्र में वचन होने से (उन्मना ज्ञानरूपा है) । अवधूतिका = अवहत (= नष्ट कर दिया गया है) धूत = कम्पन, जिसका वह, अर्थात् नित्योदिता । वह = क्रिया । जैसा कि ईश्वरप्रत्याभिज्ञा में कहा गया—

'इस प्रकार घट पट आदि आभास वाले जगत् के रूप में स्थित होने की इच्छा वाले (परमेश्वर) की इच्छा ही हेतु कर्त्री तथा क्रिया है ।' (ई.प्र.२.४.२१)

अध्वमध्यगा = इस प्रकार के महाविमर्शवाली क्रियाशक्ति की व्याप्ति से शून्य व्यर्थ की पूजा होम आदि ॥

जिस प्रकार उपर्युक्त क्रियाशक्तिव्याप्ति वाली पूजाक्रिया है उसी प्रकार ज्ञान और योग भी उस (= क्रियाशक्ति) की व्याप्ति वाले हैं—यह कहते हैं—

योगशक्तिर्ज्ञानशक्तिः सर्वशास्त्रेषु गीयते ॥ ७९ ॥
सा शक्तिः परमेशस्य शिवस्याशिवहारिणी ।

तदुक्तं श्रीगमशास्त्रे—

'योगो नान्यः क्रिया नान्या तत्त्वारूढा हि या मतिः ।
स्वचित्तवासनाशान्तौ सा क्रियेत्यभिधीयते ॥' इति ॥

यतश्च सा शिवसंबन्धिनी, अत एव—

बन्धमोक्षकरी पुंसां न स्वतन्त्रा स्वभावतः ॥ ८० ॥

शक्तिमत्स्वरूपायत्तत्वात् शक्तेः ॥ ८० ॥

अनेनैवानुसारेण शिवः सर्वप्रदः शुभः ।

यदुक्तं विज्ञानभैरवे—

'शक्तिशक्तिमतोर्यस्मादभेदः संव्यवस्थितः ।
अतस्तद्धर्मधर्मित्वात् परा शक्तिः परात्मनः ॥ (१८) इति ॥

न केवलं शिवशक्त्यभेदावष्टम्भाद् ज्ञानयोगक्रियाः शिवशक्तिमय्यः, यावत्—

योगशक्ति और ज्ञानशक्ति का वर्णन सब शास्त्रों में मिलता है । परमशिव की वह शक्ति समस्त अमङ्गल को दूर करने वाली है ॥ -७९-८०- ॥

श्रीगमशास्त्र में कहा गया—

'योग और क्रिया कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं है । अपने चित्त की वासना के शान्त होने पर जो तत्त्वारूढ (= तत्त्व के बारे में दृढ़ निश्चय वाली) बुद्धि है वही क्रिया कही जाती है' ॥

चूँकि वह शिवसम्बन्धिनी है, इसलिये—

स्वभावतः स्वतन्त्र होकर वह बन्ध और मोक्ष नहीं करती (अपि तु शिवाधीन रहकर ही बन्धमोक्षकारिका है) ॥ -८० ॥

क्योंकि शक्ति शक्तिमान् के स्वरूप के अधीन होती है ॥ ८० ॥

इसी रीति से शिव सर्वप्रद और शुभ है ॥ ८१- ॥

जैसा कि विज्ञानभैरव में कहा गया—

'चूँकि शक्ति और शक्तिमान् का अभेद भली भाँति व्यवस्थित है इसलिये उस (= शक्तिरूपी) धर्म का धर्मी होने से परात्मा की शक्ति भी परा अर्थात् सर्वोत्कृष्ट है ।' (वि.भै. १८) ॥

शिवशक्ति के अभेद के आधार पर ज्ञान, योग और क्रिया ही केवल

शिवादिगुरुपङ्क्तिर्या रुद्रकोट्यो ह्यनेकशः॥ ८१ ॥
आप्तोपदेशमात्रेण पारम्पर्येण संस्थिता ।

शिवोऽनाश्रितनाथ आदिर्यस्याः सदाशिवेश्वरानन्तश्रीकण्ठादिरूपाया गुरुपङ्क्तेः, सा तथा रुद्रकोट्योऽनन्ताधिष्ठितमन्त्रकोट्यो बह्व्यो यास्ताः सर्वा आप्तस्य परमशिवस्य संबन्धी य उपदेशः स्वात्मसमीपदेशनापदेशो निज............ केन योगेन कर्मणा वा सम्यक् स्थिताः स्वात्मा............ मः ।

आप्तोपदेशः परशक्त्युन्मेषात्मैवेत्याह—

शिवज्ञानं यतो देवि सदैवाप्तागमः स्मृतः ॥ ८२ ॥

शिवज्ञानं रुद्रशक्तिसमावेशः । यत इति हेतौ । तेन युक्त एव पूर्वश्लोकार्थः ॥ ८२ ॥

न केवलं शिवादिगुरुपङ्क्त्याः शिवशक्तिमयत्वं यावत्—

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं शिवशक्तिसमन्वितम् ।

शिवशक्त्या सम्यगन्वितं तदभेदमयम् । यदुक्तं शिवसूत्रेषु—

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' (३।३०) इति ॥

शिवशक्तिमयी नहीं है बल्कि—

जो शिव से लेकर (अनन्तनाथ श्रीकण्ठ आदि) तथा अनेक रुद्र की श्रेणियाँ है वे सब आप्तोपदेश के द्वारा परम्परया स्थित हैं ॥ -८१-८२- ॥

शिव = अनाश्रित नाथ है आदि में जिसके ऐसी सदाशिव ईश्वर अनन्तनाथ श्रीकण्ठ आदि रूप गुरुपङ्क्ति तथा रुद्रकोटियाँ = अनन्तनाथ से अधिष्ठित अनेक मन्त्रों की श्रेणियाँ, वे सब आप्त = परमशिव, के उपदेश = स्वात्मसमीपदेशना .. .. योग एवं कर्म द्वारा सम्यक् स्थित है ॥

आप्तोपदेश पराशक्ति का उन्मेष ही है—यह कहते हैं—

क्योंकि हे देवि ! शिवज्ञान सदैव आप्तागम माना गया है ॥ -८२ ॥

शिवज्ञान = रुद्रशक्तिसमावेश । 'यतः' शब्द का प्रयोग हेतु अर्थ में है इस कारण पूर्वश्लोक का अर्थ ठीक है ॥ ८२ ॥

केवल शिव आदि गुरुपङ्क्ति ही शिवशक्तिमय नहीं है बल्कि—

ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त (सब कुछ) शिव की ही शक्ति से युक्त है ॥ ८३- ॥

(शिवशक्तिसमन्वित =) शिव की शक्ति से भली भाँति अन्वित अर्थात् उनसे अभिन्न है । जैसा कि शिवसूत्र में कहा गया—

एतदुपसंहरन् स्फुटयति--

एवं शक्तिमयं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥ ८३ ॥

अनाश्रितादिक्षित्यन्तं सर्वं शिवशक्तिमयं केवलं मन्त्रमन्त्रेश्वरादिवर्ग उन्मिषच्छिवशक्तिमयः, विज्ञानाकलादिस्थावरान्तं तु निमिषच्छिवशक्तिमयमिति विभागः ॥ ८३ ॥

अतश्च—

शक्तिमान् सर्वकर्माणि कुरुते नात्र संशयः।

शिवशक्त्यावेशशाली मन्त्राचार्यादिवर्गस्तत्तत्कार्यकरणक्षमः ॥

अन्ये तु—

शक्तिहीना न सिद्ध्यन्ति यागकोटिशतैरपि ॥ ८४ ॥
जपकोटिसहस्रैस्तु होमलक्षैः सविस्तरैः ।

मन्त्राचार्याः ॥

यत एवम्—

'इस (= शिव) की अपनी शक्ति का प्रचय (= संग्रह) ही विश्व है ।'(३.३०)

उपसंहार करते हुए इसको स्पष्ट करते हैं—

इस प्रकार स्थावर जंगम रूप समस्त जगत् शक्तिमय है ॥ -८३ ॥

अनाश्रित शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त सब शिवशक्तिमय है । अन्तर इतना ही है कि मन्त्रमन्त्रेश्वर आदि वर्ग उन्मिषत् शिवशक्तिमय है और विज्ञानाकल से लेकर स्थावरपर्यन्त निमिषत्शिवशक्तिमय है ॥ ८३ ॥

इसलिये—

शक्तिमान् (आचार्य) सभी कर्मों को करता है इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ८४- ॥

शिवशक्त्यावेशशाली मन्त्राचार्य आदि का समूह तत्तत् कार्यों को करने में सक्षम है ॥

अन्य लोग—

सैकड़ों याग, हजारों जप, लाखों होम का विस्तारपूर्वक अनुष्ठान करने पर भी शक्तिहीन होने के कारण अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर पाते ॥ -८४-८५- ॥

मन्त्राचार्य लोग,

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन शिवज्ञानं समभ्यसेत् ॥ ८५ ॥
तदा सिध्यन्त्यशेषाणि कर्माण्येवान्यथा न हि ।

एवकारो नशब्दानन्तरं योज्यः ॥

यदा चाभ्यस्तशिवज्ञानः—

शान्तिकादीनि कर्माणि कुरुतेऽसौ तदा गुरुः ॥ ८६ ॥

किं च—

यागे होमे जपे चैव तथालेख्यक्रमेऽपि च ।

स एवाधिकृतः ॥

एवम्—

'यागमस्य प्रवक्ष्यामि' (१६।२६)

इत्युद्दिश्य यागगृहगुप्तिं रुद्रशक्तिसमावेशशालिव्याप्तिज्ञगुरुसतत्त्वं पराशक्तिवीर्यसारतां च मन्त्रादिस्थावरान्तस्य विश्वस्य उक्त्वा, उद्दिष्टभगवद्यजनाश्रयभूतम्—

चूँकि ऐसा है—

इसलिये सब प्रयास करके शिवसमावेश का अभ्यास करना चाहिये । तभी समस्त कर्म सिद्ध होते हैं अन्यथा कभी नहीं ॥ -८५-८६- ॥

एवकार को 'न' शब्द के बाद जोड़ना चाहिये । (इस प्रकार अन्वय होगा— नैव सिद्ध्यन्ति हि) ॥

और जब गुरु शिवसमावेश का सम्यक् अभ्यास कर लेता है—

तब यह गुरु शान्तिक आदि सभी कर्मों को करता (= करने में सक्षम होता) है ॥ -८६ ॥

तथा—

याग, होम, जप तथा (आप्तग्रन्थ के) लेखन कार्य में भी वही अधिकृत होता है ॥ ८७- ॥

वही अधिकृत है ॥

इस प्रकार—

'इस (= सर्वगत देव) का पूजन बतलाऊँगा ।' (ने.तं. १६।२६)

ऐसा कहकर यागगृह की रक्षा, रुद्रशक्तिसमावेशशाली व्याप्तिज्ञ गुरु और मन्त्र से लेकर स्थावरपर्यन्त विश्व की पराशक्तिवीर्यसारता को बतला कर उद्दिष्ट भगवान की पूजा का आश्रयभूत—

आपदो यदि चोत्पन्नाः पूर्वोक्तं यागमारभेत॥ ८७ ॥

भाविचतुर्द्वारादिविभागं पूर्वोद्दिष्टरूपं मण्डलं भगवत्पूजार्थमारभेत ॥ ८७ ॥

तत्र च—

साध्यं विमृश्य तद्द्रव्यं संभारेण तु संभृतम्।

रजश्चन्दनकुङ्कुमधूपादिसामग्रीसाध्यं श्रेयोऽभिसन्धिना विमृश्य ॥

श्रीमदमृतेशपूजाहोमाद्यात्मा—

यागस्तु क्रियते यस्य............

साध्यस्य कस्यचित् ॥

......तस्य शान्तिः प्रजायते॥ ८८ ॥

आपदो नश्यन्ति ॥ ८८ ॥

किं च—

तिलं क्षीरं घृतेनैव सितशर्करया सह ।
होमयेद्यस्य नाम्ना च.........

स साध्यः—

इस प्रकार पूर्वोक्त याग का तब आरम्भ करे जब आपत्तियाँ उत्पन्न हो जाँये ॥ -८७ ॥

भगवान् की पूजा के लिये भावी चार द्वार आदि विभागवाले पूर्वोद्दिष्टरूप मण्डल का आरम्भ करना चाहिये ॥ ८७ ॥

साध्य को (= आपद्ग्रस्त व्यक्ति के विषय में) सोच विचार कर उसके अनुकूल द्रव्य, जो कि अनेक वस्तुओं के समूह वाला हो, को—॥ ८८-॥

चन्दन, कुङ्कुम, धूप आदि सामग्री से साध्य (याग) का कल्याण की दृष्टि से विचार कर आरम्भ करे ॥

श्रीमत् अमृतेश की पूजा होम आदि वाला—

याग जिस किसी साध्य (= पुरुष) के लिये किया जाता है उसकी विपत्तियाँ दूर हो जाती हैं और शान्ति प्राप्त हो जाती है ॥ -८८ ॥

आपत्ति नष्ट हो जाती. है ॥ ८८ ॥

तथा—

घी, मिश्री से युक्त तिल दूध का जिस (व्यक्ति) के नाम से होम किया जाय ॥ ८९- ॥

...............महाशान्तिमवाप्नुयात् ॥ ८९ ॥

क्षीरवृक्षसमिद्भिस्तु क्षीराक्ताभिः समाहितः ।
होमयेद्यस्य नाम्ना च...........

पूजान्तरं होमेन मन्त्रराजं तर्पयेत् यन्नाम्ना—

...........तस्य शान्तिर्भवेद् ध्रुवम् ॥ ९० ॥
सुमनो घृतसंयुक्ता होमयेद्यस्य नामतः ।
तस्य शान्तिर्भवेत् क्षिप्रं नात्र कार्या विचारणा ॥ ९१ ॥
श्रीकामः श्रीफलान् हुत्वा श्रियमाप्नोति पुष्कलाम् ।

साधकः ॥

घृतगुग्गुलहोमेन पुष्टिर्भवति शाश्वती ॥ ९२ ॥

आचार्यकृतेन साध्यस्य ॥ ९२ ॥

मृत्युजित्संपुटं कृत्वा साध्यनाम जपेद्यदि ।
आत्मनो वा परस्यापि मृत्युस्तस्य न बाधते॥ ९३ ॥

वह साध्य

महाशान्ति को प्राप्त करता है ॥ -८९ ॥

क्षीरवृक्ष (= बरगद, पीपल, पाकड़, गूलर आदि) की समिधाओं (= १२ अंगुल की गीली लकड़ी जो कि छिलके से युक्त हो) की (गाय के) दूध में भिगोकर शान्तचित्त होकर जिस (व्यक्ति) के नाम से होम किया जाय अर्थात् ॥ ९०- ॥

पूजा के बाद होम के द्वारा जिसके नाम से मन्त्रराज का तर्पण किया जाय,

निश्चित रूप से उसको शान्ति मिलती है ॥ -९० ॥

(कमल आदि के) फूलों को घी से सिक्त कर जिसके नाम से होम किया जाय उसके (उपद्रवों की) शान्ति शीघ्र हो जाती है इस विषय में विचारणा (= सन्देह, तर्क आदि) नहीं करना चाहिये । लक्ष्मी को चाहने वाला साधक बिल्व के फलों का होम कर प्रचुर लक्ष्मी प्राप्त करता है ॥ ९१-९२- ॥

आचार्य द्वारा विहित साध्य व्यक्ति को

घी और गुग्गुलु के होम से शाश्वती पुष्टि मिलती है ॥ -९२ ॥

मृत्युञ्जय मन्त्र के द्वारा साध्य (व्यक्ति) के नाम को सम्पुटित कर यदि अपने लिये या दूसरे के लिये जप किया जाय तो उसकी अपमृत्यु नहीं

साध्यस्य मन्त्रेण रक्ष्यस्य आत्मनः परस्य वेत्यर्थः ॥ ९३ ॥

अष्टपत्रेऽथ कमले कर्णिकायां निवेशयेत् ।
साध्यार्णरोधितं नाम तदूर्ध्वे मृत्युजिद् भवेत् ॥ ९४ ॥
आग्नेय्यादिविभागेन दलेष्वङ्गानि विन्यसेत् ।
द्विरष्टदलसंपूर्णं बाह्ये तत्कमलं लिखेत् ॥ ९५ ॥
कलाषोडशकेनैव पूर्वादौ पूरयेत्ततः ।
द्वात्रिंशद्दलसंयुक्तं तद्बाह्ये पङ्कजं न्यसेत् ॥ ९६ ॥
कादिमान्तक्रमेणैव पूर्वादावीशमन्ततः ।

भवेदिति लिखितव्यः । अङ्गानि द्वितीयाधिकारोक्तान्यग्नीशरक्षोमरुद्विदिक्षु । हृदयादीनि चत्वारि पूर्वादिदिक्चतुष्केऽस्त्रं कर्णिकायां भगवदग्रे लोचनमिति विभागः तत्कमलमिति तस्य कमलमिति समासः । ईशमन्तत इति ईशदिग्गतदल-चतुष्टयान्तमित्यर्थः ॥

एते च—

साध्यार्णरोधिताः सर्वे वर्णाश्चक्रत्रये स्थिताः ॥ ९७ ॥

चक्रत्रये दलपुञ्जत्रये । साध्यार्णरोधनं प्राग्वत् ॥ ९७ ॥

होती ॥ ९३ ॥

मन्त्र के द्वारा साध्य = रक्षणीय व्यक्ति, चाहे वह स्वयं हो या दूसरा ॥ ९३ ॥

अष्टदल कमल की कर्णिका में साध्य के नामाक्षरों को लिखे । उसके ऊपर मृत्युञ्जय का मन्त्र लिखे । आग्नेयी आदि के क्रम से आठों दलों में अङ्गों का उल्लेख करे । उसके बाहर षोडशदल कमल को चित्रित करे । पूर्व से लेकर ईशानपर्यन्त सोलह कलाओं से उसको पूरित करे । उसके बाहर बत्तीस दल वाला कमल बनाये । पूर्व से लेकर ईशान पर्यन्त 'क' से लेकर 'म' पर्यन्त के अक्षरों को क्रम से लिखे ॥ ९४-९७- ॥

अङ्ग = द्वितीय अधिकार में उक्त अग्नि, ईशान, नैर्ऋत्य एवं वायव्य कोणों में (लिखें)। पूर्व आदि दिशाओं में हृदय आदि चार, कर्णिका में अस्त्र और भगवान् के आगे लोचन का न्यास करना चाहिये । तत्कमलम् = तस्य कमलम् यह (षष्ठी) तत्पुरुष समास है । ईशमन्ततः = ईशान दिशा में वर्तमान चार दलों तक ॥

साध्य के नामाक्षर से सम्पुटित ये सभी वर्ण तीनों चक्रों में स्थित रहते हैं ॥ -९७ ॥

तीन चक्रो में = तीनो पत्रपुञ्जों में । साध्य वर्ण का रोधन पूर्व की भाँति

एषां च दलवर्णानाम्—

सर्वेषां मध्यतः संज्ञां साध्यस्यैव तु रोधयेत् ।

रोधनं साध्यार्णसंपुटीकरणम् ॥

कर्णिकायां मन्त्रसंपुटमध्यगतस्य नाम्नो विशेषमाह—

जीवमध्यगतं नाम कर्णिकायां निवेशयेत् ॥ ९८ ॥

जीवः सकारः, तदन्तःकृतनामकम् ॥ ९८ ॥

प्राणान्तः कल्पयेज्जीवं..........

प्राणो हकारः ॥

तमपि तादृशम्—

..............प्राणं वर्णान्तमध्यगम् ।

क्षकारान्तस्थम् । तत्र च 'कषमध्यगतम्' इत्यन्यत्रत्यो विधिरनुसर्तव्यः ॥

एवमेतत्पद्मद्वयगर्भं पद्ममालिख्य—

बाह्येऽस्य मण्डलं सौम्यं सुसंपूर्णं तु कारयेत्॥ ९९ ॥

ठकारं दद्यात् ॥

समझना चाहिये ॥ ९७ ॥

इन कमलदल के वर्णों के मध्य—

इन सभी दलगत वर्णों के मध्य साध्य का नाम लिखे ॥ ९८- ॥

रोधन = साध्य के नाम के अक्षरों से सम्पुटित करना ॥

कर्णिका में मन्त्र से सम्पुटित (साध्य के) मध्यवर्त्ती नाम का विशेष बतलाते हैं—

जीव = सकार, के मध्य वर्त्तमान (= सकार से सम्पुटित साध्य के) नाम को कर्णिका में लिखे ॥ -९८ ॥

प्राण = हकार, के भीतर जीव की कल्पना करे और उस प्राण को वर्णान्त के मध्य में समझे ॥ ९९- ॥

(वर्णान्तमध्यगम् = वर्णान्त =) क्षकार के मध्य में स्थित यहाँ 'कषमध्यगतम्' ऐसी अन्यत्र वर्त्तमान विधि का अनुसरण करना चाहिये ॥

इस प्रकार दो कमलों के बीच कमल को लिखकर—

इसके बाहर सौम्य एवं सुसम्पूर्ण मण्डल बनाये ॥ -९९ ॥

तद्बाह्ये तु पुरं चैन्द्रं वज्रभृद्वज्ररोधितम् ।

कुर्यात् ॥

इत्थम्—

भूर्जपत्रे तु संलिख्य चक्रमेतद्वरानने ॥ १०० ॥
सुशुद्धे निर्व्रणे श्लक्ष्णे रोचनाकुङ्कुमेन च ।

चन्दनक्षीरयुक्तेन ॥

पश्चादेतत्पूजयन्नाचार्यः कर्पूरक्षोदधूसरं कृत्वा—

संवेष्ट्य सितसूत्रेण कार्पासेन नवेन च ॥ १०१ ॥
मधुमध्ये निधाप्यैतत् सुगन्धिघृतमिश्रिते ।
मृद्भाण्डे संनिधाप्यैतत् सितपुष्पैः प्रपूजयेत् ॥ १०२ ॥
पायसैर्घृतसंमिश्रैर्भक्ष्यैर्नानाविधैस्तथा ।
मृष्टैर्धूपैर्धूपयित्वा पूजयेद् भूरिसंभृतैः ॥ १०३ ॥

संभृतैः संभारैः ॥ १०३ ॥

(मण्डल बनाये =) ठकार लिखे । (वैसे मण्डल शब्द 'म' कार का प्रतीक है किन्तु उद्योतकार क्षेमराज ने यहाँ सम्भवतः मण्डल शब्द को ठकार का प्रतीक माना है ।) ॥ ९९ ॥

उसके बाहर वज्र से घिरा हुआ वज्र वाला इन्द्रपुर का निर्माण करना चाहिये ॥ १००- ॥

इस प्रकार—

हे सुन्दर मुखवाली ! इस चक्र को शुद्ध छिद्ररहित चिकने भोजपत्र पर गोरोचन और कुंकुम से लिखना चाहिये ॥ -१००-१०१- ॥

चन्दन और क्षीर से युक्त

बाद में आचार्य इसकी पूजा करता हुआ इसे कपूर के चूर्ण से धूसित कर 'अर्थात् उसके ऊपर कपूर का छिड़क कर'—

नये रूई के धागे से लपेट कर मधु के बीच रखे । पुनः सुगन्धित पदार्थ एवं घी से भरे मिट्टी के वर्त्तन में इसे रख कर श्वेत पुष्पों से इसका पूजन करे । खीर में घी मिलाकर नैवेद्य का अर्पण करे । अन्य अनेक प्रकार का भक्ष्य अर्पित करे । मृष्ट (= रोचक) धूप से धूपित कर अनेक वस्तुओं से इस (चक्र की) पूजा करे ॥ -१०१-१०३ ॥

संभृत = सम्भार (= वस्तु समूह)

अस्य चायं संनिवेशः—

बाह्येऽत्र कलशानष्टौ पूर्वादौ पूजयेत्ततः ।
सितचन्दनकर्पूरसुधूपामोदसंयुतान् ॥ १०४ ॥
रत्नगर्भाम्बुसंपूर्णान् सर्वौषधिसमन्वितान् ।
सौवर्णान् राजतांस्ताम्रान् मृण्मयान् वा सुशोभनान् ॥ १०५ ॥
अकालमूलान् सुशुभान् प्रशस्तांल्लक्षणान्वितान् ।
तेषां मध्ये तु संपूज्य लोकपालान् क्रमेण तु ॥ १०६ ॥

न कालं मूलमधःस्थानं येषां ते । संपूज्येति प्रणवस्वनामनमोभिः ॥१०६ ॥

तेषां शिवाज्ञा दातव्या रक्षध्वं साध्यमुत्तमम् ।

उत्तममिति वदन्नत्रत्यो विधिरनुत्तमविषये न योज्य इति शिक्षयति ॥

अथ—

प्रातर्मध्येऽह्नि सायं च निशार्धे पूजयेत्ततः ॥ १०७ ॥

इसका सन्निवेश इस प्रकार है—

तत्पश्चात् इसके बाहर पूर्व आदि दिशाओं के क्रम से आठ कलशों की पूजा करे । ये कलश सफेद चन्दन, कपूर, सुगन्धित निर्मल धूप, की सुगन्ध से युक्त हों; घट में रत्न एवं जल भरा होना चाहिये; सर्वौषधि (= सतावरी, जट्ामासी, दूर्वा आदि) से समन्वित होंने चाहिये । ये कलश सोना, चाँदी, ताँबा या मिट्टी के बने हों किन्तु सुन्दर अकालमूल (= अलग से पेंदी या गोड़ा नहीं जुड़ा) होने चाहिये । सुन्दर लक्षणों से युक्त ये प्रशस्त आकार के हों । उनके बीच में लोकपालों का क्रमिक पूजन करे ॥ १०४-१०६ ॥

अकालमूल = जिनका काल मूल = अधः स्थान नहीं है वे । पूजाकर = ॐकार लोकपाल का चतुर्थ्यन्त नाम फिर नमः का उच्चारण कर पूजा करे ॥ १०६ ॥

तत्पश्चात् उनको (= लोकपालों को)—शिव की आज्ञा देनी चाहिये कि हे लोकपालों इस उत्तम साध्य की रक्षा करो ॥ १०७- ॥

'उत्तमम्' कहने का संकेतार्थ यह है कि यह विधि अनुत्तम साध्य के विषय में नहीं लगनी चाहिये ॥

इसके बाद—

प्रातः, मध्याह्न, सायं एवं अर्धरात्रि के समय (इस यन्त्र की) पूजा करनी चाहिये ॥ -१०७ ॥

यस्य नाम्ना एवं कृतम्, असौ—

सप्तरात्रे व्यतिक्रान्ते मृत्युजिद् भवते नरः ।
सर्वव्याधिविनिष्क्रान्तः सर्वदोषविवर्जितः ॥ १०८ ॥
सर्वरोगैर्विमुच्येत ज्वरैः सर्वैर्न संशयः ।
सर्वदुःखविनिर्मुक्त ईतिभिः परिवर्जितः ॥ १०९ ॥
तिष्ठेच्च स नरो भूयो यथाहिर्मुक्तकञ्चुकः ।

व्याधय उदराद्याः । रोगाः पिटकाद्याः ॥

किं च, एतच्चक्रार्चायाम्—

यदि नान्यमना देवि साधकस्तत्परायणः ॥ ११० ॥
जपहोमरतः शान्तस्तस्मिन् स्थाने तु तिष्ठति ।
सत्त्ववान् वीर्यसंपन्नो दयादाक्षिण्यसंयुतः ॥ १११ ॥
सप्तरात्रे व्यतिक्रान्ते मृतांश्चैवानयेद् बलात् ।

मृतानपि प्रत्युज्जीवयेत् । वीर्यसंपन्नो मन्त्रवीर्यज्ञः साधक इति मन्त्रसिद्ध आचार्यो वा ॥

एवंविधश्च—

जिसके नाम से यह अनुष्ठान किया जाता है वह—

आदमी सात रात्रि बीतने के बाद मृत्यु को जीत लेता है । समस्त व्याधियों से रहित, समस्त दोषों से हीन यह मनुष्य सब प्रकार के रोगों से, सब प्रकार के ज्वरों से मुक्त हो जाता है इसमें सन्देह नहीं । समस्त दु:खों से मुक्त, ईतियों से रहित वह व्यक्ति इस संसार में उसी तरह रहता है जैसे केंचुल से मुक्त सर्प ॥ १०८-११०- ॥

व्याधियाँ = उदररोग आदि । रोग = फोड़े फुंसी आदि ॥

इसके अतिरिक्त इस चक्रपूजा में—

हे देवि ! यदि साधक एकाग्रचित्त और तत्परायण होकर जप, होम में लगा हुआ शान्त सत्त्ववान् वीर्यसम्पन्न दयादाक्षिण्य से संयुक्त हुआ, उस स्थान (= यज्ञमण्डप) में रहता है तो सात रात्रि के व्यतीत होने पर हठात् मृत को भी जीवित कर सकता है ॥ -११०-११२- ॥

मृतांश्चैवानयेत् = मरे हुये लोगों को पुनः जीवित कर देता है । वीर्यसम्पन्न = मन्त्र की शक्ति को जानने वाला साधक अथवा मन्त्रसिद्ध आचार्य ॥

इस प्रकार के (आचार्य की)—

गोभूहिरण्यवस्त्राद्यैः केयूरकटकादिभिः ॥ ११२ ॥
पूज्यौऽसौ परया भक्त्या शान्तिपुष्ट्या विशेषतः ।
यस्मान्मन्त्रमयो वै स शिवः साक्षात्तु दैशिकः ॥ ११३ ॥
तेन पूजितमात्रेण सर्वे सिद्धिफलप्रदाः ।
भवन्त्यवितथं भद्रे................

मन्त्रमय इति पूर्वोक्तयुक्त्या शिवावेशमयत्वात् । सर्वे इति चक्रपूजिता मन्त्राः ॥

अत्र च मायाप्रमातृसुलभः संशयस्त्याज्य इत्यन्वयव्यतिरेकोक्तिभ्यामाह—

..................सत्यं मे नानृतं वचः ॥ ११४ ॥

यदि तु न गुर्वर्चाक्रियते, तदा एवं भवतीत्याह—

अन्यथा सिद्धिहानिः स्यात् कृतं चैव निरर्थकम् ।
आचार्यस्यापि साध्यस्य कृत्या स्थितिविनाशिनी ॥ ११५ ॥

आसतां समयिपुत्रकसाधकाः, आचार्यस्यापि साध्यस्य कृत्या दृष्टिस्थिति-विनाशिनी राक्षसी उत्तिष्ठत्येव, गुर्वनर्चनादित्यर्थः ॥ ११५ ॥

गोदान, भूमिदान, स्वर्ण, वस्त्र, केयूर, कटक आदि से परम भक्तिपूर्वक विशेष कर शान्ति और पुष्टि के द्वारा पूजा करनी चाहिये । क्योंकि वह दैशिक (= आचार्य) मन्त्रमय होने के कारण साक्षात् शिव है । हे भद्रे ! उसके पूजित होने से सभी (मन्त्र और देवता) निश्चित रूप से सिद्धिप्रद होते हैं ॥ -११२-११४- ॥

मन्त्रमय = पूर्वोक्त युक्ति से शिवावेशमय होने के कारण । सब = चक्रपूजित मन्त्र ॥

इस (आचार्य के) विषय में मायाप्रमातृसुलभ संशय का परित्याग कर देना चाहिये—इसको अन्वयोक्ति एवं व्यतिरेकोक्ति से कहते हैं—

मेरा यह वचन सत्य है (अन्वयोक्ति) असत्य नहीं (व्यतिरेकोक्ति) ॥ -११४ ॥

यदि गुरुपूजा नहीं की जाती तब ऐसा होता है—यह कहते हैं—

अन्यथा सिद्धि की हानि होती है और सब किया कराया व्यर्थ हो जाता है । यहाँ तक कि यदि आचार्य भी साध्य हो तो स्थिति को नष्ट करने वाली कृत्या उत्पन्न हो जाती है ॥ ११५ ॥

समयी पुत्रक साधक की बात क्या आचार्य भी यदि साध्य हैं तो उसकी भी कृत्या = दृष्टिस्थितिविनाशिनी राक्षसी गुरु की पूजा न करने से उत्पन्न हो जाती

यत एवम्—

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मन्त्रवित् पूजयेद् गुरुम् ।

इत्थं हि तस्य—

भवन्ति पूजिता मन्त्राः सर्वसिद्धिफलप्रदाः ॥ ११६ ॥

तत्त्वज्ञगुरुपूजा साधयत्यभीष्टमिति शिवम् ॥ ११६ ॥

कर्मातिदुर्घटमपि यत्समावेशतो भृशम् ।
कुर्वते गुरुमन्त्राद्यास्तन्नेत्रं शाङ्करं श्रये ॥

**॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-
नेत्रोद्योते षोडशोऽधिकारः ॥ १६ ॥**

है ॥ ११५ ॥

चूँकि ऐसा है—

इसलिये सब प्रयत्न से मन्त्रवेत्ता गुरु की पूजा करनी चाहिये ॥

इस प्रकार उसके लिये-

पूजित मन्त्र सर्वसिद्धिप्रद होते हैं ॥ ११६ ॥

**इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के
षोडश अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती
नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १६ ॥**

तत्त्वज्ञ गुरु की पूजा अभीष्ट की सिद्धि कराती ही है ॥ ११६ ॥

जिसके समावेश से गुरु मन्त्र आदि अत्यन्त दुर्घट कर्म को भी (सरलता से) करते हैं उस शाङ्कर नेत्र की शरण में मैं जाता हूँ ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के षोडश अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १६ ॥
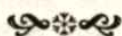
सप्तदशोऽधिकारः

*** नेत्रोद्योतः ***

विचित्रचित्रविस्फूर्जन्निजज्योतिःसुधाभरैः ।
मृत्युजिज्जयति श्रीमन्नेत्रमैशं भयापनुत् ॥

कारुणिकत्वाच्चक्रान्तराण्यपि रक्षार्थं प्रतिपादयितुं श्रीभगवानुवाच—

अथातः संप्रवक्ष्यामि चक्रराजं महाबलम् ।

अथेति पूर्वाधिकारोक्तप्रमेयानन्तरम् । अत इति यतो बहुरनुग्राह्यो जनस्ततः कस्यचित् कथंचिदनुग्रहो भविष्यतीत्याशयेन ॥

तत्र—

*** ज्ञानवती ***

लेखेन मन्त्रराजस्य पूजया यस्य चाप्यते ।
सर्वरक्षाऽभयं पुष्टिः तस्मै शंचक्षुषे नमः ॥

अपनी ज्यातिरूपी सुधाभार के द्वारा अद्भुत एवं अनेक रूपों में स्फुरण करने वाला, भयहारी एवं मृत्युञ्जय श्रीमान् शाङ्कर नेत्र सर्वोत्कृष्ट है ।

कारुणिक होने के कारण रक्षा के लिये दूसरे चक्रों का प्रतिपादन करने के लिये भी भगवान् ने कहा—

अब इसके बाद महाबलशाली चक्रराज का वर्णन करुँगा ॥ १- ॥

अब = पूर्व अधिकार में उक्त प्रमेय के बाद । अतः = बहुत से लोग अनुग्राह्य हैं उनमे से किसी के ऊपर किसी प्रकार अनुग्रह हो जाय इस आशय से ॥

उनमें—

पूर्ववन्मध्यतो नाम जीवान्तः कल्पयेत् सुधीः॥ १ ॥
प्राणस्यान्तस्ततः कृत्वा वर्णान्तान्तर्व्यवस्थितम् ।
अन्तिमं तु ततो बाह्ये तद्बाह्ये मध्यमं न्यसेत् ॥ २ ॥
प्रथमं तु ततो बाह्यो कर्णिकायां तु विन्यसेत् ।
केसरेषु स्वराः पूज्या दलेष्वङ्गानि पूर्ववत् ॥ ३ ॥
बाह्ये कलशमालिख्य कमलोभयमध्यगम् ।
पूजयेत् पूर्वविधिना जपहोमार्चने रतः ॥ ४ ॥
साधयत्यचिरेणैव चिन्तितं नात्र संशयः ।

पूर्ववदिति साध्यार्णसंपुटितमुपरिलिखितमन्त्रराजं च नाम द्वितीयान्तं पूर्ववत् ।

'रक्षापदसमायुक्तम् ।' (१७।११)

इत्यग्रेऽभिधास्यमानत्वाद् रक्षेत्येतद्युक्तं जीवस्य सकारस्य अन्तःकृतं प्राणस्य हस्य अन्तः क्षित्वा (कृत्वा) वर्णान्तस्य क्षस्य अन्तः कुर्यात् । ततोऽस्य बाह्येऽन्तिमं क्षकारम्, तद्बाह्ये मध्यमं हकारम्, तद्बाह्ये प्रथमं सकारं लिखित्वा एतत् कर्णिकायां विन्यस्येत् । केसरेषु पूर्वादिक्रमेण स्वरान् दलेष्वङ्गानि हृदयादीनि । पूर्ववदिति आग्नेऽयादिक्रमेण । ईदृशस्य कमलस्य बाह्ये कलशं

विद्वान् पहले की भाँति मध्य में साध्य का नाम फिर उसके बाहर जीव (= सकार) लिखे । उसके बाहर प्राण (= हकार) लिखकर उसमें बाहर वर्णान्त (= क्षकार) लिखे । उसके बाहर अन्तिम (= क्षकार), उसके बाहर मध्यम (= हकार) उसके बाहर प्रथम (= सकार) लिखकर इसका कर्णिका में उल्लेख करना चाहिये । केसरों में स्वरों की और दलों में अङ्गों की पूर्ववत् पूजा करनी चाहिये । बाहर दो कमलों के मध्य कलश को बनाकर पूर्व विधि के अनुसार पूजा करे । इस प्रकार जप होम एवं पूजन में लगा हुआ साधक शीघ्र ही चिन्तित (लक्ष्य) को प्राप्त कर लेता है—इसमें संशय नहीं है ॥ -१-५- ॥

पूर्व की भाँति = साध्य के नामाक्षरों से सम्पुटित उपर्युक्त मन्त्रराज को लिखे । इसमें साध्य का नाम द्वितीया विभक्ति से युक्त होना चाहिये ।

'रक्षापद से युक्त ।' (१७.११)

ऐसा आगे कहे जाने के कारण (साधक के द्वितीयान्त नाम को 'रक्ष' के साथ लिखे (जैसे देवदत्तं रक्ष)। इसे जीव = सकार के अन्दर रखे । फिर उस 'स' को प्राण = हकार के भीतर करे । फिर इस हकार को क्षकार के भीतर रखें । फिर इसके बाहर अन्तिम = क्षकार को, उसके बाहर मध्यम हकार को उसके बाहर सकार को लिखकर कर्णिका में इसका न्यास करे । केसरों में पूर्व आदि के क्रम से स्वरों का, दलों में हृदय आदि अङ्गों का न्यास करे । पूर्व की भाँति = आग्नेय

लिखेत्, तच्च ऊर्ध्वाधःकमलमध्यगं कृत्वा साङ्गमूलमन्त्रार्चाजपहोमरतोऽभीष्टं क्षिप्रं साधयति । अत्र च नमःशब्दान्तो मन्त्रः पूजाजपयोः, होमे तु स्वाहान्त इति पूर्ववच्छब्दार्थः ॥

किं च इदम्—

सर्वशान्तिप्रदं चक्रं पुष्टिसौभाग्यदायकम् ॥ ५ ॥
आयुर्वीर्यप्रदं चैव ज्वररोगविनाशनम् ।
परराष्ट्रविभीतानां नृपाणां विजयावहम् ॥ ६ ॥
राजस्त्रीणां तत्सुतानां विप्रादीनां च सर्वशः ।
रक्षा ह्येषा प्रकर्तव्या सर्वोपद्रवनाशिनी ॥ ७ ॥

स्पष्टम् ॥ ७ ॥

पङ्क्त्या चैव लिखेन्नाम त्वक्षरान्तरितं प्रिये ।
आद्यन्ते मूलमन्त्रं तु वौषड्जातियुतं न्यसेत् ॥ ८ ॥
पूर्ववत् पूजयेद् भूरियागेनैव सितैः शुभैः ।
तत्क्षणान्मुच्यते रोगैराघ्रातो यदि मृत्युना ॥ ९ ॥

देवदत्तादिनाम, अक्षरान्तरितमिति प्रतिवर्णान्तरालं न्यस्तमूलमन्त्रं लिखित्वा,

---

आदि के क्रम से । इस प्रकार के कमल के बाहर कलश बनाये। इस कलश के ऊपर एवं नीचे दो कमल बनाकर अङ्ग, मूलमन्त्र पूजा जप होम में लगा हुआ साधक अभीष्ट को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है । पूजा एवं जप में मन्त्र के अन्त में 'नमः' तथा होम करते समय मन्त्र के अन्त में 'स्वाहा' जोड़ना चाहिये—यह 'पूर्ववत्' शब्द का अर्थ है ॥

यह चक्र

सर्वशान्तिप्रद, पुष्टिसौभाग्यदायक, आयुष्ट्ववीर्यप्रद, ज्वर एवं अन्य रोगों का नाशक, पर राष्ट्र से भीत राजाओं को विजय दिलाने वाला है । यह सर्वोपद्रवनाशक चक्र राजस्त्रियों उनके बच्चों एवं ब्राह्मणों की रक्षा करता है। इसलिये समस्त उपद्रवों का नाश करने वाली इस रक्षा विधि को करना चाहिये ॥ -५-७ ॥

हे प्रिये ! अक्षरों (= क्ष ह स) से अन्तरित (= उनके बीच में) पङ्क्ति के साथ (साध्य का) नाम लिखना चाहिये । उनके आदि और अन्त में वौषट् से युक्त मूलमन्त्र को लिखे । पूर्व की भाँति शुभ श्वेत वस्तुओं से वृहद् रूप से उसकी पूजा करे । यदि मृत्यु से भी आघ्रात (= मृत्यु के निकट पहुँचा हुआ) है तो भी एवं रोगों से तत्क्षण मुक्ति को प्राप्त करता है ॥ ८-९ ॥

आद्यन्तयोर्वौषड्जातियुतं मूलमन्त्रमनुलोमप्रतिलोमाभ्यां न्यस्य, सितकुसुमादिभिर्यो भूरियाग:, तेन पूर्ववत् पूजयेदित्यैकाग्र्येण पूजाजपहोमादिभिराराधयेत् ॥ ९ ॥

वौषड्जातियुतं मन्त्रं दिक्ष्वष्टासु लिखेत् सिते ।
भूर्जवल्कलके रम्ये मध्ये नाम तु पूर्ववत् ॥ १० ॥
रक्षापदसमायुक्तं तद्बाह्ये शशिमण्डलम् ।
मन्त्रान्त्यवर्णममृतं कलाषोडशसंस्थितम् ॥ ११ ॥
ताभिर्मण्डलमापूर्य बाह्ये तु कलशं न्यसेत् ।
तद्बाह्ये चन्द्रसूर्यौ तु पुरन्दरपुरस्थितौ ॥ १२ ॥
रोचनाकुङ्कुमेनैव क्षीरशर्करया लिखेत् ।

दिक्ष्विति पद्मदलात्मसु, मध्य इति कर्णिकायाम्, पूर्ववदिति प्रथमप्रयोगवत् साध्यार्णसंपुटीकृतम्, तद्बाह्ये कर्णिकान्ते, शशिमण्डलं ठकारम्, मन्त्रस्य च यदन्त्यवर्णं सकार:, अमृतमिति उक्तवक्ष्यमाणपरामृतव्याप्तिकम्, कलासु आदि-विसर्गान्तासु षोडशसु स्थितं तत्संभिन्नम्, ताभि: सकारश्लिष्टाभि: कलाभि:, मण्डलमिति चान्द्रं ठकारम्, बाह्य इत्येतत्कमलं कलशोदरे लिखेदित्यर्थ: ।

देवदत्त आदि नाम को, अक्षरान्तरित = एक-एक वर्ण के बीच में न्यस्त मूलमन्त्र को लिखकर आदि और अन्त में वौषट् जाति से युक्त मूलमन्त्र का अनुलोम प्रतिलोम न्यास कर श्वेत पुष्प आदि से जो वृहद् याग उसके द्वारा पूर्व की भाँति पूजा करे = एकाग्रचित्त होकर पूजा जप होम आदि से उसकी आराधना करे ॥ ९ ॥

श्वेतरंग के भोजपत्र पर (अष्टदल कमल बनाकर उसकी) आठों दिशाओं में वौषट् से युक्त मन्त्र लिखे । कर्णिका में पूर्व की भाँति (साध्य का) नाम लिखे । उसके साथ रक्षापद जुड़ा रहना चाहिये (जैसे—देवदत्तं रक्ष) । उसके बाहर शशिमण्डल (ठकार) बनाये । मन्त्र के अन्तिम अमृतवर्ण को सोलह कलाओं में स्थित करे । उनके द्वारा मण्डल को पूरित कर उसके बाहर कलश बनाये । उसके बाहर चन्द्रमा और सूर्य को पुरन्दरपुर (= इन्द्रपुर) में स्थित करे । इन सबका लेखन गोरोचन कुङ्कुम दूध और शक्कर से करना चाहिये ॥ १०-१३- ॥

दिशाओं में = पद्मदल रूप में, मध्य में = कर्णिका में, पूर्व की भाँति = प्रथम प्रयोग की भाँति साध्य (व्यक्ति) के वर्ण से सम्पुटित । उसके बाहर = कर्णिका के छोर पर । शशिमण्डल = ठकार । मन्त्र का जो अन्तिम वर्ण = सकार । अमृत = उक्त एवं वक्ष्यमाण परअमृत व्याप्ति वाला । कलाओं में = अ से लेकर विसर्ग तक सोलह कलाओं में, स्थित = उनसे सम्भिन्न । उनसे = सकार से संश्लिष्ट कलाओं से । मण्डल = चान्द्र ठकार (= ठँ)। बाहर = इस कमल

कलशबाह्ये चन्द्रसूर्यौ ठडौ पुरन्दरपुरे चतुरश्रे वज्रलाञ्छितसंनिवेशेन स्थितौ कुर्यात् । एतत् शान्तौ, पूर्वोपद्रवनाशिनी, पुनरस्यैवोपरि क्षीरपूर्णममृतं स्रवन्तं कलशं ध्यायेदिति पुष्टिः ॥

पूजयित्वा विधानेन पूर्ववच्छान्त्यवस्थितः ॥ १३ ॥

शान्तिकर्मण्यवस्थितो गुरुः सावधानः स्यादित्यर्थः ॥ १३ ॥

एषा च—

राजरक्षा तु वै प्रोक्ता सर्वोपद्रवनाशिनी ।

अस्यां तु क्रियमाणायामयं विशेषो यत्—

राजरक्षाविधानेन होमयेत् क्षीरसंयुतान् ॥ १४ ॥
सितशर्करया युक्तान् सुगन्धीन् घृतमिश्रितान् ।
क्षीरवृक्षेन्धने वह्नौ तिलान् शान्तिं लभेत सः ॥ १५ ॥

राजरक्षाविधानेनेति तेन प्रयोजनेन बुद्धिस्थेन हेतुना । स इति राजा ॥ १५॥

किं च—

को कलश के उदर में लिखना चाहिये । कलश के बाहर चन्द्र एवं सूर्य = ठ और ड को लिखे । पुरन्दरपुर = चौकोर में ठ ड को वज्र से लाञ्छित बनाना चाहिये । यह भावी शान्ति कर्म से पूर्व संभावित उपद्रव का नाश करने वाली रक्षा है । इसी के ऊपर दूध से पूर्ण अमृत गिराते हुए कलश का ध्यान करना पुष्टि है ॥

(इस प्रकार आचार्य) पूर्व की भाँति विधिपूर्वक पूजा कर शान्तिकर्म में स्थित रहे ॥ -१३ ॥

शान्तिकर्म में स्थित गुरु सावधान रहे—यह अर्थ है ॥ १३ ॥

और फिर,

समस्त उपद्रवों का नाश करने वाली यह राजरक्षा कही गयी ॥ १४-॥

इसके किये जाने में यह विशेष है कि—

राजरक्षाविधान के साथ क्षीरवृक्ष के इन्धन वाली अग्नि में दूध, मिश्री, घी, सुगन्धित द्रव्य से मिश्रित तिलों का हवन कर वह (साध्य) शान्ति को प्राप्त करता है ॥ -१४-१५ ॥

राजरक्षाविधान से = बुद्धिस्थ इस प्रयोजन से । वह = राजा ॥ १४-१५ ॥

और फिर,

यदा मृत्युवशाघ्रातः कालेन कलितो नरः ।
दृष्ट्वा तं पूर्ववद्यागो मण्डले तु यथोदिते ॥ १६ ॥
क्रियते द्रव्यसंभारसंभृतो मृत्युनाशनः ।

अस्यैव कलशोदरस्य, उक्तस्थित्या न्यस्तमन्त्रनाथस्य, मृत्युनाशनाख्यत्वात् ॥

पूजिते च अस्मिन्—

मृत्योरुत्तरते शीघ्रं मन्त्रस्यास्य प्रभावतः ॥ १७ ॥
तदेव भूर्जपत्रे तु सितशर्करया सह ।
क्षीरेण रोचनायुक्तं कुङ्कुमेन युतं लिखेत् ॥ १८ ॥
रुक्मकुम्भे तु मध्वक्तं स्थापयेत् सुगोपितम् ।
तदूर्ध्वतो द्वितीयं तु क्षीरपूर्णं सुशोभनम् ॥ १९ ॥
स्रवन्तममृतं ध्यात्वा स्थापयेत् पुष्टिकामतः ।

तदेवेति तदेव कलशोदरे चक्रम् । एवं च वदन् समनन्तरयाग एवैतद्विषय इति बोधयति । क्षीरेणेत्यादि वदन् पूर्वोक्तस्य यागस्य शालिचूर्णसंपाद्यत्वमादिशति । मध्वक्तमिति मधूच्छिष्टवलितम् । अमृतमिति क्षीररूपमेव स्रवन्तं धारणाक्रमेणाधःस्थकलशान्तर्मुञ्चन्तम् ॥

तथा—जब मनुष्य मृत्यु से आघ्रात एवं काल से ग्रस्त हो जाय तो उसे (वैसा ग्रस्त) देखकर यथोक्त मण्डल में द्रव्यसम्भार से पूर्ण मृत्युनाशक याग करना चाहिये ॥ १६-१७- ॥

(उक्त मण्डल) इसी कलश के उदर में स्थित रहता है । पूर्वोक्त स्थिति के अनुसार न्यस्तमन्त्रनाथ का नाम मृत्युनाशन है ॥

इसे पूजित होने पर—

(साध्य व्यक्ति) इस मन्त्र के प्रभाव से शीघ्र मृत्यु को पार कर जाता है । इसी (मन्त्रचक्र) को मिश्री, दूध, गोरोचन और कुङ्कुम से लिखे फिर मधु से लपेट कर स्वर्णपात्र में भली भाँति सुरक्षित रख दे । उस (घट) के ऊपर दूसरा सुन्दर घट दूध से भर कर रखे और यह ध्यान करें कि यह (नीचे वाले घट में) अमृत टपका रहा है, तो पुष्टि मिलती है ॥१७-२०-॥

उसी को = कलश के उदर में उसी चक्र को । ऐसा कहते हुए लेखक यह बतलाते हैं कि इसका विषय समनन्तर याग है । क्षीर के द्वारा—इत्यादि कहते हुए यह बतलाते हैं कि पूर्वोक्त याग शालिचूर्ण (= साठी के चावल के चूर्ण) से सम्पाद्य है । मध्वक्त = मधु से लपेटा गया । अमृत को = दूध के रूप में धारणा के क्रम से नीचे वाले कलश में अमृत गिराते हुए ॥

यस्य नाम्ना एवं क्रियते, असौ—

सप्तरात्रप्रयोगेण मृत्युजिद् भवते नरः ॥ २० ॥

तथा—

क्षीणकायो भवेत् पूर्णः पक्षान्ते तु यथा शशी ।
न मृत्योर्वशगः सो वै सत्यं मे नानृतं वचः ॥ २१ ॥
साध्यार्णरोधितं नाम रक्षापदसमन्वितम् ।
मध्ये संपूजयेत् साध्यं पूर्ववच्चामृतीकुरु ॥ २२ ॥

साध्यमिति नामद्वारेण भावितम् पूर्ववदमृतीकरणं दलाष्टके प्राग्वद् वौषडन्त-मन्त्रराजकृताप्यायनम् ॥ २२ ॥

एवं भूतं च—

तदात्मना तु संवेष्ट्य वारुणेन तु वै पुनः ।
कलाशेषेण तद्बाह्ये संपूर्णेन तु वेष्टयेत् ॥ २३ ॥

आत्मना पुरुषवाचिना मकारेण, ततो वारुणेन वकारेण, ततः कलाशेषेण टकारेण, ततः संपूर्णेनेति ठकारेण वेष्टयेत् । कलशेनेत्यपपाठः ॥ २३ ॥

जिसके नाम से यह याग किया जाता है, वह—

मनुष्य सात रात्रि के अनुष्ठान से मृत्युजित् हो जाता है ॥ -२० ॥

तथा—

जिस प्रकार शुक्लपक्ष के अन्त में चन्द्रमा उसी प्रकार (सात रात्रि के प्रयोग से) क्षीणकाय व्यक्ति पूर्णकाय हो जाता है । वह मृत्यु के वश में नहीं जाता—यह मेरा वचन सत्य है, असत्य नहीं । वर्णों के द्वारा साध्य के नाम को सम्पुटित कर 'रक्ष' पद से युक्त करना चाहिये । मध्य में साध्य (= के नाम) की पूजा करे और पूर्व की भाँति ('साध्य को अमृत करने'—ऐसी भावना करते हुए) अमृतीकरण करना चाहिये ॥ २१-२२ ॥

साध्य को = नाम के द्वारा भावित साध्य को । पूर्व की भँति अमृतीकरण = कमल के आठों दलों में पूर्व की भाँति वौषट् अन्त वाले मन्त्रराज के द्वारा आप्यायन करना ॥ २२ ॥

इस प्रकार—

उस (सम्पुटित एवं अमृतीकृत साध्य नाम) को आत्मा एवं उसके बाद वारुण, फिर कलाशेष तत्पश्चात् सम्पूर्ण से वेष्टित करना चाहिये ॥ २३ ॥

आत्मा से = पुरुषवाची मकार से । वारुण से = वकार से । कलाशेष के

अनन्तरम्—

पुरन्दरं ततो बाह्ये द्विश्चतुर्दिक्षु गोचरे ।
तन्मण्डलं तु योज्येत वज्रमण्डलमध्यगम् ॥ २४ ॥

पुरन्दरं चतुरश्रं तन्मण्डलम्, द्वि द्वौ वारौ । चतुर्दिक्ष्विति चतुरश्रोपरि चतुरश्रं तथा न्यस्येद् यथा अष्टारः संनिवेशो भवति । तच्च अष्टाश्रि मण्डलं वज्रमण्डलमध्यगमिति वज्रेण चतुरश्रं मण्डलं कृत्वा तन्मध्ये न्यस्येत् ॥ १४ ॥

एतच्च यस्य नाम्ना क्रियते, असौ—

रक्षितश्चामृतेशेन........

चकारादमृतीकृतः ॥

ईदृशस्य च साध्यस्य—

.........न तस्य भयदाः क्वचित् ।
भवन्ति योगिनीभूतयक्षराक्षसहिंसकाः ॥ २५ ॥

द्वारा = टकार के द्वारा । इसके बाद सम्पूर्ण = ठकार से वेष्टित करे । (सम्पूर्णेन के स्थान पर) कलशेन पाठ अशुद्ध है ॥ २३ ॥

बाद में—

उसके बाहर पुरन्दर को चारो दिशाओं में दो बार बनाना चाहिये । उस मण्डल को वज्रमण्डल के मध्य में रखना चाहिये ॥ २४ ॥

पुरन्दर = चौकोर मण्डल । द्विः = दो बार । चारो दिशाओं में = उस चौकोर के ऊपर चौकोर को इस प्रकार रखे कि आठकोण बन जाये । जैसे—
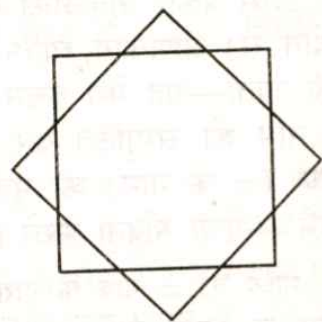
उस अष्टकोण मण्डल को वज्र मण्डल के मध्य में बनाये अर्थात् वज्र के द्वारा चौकोर मण्डल बनाकर उसके बीच में रखे ॥ २४ ॥

जिसके नाम से यह सब किया जाता है वह—

अमृतेश के द्वारा रक्षित ॥ २५- ॥

एवं अमृत बना दिया जाता है ।

इस प्रकार के साध्य को—

योगिनी भूत यक्ष राक्षस और अन्य हिंस्र जन्तु कभी भयभीत नहीं करते ॥ -२५ ॥

प्रयोगान्तरमाह—

कुम्भान्तस्तु लिखेन्नाम तत्स्थाप्यं कमलोपरि ।
अधोमुखं तु तत्पृष्ठे कमलं पूर्ववल्लिखेत् ॥ २६ ॥
तत्कर्णिकास्थं विलिखेदधोवक्त्रप्रयोगतः ।
स्रवन्तममृतं ध्यायेत् संपूर्णं सर्वतोमुखम् ॥ २७ ॥
अमृतेशं करन्ध्रेण प्रविष्टं तस्य भावयेत् ।
हृदये तत्प्रविष्टं तु सर्वनाडीः प्रपूरयेत् ॥ २८ ॥

कुम्भान्तः कमलकर्णिकोपरि साध्यनाम लिखेत् । पूर्ववदिति कलशस्य उपरि । तदिति ऊर्ध्वकमलकर्णिकास्थममृतेशमन्त्रमधोमुखं लिखित्वाधोमुखबिन्दुगत्याऽमृतं स्रवन्तं ध्यायेत् । तच्चामृतं साध्यस्य नामस्थानध्यातस्य करन्ध्रेण हृत्प्रविष्टं सर्वनाडीः प्रपूरयेत् ध्यायेत् ।

तस्य च—

तत्क्षणाज्जायते पुष्टिः क्षीणकायोऽपि यो नरः ।

अन्यदप्याह—

पङ्क्त्या तु विलिखेन्मन्त्रं प्रत्येकं वर्णमध्यगम् ॥ २९ ॥

दूसरा प्रयोग बतलाते हैं—

घट के भीतर (साध्य का) नाम लिखे । उसको (अष्टदल) कमल के ऊपर अधोमुख (= उल्टा) रखे । उस (= घट) की पीठ पर पूर्व की भाँति कमल बनाये । उस कमल की कर्णिका में (अमृतेश का मन्त्र) अधोमुख लिखे । और यह ध्यान करे कि यह कलश सब ओर से सम्पूर्ण अमृत का क्षरण कर रहा है । फिर यह ध्यान करे कि अमृतेश (साध्य के) करन्ध्र (= शरीर के छिद्रों) से उसके हृदय में प्रविष्ट होकर (उस साध्य की) सभी नाड़ियों को पूरित कर रहा है ॥ २६-२८ ॥

कुम्भ के भीतर बनाये गये कमल की कर्णिका के ऊपर साध्य का नाम लिखे। पूर्व की भाँति = कलश के ऊपर । ऊर्ध्वकमल की कर्णिका में स्थित अमृतेश मन्त्र को अधोमुख लिखकर अधोमुखबिन्दु की गति से अमृत को गिरता हुए ध्यान करे । फिर यह ध्यान करे कि यह अमृत साध्य = नामस्थान में ध्यात, के हृदय में उसके शरीर के छिद्रों से प्रविष्ट होकर सभी नाड़ियों को पूरित कर रहा है ॥

जो आदमी क्षीणकाय है उसकी भी तत्क्षणात् पुष्टि हो जाती है ॥ २९- ॥

दूसरा प्रयोग भी बतलाते हैं—

नाम साध्यस्य वै लेख्यं.........

वर्णमध्यगमित्येकैकमन्त्रान्तरान्तर्लिखितम् तस्य बहिर्निवेशः ।

...........दिग्विदिङ्मृत्युजिल्लिखेत् ।
पूर्ववत् पद्ममालिख्य षडङ्गं पूर्ववत् प्रिये ॥ ३० ॥
संयोज्य पूजयेच्छक्त्या यथाविभवविस्तरैः ।
सर्वश्वेतोपचारेण सर्वदुःखनिबर्हणः ॥ ३१ ॥
भवते मन्त्रमुख्यस्तु नात्र कार्या विचारणा ।

कमलं लिखित्वा तद्दलेषु मृत्युजिन्नाथं पूर्ववदिति वौषडन्तम्, तद्बहिरपि कमलं लिखित्वा पूर्वोक्तं षडङ्गं प्राग्वद् दलेषु संयोज्य चक्रमेतत् पूजयेत् । पद्ममालिख्येति काकाक्षिवत् । नात्र कार्या विचारणेत्यनेन पूर्ववद् निःसंशयस्यैवैतद् फलतीत्यादिशतीति शिवम् ।

पंक्ति में अमृतेशमन्त्र को लिखे । प्रत्येक वर्ण के मध्य में साध्य का नाम लिखे ॥ -२९-३०- ॥

वर्ण का मध्यगामी = एक-एक मन्त्र के भीतर लिखा गया । उसका बाहर निवेश होता है ॥

दिशाओं विदिशाओं में मृत्युञ्जय मन्त्र को लिखे । हे प्रिये ! पूर्व की भाँति कमल बनाकर उसको छह अंगों (शिर, मुख, आँखों, बाहों, हृदय और पैर) से युक्त कर यथाशक्ति विभव विस्तार के साथ उसका पूजन करे। समस्त पूजन सामग्री श्वेत वर्ण की होनी चाहिये । यह मुख्यमन्त्र समस्त दुःखों का नाश करने वाला है । इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये ॥ -३०-३१ ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के सप्तदश अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १७ ॥

कमल को बनाकर उसके दलों पर मृत्युञ्जयनाथ को लिखे । पूर्ववत् = अन्त में 'वौषट्' जोड़े । उसके बाहर भी कमल बना कर पूर्व की भाँति पूर्वोक्त षडङ्ग को दलों में जोड़कर इस चक्र की पूजा करे । 'पद्ममालिख्य' इसे काकाक्षिन्यायेन दोनों ओर (= दिग् विदिक् = पूर्व आदि चारो दिशाये, आग्नेयी आदि कोण तथा षडङ्ग के साथ) जोड़ना चाहिये । इसमें विचार नहीं करना चाहिये इस कथन से पूर्व की भाँति संशयरहित साधक को ही यह फल देता है । (यह समझना चाहिये) ॥

क्रीडाकल्पितसंस्थानकृतसंनिधिशाङ्करम् ।
श्रीमन्नेत्रं नुमः सर्वरक्षाकरमनर्गलम् ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योते सप्तदशोऽधिकारः ॥ १७ ॥

क्रीडा से (अर्थात् अनायास) कल्पित संस्थान के द्वारा नैकट्य स्थापित करने वाले, सर्वरक्षाकारी और निरर्गल अर्थात् स्वतन्त्र शाङ्कर नेत्र को हम प्रणाम करते हैं ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के सप्तदश अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽधिकारः

* नेत्रोद्योतः *

संपूर्णभोगमौक्षैकस्फुरत्तात्मा महेशितुः ।
नेत्रलक्ष्मीः परा कापि जयत्यखिलतापनुत् ॥

पूर्वोक्तानुवादेनान्यदवतारयितुं श्रीदेवी उवाच—

भगवन् देवदेवेश सर्वसत्त्वहिते रतः ।
त्रायकस्त्वं सुरेशान सर्वानुग्रहकारक ॥ १ ॥
उक्ता त्वया महेशान व्याप्तिर्मन्त्रेषु चाध्वनः ।
आख्याहि मे जगन्नाथ यदि तुष्टोऽसि हे प्रभो ॥ २ ॥

---

* ज्ञानवती *

कृत्याखाखोंदकादेः प्रतिविधिमतुलं मन्त्रवादस्य तत्त्वं
मन्त्राणां सत्प्रयोगं ग्रथितसुपुटकादीन् समाभाष्य सम्यक् ।
श्रीयागस्यानुभावं परनिभृतियुतं वर्णयत् साधकेभ्यो
नित्यं ब्राह्म्यादिसेव्यं जयति विजयकृन्नेत्रमैशं सुपूज्यम् ॥

सम्पूर्णभोगमोक्ष की स्फुरणारूप, समस्त दुःखों को दूर करने वाली, परमेश्वर की कोई अद्‌भुत नेत्रलक्ष्मी सबसे बढ़कर है ।

पूर्वोक्त के अनुवाद के साथ अन्य प्रकरण का अवतरण करने के लिये श्रीदेवी ने कहा—

हे भगवन् ! देवदेवेश ! आप सब प्राणियों के हित साधन में लगे रहते हैं । हे सुरेश्वर ! हे सर्वानुग्रहकारक । आप (सबके) रक्षक हैं । हे महेश्वर ! आपने मन्त्रों में अध्वा की व्याप्ति को बतलाया । हे जगत् के

मन्त्राणां कीलनादौ तु योजनं सूचितं विभो ।
नाख्यातं देवदेवेन यथा सिध्यन्ति साधकाः ॥ ३ ॥
परप्रयुक्ता नश्यन्ति कृत्याखार्खोदकादयः ।

उक्तेत्यादिः प्रागुक्तानुवादः । सूचितमिति—

'कीलनं चैव मन्त्राणां भेदनं मोहनं तथा ।' (१६।३३)

इति षोडशाधिकारे । देवदेवेनेति त्वयैव । यथेति येन कीलनादियोजनेन साधकाः सिद्ध्यन्ति, परप्रयुक्ताश्च कृत्याखार्खोदकादयस्तेषां यथा नश्यन्ति । शत्रुनाशाय स्त्रीकलेवरप्रवेशिता वेताली कृत्या, मृत्यूच्चाटनादिकृत् यन्त्रं खार्खोदः, आदिशब्दात्, तत्कार्यकृताः प्रतिमाः । तदेतद् वस्तु आख्याहीति संबन्धः ॥

किं च—

प्रत्यङ्गिरा प्रयोगेण हन्ति दुष्टान्यनेकशः ॥ ४ ॥
यथा तथा महादेव ब्रूहि निःसंशयं मम ।

प्रतीपं गृणाति क्षुद्रसाधकं प्रत्येव क्षुद्रकर्मफलं संपाद्यत्वेन विमृशति या विद्या, सा प्रत्यङ्गिरेति भिन्नं पदम् । प्रयोगेण प्रयुक्त्या ॥

स्वामी ! सर्वसमर्थ ! यदि आप मुझसे सन्तुष्ट हैं तो मन्त्रों के कीलन आदि सम्बन्धी योजन तो आपने बतलाया किन्तु जिस प्रकार साधक लोग सिद्धि को प्राप्त करते हैं तथा दूसरों के द्वारा प्रयुक्त कृत्या, खार्खोदक आदि नष्ट होते हैं वह आपने नहीं बतलाया (कृपया इसे बतलाइये) ॥ १-४- ॥

उक्ता......... इत्यादि पूर्वोक्त विषयों का अनुवाद है । सूचित किया गया—

षोडश अधिकार में मन्त्रों का कीलन भेदन और मोहन कहा गया है ।

देवदेव के द्वारा = तुम्हारे द्वारा । जिस प्रकार = जिस कीलन आदि की योजना से साधक सिद्धि को प्राप्त करते हैं तथा दूसरों के द्वारा प्रयुक्त कृत्या खार्खोदक आदि नष्ट हो जाते हैं । शत्रु के नाश के लिये स्त्री के शरीर में प्रवेशित वेताली कृत्या कहलाती है । मृत्यु उच्चाटन आदि करने वाला यन्त्र खार्खोद कहलाता है । आदि शब्द से उस कार्य के लिये बनायी गयी प्रतिमायें । उसी बात को कहिये—यह सम्बन्ध है ॥

जिस प्रकार प्रत्यङ्गिरा विद्या प्रयोग के द्वारा अनेक दुष्टों को मार डालती है, हे महादेव ! निःसंशय रूप में उसको बतलाइये ॥ -४-५- ॥

जो प्रतीप निगरण करती है अर्थात् क्षुद्रसाधक के प्रति क्षुद्र कर्मफल को सम्पाद्य समझती है वह विद्या प्रत्यङ्गिरा है । प्रयोग से = प्रकृष्टयुक्ति के द्वारा ॥

एतत् निर्णेतुं श्रीभगवानुवाच—

वादानामेव सर्वेषां मन्त्रवादमिहोत्तमम् ॥ ५ ॥
ज्ञात्वा नियोजयेन्मन्त्री मन्त्रलिङ्गानि सुव्रते।

सर्वेषामेव धातुखनिवादादीनां मन्त्रमुखप्रेक्षिणां मध्यादुत्तमो यो मन्त्रवादस्तं मन्त्रा लिङ्ग्यन्ते चित्रीक्रियन्ते यैर्दीपनादिकारिकर्मभिस्तानि ज्ञात्वा शास्त्रतोऽधिगम्य मन्त्री तन्त्रतत्त्वविद् नियोजयेदवसरे प्रयुञ्जीत ॥

तमुद्दिशति—

दीपनं बोधनं चैव ताडनं चाभिषेचनम् ॥ ६ ॥
विमलीकरणं चैव तथेन्धननिवेशनम्।
संतर्पणं गुप्तिभाव आप्यायो नवमस्तथा ॥ ७ ॥
एवं नवप्रकारेण मन्त्रवादमशेषतः।
यो जानाति स जानाति मन्त्रसाधनसाधनम् ॥ ८ ॥

दीपनं मन्त्रस्य प्रणवेन । बोधनं नमःशब्देन । ताडनं फट्कारेण । अभिषेचनं वौषट्कारेण । विमलीकरणं स्वाहाशब्देन । इन्धननिवेशनं दाह्यपाश-विषादिदहने विनियोजनं हुंकारेण संपुटीकरणम् । तदुक्तं श्रीमदुच्छुष्मतन्त्रे—

'दीपने तु महाभाग प्रणवोभययोजनम्।
बोधने तु नमस्कारः स्वाहाकारोऽमले तथा ॥

इसको समझाने के लिये भगवान् ने कहा—

हे सुव्रते ! मन्त्रज्ञ आचार्य सभी वादों (= सिद्धान्तों) में मन्त्रवाद को उत्तम मानकर मन्त्रलिङ्गों का विनियोग करे ॥ -५-६- ॥

मन्त्रों के मुखापेक्षी समस्त धातुसिद्धान्त खनिसिद्धान्तों में उत्तम मन्त्रवाद (= मन्त्रसिद्धान्त) को (जानकर)। जिन दीपन आदि को करने वाले कर्मों के द्वारा मन्त्र लिङ्गित अर्थात् चित्रित किये जाते हैं उनको जानकर = शास्त्र के द्वारा समझ कर, मन्त्री = तन्त्रतत्त्व का ज्ञाता आचार्य, विनियोग करे = अवसर आने पर प्रयोग करे ॥

उस (= मन्त्रवाद) का नाम बतलाते हैं—

दीपन, बोधन, ताडन, अभिषेचन, विमलीकरण, इन्धननिवेशन, सन्तर्पण, गोपन, एवं आप्यायन इस तरह नव प्रकार से मन्त्रवाद को जो पूर्णरूप से जानता है वह मन्त्ररूपी साधनों की सिद्धि को जानता है ॥ -६-८ ॥

मन्त्र का दीपन प्रणव के द्वारा और बोधन 'नमः' शब्द के द्वारा होता है।

वौषडन्तर्गतं मन्त्रमभिषेके नियोजयेत् ।
फट्कारोभयसंयुक्तं ताडने विनियोजयेत्॥
आद्यन्तं चैव हुंकारमिन्धने विनियोजयेत् ।'

तर्पणं बलवत्ताधानम्, तच्च प्रतिवर्णं लाङ्कारेण संपुटीकरणम् । यदुक्तम्—

'लाङ्कारेण तु बीजेन तथैकान्तरितेन च ।
बलवान् जायते मन्त्रः .... ॥' इति ।

गुप्तिभावो रक्षणम्, तच्च नेत्रनाथसंपुटीकृतस्यायुतजपाद् भवति । यथोक्तम्—

'मृत्युजित्संपुटीभूतं जपेत्तदयुतं पुनः ।
जप्तेनानेन विधिना मन्त्ररक्षा कृता भवेत् ॥' इति ।

आप्यायनं पुनर्जातबलस्य पुष्ट्याधानम्, तच्च वांकारेण प्रतिवर्णं संपुटीकारात् । यदुक्तम्—

ताडन 'फट्' का उच्चारण करने से होता है । अभिषेचन वौषट्कार के द्वारा होता है। विमलीकरण 'स्वाहा' शब्द से होता है । इन्धननिवेशन = दाह्यपाश, विष आदि के दाह में विनियोजन । हुंकार के द्वारा सम्पुटीकरण होता है । उच्छुष्मतन्त्र में कहा गया—

'हे महाभाग ! दीपन कार्य के लिये (मन्त्र के) दोनो ओर (= आदि और अन्त में) प्रणव जोड़ना चाहिये । बोधन में 'नमः' और विमलीकरण में 'स्वाहा' का प्रयोग करे । अभिषेक में मन्त्र को 'वौषट्' से सम्पुटित करे । ताडन में मन्त्र को दो फट्कार से युक्त करे । इन्धनीकरण में (मन्त्र के) आदि और अन्त में हुंकार जोड़े ॥'

तर्पण = (मन्त्र में) बल का आधान करना । और वह मन्त्र के प्रत्येक वर्ण को 'लां' से सम्पुटित करना होता है (जैसे 'ॐ नमः शिवाय' का तर्पण करने के लिये स्वरूप बनेगा—'ॐ लां न लां मः लां शि लां वा लां य लां' इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चहिये)। जैसा कि कहा गया—

'लांकार' बीज के द्वारा (मन्त्र के) एक-एक वर्ण को अन्तरित (= सम्पुटित) करने से मन्त्र बलवान् होता है ।'

गुप्तिभाव = रक्षण । वह नेत्रनाथ के मन्त्र से सम्पुटित कर (अभीष्ट) मन्त्र का दश हजार जप करने से होता है । जैसा कि कहा गया—

'मृत्युञ्जय मन्त्र से सम्पुटित कर उस मन्त्र को दश हजार जपे । इस प्रकार के जप से मन्त्ररक्षा की जाती है ।'

आप्यायन = बलवान् मन्त्र की पुनः पुष्टि करना और वह (मन्त्र के) प्रत्येक

'एकान्तरितयोगेन वांकारेण तु सर्वदा ।
भवेदाप्यायितो मन्त्रः......................।।' इति ।

इत्थं नवधा मन्त्रवादं यो जानाति, स मन्त्रा एव साधनानि सिद्धिकारणानि तेषां साधनमात्मायत्ततापादनं जानाति ॥ ८ ॥

किं च—

एकादशविधो मन्त्रो ज्ञातव्यश्च पुनः प्रिये ।
येन सम्यङ्नियोगेन सिद्ध्यन्ति साधकेश्वराः ॥ ९ ॥

येनेत्येकादशधा ज्ञानेन हेतुना यः सम्यङ् नियोगो मन्त्रस्य कर्मणि विनियोजनं तेन साधकेश्वराः सिद्ध्यन्ति आप्नुवन्ति अभीष्टम् ॥ ९ ॥

यत एवमतः—

तं चैव संप्रवक्ष्यामि सर्वशास्त्रेषु संमतम् ।

तत्र—

संपुटं ग्रथितं ग्रस्तं समस्तं च विदर्भितम् ॥ १० ॥
आक्रान्तं च तथाद्यन्तं गर्भस्थं सर्वतोवृतम् ।
तथा युक्तिविदर्भं च विदर्भग्रथितं तथा ॥ ११ ॥

वर्ण को 'वां' के द्वारा सम्पुटित करने पर होता है । जैसा कि कहा गया—

'वांकार के द्वारा एक-एक वर्ण को अन्तरित करने से मन्त्र सदा आप्यायित होता है ।'

इस प्रकार नव प्रकार के मन्त्रसिद्धान्त को जो जानता है वह मन्त्रों, जो कि सिद्धि के कारणभूत हैं, के साधन = स्वायत्ततापादन, को जानता है ॥ ८ ॥

हे प्रिये ! पुनः ग्यारह प्रकार का मन्त्र जानना चाहिये जिसके द्वारा (मन्त्र का) सम्यक् विनियोग होने से साधकेश्वर (अभीष्ट की) सिद्धि प्राप्त करते हैं ॥ ९ ॥

जिस ग्यारह प्रकार से ज्ञान के कारण सम्यक् नियोग = मन्त्र का कर्म में विनियोग, को जानकर साधकेश्वर उसके द्वारा सिद्ध होते हैं = अभीष्ट को प्राप्त करते हैं ॥ ९ ॥

चूँकि ऐसा है, इसलिये—

समस्त शास्त्रों के द्वारा स्वीकृति उस (ग्यारह प्रकार) को कहूँगा । सम्पुट, ग्रथित, ग्रस्त, समस्त, विदर्भित, आक्रान्त, आद्यन्त, गर्भस्थ, सर्वतोवृत, युक्तिविदर्भ, विदर्भग्रथित इन ग्यारह प्रकारों से नियुक्त मन्त्र

इत्येकादशधा मन्त्रा नियुक्ताः सिद्धिदाः स्मृताः।

आद्यन्तयोर्मन्त्रन्यासः संपुटवत् । यदुक्तम्—

'मन्त्रमादौ लिखेद्विद्वानभिधेयमतः परम् ।
मन्त्रमस्य लिखेत् पश्चात् संपुटं परिकीर्तितम् ॥'

प्रत्यर्णं मन्त्रसंपुटीकारो ग्रथनम् । यदुक्तम्—

'अभिधेयार्णमेकैकं मन्त्रार्णैः संपुटीकृतम् ।
ग्रथितं.. ॥' इति ।

मध्यस्थस्य नाम्नो दिक्चतुष्टये मन्त्रनिवेशो ग्रस्तम् । यदुक्तम्—

'ऊर्ध्वेऽधस्तात्तथा तिर्यङ् मन्त्रं कुर्याद्विचक्षणः ।
मध्ये संज्ञा भवेत्तत्र ग्रस्तमित्यभिधीयते ॥'

मन्त्रादनन्तरं नाम, पुनरप्येवमिति समस्तलक्षणम् । यदुक्तम्—

'विन्यस्येदादितो मन्त्रमभिधेयमतः परम् ।
एवमेतद् द्विधा योज्यं समस्तं......... ॥' इति ।

सिद्धिप्रद होते हैं ॥ -१०-१२- ॥

आदि और अन्त में मन्त्र का उल्लेख सम्पुट होता है । जैसा कि कहा गया—

'विद्वान् साधक पहले मन्त्र को लिखे, तत्पश्चात् अभिधेय (= साध्य का नाम) बाद में फिर मन्त्र को लिखे । यह सम्पुट कहा गया है।'

(अभिधेय के नाम के) प्रत्येक वर्ण को मन्त्र से सम्पुटित करना 'ग्रन्थन' कहलाता है । जैसा कि कहा गया—

'अभिधेय के नाम का एक-एक अक्षर मन्त्र के वर्णों से सम्पुटित करना 'ग्रथित' कहा जाता है ।'

नाम को मध्य में लिखकर उसकी चारो दिशाओं में मन्त्र को लिखना 'ग्रस्त' होता है । जैसा कि कहा गया—

'विद्वान् साधक (नाम के) ऊपर नीचे दायें बायें मन्त्र लिखे । बीच में साध्य का नाम होना चाहिये । यह ग्रस्त कहा जाता है ।'

मन्त्र के बाद नाम फिर ऐसा (अर्थात् मन्त्र फिर नाम)—यह समस्त का लक्षण है । जैसा कि कहा गया—

'पहले मन्त्र लिखे, उसके बाद (साध्य का) नाम । इस प्रकार दो बार करना चाहिये । यह समस्त कहा जाता है ।'

नामानन्तरं सकृन्मन्त्र इति विदर्भणम् । यदुक्तम्—

'अभिधेयं भवेत्पूर्वं ततो मन्त्रः सकृद् भवेत्।
विदर्भितं... ॥' इति ।

मध्यस्थस्य नाम्नो मन्त्रो यदि वेष्टनया न्यस्त आक्रान्तम् । यदुक्तम्—

'मन्त्रोऽभिधेयमाक्रम्य समन्तात् परिवेष्टयेत्।
आक्रान्तं..................................... ॥' इति ।

मन्त्रादनन्तरं नाम, ततस्त्रिर्मन्त्र इति आद्यन्तम् । यदुक्तम्—

'अन्ते मन्त्रं त्रिधा योज्य सकृत्पूर्वं तु योजयेत् ।
मध्ये चास्य भवेत्संज्ञा आद्यन्तं .... ॥' इति ।

मध्यस्थस्य मन्त्रस्य चतुर्दिक्कं साध्यनामन्यासो गर्भस्थत्वम् । यदुक्तम्—

'यद् ग्रस्ते लक्षणं प्रोक्तं गर्भस्थेऽपि तदुच्यते ।' इति ।

मन्त्रस्य आद्यन्तयोः साध्यनामनिवेशः सर्वतोवृतत्वम् । यदुक्तम्—

'यद्भवेत्सम्पुटे रूपं तद्भवेत्सर्वतोवृते ।' इति ।

नाम लिखने के बाद एक बार मन्त्र का उल्लेख विदर्भण है । जैसा कि कहा गया—

'पहले अभिधेय को लिखे फिर एक बार मन्त्र लिखे । यह विदर्भण कहा जाता है ।'

मध्यस्थ नाम को यदि मन्त्र के उल्लेख के द्वारा चारो ओर से वेष्टित करे तो वह आक्रान्त होता है । जैसा कि कहा गया—

'मन्त्र यदि अभिधेय को चारो ओर से घेर ले तो यह आक्रान्त होता है ।'

मन्त्र के बाद नाम लिखना फिर तीन बार मन्त्र का उल्लेख करना—यह आद्यन्त होता है । जैसा कि कहा गया—

'नाम के पहले मन्त्र को एक बार और बाद में तीन बार लिखे । बीच में नाम होना चाहिये । यह आद्यन्त है ।'

मन्त्र को मध्य में लिखकर उसकी चारो दिशाओं में अभिधेय का नाम लिखना गर्भस्थत्व है । जैसा कि कहा गया—

'गर्भस्थ में भी वही लक्षण है जो ग्रस्त में कहा गया ।'

मन्त्र के आदि और अन्त में साध्य का नाम लिखना सर्वतोवृत है । जैसा कि कहा गया है—

'जो रूप सम्पुट में होता है वही सर्वतोवृत में भी होता है ।'

पश्चान्यस्तमन्त्रस्य नाम्नश्चतुर्निवेशो युक्तिविदर्भणम् । यदुक्तम्—

'मन्त्रादावभिधेयं च त्रिधा योजितसंपुटम् ।
युक्त्या विदर्भणं .... ॥' इति ।

नाम्नः पश्चाद् त्रिर्मन्त्रन्यासो विदर्भग्रथनम् । यदुक्तम्—

'न्यस्यादावभिधेयं तु पश्चान्मन्त्रं त्रिधा लिखेत् ।
विदर्भग्रथितं.. ॥'

इति । नियुक्ताः—साधकैः ।

किं च—

सिद्धं साध्यं सुसिद्धं च तथैवारित्वमेव च ॥ १२ ॥
ज्ञात्वा सर्वमशेषेण मन्त्रन्यासं समाचरेत् ।

प्रणवादिमन्त्राक्षरादकारोकारमकारादिमात्रा विभज्य अवस्थाप्य तदधस्तथैव साधकनामाक्षराणि क्षिप्त्वा नामाक्षरोर्ध्वस्थमन्त्राक्षरप्राप्त्यन्तं सिद्धसाध्यसुसिद्धानि भेदेन मातृकाक्रमेण गणयित्वा आद्यद्वितीयतृतीयतुर्यस्थानेषु मन्त्राक्षरमायक्रमेण सिद्धादिरूपमुच्यते । यदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'मन्त्राक्षरं तु विश्लेष्य मात्राबिन्दुसमन्वितम् ।
आत्मनामाक्षरं तद्वदधोभागेऽस्य योजयेत् ॥

उल्लिखित मन्त्र के बाद साध्य के नाम को चार बार लिखना युक्तिविदर्भण है। जैसा कि कहा गया—

'मन्त्र के आदि में साध्य का नाम (फिर मन्त्र) फिर साध्य का तीन बार नाम लिखना विदर्भग्रथित होता है।'

इस प्रकार साधकों द्वारा मन्त्र विनियुक्त होते हैं ॥

तथा—

सिद्ध साध्य सुसिद्ध और अरि मन्त्रों को भली भाँति जानकर मन्त्रन्यास करना चाहिये ॥ -१२-१३- ॥

प्रणव आदि मन्त्रों के अक्षरों से अकार उकार मकार आदि मात्राओं को अलग कर स्थापित कर उसके नीचे उसी प्रकार साधक के नामाक्षरों को रख कर नामाक्षर के ऊपर स्थित मन्त्र के अक्षर की प्राप्तिपर्यन्त सिद्ध साध्य सुसिद्ध भेद से मातृका के क्रम से गिनकर प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ स्थानों में मन्त्र के अक्षरों को आय के क्रम से जानना सिद्ध आदिरूप कहा जाता है । जैसा कि स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया—

'मन्त्र के अक्षरों को मात्रा विन्दु के साथ अलग-अलग करे । उसी प्रकार

आत्मवर्णात् समारभ्य यावन्मन्त्रार्णमागतम् ।
यस्मिन् समापतेद्देवि तमायं परिकल्पयेत् ॥
रेखाङ्गुलिगतं तं तु कथयामि समासतः ।
पर्वणि प्रथमे सिद्धः साध्यश्चैव द्वितीयके ।
तृतीयेऽपि सुसिद्धः स्यादरिर्ज्ञेयश्चतुर्थके ॥
अरिसाध्यौ परित्यज्य दातव्यश्चुम्बकेन तु ।
सिद्धश्चैव सुसिद्धश्च भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ॥' (८।२०.२४)

इति ॥

किं च—

उदयास्तमयौ व्याप्तिं ध्यानं मुद्रां स्वरूपतः ॥ १३ ॥
यो वेत्त्येवं स सर्वज्ञः सर्वकृत् साधकोत्तमः ।

उदयास्तमयावित्युन्मिषत्ताविश्रान्ती हृद्द्वादशान्तपदयोर्व्याप्तिं वीर्यम्, मन्त्राणां ध्यानं मन्त्रविषयम्, तदुचितामेव च मुद्रां, स्वरूपत इति वीर्यात्मना स्वरूपेण ॥

एवमन्यैरशेषैश्च भावभेदैः सुरेश्वरि ॥ १४ ॥
भावितव्या महामन्त्रा भवन्ति फलदाः प्रिये।

अपने नाम के अक्षरों को भी अलग करे । अपने नाम के अक्षरों को मन्त्र के नीचे (= बाद में) जोड़े । अपने नाम के वर्ण से लेकर जोड़ते-जोड़ते जब मन्त्र का अक्षर आ जाये तो जिस मन्त्राक्षर पर नाम समाप्त हो जाय उसे आय समझना चाहिये । उस आय को रेखाङ्गुलि पर संक्षेप में बतला रहा हूँ । प्रथम पर्व में सिद्ध, दूसरे में साध्य, तीसरे पर्व में सुसिद्ध और चौथे पर्व में अरिभाव होता है। अरि और साध्य भाव को छोड़कर चुम्बक (= गुरुपरम्परा से प्राप्त ज्ञानवाले आचार्य) के द्वारा देना चाहिये । सिद्ध और सुसिद्ध भोगमोक्ष देने वाले होते हैं' ॥

(मन्त्रों का) उदय-अस्त, व्याप्ति, ध्यान और मुद्रा को जो स्वरूपतः जानता है वह सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता और उत्तम साधक होता है ॥ -१३-१४-॥

उदय अस्तमय = मन्त्रों की उन्मिषत्ता और विश्रान्ति । हृदय एवं द्वादशान्त पदों की, व्याप्ति = वीर्य । मन्त्रों का यह मन्त्रविषयक ध्यान होता है । और उसके अनुरूप मुद्रा, इनको स्वरूपतः = उनके वीर्य के ज्ञान के साथ जानने वाला.......... ॥

हे सुरेश्वरि ! हे प्रिये ! इस प्रकार से अन्य समस्त भावभेदों के साथ महामन्त्रों की भावना करनी चाहिये । तभी वे फलप्रद होते हैं ॥ -१४-१५- ॥

अन्यैरित्यंशकशुद्धिर्बाह्यान्तः कलांशकोदयादिभिर्विशेषैः । भावभेदैस्तत्तद्देवतानुसारिभावनादिभिः ॥

यत एवम्—

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन ज्ञात्वा सर्वं नियोजयेत् ॥ १५ ॥

न चान्यमन्त्रवदिहत्यमन्त्रराजविषया काप्येषा कल्पना—इत्याह—

अस्यैवं मन्त्रराजस्य नास्ति भेदविचारणा ।

यतोऽयम्—

सर्वेषां मन्त्रराजानां बृंहकः परमेश्वरः ॥ १६ ॥

पूर्वोक्तदृशा हि—

अनेन ग्रथिता मन्त्राः सूत्रे मणिगणा इव ।

तथा—

अस्य गर्भे स्थिता मन्त्राः जायन्ते मोक्षसिद्धिदाः ॥ १७ ॥

अन्य = बाह्य एवं आभ्यन्तरीण कला अंश के उदय आदि विशेषों के साथ आंशिक शुद्धि होती हैं । भावभेदों के साथ = तत्तद् देवतानुसारी भावना आदि के द्वारा ॥

चूँकि ऐसा है—

इसलिये सम्पूर्ण प्रयास के साथ सब कुछ जानकर मन्त्रों का विनियोग करना चाहिये ॥ -१५ ॥

अन्य मन्त्रों की भाँति इस मन्त्रराज के विषय में कोई कल्पना नहीं है—यह कहते हैं—

इस प्रकार इस मन्त्रराज के भेद का विचार नहीं होता ॥ १६- ॥

क्योंकि यह—

यह समस्त मन्त्रराजों का परमेश्वर एवं वर्धक (अथवा समस्त मन्त्रराजों का वर्द्धक अतएव परमेश्वर) है ॥ -१६ ॥

पूर्वोक्त दृष्टि से—

इसके द्वारा सभी मन्त्र सूत्र में ग्रथित मणियों की भाँति ग्रथित होते हैं ॥ १७- ॥

तथा—

इसके गर्भ में स्थित मन्त्र मोक्ष एवं सिद्धि प्रदान करते हैं ॥ -१७ ॥

युक्तमेतत्—इत्याह—

परं सर्वगतं देवं सर्वसिद्धफलोदयम् ।
व्यापकं सर्वतोभद्रं सर्वतोमुखमव्ययम् ॥ १८ ॥
पूरणं सर्वमन्त्राणां रक्षणं सर्वतोबलम् ।
मन्त्राणां योनिभूतं तु मोक्षदं सिद्धिदं शिवम् ॥ १९ ॥
यतस्ततोऽस्य मन्त्रस्य नास्ति देवि विचारणा ।

पूर्वव्याख्याभिर्व्याकृतमेतत् ॥

यत उक्तयुक्त्या मन्त्राणां साध्यकारित्वाद्यंशकाशुद्ध्यादिवीर्यापरिज्ञानादिताडन-ग्रसनादिविधिश्चास्ति, यतश्च दुष्टमन्त्रवादिभिर्मन्त्रयन्त्रादिक्रमेण जनानां ताडनग्रसनादि क्रियते, तेन—

एतैर्दोषसहस्रैस्तु च्छिद्रितः साधको यदि ॥ २० ॥
विनायकैश्च ये ग्रस्ता आधिव्याधिप्रपीडिताः ।
विरक्तपौरा निर्भृत्या अपुत्राश्च सुदुःखिता ॥ २१ ॥
मृतपुत्रा मृतदाराः सभया विगतश्रियः ।
आचार्याः साधका वापि मन्त्रसिद्धिपराङ्मुखाः ॥ २२ ॥
विपुत्रा दुर्भगा नार्यो वन्ध्या विद्विष्टभर्तृकाः ।

यह ठीक भी है—यह कहते हैं—

(यह महामन्त्र) सबसे बढ़कर, दिव्य, सर्वसिद्धफल को देने वाला, व्यापक, सब प्रकार से कल्याणकारी, सर्वतोमुख (= सर्वत्र प्रभावी) अव्यय, समस्त मन्त्रों का पूरक, रक्षक, सर्वबलशाली, मन्त्रों का मूल कारण, सिद्धि एवं मोक्ष को देने वाला, शिवस्वरूप है इसलिये हे देवि ! इस मन्त्र के विषय में किसी प्रकार की शङ्का आदि नहीं करनी चाहिये ॥ १८-२०- ॥

पूर्व व्याख्याओं के द्वारा इसकी व्याख्या हो चुकी है ॥

चूँकि उक्त युक्ति से मन्त्रों की साध्यकारिता आदि, अंशका—शुद्धि आदि, वीर्यापरिज्ञान आदि तथा ताडन ग्रसन आदि विधियाँ हैं, और चूँकि दुष्ट [illegible] के द्वारा मन्त्र यन्त्र आदि के क्रम से लोगों का ताडन ग्रसन आदि किया जाता है इसलिये—

यदि कोई साधक इन हजारों दोषों से छिद्रित (= प्रभावित) है तथा जो साधक या आचार्य लोग विनायकों से ग्रस्त, आधिव्याधि से पीड़ित, ग्रामवासियों से तिरस्कृत, सेवकों से (अथवा जीविका से) रहित, पुत्रहीन, दुःखी, मृतपुत्र, मृतपत्नी वाले (= निःसन्तान एवं विधुर), भयभीत,

एवमादिसहस्त्रैश्च दुःखदोषैश्च संयुताः ॥ २३ ॥

ये केचित्—

दृष्ट्वा तान् मानवाँल्लोके उक्तदोषैश्च दूषितान् ।
तेषां चैव प्रकर्तव्यो यागो भाग्यावहः परः ॥ २४ ॥
श्रीयागः परमेशानि मन्त्रेणानेन मन्त्रिणा ।

समनन्तरं वक्ष्यमाणरूपः ।

एतस्मिन् हि कृते—

महालक्ष्मीकृते यागे भाग्यभाग्भवते नरः ॥ २५ ॥
पूर्वोक्तदोषनिर्मुक्तः प्राप्नोति परमं सुखम् ।

तत्र च यागे—

कलशेनाभिषिक्तोऽसौ पूजयित्वा महाश्रियम् ॥ २६ ॥
प्राप्नोत्यचिन्तितान् कामान् ब्रह्मविष्णुशिवोपमान् ।

पूजयित्वा आचार्येणाभिषिक्त इति संबन्धः । काम्यन्त इति कामास्तत्तन्मन्त्र-मन्त्रेश्वरादिदशाविशेषाः ॥

धनहीन, एवं मन्त्रसिद्धि से रहित हैं तथा जो स्त्रियाँ पुत्रहीन, दुर्भगा (= विकृत योनिवाली या ऐश्वर्यहीन), वन्ध्या, अथवा द्वेषीपति वाली हैं या इसी प्रकार के सहस्त्रों दुःखों एवं दोषों से युक्त हैं ॥ -२०-२३ ॥

मृत्युलोक में मनुष्यों को उक्त दोषों से दूषित देखकर उनके लिये हे परमेश्वरी ! मन्त्रज्ञ आचार्य इस मन्त्र से सौभाग्यवर्द्धक उत्तम याग को करे ॥ २४-२५- ॥

इस याग का वर्णन आगे किया जायगा ॥

इस महालक्ष्मी (= नामक अत्यन्त ऐश्वर्यवर्धक) याग के करने पर मनुष्य भाग्यवान् हो जाता है । पूर्वोक्त दोषों से निर्मुक्त वह परम सुख को प्राप्त करता है ॥ २५-२६- ॥

उस याग मे—

कलश से अभिषिक्त हुआ वह महालक्ष्मी की पूजा कर ब्रह्मा विष्णु और शिव की भाँति अचिन्तनीय कामों (= इच्छाओं) की (पूर्त्ति) प्राप्त करता है ॥ २६-२७- ॥

आचार्य के द्वारा अभिषिक्त हुआ वह (महालक्ष्मी की) पूजा करके—यह अन्वय है । जिनकी इच्छा की जाती है तत्तत् मन्त्र मन्त्रेश्वर आदि की वे विशिष्ट दशायें

यत एवम्, ततः—

एवं ज्ञात्वा तु मेधावी यागं कुर्यात् सुशोभनम् ॥ २७ ॥

भाग्यावहमिमम् ॥ २७ ॥

यतः—

यागोऽयं सर्वथा देवि सर्वश्रेयस्करः परः ।

तत्र—

पूर्वोक्ते भूप्रदेशे तु सर्वलक्षणलक्षिते ॥ २८ ॥
सर्वशल्योज्झिते रम्ये महापद्मवनेऽथवा ।
सुप्रच्छन्ने प्रशस्ते च सुगुप्ते शरणोपरि ॥ २९ ॥
आलिखेन्मण्डलं तत्र चतुरश्रं समन्ततः ।[1]
(एकान्नविंशसूत्राणि पातयेदैन्द्रवारुणे) ॥ ३० ॥

तिशब्दलोप ऐशः । ऐन्द्रवारुणे इति पूर्वापरायतानीत्यर्थः ॥ ३० ॥

तथा दक्षिणकौबेरसूत्राणि सुसमानि च ।

काम कही जाती हैं ॥

चूँकि ऐसा है इसलिये—

इस प्रकार का ज्ञान कर मेधावी सुन्दर सौभाग्यवर्द्धक इस याग को करे ॥ -२७ ॥

सुशोभन अर्थात् सौभाग्यप्रद ॥ २७ ॥

क्योंकि—

हे देवि ! यह याग उत्तम एवं सर्वश्रेयस्कर है ॥ २८- ॥

इस क्रम में—

पूर्वोक्त भूप्रदेश जो कि समस्त सुलक्षणों से युक्त समस्त शल्यों (= काँटा, कङ्कड़, पत्थर आदि) से रहित, रमणीय हो उसमें अथवा महा पद्मवन (जहाँ आस-पास श्वेतकमल वाले तालाब हों) में अथवा सुप्रच्छन्न, प्रशस्त, सुरक्षित घर में चारो ओर चौकोर मण्डल बनाये । ऐन्द्री (= पूर्व) दिशा से लेकर वारुणी दिशा तक १९ सूत्रों को फटकारे ॥ -२८-३० ॥

(एकान्नविंशसूत्राणि) यहाँ विंशति में 'ति' शब्द का लोप आर्ष है । ऐन्द्रवारुणे = पूर्व से लेकर पश्चिम तक फैले हुए ॥ ३० ॥

---

१. अत्र 'सुप्रच्छ इति पूर्ववद् योज्यम् ॥' अत्र च इति पठनीयम् ।

तथेत्येकान्नविंशतिमेव पातयेत् ॥

एवं कृते सति—

तत्राष्टादशभिर्भागैश्चतुर्दिक्षु समन्ततः ॥ ३१ ॥
त्रिशती कोष्ठकानां तु चतुर्विंशाधिका भवेत्।

अष्टादशस्वष्टादशगुणेष्वेवमेव संख्या भवति ।

अथ—

तन्मध्ये चालिखेत् पद्ममष्टपत्रं सुशोभनम् ॥ ३२ ॥
भागाष्टके तु............

सर्वतो भागपञ्चकं त्यक्त्वेत्यर्थः ॥

कथमित्याह—

........तन्मध्ये चतुर्धा विभजेत्ततः ।

तदिति भागाष्टकात्म ॥

उसी प्रकार दक्षिण एवं उत्तर में समान सूत्रों को फटकारे ॥ ३१- ॥

उसी प्रकार = १९ सूत्र को ही फटकारे ॥

ऐसा करने पर—

चारों दिशाओं में सर्वत्र १८ से भाग देने पर (= गुणा करने पर) ३२४ संख्या वाले कोष्ठक बनेंगे ॥ -३१-३२- ॥

अट्ठारह में अट्ठारह का गुणा करने पर यह संख्या बनती है ॥

इसके बाद—

(उस मण्डल के) मध्य में आठभागों में सुन्दर अष्टदल कमल बनाये ॥ -३२-३३- ॥

तात्पर्य यह है कि पूर्व पश्चिम उत्तर और दक्षिण में ५-५ कोष्ठकों को छोड़कर (आठ भाग में कमल बनाये) ॥ ३२ ॥

यह कमल कैसे बनाया जाय—यह कहते हैं—

उस

आठ भाग वाले कोष्ठकों

को बीच से चार भाग करे ॥ -३३- ॥

उन चार भागों में से—

तत्र च—

प्रथमे कर्णिका कार्या केसराणि द्वितीयके ॥ ३३ ॥
सन्धयश्च तृतीये तु दलाग्राणि चतुर्थके ।

प्रथमे इति भागे । सन्धयो दलानि ॥

तांश्च भागान्—

भ्रामयेच्चतुरो वृत्तान् सुसमांस्तु समांशतः ॥ ३४ ॥

सुसमत्वं भ्रमाणां स्वात्मनि, समांशत्वं तु परस्परम् ॥ ३४ ॥

ततः—

दिक्षु सूत्राष्टकं दद्याद्विदिक्ष्वेवं च पातयेत् ।
ऐन्द्रीं दिशं गृहीत्वा तु मध्यसूत्रप्रमाणतः ॥ ३५ ॥
किञ्जल्कस्थं भवेत् पत्रं.........

सूत्राष्टकान्तराले सूत्राष्टकमास्फाल्य मध्यसूत्रानुसारेण ऐन्द्रीं दिशं गृहीत्वा भाविनीत्या संसक्तदलोत्पादनाय पार्श्वसूत्रद्वयं मध्यतो विभज्य समनन्तरभाविपार्श्वसूत्रद्वयान्तं भ्रमद्वयात् पत्रं कुर्यात् । कीदृक् ? किञ्जल्कस्थं केसरेष्वाश्रयत्वेन

प्रथम भाग में कर्णिका बनाये । दूसरे भाग में केसर लिखे । तीसरे भाग में सन्धियाँ अर्थात् पंखुडियों को और चौथे भाग में दल (= पंखुड़ियों) के अग्र भाग को लिखना चाहिये ॥ -३३-३४- ॥

उन भागों के—

चारो ओर सम अंश में परस्पर समान दूरी वाले चार वृत्त बनाये ॥ -३४ ॥

भ्रम = गोले, अपने में समान होंगे और परस्पर समांश वाले होंगे ॥ ३४ ॥

उसके बाद—

दिशाओं एवं कोणों में आठ-आठ सूत्र फटकारे (इस प्रकार ८ × ८ = ६४ कोष्ठ बनेंगे)। पूर्व दिशा से लेकर मध्य सूत्र के प्रमाण से किञ्जल्क (= केसर) में पत्र स्थित होगा ॥ ३५-३६- ॥

आठ सूत्रों के बीच आठ सूत्र फटकार कर मध्यसूत्र के अनुसार ऐन्द्री दिशा का ग्रहण कर भावी रीति से संसक्त दल को उत्पन्न करने के लिये बगल के दो सूत्रों को मध्य से बाँट कर समनन्तर भावी बगल के दो सूत्रों के अन्त तक दो वृत्त बनाने से पंखुड़ी बनेगी । अर्थात् यह सूत्र क्या मण्डल के ऊपर फटकारा जायेगा या मण्डल के बाहर चारो दिशाओं विदिशाओं में? कैसी ? (उत्तर देते हैं)

स्थितं केसरत्रययुक्तमित्यर्थः ॥

एवं भाव्यतिदेशदृशा पत्रान्तराण्यपि प्रसाध्य—

.........तन्मध्ये कर्णिकां लिखेत् ।

पार्श्वद्वयभ्रमणे युक्तिमाह—

दलसन्धिस्थितं सूत्रं स्थाप्य पार्श्वे तु भ्रामयेत् ॥ ३६ ॥

वामहस्तं ससूत्रं मध्यपार्श्वसूत्रान्तरालगं कृत्वा तदेव दलसन्धिस्थितं तत्प्राप्तं कृत्वा, पार्श्वे इति पार्श्वद्वये दक्षिणहस्तेन भ्रामयेत् ॥

इत्थं सूत्रे भ्रामिते—

द्वाभ्यामुभयपार्श्वाभ्यां पूर्वपत्रं प्रसाधयेत् ।

द्वाभ्यामित्यवच्छिन्नम् ॥

एतदतिदिशति—

पीता तु कर्णिका कार्या पुष्करा हरिताः स्मृता॥ ३७ ॥
केसराणि विचित्राणि चतुर्विंशतिसंख्यया ।
सितरक्तानि पीतानि मूलमध्याग्रदेशतः ॥ ३८ ॥

किञ्जल्क में स्थित अर्थात् केसरों में स्थित अर्थात् तीन केसरों से युक्त (= पत्र होगा) ॥

इसी प्रकार भावी अतिदेश के अनुसार अन्यदलों को बनाकर—

उनके बीच में कर्णिका बनाये ॥ ३६- ॥

दोनों पार्श्वों के भ्रमण में युक्ति बतलाते हैं—

दलसन्धि में स्थित सूत्र को पकड़ कर अगल-बगल घुमाना चाहिये ॥ -३६ ॥

सूत्र के सहित बायें हाथ को मध्य पार्श्व के सूत्र के भीतर रखकर उसी को दलसन्धि में स्थापित कर दोनों पार्श्वों में दायें हाथ से घुमाये ॥

इस प्रकार सूत्र के घुमाये जाने पर—

अनवच्छिन्न (= मिले हुए) दोनों पार्श्व के द्वारा पूर्वपत्र को सिद्ध करे (= बनाये) ॥ ३७- ॥

इसको बतलाते हैं—

कर्णिका को पीले रंग की और पुष्करों को हरित रंग का बनाना चाहिये । केशरों को चौबीस की संख्या में अनेक रंगों वाली अर्थात् मूल

सुश्वेतानि दलानि स्युर्व्योमरेखा तु वर्तुला ।
बाह्यस्याङ्गुष्ठमानेन श्वेतवर्णा सुशोभना ॥ ३९ ॥
दलान्तराणि रक्तानि.........

पुष्कराणि बीजानि । मूले सितानि मध्ये रक्तान्यग्रे पीतानि केसराणि कार्याणि । दलानीति तदग्रसहितानि । बाह्यस्येति पद्मस्य । दलान्तराणीति वदन्नसंसक्तदलं पद्मं पार्श्वरेखाविभागेन कुर्यादिति शिक्षयति व्योमरेखान्तमेतत् कृत्वेति ॥

............तद्बाह्ये चतुरश्रकम् ।

कार्यम् ॥

तदर्थं च—

तथैवाङ्गुलिमानेन सितरेखा तु पीतला ॥ ४० ॥

दातव्या, अन्ते बहिर्भागे पीतला हरितालादियोजिता ॥ ४० ॥

किं च—

गात्रकाणि ततो बाह्ये भागाभ्यां चैव पार्श्वतः ।

पार्श्वतो भागाभ्यामिति पार्श्वयोर्यौ भागौ, ताभ्यां प्रतिदिशं भागचतुष्टयेनेत्यर्थः ।

में श्वेत, मध्य में लाल और अग्र भाग में पीत बनाना चाहिये । बाह्य कमल के दल श्वेत एवं व्योमरेखा गोल होने चाहिये । वह व्योमरेखा अंगुष्ठप्रमाण की, श्वेतवर्ण की और सुन्दर हो । दूसरे दल समवर्ण के होने चाहिये ॥ -३७-४०- ॥

पुष्कर = बीज । केसरों को मूल में श्वेत, मध्य में रक्त और अग्रभाग में पीत बनाने चाहिये । दलों को अर्थात् उस (केसर) के अग्रभाग के सहित दलों को । बाह्य का अर्थात् एक अंगुष्ठ के प्रमाण वाले बाह्य कमल का । दूसरे दलों को— यह कहते हुए ग्रन्थकार यह बतलाना चाहते हैं कि पार्श्वरेखा विभाग के द्वारा ऐसा कमल बनाये जिसके दल संसक्त न हों । इसे व्योमरेखा तक बनाने के बाद ॥

उसके बाहर चौकोर (आकार का मण्डल) बनाना चाहिये ।

और इसके लिये—

उसी प्रकार अंगुली के परिमाण से पीतल (= पीली) श्वेत रेखा बनानी चाहिये ॥ -४० ॥

अन्त में = बाहरी भाग में, पीतला = हरताल आदि से बनायी गयी ॥ ४०॥

उसके बाहर पार्श्व के दो भागों से शरीर बनाने चाहिये ॥ ४१- ॥

गात्रकाणि कोणान्तरालगा अवयवविशेषा व्योमरेखाया बाह्ये कार्याणि ॥

पीठे रजोन्यासमाह—

सितादिवर्णभेदेन कोणेष्वाग्नेयमादितः ॥ ४१ ॥
गात्रकान्पीतवर्णांश्च पूर्वादौ तु समालिखेत् ।

देवाभिमुखदिगपेक्षया आग्नेयादिक्रमेण ईशानान्तं कोणेषु सितरक्तपीतकृष्ण-भेदेन रजोन्यासं कुर्यात् । कोणान्तरेषु दिक्चतुष्टयगगात्रकाणि पीतानि लिखेत् ॥

तद्बहिरपि—

द्वौ द्वौ भागौ ततो लोप्यौ वीथ्यर्थं चैव सर्वतः ॥ ४२ ॥

सर्वतः सर्वासु दिक्षु । वीथी पूजाप्रदेशमार्गः ॥ ४२ ॥

सा च—

कृष्णेन रजसा लेख्या पद्मशङ्खविभूषिता ।

पार्श्वतो भागाभ्याम् = पार्श्व (= अगल-बगल) के जो दो भाग उनके द्वारा अर्थात् चार भागों के द्वारा । गात्रक = कोणों के भीतर वर्तमान विशिष्ट अवयवों को, व्योम रेखा के बाहर बनाना चाहिये ॥

पीठ के ऊपर रजोन्यास को कहते हैं—

अग्निकोण से लेकर (चारों) कोणों में श्वेत आदि के भेद से रजोन्यास करना चाहिये । और पूर्व से लेकर चारो दिशाओं में पीत रंग के गात्रकों की रचना करनी चाहिये ॥ ४१-४२- ॥

देवता के अभिमुख दिशा की अपेक्षा से आग्नेय कोण से लेकर ईशान कोण तक श्वेत रक्त पीत और कृष्ण भेद से रजोन्यास करना (= उक्त रंगों के चूर्ण को रखना) चाहिये । चारो कोणों के बीच चारों दिशाओं में पीले रंग के गात्रकों को लिखना चाहिये ॥

उसके बाहर भी—

इसके बाद वीथी (= गलियारा) के लिये सब ओर दो-दो भागों को मिटा देना चाहिये ॥ ४२ ॥

सर्वतः = सब दिशाओं में । वीथी = पूजा प्रदेश तक पहुँचने का मार्ग ॥ ४२ ॥

और वीथी—

काले रंग के रजस् (= चूर्ण) से लिखी जानी चाहिये तथा पद्म एवं शङ्ख से अलङ्कृत होनी चाहिये ॥ ४३- ॥

पद्मशङ्खौ श्रियो लाञ्छने ॥

तथा एतद्बहिः—

द्वारं च शुक्लं कुर्वीत द्विभागेनैव पार्श्वतः ॥ ४३ ॥

पार्श्वतः प्रतिपार्श्वमवशिष्टेन द्विभागेनेति कोष्ठकद्वयमानेन कुर्यात् । तदत्र पद्मार्थं कोष्ठकाष्टकस्य बहिः प्रतिपार्श्वं कोष्ठकपञ्चकात् पीठार्थमेकम्, वीथ्यर्थं च द्वयमुक्तमित्यवशिष्टे कोष्ठकद्वये एव द्वारमुक्तम् । अत्र च यत् कोष्ठकाष्टादशोल्लेखनम्, तदिहत्यस्थित्या गर्भीकृतेतराध्वप्रपञ्चशोध्याष्टादशशंख्याकतत्त्वाध्वव्याप्तिं यागस्य प्रकाशयितुम् ॥ ४३ ॥

किं चास्य—

वीथीमानेन विस्ताराद्वीथ्यर्धेन तु कारयेत् ।
कण्ठं.........

पार्श्वत इत्यनुवर्तते । मध्यसूत्रमपेक्ष्य पार्श्वत इति प्रतिपार्श्वम् । वीथीमानेनेति भागद्वयेन, साकल्यतस्तु चतुर्भिर्भागैर्विस्तारमानात् तथा वीथ्यर्धेन भागेन एकेन, अर्थादूर्ध्वतः कण्ठं द्वारोर्ध्वगमवयवविशेषं मण्डलाचार्यं कर्तुं प्रयुञ्जीत ॥

पद्म एवं शङ्ख लक्ष्मी के चिह्न हैं ॥

तथा इसके बाहर—

(पार्श्व के दो-दो भागों का लोप करने के बाद शेष) पार्श्वस्थ दो भागों से शुक्ल रंग का द्वार बनाना चाहिये ॥ -४३ ॥

पार्श्वतः = प्रत्येक पार्श्व में अवशिष्ट । दो भाग से = दो कोष्ठक के परिमाण वाले (भाग) से, बनाना चाहिये । इस प्रकार यहाँ पद्म के लिये बनाये गये आठ कोष्ठकों के बाहर प्रत्येक पार्श्व में दो और अविशष्ट दो में द्वार बनाना चाहिये । यहाँ जो अठारह कोष्ठों का उल्लेख किया गया वह यहाँ की स्थिति के अनुसार याग की, गर्भ के अन्दर वर्त्तमान अध्वप्रपञ्च में से, शोध्या अठारह संख्या वाली तत्त्वाध्वा की व्याप्ति को प्रकाशित करने के लिये किया गया ॥ ४३ ॥

और यह—

वीथी के परिमाण के अनुसार वीथी के आधे परिमाण के द्वारा कण्ठ को बनाना चाहिये ॥ ४४- ॥

'पार्श्वतः' पद का पीछे से अनुवर्त्तन कर (यहाँ जोड़ना चाहिये) । मध्य सूत्र की अपेक्षा पार्श्व में अर्थात् प्रत्येक पार्श्व में । वीथी के मान से = दो भागों से । क्योंकि सम्पूर्णतया चार भाग वाला विस्तार का परिमाण होता है । वीथी के अर्ध भाग से = एक भाग से, अर्थात् द्वार के ऊपर वर्त्तमान अवयवविशेष अर्थात् कण्ठ का प्रयोग बनाने के लिये मण्डलाचार्य को प्रेरित करना चाहिये ॥

..........तथोपकण्ठं च......

कण्ठाधोगमवयवविशेषं, तथेति कण्ठापेक्षया प्रतिपार्श्वं भागद्वयेन साकल्यतस्तुभागाष्टकेन विस्तारमानात् भागेन चोर्द्ध्वमानात् कारयेत् ॥

द्वारपार्श्वयोः परावृत्तद्वारसंनिवेशाकारेण—

.............तथा शोभोपशोभके ॥ ४४ ॥

कारयेत् ॥ ४४ ॥

एवं द्वाराणि निष्पाद्य वृत्तानि त्रीणि कारयेत् ।
पश्चिमं विवृतं कार्यं...........

पश्चिममिति पश्चिमदिक्स्थं देवाभिमुखमित्यर्थः ॥

शोभोपशोभयोः स्थानसंनिवेशवर्णनायाह—

................पार्श्वयोस्तु विलेखयेत् ॥ ४५ ॥
शोभां चैवौपशोभां च रक्तवर्णां तु पीतिकाम् ।

उसी प्रकार उपकण्ठ को

बनाना चाहिये अर्थात् कण्ठ के नीचे वर्त्तमान अवयवविशेष को कण्ठ की अपेक्षा प्रत्येक पार्श्व में दो भागों से और सम्पूर्णतया आठ भागों के विस्तारमान के कारण और एक भाग से ऊर्ध्वमान के अनुसार बनाना चाहिये ॥

दोनों द्वारपार्श्वों में परावृत्त (= उल्टा अर्धवृत्त आकृति वाला) द्वार सन्निवेश के आकार के अनुसार—

शोभा और उपशोभा बनाने चाहिये ॥ ४४ ॥

(यह प्रक्रिया राजप्रासाद की रचना को दृष्टि में रखकर बतलायी गयी है अर्थात् जैसे राजप्रासाद में कण्ठ उपकण्ठ आदि १२ भाग होते हैं वैसे यहाँ भी) बनाना चाहिये ॥ ४४ ॥

इस प्रकार द्वारों को बनाकर तीन वृत्तों को बनाना चाहिये । पश्चिम वाले वृत्त को खुला बनाना चाहिये ॥ ४५- ॥

पश्चिम = पश्चिमदिशा में वर्त्तमान अर्थात् देवता के सम्मुख ॥

शोभा और उपशोभा के स्थानसन्निवेश के वर्णन के लिये कहते हैं—

प्रत्येक द्वार की चारो दिशाओं में नीचे ऊपर वर्त्तमान कोष्ठकों के द्वारा दोनों पार्श्वों में रक्तवर्ण और पीतवर्ण की शोभा और उपशोभा को बनाना चाहिये ॥ -४५-४६ ॥

प्रतिद्वारं चतुर्दिक्षु कोष्ठकैरधरोत्तरैः ॥ ४६ ॥

कोष्ठकैरिति परावृत्तद्वारसंनिवेशोत्थापकैः । अत्र कोष्ठकसंख्या यद्यपि नोक्ता, तथाप्यध एकमूर्ध्वे पञ्च, इत्येवं विभाग उत्पद्यते ॥ ४६ ॥

अथ शोभोपशोभयोः पार्श्वगेषु—

कोणान्तेषु लिखेद्देवि पद्मशङ्खौ समन्ततः ।

समन्ततः सर्वेष्वित्यर्थः ॥

एवं द्वारान्तं समस्तमण्डलं निष्पाद्य—

तस्मिन्बाह्यसमन्तात्तु भूतरेखास्तु पातयेत् ॥ ४७ ॥

भूतसंख्याकाः पञ्चेत्यर्थः ॥ ४७ ॥

ताश्च—

सितादिवर्णभेदेन........

बाह्यादन्तः प्रवेशक्रमेण सितरक्तकृष्णपीतस्वच्छरूपाः ॥

यतः—

...........निवृत्त्याद्यास्तु ता कलाः ।

कोष्ठकों के द्वारा = परावृत्त द्वारसन्निवेश को उठाने वालों के द्वारा । यद्यपि यहाँ कोष्ठकों की संख्या नहीं बतलायी गयी फिर भी नीचे एक और ऊपर पाँच (कोष्ठक बनाने चाहिये) इस प्रकार विभाग बनता है ॥ ४६ ॥

इसके बाद शोभा और उपशोभा के पार्श्ववर्त्ती—

कोणान्तों में हे देवि ! चारो ओर पद्म एवं शङ्ख बनाये ॥ ४७- ॥

समन्ततः = सभी (कोणान्तों) में ॥

इस प्रकार द्वारपर्यन्त समस्त मण्डल को बनाकर—

उस मण्डल के बाहर चारो ओर भूतसंख्या वाली रेखा बनाये ॥-४७॥

भूतसंख्यावाली = पाँच ॥ ४७ ॥

और वे रेखायें श्वेत आदि रंगों वाली हों ।

(ये रेखायें) बाहर से भीतर की ओर प्रवेश के क्रम से श्वेत रक्त कृष्ण पीत एवं चमकदार सफेद होनी चाहिये । क्योंकि,

निवृत्ति आदि वे (पाँचों) कलायें ॥ ४८- ॥

सद्योजातादिब्रह्मव्यापितका हि ता: प्रोक्तवर्णा एव ॥

यत:—

बाह्ये तु पत्रवल्ल्यब्जैः स्वस्तिकैरुपशोभितम् ॥ ४८ ॥
आलिख्य मण्डलं मुख्यं तन्मध्ये तु यजेच्छ्रियम्।

न च प्रथममेव मण्डलं लिखेत्, अपि तु—

पूर्वाधिवासः कर्तव्यो यथाविभवविस्तरैः ॥ ४९ ॥

पूर्वदिनेऽधिवास: कर्तव्य इत्यर्थ: ॥ ४९ ॥

एतदर्थमादावेव—

यागहर्म्यं तु कर्तव्यं शक्त्या द्रव्यानुसारतः ।
वेदीतोरणसंयुक्तं नानाध्वजविराजितम् ॥ ५० ॥

ध्वजानि चित्रचिह्नानि ॥ ५० ॥

एतच्च यागौचित्यात्—

पादुकाच्छत्रशय्यादिनानाशोभासमन्वितम् ।
गृहोपकरणाद्यैश्च भोगैर्नानाविधैस्तथा ॥ ५१ ॥

जो कि सद्योजात से लेकर ब्रह्म तक के द्वारा व्याप्त हैं उन्हीं रंगों वाली हैं ॥

बाहर (अशोक आम आदि के) पल्लवों (कामिनी रजनीगन्धा आदि) लताओं कमलों एवं स्वस्तिकों से शोभायमान मुख्य मण्डल बनाकर उसके बीच में लक्ष्मी की पूजा करे ॥ -४८-४९- ॥

मण्डल को पहले ही नहीं लिखना चाहिये किन्तु—

पहले अपने धनसम्पत्ति के अनुसार अधिवास करना चाहिये ॥ -४९॥

पहले दिन अधिवास करना चाहिये—यह अर्थ है ॥ ४९ ॥

इसके लिये पहले ही—

अपनी शक्ति और धन के अनुसार वेदी एवं तोरण से संयुक्त तथा रंगविरंगी पताकाओं से सुशोभित यागगृह बनाना चाहिये ॥ ५० ॥

ध्वज = रंगविरंगी चिह्न ॥ ५० ॥

याग के औचित्य के कारण इसे—

चरणपादुका, छत्र, शय्या, आदि अनेक शोभाधायक पदार्थों से

युतम् ॥ ५१ ॥

यागस्य—

वितानमूर्ध्वं कर्तव्यं सुश्वेतं तु मनोरमम् ।
जवनिकां चतुरङ्गां दीपाष्टौ दिक्षु दापयेत् ॥ ५२ ॥

किं च—

बालव्यजनघण्टादि तथादर्शचतुष्टयम् ।

दिक्चतुष्के निवेशयेत् ॥

दिक्षु विदिक्षु च पुनः—

पताकाष्टौ नवाः श्रेष्ठा नानारङ्गसमुज्ज्वलाः ॥ ५३ ॥
कलशाष्टौ तथा रौप्यास्ताम्रा वा मृण्मया अपि ।

स्थाप्याः ॥

कलशेषु च—

समुद्राष्टौ तथा पूज्याः.........

समुद्राधिष्ठितांश्च कलशान्—

एवं गृहस्थी के सामानों तथा अनेक प्रकार के भोगों से युक्त रखना चाहिये ॥ ५१ ॥

युक्त करना चाहिए ॥ ५१ ॥

यागगृह के—

ऊपर श्वेत वर्ण का सुन्दर मनोरम वितान (= तम्बू या चाँदनी) चौरंगी पर्दा तथा आठों दिशाओं में दीप जलाकर रखना चाहिये ॥ ५२ ॥

और भी—

छोटे-छोटे हाथ के पङ्खे तथा चारो दिशाओं में चार दर्पण रखे ॥५३-॥

फिर दिशाओं एवं कोणों में—

नवीन श्रेष्ठ अनेक रंगों वाली आठ पताकायें तथा चाँदी ताँबा एवं मिट्टी के आठ कलश रखे जाने चाहिये ॥ -५३-५४- ॥

(कलश) स्थापित करे ॥

कलशों में

आठ समुद्रों की पूजा करनी चाहिये । और

..............सर्वौषधिसमन्वितान् ॥ ५४ ॥
चूतपल्लवसंयुक्तान् सहिरण्यांश्च पूजयेत् ।
काण्डाष्टौ पञ्चरङ्गाणि दिग्विदिक्षु निवेशयेत् ॥ ५५ ॥

पञ्चरङ्गाणीति सूत्राणि ॥ ५५ ॥

एतद्बाह्ये—

लोकपालास्तथा पूज्याः पटेषु स्वाकृतिस्थिताः ।

लोकपालानां समीपे—

तथा ह्यस्त्राकृतिः कार्या दशदिक्षु समन्ततः ॥ ५६ ॥

तथेति इन्द्राद्यनुसारेण वज्राद्यस्त्राकृतिः पटेषु कर्तव्या ।[1] दशेत्यूर्ध्वाधःस्थौ ब्रह्मानन्तौ सायुधावैशाननैर्ऋतकोणस्थौ कार्यौ ॥ ५६ ।

किं च—

द्वाराध्यक्षास्ततो बाह्ये कार्याः स्वाम्नायदर्शनात् ।

समुद्रों से अधिष्ठित कलशों की

सर्वौषधि से युक्त आम्र के पल्लव से संयुक्त एवं सुवर्ण के सहित पूजा करे । आठ काण्ड एवं पाँच रंगों को चारो दिशाओं एवं कोणों में रखे ॥ -५४-५५ ॥

पञ्चरंग = पाँच रङ्ग वाले सूत्र ॥ ५५ ॥

इसके बाहर—

कपड़ों पर लोकपालों की आकृति बनाकर उनकी पूजा करनी चाहिये ॥ ५६- ॥

लोकपालों के समीप—

उसी प्रकार दशों दिशाओं में चारों ओर अस्त्रों की आकृतियाँ बनानी चाहिये ॥ -५६ ॥

उसी प्रकार = इन्द्र आदि के अनुसार वस्त्रों पर वज्र आदि की आकृति बनानी चाहिये । दश = ऊपर एवं नीचे ब्रह्मा और अनन्त को उनके आयुधों के साथ क्रमशः ईशान एवं नैर्ऋत कोणों में बनाये जाने चाहिये ॥ ५६ ॥

इसके बाद अपने सम्प्रदाय के अनुसार बाहर द्वार के अध्यक्षों को बनाना चाहिये ॥ ५७- ॥

---

१. अत्र योगिनीहृदयदीपिकास्थितमिन्द्रेशानेति (पृ० २३५) वचनं द्रष्टव्यम् ।

कार्या उल्लेख्याः पूज्याश्च । स्वाम्नायदर्शनादिति सिद्धान्तस्थित्या द्वारस्य दक्षिणे नन्दिगङ्गे, वामे महाकालयमुने, भैरवदृशि तु एतदेव विपर्ययात्, वामस्रोतसि तु प्राग्वद् नन्दिगङ्गादि दिण्डिमहोदरसहितम्, त्रिकनये भैरवदृग्वद् मेषाननच्छागाननौ त्वधिकौ, इत्याद्यनुसर्तव्यम् । एते च लोकपालास्त्रान्ता देवताविशेषाः ॥

अस्य नयस्य—

सर्वसाधारणत्वाच्च पटे कार्यास्तु तादृशाः ॥ ५७ ॥

अत्रायं क्रमः—

वेदमङ्गलनिर्घोषैर्जयपुण्याहसंयुतैः ।
नृत्तवादित्रघोषैश्च स्तोत्रैर्नानाविधैस्तथा ॥ ५८ ॥

युक्तः सन्—

आचार्यस्तु शुचिर्दक्षश्चन्दनागुरुचर्चितः ।
धौतपौतिकया युक्त उष्णीषाङ्गुलिभूषितः ॥ ५९ ॥
कटकाद्यैर्महाहारैः पुष्पस्रग्दामभूषितः ।
मूर्तिपैर्धूपवाहैश्च अर्घवाहैस्तथैव च ॥ ६० ॥

बनाना चाहिये = उनको चित्रित कर उनकी पूजा करनी चाहिये । अपने सम्प्रदाय के अनुसार—सिद्धान्त की दृष्टि से द्वार के दायीं ओर नन्दी एवं गंगा, बायीं ओर महाकाल एवं यमुना, भैरव के दर्शन में भी यही व्यवस्था रहती है किन्तु उल्टे क्रम से । वामस्रोत में पहले की भाँति नन्दी गंगा आदि तो रहते ही हैं । इनके अतिरिक्त दिण्डी और महोदर भी रहते हैं । त्रिक शास्त्र में द्वाराध्यक्ष लोग भैरवदर्शन (में वर्णित) के समान उल्लिखित और पूजित होते हैं । केवल मेषानन और छागानन अधिक होते हैं—इत्यादि का अनुसरण करना चाहिये । ये विशिष्टदेवता लोकपाल से लेकर अस्त्रपर्यन्त रहते हैं ॥

चूँकि यह शास्त्र सर्वसाधारण है इसलिये वस्त्र के ऊपर उसी प्रकार के (द्वाराध्यक्ष) बनाये जाने चाहिये ॥ ५७ ॥

इस विषय में यह क्रम है—

वैदिक मन्त्र, मङ्गलगीत, जयघोष एवं पुण्याहवाचन से, नृत्त एवं बाजे की ध्वनि से तथा अनेक प्रकार के स्तोत्रों से ॥ ५८ ॥

युक्त होकर

पवित्र, दक्ष, चन्दन अगर का शरीर में लेप कर, धौतपोतिका (= चमकदार धोती उत्तरीय) से युक्त, पगड़ी एवं अंगूठी से अलंकृत,

सर्वसंभारसंयुक्तो ह्यधिवासनपूर्वकम् ।
कुम्भास्त्रवार्धनीमिष्ट्वा कृतक्षेत्रपरिग्रहः ॥ ६१ ॥
पश्चाद्देवि रजःपातं विदध्याद् दैशिकोत्तमः ।

शुचिरिति शुद्धवित्तचित्तशरीरः । दक्षः पूजादावुद्युक्तः, अनुष्ठितनित्यकर्मत्वादेव चन्दनादिचर्चितः । धौतपौतिका महाप्रकाशपरीतताशयात् । उष्णीषः शिरसि पट्टादिबन्धः । अङ्गुलिरङ्गुलीयकम् । मूर्तिपैरिति पृथिव्यादिमूर्त्यष्टकाधिष्ठातृशर्वादि-मूर्तीश्वररूपैराचार्यान्तरैरनुगतः, एवं चाष्टमूर्तिमहेश्वरैकरूप इत्यर्थः । अर्घवाहै-रित्यादौ युक्त इति योज्यम् । सर्वसंभारोऽधिवासोचितो द्रव्यसमूहः, अधिवासनं शिवयागौचित्येन द्रव्यादेः संस्कारः श्रीस्वच्छन्दादिष्टनीत्या । कुम्भयागः सर्वविधि-संपूरणाद्यर्थः । अस्त्रयागश्च विघ्नशमनाय । कृतक्षेत्रपरिग्रहो गृहीतयागोचितस्थान-विशेषः, रजःपातमिति प्रोक्तक्रमेण रचितमण्डलविशेषम् ॥

एवमत्रमण्डले—

पूर्वोक्तवपुषा ध्यात्वा मृत्युजिन्मध्यतो यजेत् ॥ ६२ ॥

मृत्युजित् पारमेश्वरं रूपम् ॥ ६२ ॥

कटक हार आदि पहने हुए, फूलों की माला धारण किये हुए, मूर्ति-रक्षक, धूपवाह, अर्घवाह समस्त पदार्थों से युक्त आचार्य अधिवासन करने के बाद कुम्भ अस्त्र एवं वार्धानी की पूजा करे । फिर याग के लिये उचित स्थान का चयन कर वह उत्तम आचार्य (उस स्थान पर) रजःपात करे ॥ ५९-६२- ॥

शुचि = तन मन धन से शुद्ध । दक्ष = पूजा आदि में उद्यत । नित्यकर्म के अनुष्ठान के कारण चन्दन आदि लगाया हुआ । धौतपोतिका—क्योंकि इसके धारण करने से शरीर अत्यन्त प्रकाशित होता है । उष्णीष = शिर पर बाँधने की पट्टी पगड़ी आदि । अङ्गुलि = अंगूठी । मूर्त्तिप = पृथ्वी आदि आठ मूर्त्ति (= पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा एवं शिव) के प्रतिनिधिभूत दूसरे आचार्यों के आगे चलने वाला । इस प्रकार ये आठ मूर्त्तियां महेश्वर के रूप हैं । अर्घवाह (= अर्घपात्रों को ढोने वाले) तथा समस्त सम्भार = अधिवास के लिये उचित द्रव्यसमूह, अधिवासन = शिवयाग के लिये उचित द्रव्य आदि का संस्कार जो कि स्वच्छन्दतन्त्र में कहे गये रीति से किया जाना चाहिये । कुम्भयाग—सर्वविधिसम्पूरण आदि के लिये होता है । अस्त्रयाग—विघ्न के शमन के लिये । क्षेत्र का परिग्रह करने वाला = याग के लिये उचित स्थान का चयन करने वाला । रजःपात = उक्त क्रम से मण्डलविशेष की रचना वाला ॥

इस प्रकार से रचित इस मण्डल में पूर्वोक्त शरीर के अनुसार ध्यानकर (मण्डल के) मध्य में मृत्युञ्जय की पूजा करे ॥ -६२ ॥

किं च—

तदुत्सङ्गगतां देवीं श्रियं वै विश्वमातरम् ।
विशुद्धस्फटिकप्रख्यां हिमकुन्देन्दुसप्रभाम् ॥ ६३ ॥
चन्द्रार्बुदप्रतीकाशां गोक्षीरसदृशप्रभाम् ।
मुक्ताफलनिभां श्वेतां श्वेतवस्त्रानुगूहिताम् ॥ ६४ ॥
सितचन्दनलिप्ताङ्गीं कर्पूरक्षोदधूसराम् ।
शुद्धहारेन्दुकान्तादिरत्नोज्ज्वलविमण्डिताम् ।
हरहाससुशुभ्राङ्गीं सितहासां मनोरमाम् ॥ ६६ ॥
सुशुक्लमुकुटोपेतामेकवक्त्रां त्रिलोचनाम् ।
बद्धपद्मासनासीनां योगपट्टविभूषिताम् ॥ ६७ ॥
शङ्खपद्मकरां सौम्यां वरदाभयपाणिकाम् ।
चतुर्भुजां महादेवीं सर्वलक्षणलक्षिताम् ॥ ६८ ॥
ध्यात्वा वै भावभेदेन रूपायुधविभूषिताम् ।

यजेदित्यनुषज्यते । शुद्धहारेन्दुकान्तादिरत्नैरुज्ज्वलां च विमण्डितां च । भावभेदेनेति कामनाविशेषारूषिताशयेनोपलक्षितः साधकः । शिष्टं स्पष्टम् ॥

मृत्युञ्जय = परमेश्वर का रूप ॥ ६२ ॥

इसके अतिरिक्त—

सर्वलक्षणलक्षित विश्वमाता चतुर्भुजा महादेवी का ध्यान कर उनकी पूजा करनी चाहिये । यह देवी उन (= मृत्युञ्जय) की गोद में बैठी हैं । विशुद्ध स्फटिक की शोभा वाली, हिम कुन्द इन्दु (= सफेद कमल) सदृश कान्तिवाली, दश करोड़ चन्द्रमा के समान (कान्तिमयी), गाय के दूध के समान कान्ति वाली, मुक्ताफल के समान श्वेत एवं श्वेतवस्त्र धारण की हुयी, अङ्गों में श्वेतचन्दन का लेप की हुयी, कपूर के चूर्ण से धूसर, शुद्धहार चन्द्रकान्त मणि आदि रत्नों से मण्डित, श्वेतसूत्र में गूँथे गये कमलों से विभूषित, हर के हास के समान शुभ्र अङ्गों वाली, श्वेत हास वाली, मनोरमा, शुक्ल मुकुट पहनी हुयी, एक मुख तथा तीन नेत्रों वाली, बद्धपद्मासन लगाकर बैठी हुयी, योगपट्ट से अलंकृत, हाथ में शङ्ख एवं कमल लिये हुए, सौम्य स्वभाव वाली, हाथ में वरद एवं अभय मुद्रा धारण की हुयी है । भावभेद से रूप एवं आयुध से विभूषित का ध्यान करना चाहिये ॥ ६३-६९- ॥

'यजेत्' इतना बाद में जोड़ना चाहिये । शुद्ध हार एवं चन्द्रकान्त मणियों से उज्ज्वल एवं विशेषरूप से अलङ्कृत । भावभेद के अनुसार—विशिष्टकमनाओं से युक्त आशय से उपलक्षित साधक । शेष स्पष्ट है ॥

अथ देववद् देव्या अङ्गानीत्याह—

अमृतेशविधानेन तथैवाङ्गानि कल्पयेत् ॥ ६९ ॥

द्वितीयाधिकारोद्दिष्टनीत्या । एवं चात्र विशेषोक्त्या आदिशन्नेतदतिरिक्तपूर्वोक्त-सर्वदेवतानां नैतान्यङ्गानीति शिक्षयति ॥ ६९ ॥

सर्वश्वेतत्वादेव देवीम्—

सर्वश्वेतोपचारेण पूजयेत् सर्वसिद्धिदाम् ।

मुख्यं विधिमुक्त्वा प्रकारान्तरमाह—

अनेनैव विधानेन श्रीधरं वा श्रिया सह ॥ ७० ॥
पूजयेद् भक्तितो देवि सर्वकामफलप्रदम् ।

यद्वा केवलामेव देवीम्—

पाद्यार्घ्यकुसुमैः शुभ्रैर्मृष्टधूपादिभिस्तथा ॥ ७१ ॥
लेह्यैः पेयैस्तथा चूष्यैर्भक्ष्यैर्नानाविधैः शुभैः ।
पूजयेत् परमेशानीं सर्वसिद्धिफलप्रदाम् ॥ ७२ ॥

अर्चान्ते जपानन्तरम्—

अब देव (= अमृतेश) की भाँति देवी के अङ्गों की बतलाते हैं—

अमृतेश के विधान के अनुसार (देवी के) अङ्गों की कल्पना करनी चाहिये ॥ -६९ ॥

(यह कल्पना) द्वितीय अधिकार में कथित रीति से (होनी चाहिये)। इस प्रकार यहाँ विशेष उक्ति के द्वारा अङ्गरचना का आदेश करते हुए ग्रन्थकार यह शिक्षा देते हैं कि इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त समस्त देवताओं के ये अङ्ग नहीं होते हैं ॥ ६९ ॥

देवी के सब प्रकार से श्वेत होने के कारण—

सर्वसिद्धिदा देवी की समस्त श्वेत द्रव्यों से पूजा करनी चाहिये ॥७०-॥

अब मुख्यविधि को बतला कर प्रकारान्तर को कहते हैं—

हे देवि ! इसी विधान के अनुसार लक्ष्मी के साथ सर्वकाम फलप्रद श्रीधर (= विष्णु) की भक्ति के साथ पूजा करनी चाहिये ॥ ७०-७१- ॥

अथवा केवल—

सर्वसिद्धिप्रदा परमेश्वरी की पाद्य अर्घ्य पुष्प सुगन्धित धूप आदि अनेक प्रकार से सुस्वादिष्ट लेह्य (= चटनी यवागू आदि) पेय चोष्य भक्ष्य के द्वारा पूजा करनी चाहिये ॥ -७१-७२ ॥

पूर्ववन्निर्मिते कुण्डे होमात् पूर्वोदितेन तु ।
तर्पयेद्देवदेवेशीं भक्तियुक्तेन चेतसा ॥ ७३ ॥

पूर्वोदितेनेति तिलक्षीरघृतशर्करादिना यो होमस्तस्मात् देवदेवस्य शक्तिं तर्पयेदिति सङ्गतिः ॥ ७३ ॥

देव्याः प्रकारान्तरमाह—

अथवाष्टभुजा देवी चिन्तारत्नकरा शुभा ।
कलशं धारयेन्नित्यममृतेन समन्वितम् ॥ ७४ ॥
सोमसूर्यकरा देवी सितपद्मोपरिस्थिता ।
निधीनां चोपरिष्टात्तु गजमङ्गलभूषिता ॥ ७५ ॥
ब्रह्मादिसुरसङ्घातैः पूजिता संस्तुता सदा ।
ध्याता जप्ता महेशानी सिद्धिमुक्तिफलप्रदा ॥ ७६ ॥

पूर्वोक्तशङ्खपद्मवराभयकरत्वोपरिचिन्तारत्नामृतकलशसोमसूर्यकरत्वेन अष्टभुजा । निधीनामुपरिष्टाद् यत् सितपद्मम्, तत्स्था । मङ्गलगजभूषितत्वं तत्करोत्क्षिप्त-घटाभिषिच्यमानत्वम् । महेशानस्येयं महेशानी, अत एव ब्रह्मादिभिः पूजिता ।

पूजा के बाद जप, उसके बाद—

पूर्ववर्णित विधि के अनुसार निर्मित कुण्ड में पूर्वोक्त (द्रव्यों) के द्वारा भक्तियुक्त चित्त से होम कर देवाधिदेव की ईश्वरी का तर्पण करे ॥ ७३ ॥

पूर्वोक्त—तिल क्षीर घृत शर्करा आदि के द्वारा विधीयमान जो होम उससे देवाधिदेव की शक्ति का तर्पण करें—यह संगति (= अन्वय) हैं ॥ ७३ ॥

देवी के दूसरे स्वरूपों को बतलाते हैं—

अथवा (परमेश्वर की वह शक्ति) अष्टभुजा है । वह हाथ में चिन्तामणिरत्न, अमृत से परिपूर्ण कलश, सोम एवं सूर्य को लिये हुए हैं । नवनिधियों के ऊपर वर्त्तमान श्वेत कमल के ऊपर बैठी है । गजमङ्गल से (= मङ्गलकारी हाथियों से) अलङ्कृत (= घटस्थ जल से अभिषिक्त) है । ब्रह्मा आदि देवसमूहों के द्वारा पूजित संस्तुत ध्यान की गयी एवं जप की गयी महेशानी सदा सिद्धि एवं मुक्ति देने वाली होती है ॥ ७४-७६ ॥

पूर्वोक्त शङ्ख पद्म वरद एवं अभय मुद्रा इन चार को हाथ में धारण करने के अतिरिक्त चिन्तामणि अमृतकलश सोम एवं सूर्य को हाथ में धारण करने से अष्टभुजा है । निधियों के ऊपर जो कमल उस पर स्थित है । मङ्गलगज से भूषित होना = हाथियों के सूँड़ों से ऊपर उठाये गये घटों से अभिषिक्त होना । महेशानी = महेशान की पत्नी है इसीलिये ब्रह्मा आदि के द्वारा पूजित हैं । उसी की आराधना से ही उन (ब्रह्मा आदि) के अंशांशिका के द्वारा यह व्यक्त हुयी है—ऐसा

तदाराधनादेव हि तेषामंशांशिकया व्यक्तिं गताऽसाविति श्रीस्वच्छन्देऽस्ति ॥ ७६॥

यद्वा—

इष्टां तु देवदेवेशीं कुम्भस्थां संप्रपूजयेत् ।
पूर्वोक्तेन विधानेन यागे पूर्वोदिते शुभे ॥ ७७ ॥

अतश्च—

पूर्वोक्तध्यानयोगेन कुम्भमध्यगतां श्रियम् ।
जप्त्वा चाष्टोत्तरशतमभिषिञ्चेत्तु पूर्ववत् ॥ ७८ ॥

पूर्ववदिति पुण्याह(वाचन)मङ्गलनिनादादिक्रमेण ॥

आचार्यो यं साधकमभिषिञ्चेत्—

तस्याचला महालक्ष्मी राज्यं वा यदभीप्सितम् ।

तद् भवतीति शेषः ॥

किं चैवमभिषिक्तः साधकोऽसौ—

भौमान्तरिक्षसिद्धिं च दिव्यां चैवैश्वरीं शुभाम् ॥ ७९ ॥

स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है ॥ ७६ ॥

अथवा—

पूर्वोक्त शुभ याग में पूर्वोक्त विधा (= विधि) से कुम्भ में वर्तमान इष्ट देवदेवेशी की पूजा करनी चहिये ॥ ७७ ॥

इसलिये—

कुम्भ के मध्य में स्थित लक्ष्मी का पूर्वोक्त विधि से ध्यान करने के बाद (= उसके मन्त्र का) जप कर पूर्व की भाँति १०८ बार (साधक का) अभिषेक करना चाहिये ॥ ७८ ॥

पूर्व की भाँति = पुण्याहवाचन मङ्गलध्वनि आदि के क्रम से ॥

आचार्य जिस साधक का अभिषेक करता है—

उसको अचल लक्ष्मी अथवा अचल राज्य या जो भी अभीष्ट है वह प्राप्त हो जाता है ॥ ७९- ॥

उसे प्राप्त हो जाता है—

तथा इस प्रकार से अभिषिक्त साधक—

पृथ्वी पर दूर दूर तक जाना, दूरस्थ घटना को जानना, अन्तरिक्ष में

यदपि चान्यत्—

ईहितं कामयेत्किञ्चित्..........

तत् सर्वमाराधिता देवी अस्मै—

..................सुप्रसन्ना प्रयच्छति ।

किं च—

आयुर्बलं यशः कीर्तिर्मेधा कान्तिः श्रियो वपुः ॥ ८० ॥
सर्वं विवर्धते तस्य यस्य वेश्मनि पूज्यते ।

तदित्थम्—

यः कश्चिदभिषिक्तो वा...........

तदुक्तध्यानादिक्रमेण—

...........यश्च वा साधयेत् प्रिये ॥ ८१ ॥

देवीमिमाम् ॥

असौ—

पूर्वोक्तं सर्वमाप्नोति शान्तिं पुष्टिं करोति च ।

भ्रमण करना अथवा दिव्य ईश्वरीय गति को प्राप्त करने आदि सिद्धियों को प्राप्त करता है ॥ ७९ ॥

इसके अतिरिक्त—

यदि वह किसी वस्तु की कामना करता है तो—आराधिता यह देवी प्रसन्न होकर वह सब उसे देती है ॥ ८०- ॥

तथा—

जिसके घर में इसकी पूजा होती है उसका आयु, बल, यश, कीर्त्ति, बुद्धि, कान्ति, लक्ष्मी, शरीर सब कुछ वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ -८०-८१- ॥

तो इस प्रकार—

जो कोई (पूर्वोक्त विधि से) अभिषिक्त होता है अथवा ॥ ८१- ॥

उस उक्त ध्यान आदि के क्रम से

हे प्रिये ! साधना करता है ॥ -८१ ॥

इस देवी की

वह

किं चोक्तध्यानादिक्रमेण—

पटे तु लिखिता देवी यस्य वेश्मनि पूज्यते ॥ ८२ ॥
पूर्वोक्तेन विधानेन तस्य सर्वं प्रयच्छति ।

अभीष्टं फलम् ॥

एवमेतदर्चापरस्य—

बहुनात्र किमुक्तेन सिंहस्येव यथा मृगाः ॥ ८३ ॥
पलायन्ते दिशः सर्वा दुष्टदोषाः सहस्रशः ।
किमन्यैर्मन्त्रवृन्दैश्च देवताराधनेन च ॥ ८४ ॥
यत्रैषा देवदेवेशी ध्याता जप्ता सुपूजिता ।

तत्र साधकस्येति शेषः, दुष्टा भूता अपस्माराद्याः, दोषाः व्याध्यादिदौर्गत्याद्याः ॥

अपि चैषा—

संग्रामकाले ध्यातव्या खड्गपत्रलतास्थिता ॥ ८५ ॥

पूर्वोक्त सब कुछ प्राप्त करता है । देवी उसकी शान्ति और पुष्टि करती है ॥ ८२- ॥

तथा उक्त ध्यान आदि के क्रम से,

वस्त्र पर चित्रित (= मूर्त्ति बनी हुई) देवी की जिसके घर में पूर्वोक्त विधान से पूजा होती है, देवी उसको समस्त (फल) देती है ॥-८२-८३-॥

अभीष्ट फल

यहाँ बहुत कहने से क्या लाभ ।

इसकी पूजा में संलग्न साधक को—

देख कर हजारों दुष्ट जीव एवं दोष चारो दिशाओं में उस तरह भागते हैं जैसे सिंह को देखकर अन्य जंगली जानवर । जिस स्थान में यह देवदेवेशी पूजित होती है और इसका ध्यान-जप किया जाता है वहाँ उस साधक के लिये अन्य देवताओं की आराधना व्यर्थ है अन्य मन्त्रों का जप भी निरर्थक है ॥ -८३-८५- ॥

'यत्र' के बाद 'तत्र साधकस्य' इतना जोड़ना चाहिये । दुष्ट = भूत प्रेत मिर्गी आदि । दोष = व्याधि आदि, दुर्गति आदि ॥

और भी—

युद्ध के समय तलवार (की धार) में स्थित इसका ध्यान करना

एवं कृते सति—

जयं प्रयच्छते तस्य रिपुदर्पापहा भवेत् ।

अतश्च—

संग्रामाग्रे सदा याज्या परराष्ट्रजिगीषुणा ॥ ८६ ॥

अग्रे प्रारम्भे ॥ ८६ ॥

अवश्यं जयमाप्नोति देवदेव्याः प्रसादतः ।

किं च—

अपि व्याधिशतार्तो वा दुःखदोषैः प्रपीडितः ॥ ८७ ॥
सर्वपापविलिप्तो वा कृत्याखार्खोदपीडितः ।
मन्त्रैर्यन्त्रैस्तथा ध्यानैर्जपहोमैर्विषादिकैः ॥ ८८ ॥

व्याध्यादिभिः परप्रयुक्तमन्त्रयन्त्रादिभिर्वा यः पीडितः, सोऽपि देव्याः प्रसादतो जयमाप्नोतीति संबन्धः ॥ ८८ ॥

चाहिये ॥ ८५ ॥

ऐसा करने पर—

(यह देवी) उस पूजक को विजय प्रदान करती है और उसके शत्रु के दर्प को चूर कर देती है ॥ ८६- ॥

इसलिये—

दूसरे राष्ट्र को जीतने की इच्छा वालों को सदा युद्ध के अग्र (= प्रारम्भ) में इसकी पूजा करनी चाहिये ॥ -८६ ॥

आगे अर्थात् प्रारम्भ में ॥ ८६ ॥

(पूजा करने वाला) देवदेवी के प्रसाद से अवश्य जय प्राप्त करता है ॥ ८७- ॥

और भी—

सैकड़ों व्याधियों से आर्त्त, दुःख एवं दोष से पीड़ित, समस्त पापों से विलिप्त, कृत्या नामक राक्षसी या खार्खोद (=दुष्ट पुरुष प्रेतात्मा) से पीड़ित (दूसरे के द्वारा प्रयुक्त) मन्त्र यन्त्र ध्यान जप होम विष आदि (से पीड़ित भी व्यक्ति) मुक्त हो जाता है ॥ -८७-८८ ॥

व्याधि (= शारीरिक कष्ट) आदि अथवा दूसरे शत्रु आदि के द्वारा प्रयुक्त मन्त्र यन्त्र आदि से जो पीड़ित है वह भी देवी की प्रसन्नता से विजय को प्राप्त कर लेता है—यह अन्वय है ॥ ८८ ॥

किं चेयम्—

चूर्णलेपाञ्जनादीनि कुहकानि च यानि च ।
करिष्यन्त्यरयो यत्र स्त्रियो वा पुरुषस्य वा ॥ ८९ ॥
पूजिता तेन विधिना तेषां प्रत्यङ्गिरा भवेत् ।

चूर्णादीनि वशीकारोच्चाटनाद्यर्थम् । कुहकानीति यन्त्रकृत्यादीनि यानि रिपवः करिष्यन्ति तेषाम, एषा उक्तेन विधिना पूजितेति, अर्थात् यं प्रति कुहकादि कृतं तेन प्रत्यङ्गिरा भवेदिति दुष्प्रयुक्तास्त्रवद् रिपूणामेव स्वपक्षनाशिनी स्यात् ॥

अतश्चेमाम्—

आश्रित्य परमां देवीं भक्त्या संपूजयेत्तु यः ॥ ९० ॥

सोऽभीष्टमाप्नोतीत्यर्थः ॥ ९० ॥

तत्र च—

यथा न दृश्यते दुष्टैः पापाचाररतैर्नरैः ।
मन्त्रसिद्धैस्तथा धूर्तैः समग्रैः कण्टकैस्तथा ॥ ९१ ॥
तथा सुगुप्ता यष्टव्या गोपिता सिद्धिदा भवेत् ।

इसके अतिरिक्त—

जिस स्त्री या पुरुष के प्रति शत्रुगण चूर्ण, लेप, अञ्जन, कुहक आदि का प्रयोग करते हैं; उक्त विधि से पूजित यह देवी उन शत्रुओं के लिये विपरीत प्रत्यङ्गिरा हो जाती है ॥ ८९-९०- ॥

चूर्ण लेप अञ्जन आदि का प्रयोग वशीकरण उच्चारण आदि के लिये किया जाता है । कुहक = यन्त्रकृत्य इत्यादि, ये सब कृत्य शत्रुलोग जिसके विरुद्ध करते हैं, उक्त विधि से पूजित यह देवी उसके लिये (विपरीत) प्रत्यङ्गिरा हो जाती है अर्थात् दुष्प्रयुक्त अस्त्र के समान यह शत्रुओं के पक्ष का नाश कर देती है ॥

इसलिये इस परमादेवी को उद्दिष्ट कर जो भक्तिपूर्वक इसकी पूजा करता है ॥ -९० ॥

वह अभीष्ट फल को प्राप्त करता है ॥ ९० ॥

इस सन्दर्भ में—

इस देवी की गुप्तरूप से पूजा करनी चाहिये ताकि दुष्टों पापियों, मन्त्रसिद्ध धूर्तों कण्टकों आदि के द्वारा (यह पूजा) न देखी जाय । इस प्रकार गुप्त एवं पूजित यह देवी सिद्धि प्रदान करती है ॥ ९१-९२- ॥

मन्त्रसिद्धैर्धूर्तैरिति क्षुद्रसिद्ध्यर्थाराधितमन्त्रैः । समग्रैः कण्टकैरिति शाकिन्याद्यैः ॥

तदित्थम्—

यागे होमे तथा जप्ये मुद्रायां ध्यानयोगतः ॥ ९२ ॥
सुगुप्तो ध्यायते देवीं यः सौभाग्यभाग्भवेत् ।

ध्यानयोगत इति ध्यानयोगेन यः सुगुप्तः सन् देवीं ध्यायतीति संबन्धः ॥

एतदेवोपपादयति—

अस्माद्दुष्टाश्च बहवो जिघांसन्ति सुखानि च ॥ ९३ ॥
अन्ये सौभाग्यसंत्यक्ता दौर्भाग्येन प्रपीडिताः ।
पश्यन्ति यागं होमं च जपं ध्यानविधिं सदा ॥ ९४ ॥
जनयन्ति महाविघ्नांस्तस्माद् गुप्ततमो विधिः ।

दुष्टाः पापिष्ठाः क्षुद्रकर्मरताश्च । सुखानि चेति चकारात् शरीरवित्तादीन्यपि । पश्यन्ति यागं होमं चेति चस्तुल्ययोगे । पश्यन्ति च विघ्नान् सदा जनयन्ति चेति यावत् ॥

मन्त्रसिद्ध धूर्त = छोटी-छोटी सिद्धियों के लिये मन्त्र की सिद्धि करने वाले । समग्र कण्टक = सम्पूर्ण शाकिनी डाकिनी आदि ॥

तो इस प्रकार—

जो साधक भली भाँति गोपनीय रूप से याग, होम, जप एवं मुद्रा में ध्यान योग के द्वारा देवी का स्मरण करता है वह सौभाग्यवान् हो जाता है ॥ -९२-९३- ॥

ध्यानयोगतः = ध्यानयोग के द्वारा, सुगुप्त होकर देवी का ध्यान करता है— यह अन्वय है ॥

इसी को स्पष्ट करते हैं—

चूँकि बहुत से दुष्ट ईर्ष्यावश लोगों के सुख को नष्ट करना चाहते हैं । दूसरे लोग सौभाग्य से रहित दुर्भाग्य से पीड़ित होकर याग होम जप ध्यानविधि को सदा देखते रहते हैं वे भी महाविघ्न उत्पन्न करते हैं । इसलिये यह विधि गुप्ततम रखनी चाहिये ॥ -९३-९५- ॥

दुष्ट = पापी छोटे कार्य में लगे हुए । 'सुखानि च' यहाँ पर 'च' से शरीर, धन आदि समझना चाहिये । 'पश्यन्ति यागं होमं[1] च' यहाँ चकार तुल्ययोग अर्थात् (याग और होम को) समान देखते हैं इस अर्थ में प्रयुक्त है । देखते हैं और सर्वदा

---

१. देवता का पूजन याग और अग्नि में देवतोद्देशेन द्रव्यप्रक्षेपण होम कहलाता है।

उक्तमर्थं निगमयति—

भावभेदेन यष्टव्या साधकेन विपश्चिता ॥ ९५ ॥
एकवीरक्रमेणाथ पूजिता वा सुरेश्वरी।
ददाति सर्वकामांश्च प्रसन्ना परमेश्वरी ॥ ९६ ॥

विपश्चिता व्याप्तिज्ञेन । सर्वकामांश्चेति चकाराद् मुक्तिम् ॥ ९६ ॥

भावभेदेनेत्युक्तिं स्फुटयति—

शैववैष्णवसिद्धान्तभेदेनैव सुपूजिता ।
भक्तानां चित्तभेदेन फलदा परमेश्वरी ॥ ९७ ॥

किं च—

चिन्तामणिर्यथा लोके चिन्तितार्थफलप्रदः ।
तथैषा तु महालक्ष्मीः सर्वकामफलप्रदा ॥ ९८ ॥

अयं चास्य महिमा, यत्—

देवासुरमनुष्याश्च नागगन्धर्वकिन्नराः ।
दैत्याः सदानवा यक्षा राक्षसाश्च पिशाचकाः ॥ ९९ ॥

विघ्न उत्पन्न करते हैं ॥

उक्त अर्थ का निष्कर्ष बतलाते हैं—

विद्वान् साधक (इस देवी की) भावभेद से पूजा करे । यह सुरेश्वरी एकवीर क्रम से पूजित होने पर प्रसन्न होकर सब इच्छाओं को पूरी करती है ॥ -९५-९६ ॥

विपश्चित् = व्याप्ति को जानने वाला । 'सर्वकामांश्च' यहाँ चकार से मुक्ति को भी देती है ॥ ९६ ॥

'भाव भेद से' इस कथन को स्पष्ट करते हैं—

शैव, वैष्णव, सिद्धान्त के भेद से तथा भक्तों के चित्तभेद से पूजित यह परमेश्वरी फल को देने वाली है ॥ ९७ ॥

तथा—

लोक में जैसे चिन्तामणि रत्न या मन्त्र चिन्तितविषयक फल देता है उसी प्रकार यह महालक्ष्मी सर्वकामफलप्रद है ॥ ९८ ॥

इसकी यही महिमा है कि—

देवता, राक्षस, मनुष्य, नाग, गन्धर्व, किन्नर, दैत्य, दानव, यक्ष,

भूतवेतालयोगिन्यो मातरो गुह्यकास्तथा ।
डाव्यो डामरिका देव्यो भगिन्यो दूतयस्तथा ॥ १०० ॥
तथा योगेश्वराः सर्वे यागसिद्धिसमुत्कटाः ।
महासिद्धिप्रसादेन सर्वे सिद्धाः सुसिद्धिताः ॥ १०१ ॥

पिशाचा अशुचिस्थानादिवासिन उल्कामुखाः, भूतास्त्वतिबलाः क्षेत्रपालाद्याः । वेतालाः शवशरीरावेशिनः श्मशानगाः । योगिन्यो योगाभ्यासासादितप्रभावाः । मातरो ब्राह्म्यादिपरिवारभूताः । योगेश्वरा योगेन परतत्त्वैक्येन ये ईश्वराः, न तु मितसिद्धिरसिकाः । योगसिद्धास्तु योगवशप्राप्तसिद्धिनिष्ठाः । सुसिद्धिता इति भावभेदानुसारासादितस्वोचितसिद्धयः ॥ १०१ ॥

एषा हि देवी—

आकरः सर्वसिद्धीनां महालक्ष्मीर्महाबला ।
आश्रितानां च भक्तानां साधकानां वरप्रदा ॥ १०२ ॥

सर्वभुक्तिमुक्तिप्रदेत्यर्थः ॥ १०२ ॥

राक्षस, पिशाच, भूत, वेताल, योगिनी, मातायें, गुह्यक, डावी, डामरिका, देवियाँ, भगिनियाँ, दूतियाँ, योगेश्वर लोग तथा यागसिद्धि में समुत्कट जीव—ये सब महासिद्धि के प्रभाव से सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं ॥ ९९-१०१ ॥

पिशाच = अपवित्र स्थान में रहने वाले उल्का (जलती हुयी मशाल अथवा आकाश से गिरने वाला तेज) जैसे मुख वाले (अथवा मुख में से उल्का निकालने वाले)। भूत = क्षेत्रपाल आदि जो कि अत्यन्त बलवान् होते हैं । वेताल = श्मशान में रहने वाले शव शरीर में स्थित । योगिनी = योग के अभ्यास से प्राप्तप्रभाव वाली । मातायें = ब्राह्मी आदि । गुह्यक = प्रधान यक्ष । डावी और डामरिका का रूप पहले ही बताया जा चुका है । देवियाँ = आकाश में घूमने वाली । भगिनी = ब्राह्मी आदि के अंश से उत्पन्न देवियाँ । दूतियाँ = ब्राह्मी आदि की परिवार । योगेश्वर = योग अर्थात् पर तत्त्व के साथ तादात्म्य स्थापित करने के कारण ईश्वर न कि परिमित सिद्धि को प्राप्त करने की इच्छा वाले । योगसिद्ध = योग के द्वारा सिद्धि को प्राप्त करने वाले । सुसिद्धित = भावभेद के अनुसार स्वोचित सिद्धि को प्राप्त किये हुए लोग ॥ १०१ ॥

यह देवी—

समस्त सिद्धियों की भण्डार है; महालक्ष्मी एवं महाबलवती है । आश्रितों भक्तों और साधकों को वरदान देने वाली है ॥ १०२ ॥

अर्थात् वह सब प्रकार का भोग और मोक्ष देने वाली है ॥ १०२ ॥

अस्याः परा हि जगतो नान्या काचित् सुखप्रदा ।
अणिमादिगुणा ये च सार्वज्ञ्याद्याश्च येऽपरे ॥ १०३ ॥
ते सर्वेऽस्याः प्रसादेन सिद्ध्यन्ते नात्र संशयः ।

एष च यथोक्तो यागः—

मोक्षार्थिना प्रकर्तव्य एकवीरस्तु पूर्ववत् ॥ १०४ ॥

श्रीमदमृतेशैकविषयः ॥ १०४ ॥

बुभुक्षोर्भोगसिद्धये प्रकारान्तरमप्याह—

अथवा शक्तिसंयुक्तं प्रतिष्ठापयते विभुम् ।
पूर्वसंभारसंयुक्तं प्रासादे तु मनोरमे ॥ १०५ ॥
शक्तिशक्तिमतोर्योगं स्थापयित्वा विधानतः ।

विधानतो व्याप्तिज्ञतया । शक्तिशक्तिमतोर्योगं स्थापयित्वा ज्ञानक्रिया-सामरस्यात्मरुद्रतच्छक्तिसमावेशमासाद्य ॥

यो महालक्ष्म्या सह देवं संभारेण प्रासादे प्रतिष्ठापयति, एतस्य—

इससे बढ़कर संसार में कोई भी (देवी या देव या पदार्थ) सुखप्रद नहीं है । अणिमा आदि जितने गुण हैं सर्वज्ञता आदि जो अन्य (गुण) हैं वे सब इसकी प्रसन्नता से सिद्ध होते हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ १०३-१०४- ॥

यह यथोक्त याग—

मोक्षार्थी के द्वारा किया जाना चाहिये । एकवीर (याग) पूर्व की भाँति करना चाहिये ॥ -१०४ ॥

(यह याग) केवल अमृतेशविषयक होता है ॥ १०४ ॥

भोगेच्छु के भोगों की सिद्धि के लिये दूसरा भी प्रकार बतलाते हैं—

अथवा सुन्दर प्रासाद में पूर्वसम्भार से युक्त विभु की शक्ति के साथ प्रतिष्ठा करनी चाहिये । विधानपूर्वक शक्ति और शक्तिमान् के जोड़े की स्थापना कर—॥ १०५-१०६- ॥

विधानपूर्वक = व्याप्तिज्ञता के साथ । शक्ति और शक्तिमान् के योग की स्थापना कर = ज्ञानक्रिया के सामरस्यरूपी रुद्र और उनकी शक्ति के समावेश को प्राप्त कर ॥

जो व्यक्ति महालक्ष्मी के साथ देव (= मृत्युञ्जयभट्टारक) की सम्भार के साथ प्रतिष्ठापना करता है उसके—

जन्मान्तरसहस्त्रैस्तु यत्पापं समुपार्जितम् ॥ १०६ ॥
तत्क्षणान्नश्यते देवि तूलराशिरिवानले ।

किं च—

इष्टमात्रस्तु देवेशः स्थापितो वापि दीक्षितैः ॥ १०७ ॥
कुल्यानुद्धरते सर्वान्............

सर्वान् कुल्यानिति पित्र्यादिकुल्यानुद्धरति ॥

कथम्—

..................दश पूर्वान् दशावरान् ।

प्रतिकुलं पूर्वान् परांश्च दश दश वंश्यानुद्धरतीत्यर्थः ॥

किं च—

यावत् प्रासादलिङ्गे च प्रतिमाचित्रभित्तिषु ॥ १०८ ॥
पाषाणे धातुषु तथा ध्वजेषु ध्वजयष्टिषु ।
संख्यानं परमाणूनां तावत्कालं भुनक्ति सः ॥ १०९ ॥
समुद्राः सरितो यावन्मरुच्चन्द्रार्कभूमयः ।
भोगान् सादाशिवे तत्त्वे भुक्त्वा निर्वाणमाप्नुयात् ॥ ११० ॥

हजारों जन्मों के समुपार्जित पाप उसी प्रकार तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं जैसे आग में रुई की राशि ॥ -१०६-१०७- ॥

और भी—

यह देवेश दीक्षितों के द्वारा पूजित अथवा स्थापित होने पर दीक्षित व्यक्ति के दश पूर्व वंशज दश उत्तर वंशज का उद्धार करते हैं ॥ -१०७-१०८- ॥

समस्त कुलोत्पन्न = पितृकुल एवं मातृकुल वालों के दश-दश पूर्ववर्त्ती एवं पश्चाद्वर्त्ती पुरुषों का उद्धार करते हैं ॥ १०७-१०७- ॥

और भी—

प्रासादलिङ्ग में, प्रतिमा से चित्रित दीवालों में, पत्थरों धातुओं ध्वजों और ध्वजयष्टियों में जितनी संख्या में परमाणु हैं उतने काल (= वर्षों) तक वह (= दीक्षित) भोगों को भोगता है । जब तक समुद्र, नदियाँ वायु चन्द्रमा सूर्य और पृथ्वी की स्थिति रहती है तब तक (वह दीक्षित व्यक्ति) सदाशिव तत्त्व में स्थित होकर भोगों को भोगने के बाद निर्वाण को प्राप्त करता है ॥ -१०८-११० ॥

पाषाणा बहि:प्राकारगा: । धातव: प्रासादगता: सुधाद्या: । ध्वजानि त्रिशूलाद्यानि । यावत् परमाणूनां संख्यानमित्यन्वय: । भुनक्ति भुक्ङ्ते । समुद्रा इति चिरकालताप्रतिपादनतात्पर्येण । तदुक्तम्—

'प्रतिमालिङ्गवेदीनां यावन्त: परमाणव: ।' इति ॥ ११० ॥

निर्वाणस्वरूपं दृष्टान्तेनोपपादयति—

यथा समुद्रं संप्राप्य सिन्धुः समरसीभवेत् ।
तथा शिवत्वमापन्नः पशुर्मुक्तो भवार्णवात् ॥ १११ ॥

सिन्धुर्नदी । शिवत्वमापन्न: परमशिवैक्यं प्राप्त: । पशुरिति प्रागवस्थापेक्षा उक्ति: ॥ १११ ॥

तदेवं प्रतिष्ठापको भुक्तिमुक्त्यात्म—

प्रतिष्ठाफलमेतद्धि प्राप्नुयान्नात्र संशयः ।

एवं महालक्ष्म्या यागं प्रतिष्ठां चोक्त्वा मृतोद्धारदीक्षां विशेषाख्यानपूर्वं वक्तुमाह—

अदीक्षिते तु नृपतौ तत्सुतेषु द्विजातिषु ॥ ११२ ॥

पाषाण = मन्दिर के बाहरी चहारदीवारी में लगे हुए । धातु = प्रासाद में लगे चूना रंग रोगन आदि । ध्वज = त्रिशूल आदि । जितनी परमाणुओं की संख्या है—ऐसा अन्वय है । भुनक्ति = भोग करता है । समुद्र का कथन चिरकालता को बतलाने के लिये है । वही कहा गया—

'प्रतिमा, लिङ्ग और वेदी के जितने परमाणु हैं' ॥ ११० ॥

दृष्टान्त के द्वारा निर्वाण का स्वरूप बतलाते हैं—

जिस प्रकार समुद्र को प्राप्त कर नदी (समुद्र के) समरस हो जाती है उसी प्रकार पशु भी शिवत्व को प्राप्त होकर संसारसागर से मुक्त हो जाता है ॥ १११ ॥

सिन्धु = नदी । शिवत्व को प्राप्त = परमशिव के साथ एक हुआ । पशु—यह कथन मुक्ति के पहले की जीवावस्था को बतलाता है ॥ १११ ॥

इस प्रकार (शक्तिसंयुक्त देव का) प्रतिष्ठापक भुक्तिमुक्तिरूप—

इस प्रतिष्ठाफल को प्राप्त करता है । इसमें सन्देह नहीं ॥ ११२- ॥

इस प्रकार महालक्ष्मी के याग और उनकी प्रतिष्ठा को बतलाकर विशेष आख्यान को बतलाते हुए मृतोद्धारी दीक्षा को बतलाते हैं—

हे देवि ! राजा, राजपुत्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, भोगों में लिप्त होने

भोगालसेषु वा देवि कर्मदोषैश्च विघ्निते ।

अदीक्षित इति अप्राप्तदीक्षे सर्वस्मिन्, नृपतत्सुतादौ तु दीक्षितेऽप्यसम्यक्-प्रजापालनपातकस्य संभाव्यत्वात्, द्विजातिषु प्राप्तदीक्षेष्वपि दृढजातिग्रहानिवृत्तेः, भोगालसेष्विति सबीजदीक्षादीक्षितेष्वपि जातिभोगासङ्गत्वाद् लुप्तसमयेषु, समय-पालनपरोऽपि वा यो दैवदोषविघ्नितत्वाद् लुप्तसमयः संभाव्यते, तेष्वेव मृतेषु बन्धुमुख्याद्यायातशक्तिपातेषूद्धरणाय दीक्षार्थं परमेश्वरो यष्टव्य इति भाविग्रन्थेन संबन्धः ॥

किं च, यैरन्यैः—

न चेष्टं न तपस्तप्तं न ध्यातं न प्रतिष्ठितम्॥ ११३ ॥
परमेशविषयं न कृतं यागादि तेष्वपि ।

तोयोद्बन्धनकुक्षिप्रहारादिजेन—

पातित्येन मृतानां तु येषां नरकसंस्थितिः ॥ ११४ ॥

किं च—

के कारण आलसी, कर्मदोष के कारण विघ्नयुक्त (व्यक्ति) ये सब यदि दीक्षा न प्राप्त किये हों ॥ -११२-११३- ॥

अदीक्षित = इन सब के दीक्षा न प्राप्त करने पर । राजा और उसके पुत्र आदि दीक्षित होने पर भी प्रजा का सम्यक् पालन न करने से पाप-लाभ की सम्भावना वाले, होते हैं । द्विजाति के लोग दीक्षित होकर भी जाति के दृढ़ ज्ञान से निवृत्त नहीं होते । भोग के कारण आलसी = सबीज दीक्षा से दीक्षित लोग भी जन्म एवं भोग के आसक्ति के कारण आचार छोड़ देते हैं । या कोई आचार का पालन करते रहते हैं किन्तु दैवदोष से विघ्नित होने के कारण उनका आचारपालन रुक जाता है । उनके मरने पर भाई बन्धु या निकटवर्त्ती आदि के द्वारा जिसके ऊपर शक्तिपात का आधान किया गया है उनके उद्धार के लिये दीक्षाहेतु, परमेश्वर की पूजा करनी चाहिये—ऐसा भावी ग्रन्थ से अन्वय है ॥

इसके अतिरिक्त जो दूसरे लोग—

न यज्ञ किये, न तपस्या, न ध्यान किये, न प्रतिष्ठा (= देवतायतन आदि की स्थापना)। अथवा जिन्होंने परमेश्वर विषयक याग आदि नहीं किया उनके विषय में भी ॥ -११३-११४- ॥

पानी में डूबकर, फाँसी लगाकर अथवा छाती पर शस्त्र के प्रहार आदि से उत्पन्न—

पातित्य (= अधम रूप से अकाल) मृत्यु को प्राप्त होने पर नरक में वर्त्तमान हैं ॥ -११४ ॥

निदानैर्बहुभिर्देवि बालस्त्रीवृद्ध आतुरे ।

लूतादोषविषाशनक्षुद्रयोगेशभक्षणभृगुपतनादिकारणैर्बालादिके मृते नरकपातादि संभाव्यते ॥

तेषु सर्वेषु—

मृतेषूद्धरणार्थाय दीक्षार्थं परमेश्वरः ॥ ११५ ॥
यष्टव्यः पूर्ववद्देवः............

उद्धरणं नरकभूमितो मन्त्रजालयोगक्रमेण कर्षणम्, अर्थौ भुक्तिमुक्ती तदर्थम्, या दानक्षपणार्थं दीक्षा, तत्संपत्तये देवः प्राग्वत् संभारेण पूज्यः ॥

किं च—

............विशेषात्तत्र चाकृतिः ।
कर्तव्या रजसावश्यं सदृशी द्वादशाङ्गुला ॥ ११६ ॥
कार्या वा गोमयाद्देवि कुशैर्वा स्नानशोधिता ।

रजसा शालिचूर्णेन । राजतेत्यपपाठः । सदृशीति मृतदेहेन ॥

अथवा—

हे देवि ! अनेक कारणों से बाल स्त्री वृद्ध एवं रोगी के—॥ ११५- ॥

मकड़ी (के काटने), विषभक्षण, क्षुद्रयोग (= निकृष्ट तान्त्रिक या अभिचारिक प्रयोग) ईशभक्षण (= पारद को खाना) भृगुपतन (= पहाड़ पर से गिरना) आदि कारणों से बालक आदि के मरने पर नरकगमन आदि सम्भावित होते हैं ॥

उनके सबके—

मरने पर उनके उद्धार के लिये परमेश्वर की पूर्व की भाँति पूजा करनी चाहिये ॥ -११५-११६- ॥

उद्धार = नरक भूमि से मन्त्रजालयोग के द्वारा जीव की खींचना । अर्थ = भोग-मोक्ष उसके लिये । ज्ञान का दान एवं पशुवासना के क्षपण के लिये जो दीक्षा उसकी प्राप्ति के लिये परमेश्वर की सम्भार के साथ पूजा करनी चाहिये ॥

विशेषरूप से वहाँ (= यागप्रासाद में) चूर्ण से मृतव्यक्ति के समान आकृति बनानी चाहिये । अथवा बारह अंगुल की आकृति बनायी जाय । हे देवि ! वह आकृति गोबर या कुशों से बनायी जा सकती है । बाद में उसे स्नान कराकर शुद्ध करना चाहिये ॥ -११६-११७- ॥

चूर्ण = साठी के चावल के चूर्ण से । 'रजसा' की जगह 'राजत' यह दुष्ट

न चात्राधिवासः कार्यः—इत्याह—

दीक्षैव तत्र संस्कारः................

केवलं भगवदर्चाहोमानन्तरम्—

'मूलाधारादुदेत्य प्रसृतसुवितताननन्तनाड्यध्वदण्डं
वीर्येणाक्रम्य नासागगनपरिगतं विक्षिपन् व्याप्तुमीष्टे ।
यावद्धूमाभिरामप्रचिततरशिखाजालकेनाध्वचक्रं
संच्छाद्याभीष्टजीवानयनमिति महाजालनामा प्रयोगः ॥'

(तं० २१।२५)

इति गुर्वादिष्टसंप्रदाययुक्त्या मायाबीजावमर्शतो मायाजालेन, यद्वा—

'मध्ये नादः षण्ठस्वरा अवर्गः कचावङ्ञौ ।
अणनौ टतौ ङञणनाः पाद्या अष्टानु यादयो मूर्धा ॥'

इति मध्यस्थनादकषडावृत्तिमातृकाजालप्रयोगेण पूर्वोक्तं दीक्ष्यम्—

.........व्याप्त्या यवस्थमानयेत् ॥ ११७ ॥

पाठ है । सदृशी = मृतशरीर के बराबर ॥

यहाँ अधिवास नहीं करना चाहिये—यह कहते हैं—

वहाँ दीक्षा ही संस्कार है ॥ -११७- ॥

केवल भगवान् की पूजा एवं होम के बाद—

'स्वात्मस्थ होने के बाद अश्विनी मुद्रा की सहायता से मूलाधार चक्र से उठकर फैले हुए विस्तृत अनन्त (= साढ़े तीन करोड़) नाडीरूपी अध्वदण्ड मार्ग का वीर्य के द्वारा अतिक्रमण करे । वहाँ सांस को रोक कर इसके बाद नासिका के आकाश से प्राणवायु को निकालते समय उस वायु से पूरे विश्व को व्याप्त करने की भावना करे । इससे सारा विश्व धूम से व्याप्त हो जाता है । इस धूम की मलिनता को हटाने के लिये चिदग्नि रूपी जाल से समस्त अध्वचक्र को आच्छादित करने के कारण वह अभीष्ट जीव भी उस जाल में फँस कर आ जाता है । यही महाजाल नामक प्रयोग है ।' (तं. आ. २१.२५)

गुरु के द्वारा आदिष्ट इस सम्प्रदाय की युक्ति के द्वारा मायाबीज (= ह्रीम्) के अवमर्श के कारण मायाजाल के द्वारा अथवा

'मध्य में नाद, षण्ठ स्वर (= ऋ ॠ ऌ ॡ), अवर्ग (= अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ) क च अ ङ ञ अ ण न ट त, ङ ञ ण न तथा पवर्ग (ये मिलकर) आठ होते हैं । य र ल आदि मूर्धा होते हैं ।' इस प्रकार वर्णित मध्यस्थनाद कषड रूपी आवृत्ति वाले मातृकाजाल के प्रयोग के द्वारा, पूर्वोक्त दीक्ष्य व्यक्ति को.........

व्याप्त्येति विश्वव्यापिचिद्धामावेशतः । तदुक्तं श्रीहंसपारमेश्वरे—

'सर्वार्चनं स्थण्डिले स्यान्न च तत्राधिवासनम् ।'

इत्युपक्रम्य—

'निष्कलः सकलः शान्तो ह्यहमेव परः शिवः ।
परमात्मा सर्वगतो जगद्व्याप्तं मयाखिलम् ॥
एवं ध्यानगतः कुर्याद्रेचकं पूरकं ततः ।
कुम्भकान्तं रेचकेन निक्षिपेदखिलं शनैः ॥
रेचकान्तं पुनः स्वान्ते द्वादशान्ते स्वशक्तिकाम् ।
लक्षयेदङ्कुराकारां सर्वाण्डान्तरचारिणीम् ॥
मायाबीजं समुच्चार्य चैतन्यं लिङ्गसंयुतम् ।
शुद्धमम्बुकणाकारं यत्र स्रोतोऽन्तरे स्थितम्॥
गृहीत्वा तत्प्रयोगेण महाजालेन युक्तितः ।
गृहीतं हृदयं स्थाप्यं बीजाभिख्यासमन्वितम् ॥' इति ॥ ११७॥

इत्थमेकं बहून् वा आनीय—

अणूंश्च योजयेत्तस्यां...............

व्याप्ति के द्वारा यवस्थ (= य व रूपी बीज में चित् की व्याप्ति को) ले आये ॥ -११७ ॥

व्याप्ति के द्वारा = विश्वव्यापी चिद्धाम के आवेश के द्वारा । वही श्री हंसपरमेश्वर में कहा गया—

'स्थण्डिल पर सबकी पूजा तो होती है लेकिन वहाँ अधिवासन नहीं होता ॥'

ऐसा प्रारम्भ कर—

'मै ही निष्कल सकल शान्त परम शिव हूँ । मैं ही परमात्मा और सर्वगामी हूँ। मेरे द्वारा सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है । इस प्रकार ध्यानावस्थ होकर रेचक और पूरक को कुम्भक के अन्त तक करना चाहिये । फिर रेचक के द्वारा धीरे-धीरे समस्त अन्तर्ध्यात जगत् को बाहर निकालना चाहिये । रेचक के अन्त में फिर अपने द्वादशान्त में अपनी शक्ति जो कि अङ्कुर के आकार की तथा समस्त अण्डों (= ब्रह्माण्ड प्राकृताण्ड मायाण्ड एवं शाक्ताण्ड) में सञ्चरण करने वाली है, का ध्यान करना चाहिये । फिर माया बीज (= ह्रीं) का उच्चारण कर जिस स्रोत (= मध्यमार्ग = सुषुम्ना) में स्थित है वहाँ से युक्तिपूर्वक महाजाल के प्रयोग द्वारा बीज की अभिख्या से युक्त जल के कण के समान चैतन्य (= जीव) जो कि लिङ्ग से युक्त है को शुद्ध हृदय में स्थापित करना चाहिये' ॥ ११७ ॥

इस प्रकार एक या अनेक (जीवों) को लाकर—

प्रतिकृतावेकस्यामनेकस्यां वा न्यस्येत् ॥

ततो जीवद्दीक्षावदध्वशुद्धिं सकलां कृत्वा तां प्रतिकृतिं शिखावत्—

.............पूर्णाहुत्या सह क्षिपेत् ।

परे शिवाग्नौ जुहुयात् ॥

योजन्या शिवतत्त्वे तु............

श्रीस्वच्छन्दादिष्टयोजनिकाप्रकारेण तं शिवतत्त्वे नियोजयेत् ॥

इत्थं प्रबुद्धाचार्यवर्यविहितदीक्षादीक्षित:—

...........ततः सायुज्यभाग्भवेत् ॥ ११८ ॥

शिवैक्यमियात् ॥ ११८ ॥

यद्वोक्तजनानामनुग्रहाय—

श्राद्धे संपूजयेद्देवमन्त्येष्टावथवा यजेत् ।

अणुओं को उस (चूर्ण या कुश आदि से निर्मित लिङ्ग) में जोड़ना चाहिये ॥ ११८- ॥

एक अथवा अनेक प्रतिकृति (= लिङ्ग) में जोड़ना चाहिये ॥

इसके बाद जीवित व्यक्ति की दीक्षा के समान समस्त अध्वा की शुद्धि कर उस प्रतिकृति को शिखा के समान (= जैसे शिखा न रखने वाले अपनी शिखा काटकर अग्नि में डाल देते हैं उस प्रकार)—

पूर्णाहुति के साथ (अग्नि में) डाल देना चाहिये ॥ -११८- ॥

पर शिवाग्नि में उसका हवन करना चाहिये ॥ ११७- ॥

योजनिका दीक्षा के द्वारा उसे शिवतत्त्व से संयुक्त करे ॥ -११८- ॥

श्रीस्वच्छन्दतन्त्र में कथित योजनिकाप्रकार के द्वारा उस (जीव) को शिवतत्त्व में नियोजित करे ॥

इस प्रकार प्रबुद्ध आचार्य के द्वारा विहित दीक्षा से दीक्षित—

होने के बाद (वह शिष्य) शिवसायुज्य का भागी हो जाता है ॥-११८॥

अर्थात् शिवैक्य को प्राप्त हो जाता है ॥ ११८ ॥

अथवा उक्त लोगों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये

श्राद्ध में उस देवाधिदेव की पूजा करे अथवा अन्त्येष्टि में उनका यजन करे ॥ ११९- ॥

तत्र सैद्धान्तिकश्राद्धविधिस्तावत् प्रसिद्धः, रहस्यविधौ तु—

'गुरुरन्नमयीं शक्तिं बृंहिकां वीर्यरूपिणीम् ।
ध्यात्वा तया समाविष्टं तं साध्यं चिन्तयेत् सुधीः ॥
ततोऽस्य पाशवांशो यो भोगरूपस्तमर्पयेत् ।
भोक्तर्येकात्मभावेन शिष्य इत्थं शिवीभवेत् ॥'

इत्येवं नैवेद्यनिवेदनयुक्त्यैवोक्तः, मृतोद्धारोऽन्त्येष्टिः शवशरीरे, श्रीसिद्धायां तु—

'अन्तिमं तु भवेत् पूर्वं तत्कृत्वान्तिममादिमम् ।
संहृत्यैकैकमिष्टिर्या सान्त्येष्टिर्द्वितयी मता ॥
पूजाध्यानजपप्लुष्टसमये न तु साधके ।
पिण्डपातादयं मुक्तः खेचरो वा भवेत् प्रिये ॥
आचार्ये तत्त्वसंपन्ने यत्र तत्र मृते सति ।
अन्त्येष्टिर्नैव विद्येत शुद्धचेतस्यमूर्धनि ॥
मन्त्रयोगादिभिर्ये तु मारिता नरकेषु ते ।
कार्या तेषामिहान्त्येष्टिर्गुरुणातिकृपालुना ॥'

इत्यादिष्टम् । मन्त्रप्रातिलोम्याद् वीरक्रमेण समये पुत्रकद्वितये कार्या, न

सैद्धान्तिक श्राद्धविधि तो प्रसिद्ध है । रहस्यविधि में—

'सुधी गुरु संवर्धन करने वाली वीर्यरूपिणी अन्नमयी शक्ति का ध्यान कर, 'साध्य उस शक्ति से समाविष्ट है'—ऐसा चिन्तन करे । इसके बाद इस साध्य का जो भोगरूप पाशवांश है उसे शिव को समर्पित करे । इस प्रकार भोक्ता (= शिव) के साथ एकात्म होने से शिष्य शिवस्वरूप हो जाता है ।'

इस प्रकार नैवेद्यनिवेदन युक्ति के द्वारा यह विधि कही गयी है । मृतोद्धारी (दीक्षा) ही अन्त्येष्टि है और वह मृतशरीर से होती है । श्री सिद्धातन्त्र में—

'पहले अन्तिम संस्कार होता है । उसको करने के बाद अन्तिम और आदिम को मिलाकर जो एक-एक इष्टि की जाती है वह अन्त्येष्टि दो प्रकार की मानी गयी है । जो साधक पूजा ध्यान जप के द्वारा अपना समय (= साम्प्रदायिक सिद्धान्त) नष्ट कर देता है अर्थात् उसके ऊपर उठ जाता है लेकिन जो—साधनारत है (अपरिक्व है वह नहीं) हे प्रिये देहपात के बाद वह मुक्त अथवा खेचर (= देवता) हो जाता है । यदि तत्त्वज्ञानसम्पन्न आचार्य कहीं मर जाय तो शुद्धचित्त वाले एवं अमूर्धा (= देहाभिमानरहित) के विषय में अन्त्येष्टि का विधान नहीं है । जो लोग मन्त्र योग या अभिचार आदि से मारे जाते हैं, फलतः नरक में स्थित होते हैं अत्यन्त कृपालु गुरु के द्वारा उनकी अन्त्येष्टि की जानी चाहिये ॥'

ऐसा कहा गया है । मन्त्र के प्रातिलोम्य (= उल्टे क्रम) के कारण वीरक्रम से

त्वभियुक्ते साधकेऽमूर्धनि त्यक्तदेहाभिमाने चिदानन्दघने आचार्ये चेति तात्पर्यम् । श्रीकुलार्णवेऽपि—

'ये केचिल्लुप्तसमया ये वा मार्गद्विषो नराः।
प्राप्य मार्गं तु मुञ्चन्ति ये केचिदधमा नराः॥
अत एषां महाभागे अन्त्येष्टिं कथयामि ते ।'

इति लुप्तसमयादावन्त्येष्टिदीक्षा उक्ता ॥

अथ मृतनिलयप्रतिष्ठयाऽनुग्राह्यानुग्रहः कार्यः—इत्याह—

प्रतिष्ठाप्यं तथा देवि दग्धपिण्डे श्मशानके॥ ११९ ॥
पूर्वोक्तैर्द्रव्यसंभारैर्गुरुणा प्राग्विधानतः ।
पूर्वोक्तं भीषणं रूपं शक्तिद्वयसमन्वितम् ॥ १२० ॥

दग्धपिण्डे प्लुष्टदेहस्थाने । पूर्वोक्तमिति—भैरवीयं शक्तिद्वयं कृशस्थूलम् ॥ १२० ॥

यद्वा मध्यस्थभैरवपार्श्वगाः—

चतस्रोऽष्टावथो देवि पूर्वध्यानावलोकिताः ।

(= कौलक्रम के नियम से) समय (= नियम को शिष्य को सुनाने के विषय में) दृष्टि करनी चाहिये ।

न कि अभियुक्त साधक के विषय में । मूर्धारहित = देहाभिमान को छोड़कर चैतन्यघनभाव को प्राप्त आचार्य के (मरने पर) यह तात्पर्य है । कुलार्णवतन्त्र में भी—

'जो लोग समयाचार का त्याग कर दिये या जो मनुष्य कौलमार्ग के निन्दक हैं या जो नीच मनुष्य कौलमार्ग को स्वीकार कर पुनः उसे छोड़ देते हैं, हे महाभागे ! मैं तुमको उनकी अन्त्येष्टि बतलाता हूँ ॥'

इस प्रकार लुप्तसमयाचारी आदि के विषय में अन्त्येष्टि दीक्षा कही गयी है ॥

अब मृतनिलयप्रतिष्ठा के द्वारा अनुग्राह्य के ऊपर अनुग्रह करना चाहिये यह कहते हैं—

हे देवि ! श्मशान में शरीर के जल जाने पर गुरु के द्वारा पूर्वोक्त द्रव्यसमूह की सहायता से पूर्वोक्त विधान के अनुसार शक्तिद्वयसमन्वित पूर्वोक्त भीषणरूप की स्थापना करनी चाहिये ॥ -११९-१२० ॥

पिण्ड के जल जाने पर = देहस्थान के दग्ध होने पर । पूर्वोक्त = भैरवीय । शक्तिद्वय = कृश और स्थूल ॥ १२० ॥

अथवा मध्यस्थ भैरव की पार्श्ववर्त्तिनी—

सिद्धाद्याश्चतस्त्रः, काल्यादिदूतीभिः सहाष्टौ पूर्वोक्तेन दशमाधिकारोक्तेन ध्यानेनावलोकिता ध्याताः सत्यः प्रतिष्ठाप्या ॥

यस्यैवं प्रतिष्ठा क्रियते, असौ—

पूर्वोक्तफलमाप्नोति इत्याज्ञा पारमेश्वरी ॥ १२१ ॥

अतिविततकालं भोगलक्ष्मीमासादयतीति शिवम् ॥ १२१ ॥

केन नाम न रूपेण चिदात्मपरमेशितुः ।
अनुग्रहाय जगतां स्फुरन्नेत्रमुपास्महे ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योते अष्टादशोऽधिकारः ॥ १८ ॥
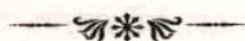
हे देवि ! चार अथवा आठ पूर्व ध्यान के द्वारा अवलोकित ॥ १२१-॥

सिद्धा आदि चार (देवियाँ) काली आदि चार दूतियों के साथ मिलकर आठ होती हैं । ये पूर्वोक्त = दशम अधिकार में उक्त, ध्यान के द्वारा अवलोकित = ध्यात, होकर प्रतिष्ठापित की जानी चाहिये ॥

जिसकी इस प्रकार प्रतिष्ठा की जाती है, वह—

पूर्वोक्त फल को प्राप्त करता है यह परमेश्वर की आज्ञा है ॥ -१२१॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के अष्टादश अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १८ ॥
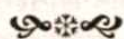
अनन्तकाल तक भोगलक्ष्मी को प्राप्त करता है ॥ १२१ ॥

संसार के ऊपर अनुग्रह करने के लिये चित्स्वरूप परमेश्वर का नेत्र किस रूप से स्फुरित नहीं होता (अर्थात् सब रूपों से स्फुरित होता है) । उस नेत्र की हम उपासना करते हैं ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के अष्टादश अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १८ ॥
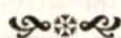
एकोनविंशोऽधिकारः

* नेत्रोद्योतः *

छायाच्छिद्राणि सर्वाणि दुर्दृष्टिप्रसरादयः ।
यस्मिन् स्फुरति नश्यन्ति नेत्रोद्द्योतं तमाश्रये ॥

पटलसङ्गतिपूर्वं छायाच्छिद्रदृष्टिपातादिप्रशमोपायदिदर्शयिषया श्रीदेवी उवाच—

कथितं देवदेवेश प्राणिनां हितकाम्यया ।
अमृतेशविधानं तु सर्वरक्षाकरं परम् ॥ १ ॥
इदानीं श्रोतुमिच्छामि संशयो मे हृदि स्थितः ।
दृष्टिपातं प्रकुर्वन्ति मनुजे मातरः सदा ॥ २ ॥

---

* ज्ञानवती *

इन्द्रादीनां प्रणोदाज्जननिगणमहाभूतयक्षादिकं प्राक्
सृष्ट्वा तैरर्दितासु प्रबलवरयुतैर्मृत्युलोकप्रजासु ।
रक्षायै जीवितानां मनुशतमयुतं यत् ससर्ज प्रसन्नं
तन्नेत्रं स्ताच्छिवायाभिमतफलप्रदं कामरत्नं यथा वै ॥

समस्त छायाछिद्र दुष्टदृष्टि का प्रसार आदि जिसके स्फुरित होने पर नष्ट हो जाते हैं उस नेत्रोद्योत की शरण में हम जाते हैं ।

पूर्वपटल की संगति को बतलाने के बाद छायाछिद्रदृष्टिपात आदि जो कि शान्ति के उपाय हैं, को बतलाने की इच्छा से श्री देवी ने कहा—

हे देवदेवेश ! प्राणियों के हित की इच्छा से आपने अत्यन्त उत्कृष्ट एवं सबके रक्षक अमृतेशविधान को बतलाया । अब जो संशय मेरे मन में स्थित है, (उसके निराकरण) को सुनना चाहती हूँ । मनुष्य के ऊपर

असंख्यातास्तु ता देव्यो ह्यप्रमेयबलान्विताः ।
छायाच्छिद्रेण बाधन्ते योगिन्यो बलवत्तराः ॥ ३ ॥
अत्यन्तमलिनास्तीव्रा निस्त्रिंशा निर्भया दृढाः ।
हिंसकाः सर्वजन्तूनां बालानां च विशेषतः॥ ४ ॥
न संख्या विद्यते तेषां तत्रोपायं वदस्व मे ।

श्रोतुमिच्छामीति दृष्टिपातादिप्रशमोपायं प्रश्नेन विषयीकृतम् । दृष्टिपातो जिघांसया निरीक्षणम् । मातरो भूचर्याद्याः । छाया रजस्वलासूतिकापापिष्ठादिभिर्दीयमाना प्रशस्तस्य जन्तोर्भूतादिस्वीकृतिहेतुः, छिद्रमरण्ये रोदनादि । अत्यन्तमलिनास्तामसाः । तीव्राः क्रोधप्रकृतयः । निस्त्रिंशा निर्घृणाः । दृढाः प्रारब्धकुकर्मणो दुर्निवारा ग्रहाद्याः । हिंसका इति तेषामिति चैकशेषः ॥

एतदेव च्छायादिसतत्त्वप्रकाशनाशयेनाप्याह—

छायारूपं छलं यत्तद्दृष्टिपातच्छलं तथा ॥ ५ ॥
प्रकुर्वन्ति सदा देव च्छाया सा कतिधा स्मृता ।
दृष्टिपातभयं किं वा कथं वा विनिवर्तते ॥ ६ ॥
एतत्सर्वं समासेन प्रसादाद्वद शूलधृक् ।

मातायें सदा दृष्टिपात करती रहती हैं । वे देवियाँ असंख्य हैं और अप्रमेय बल से युक्त हैं । बलवत्तर योगिनियाँ छायाछिद्र (= अल्पदोष) के द्वारा (लोगों को) कष्ट पहुँचाती हैं । ये अत्यन्त मलिन, तीव्र, निरंकुश, निर्भय, हठी सभी प्राणियों की विशेषरूप से बालकों की हिंसक होती हैं । उनकी संख्या नहीं है । (उनसे रक्षा का) उपाय मुझे बतलाइये ॥ १-५- ॥

प्रश्न के विषयभूत दृष्टिपात आदि की शान्ति के उपायों को सुनना चाहती हूँ । दृष्टिपात = मारने की इच्छा से देखना । मातायें = भूचरी आदि । छाया = रजस्वला प्रसूता अथवा पापिनी स्त्रियों आदि के द्वारा सुखी जन्तु के ऊपर भूत आदि के आवेश को चढ़ाना । छिद्र = जंगल में रोना आदि । अत्यन्त मलिन = तामसी । तीव्र = क्रोधी स्वभाववाली । निस्त्रिंश = घृणास्पद । दृढ़ = प्रारब्ध कुकर्म के दुर्निवार ग्रह आदि । हिंसकाः, तेषाम् इन पदों में एक शेष है (अर्थात् हिंसकाश्च हिंसिकाश्चेति हिंसकाः । उसी प्रकार ता श्च ते च इति ते, तेषाम् । यहाँ 'पुमान् स्त्रिया' (पा.सू. १.२.६७) से एकशेष समास है ॥

इन्हीं छाया आदि तत्त्वों को बतलाने के अभिप्राय से कहते हैं—

हे देव! जो छायारूप छल है अथवा जो दृष्टिपात छल है जिसे कि (भूचरी आदि) करती रहती हैं वह छाया कितने प्रकार की कही गयी है । हे त्रिशूलधारी ! दृष्टिभय क्या है, वह कैसे दूर होता है यह सब संक्षिप्तरूप से प्रसन्न होकर बतलाइये ॥ -५-७- ॥

अथैतन्निर्णेतुं श्रीभगवानुवाच—

श्रूयतां संप्रवक्ष्यामि च्छायायाश्चैव निर्णयम् ॥ ७ ॥

चकाराद् दृष्टिपातादेः ॥ ७ ॥

तत्र—

अप्रमेया ह्यनन्ताश्च मातरो बलवत्तराः ।
भूताश्च विविधाकारा ह्यनन्ताश्च महाबलाः ॥ ८ ॥
यक्षरक्षःपिशाचाश्च ये चान्ये हिंसका दृढाः ।
न संख्या विद्यते तेषां..........

अप्रमेया अनन्ता इति जातिव्यक्तिभेदादुक्तिद्वयम् । अन्ये इति ग्रहाद्याः ॥

एते हि—

...........कोटिभेदेन संस्थिताः ॥ ९ ॥

तेन तादृशमुपायम्—

संक्षेपेण प्रवक्ष्यामि मुच्यन्ते येन बालकाः ।
स्त्रियश्च मनुजा वापि नृपपत्न्यश्च तत्सुताः ॥ १० ॥

छायादिदोषैः ॥ १० ॥

इसको स्पष्ट करने के लिये श्री भगवान् ने कहा—

सुनो ! मैं छाया का निर्णय (= स्वरूप) बतलाऊँगा ॥ -७ ॥

श्लोक में 'च' से दृष्टिपात आदि का ग्रहण है ॥ ७ ॥

मातायें अप्रमेय अनन्त और अत्यन्त बलवती हैं । भूत भी अनेक आंकार वाले असंख्य और महाबली हैं । जो हिंसक एवं दृढ़ यक्ष राक्षस और पिशाच तथा अन्य जीव हैं उनकी भी संख्या नहीं है ॥ ८-९- ॥

अप्रमेय और अनन्त यह जो दो कथन है वह जाति एवं व्यक्ति के भेद से है अर्थात् उनकी अनेक जातियाँ हैं तथा एक-एक जाति में उनकी व्यक्तिगत संख्या भी अनन्त है । अन्य = ग्रह आदि ॥

ये सब एक करोड़ भेदवाले हैं ॥ -९ ॥

इसलिए वैसा उपाय कहते हैं—

इसलिये मैं संक्षेप में उस प्रकार का उपाय बतलाऊँगा जिससे बालक स्त्रियाँ एवं पुरुष, राजपत्नियाँ और राजपुत्र ॥ १० ॥

छाया आदि दोषों से मुक्त हो जाते हैं ॥ १० ॥

किं च—

यथा त्यजन्ति बलिनो यागव्रतपरायणाः ।
मन्त्रसंनद्धदेहाश्च ह्यप्रमेयबलान्विताः ॥ ११ ॥

त्यजन्तीति गृहीतान् तान् बालादीन् भूतग्रहाद्याः । यागेति पशूपहारयुक्त्यैव भगवदर्चानिष्ठाः ॥ ११ ॥ भूताद्या हि सर्वे

पुराकल्पे समुत्पन्ना नानाजन्मसहस्रशः ।
सर्वत्र हिंसकाः क्रूराः सर्वकालं जिघांसवः ॥ १२ ॥
यागार्थमुद्यताः सर्वे भैरवानुचराः सदा ।
तच्छक्त्या बलिनः सर्वे तत्तेजोबलबृंहिताः ॥ १३ ॥
महापशूपहारेण तोषयन्ति महाव्रताः ।
महाभैरवरूपं यत् स्वच्छन्दं कृतवानहम् ॥ १४ ॥
दैत्यानां तु वधार्थाय देवानां स्थापनाय च ।

हिंसकाः क्वचिद् हिंसाप्रवृत्ता अपि जिघांसवस्तावतैवासंतोषादन्यहननाभिलाषिणः । शक्तिः कार्यकरणक्षमत्वम् । बलमोजः । महाव्रताः परमेशयागैकनिष्णाताः ॥

अत्रेतिहासक्रममाह—

बलवान्, यागव्रत में लगे हुए, मन्त्र के द्वारा शरीर को बाँधे हुए तथा अप्रमेय बलशाली (भूत आदि, गृहीत अर्थात् उनसे त्रस्त बालक आदि को) जिस प्रकार छोड़ देते हैं (वह उपाय मैं बताऊँगा) ॥ ११ ॥

छोड़ देते हैं—भूत ग्रह आदि गृहीत उन बालक आदि को । यागव्रतपरायण = पशु के उपहार की युक्ति से भगवान् भैरव की पूजा में लगे हुए ॥ ११ ॥

प्राचीनकाल में अनेक हजार जन्म लेकर सभी भूत आदि उत्पन्न हुए । वे सर्वत्र हिंसक क्रूर सदा हत्या करने की इच्छा से युक्त रहते थे । भैरव के अनुचर वे सब सदा याग करने के लिये यत्नशील रहते थे और उस (यज्ञ की) शक्ति से वे तेज और बल से परिपूर्ण थे । महाव्रती वे सब मेरे उस महाभैरव स्वच्छन्द रूप को जिसे मैंने दैत्यों के वध तथा देवताओं की रक्षा के लिये धारण किया था, महापशुओं के उपहार से सन्तुष्ट करते थे ॥ १२-१५- ॥

हिंसक = कहीं-कहीं हिंसा में लगे रहने पर भी उतनी हिंसा से सन्तुष्ट न होकर दूसरे को मारने की इच्छा वाले । शक्ति = कार्य को करने की क्षमता । बल = ओज । महाव्रती = एकमात्र परमेश्वर की पूजा में दक्ष ॥

यहाँ ऐतिहासिक क्रम को बतलाते हैं—

इन्द्राद्यास्तु यदा देवाः सर्वदैत्यैरुपद्रुताः॥ १५ ॥
विद्राविता यदा दैत्यैस्तदाहं संस्तुतस्तु तैः ।
ब्रह्माद्यैर्विविधैःस्तोत्रैर्मया तेषां हितार्थतः ॥ १६ ॥
महाभैरवरूपं तत् स्वच्छन्दं तु कृतं ततः ।
विद्रावणाय दैत्यानां देवानां स्थापनाय च ॥ १७ ॥
तदर्थं च ग्रहा भूता मातरो निर्मिता मया ।

अनन्तरम्—

जित्वा तं शत्रुसन्दर्भं कृतार्थास्ते मदन्तिकम् ॥ १८ ॥
आगताः प्रार्थयन्ते स्म विनाशभयहेतुतः ।
भगवन् देवदेवेश अस्माभिस्तोषितो ह्यसि ॥ १९ ॥
तुष्टेन देवदेवेन यत्कार्यं तत्प्रसादतः ।
कुरु देवेति चोक्तं तैस्तदा ते तु वृता मया ॥ २० ॥
अजेया वरदानेन प्रार्थयन्तो महाबलाः ।

अजेयाः स्यामेति वरदाने मां प्रार्थयमानाः सन्तस्ते मया वृताः ॥

यथा—

एवं भवन्त्विमे सर्वे यथा सृष्टा मया पुरा ॥ २१ ॥

जब समस्त दैत्यों के कारण इन्द्र आदि उपद्रवग्रस्त होकर (स्वर्ग से) भगा दिये गये तब ब्रह्मा आदि के साथ उन लोगों ने मेरी स्तुति की । मैंने उनके हित के लिये उस स्वच्छन्दभैरव का विशालरूप धारण किया । उसके बाद राक्षसों को भगाने तथा देवताओं को पुनः स्थापित करने के लिये मैंने ग्रह भूत और माताओं का निर्माण किया ॥ -१५-१८- ॥

बाद में—

शत्रु की शृङ्खला को जीतने के बाद कृतार्थ वे (= यक्ष आदि) सब मेरे पास आये और आकर अपने विनाश के भय से भीत हुये वे मेरी प्रार्थना करने लगे । भगवन् देवदेवेश आप हम लोगों के द्वारा सन्तुष्ट किये गये । सन्तुष्ट आप के द्वारा जो करणीय है उसे आप करें । जब उन्होंने ऐसा कहा तब प्रार्थना करने वाले महाबली उन सबों को मैंने अजेय होने का वरदान दिया ॥ -१८-२१- ॥

'हम अजेय होवें'—इस प्रकार के वरदान की प्रार्थना करने वालों को मैंने इस प्रकार वरदान दिया—

जिस प्रकार मैंने इनकी पहले रचना की उसी रूप में ये सब अजेय

इत्थं वृतैः सद्भिः—

ततः प्रभृति तैः सर्वैर्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
आक्रम्य पीडितं सर्वं तिर्यङ्मानुषदैवतम् ॥ २२ ॥

अतश्च—

देवान् केचिज्जिघांसन्ति भूताः स्वर्गे महाबलाः ।
मनुष्यान् बलिनोऽन्ये च जिघांसन्ति समन्ततः ॥ २३ ॥
तिर्यग्योनींश्च विविधा जिघांसन्ति तथापराः ।
असंख्यातास्तु ते प्रोक्ता ह्यप्रमेयबलोत्कटाः ॥ २४ ॥

एवं स्थिते—

पुनः स्तुतोऽहं देवैश्च प्रजापतिपुरःसरैः ।

यदा—

तदा क्षिप्ता मया सर्वे भूताश्च बलवत्तराः ॥ २५ ॥
मातरो भीमरूपाश्च भयभीता मदन्तिकम् ।
आज्ञाविधायिनः सर्वे किं कुर्वाणाः समागताः ॥ २६ ॥

अनन्तरम्—

मया क्रुद्धेन देवेशि मन्त्रकोट्यो ह्यनेकशः ।

हो जाँये ॥ २१ ॥

ऐसा वरदान पाकर—

वे सब उस समय से समस्त स्थावर जंगम तिर्यक् मनुष्य देवता को आक्रान्त कर उन्हें पीड़ित करने लगे ॥ २२ ॥

कुछ महाबली भूतगण देवताओं को कुछ मनुष्यों को सब ओर से मारने लगे । दूसरे अनेक प्रकार के वे तिर्यक् योनि (= पक्षीगण) को मारने लगे । अप्रमेय बल से उद्दण्ड वे असंख्य कहे गये हैं ॥ २३-२४॥

ऐसा होने पर—

जब ब्रह्मा को आगे कर देवताओं ने फिर मेरी स्तुति की ॥ २५- ॥

तब मेरे द्वारा आक्षिप्त बलवत्तर भूत भयङ्कर मातायें सभी भयभीत होकर मेरे पास आये और बोले—हम आपके आज्ञापालक हैं क्या करें ॥ -२५-२६ ॥

तत्पश्चात्—

अवतार्य विनाशार्थं मातृणां च ग्रहेषु च ॥ २७ ॥
शिवशक्तिप्रभावेण मननत्राणधर्मिणः ।

अभिसंहिताः ॥

युक्तं चैतदित्याह—

मन्त्रकोट्यो ह्यनेकास्ता मया सर्वाधिकारिकाः ॥ २८ ॥

मया अधिष्ठिताः । यतः सर्वाधिकारिण्यः, अतो मया तथा कल्पिताः । एवं च वदन् भगवानुमापतिः स्वात्मनः परमशिवैकात्म्यं दर्शयति ॥

अथ मत्सङ्कल्पनानन्तरमेव—

विद्याबलभयाद् भीता आगतास्ते मदन्तिकम् ।

यदा—

तदा मया ते विक्षिप्ताः स्थलेषु च जलेषु च ॥ २९ ॥
दिगन्तरेषु शून्येषु............

विशरारूकृता इत्यर्थः ॥

अथ ते—

हे देवेशि ! मैंने क्रुद्ध होकर माताओं एवं ग्रहों के विनाश के लिये अनेक प्रकार के मन्त्रों का अवतरण किया । वे सब मन्त्र शिव की शक्ति के प्रभाव से मनन एवं रक्षण स्वभाव वाले हैं ॥ २७-२८- ॥

यह ठीक भी है—यह कहते हैं—

मैंने अनेक प्रकार के मन्त्रों को अपने से अधिष्ठित कर कल्पित किया (अर्थात् उन कल्पित मन्त्रों में मेरा वीर्य प्रगूहित है)॥ -२८ ॥

चूँकि वे मन्त्रकोटियाँ सर्वाधिकारिणी (= सभी अधिकारियों अर्थात् समयी पुत्रक साधक और आचार्य के लिये विहित) है इसलिये मैंने वैसी कल्पना की । ऐसा कहते हुए भगवान् उमापति परमशिव के साथ अपना तादात्म्य दिखलाते हैं ॥

मेरे सङ्कल्प के बाद ही जब—

मेरे विद्या और बल के भय से भीत होकर वे (भूत, मातायें आदि) मेरे पास आ गये । तब मैंने उनको स्थल, जल तथा शून्य दिशाओं में भेजा ॥ २९-३०- ॥

बिखेर दिया ॥ २९ ॥

इसके बाद—

..................मदाज्ञावशवर्तिनः ।

तत्र तथैव संस्थिताः ॥

के ते इत्याह—

बलिकामास्तथा चान्ये भोक्तुकामास्तथापरे ॥ ३० ॥
रतिकामा हन्तुकामा वातजाः पित्तजाः परे ।
श्लेष्मजाः संनिपातोत्था भूता विविधरूपकाः ॥ ३१ ॥

भोक्तुकामा मांसरक्ताभिलाषिणः, हन्तुकामास्तु प्राणान् जिघांसवः । वातेति वातादिप्रकोपे, जायन्ते, कामपदेनाभिलाषः परं तेषामस्ति, न तु मद्भयाद् बलात् कुत्रचित् प्रवर्तयितुमुत्सहन्ते ॥ ३१ ॥

ततः—

मयोक्तास्ते तु बलिनो मर्यादावशवर्तिनः ।
मदुक्तमन्त्रमुद्राभिर्ध्यानैश्च विविधैः सदा ॥ ३२ ॥

भवन्तीति शेषः ॥ ३२ ॥

पञ्चस्रोतोविनिर्भिन्नं शृण्वन्ति हि यदा प्रिये ।

वे मेरी आज्ञा के वशवर्त्ती हो गए ॥ -३०- ॥

वे वहीं स्थित हो गये ॥

वे कौन हैं—यह कहते हैं—

कुछ बलि चाहने वाले, कुछ भोजनाभिलाषी, कुछ रति, कुछ हिंसा चाहने वाले हैं । दूसरे वातज, पित्तज, श्लेष्मज, सन्निपातज हैं । इस प्रकार ये भूत अनेक रूपों वाले हैं ॥ -३०-३१ ॥

भोक्तुकाम = मांस एवं रक्त को चाहने वाले । हन्तुकाम = प्राणहरण करने की इच्छा वाले, वातज—वात आदि के प्रकुपित होने पर उत्पन्न होते हैं । 'काम' पद का तात्पर्य यह है कि उन्हीं की उत्कट इच्छा होती है न कि मेरे भय से वे कहीं प्रवृत्त होना चाहते हैं ॥ ३१ ॥

इसके बाद—

मेरे द्वारा आदिष्ट महाबली और मर्यादा के अन्दर रहने वाले वे (= रतिकाम, बलिकाम) मेरे द्वारा कहे गये अनेक मन्त्रों मुद्राओं और ध्यान के साथ सदा रहते हैं ॥ ३२ ॥

'होते हैं'—यह शेष है ॥ ३२ ॥

हे देवि ! पञ्चस्रोतस् से विनिर्भिन्न हुए जब ये सुने जाते हैं

तदा सर्वे विद्रवन्ति पलायन्ते दिशो दश॥ ३३ ॥

एते च मदाज्ञात एव—

निदानैर्बहुभिर्देवि जिघांसन्ति नरान् पशून् ।

निदानानि दर्शयति—

दुराचारं दुरात्मानमशुचिं पुरुषाधमम् ॥ ३४ ॥
मातापित्रोरसंमानात्तथाध्ययनवर्जनात् ।
अतिस्त्रीगमनाच्चैव क्षीबत्वाच्च विशेषतः ॥ ३५ ॥
अकाले मैथुनान्मोहभयात् संभ्रमणात्तथा ।

गृह्णन्ति ग्रहा इति भाविना संबन्धः । दुराचारं त्यक्तसमाचारम् । दुरात्मानं परद्रोहनिरतम् । अशुचिं चित्तवित्तशरीरशुद्धिशून्यम् । अध्ययनवर्जनमध्ययनेऽधिकृतस्य तत्त्यागः । मोहेनाज्ञानेन जनितं भयम् । छायादिकृतस्त्रासः संभ्रमणमसंभ्रमविषये संभ्रमग्रहणम् ॥

तथाऽधिकारस्था अपि—

सन्ध्याविवर्जिता ये च सन्ध्यामैथुनसेवकाः॥ ३६ ॥

तब वे सभी विद्रवित होकर इधर ऊधर दश दिशाओं में पलायित हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

ये सब मेरी आज्ञा से ही—

हे देवि ! अनेक कारणों से पशुओं मनुष्यों को मारना चाहते हैं ॥ ३४- ॥

निदानों (= कारणों) को दिखलाते हैं—

दुराचारी, दुरात्मा, अपवित्र, माता पिता के अपमान के कारण, अध्ययनरहित होने, अत्यधिक स्त्रीसमागम, सुरा आदि का सेवन, असमय में मैथुन, मोहजनित भय एवं सम्भ्रम के कारण अत्यन्त नीच पुरुष को ये ग्रह मारना चाहते हैं ॥ -३४-३६- ॥

'ग्रहण करने से ग्रह' इस प्रकार भावि से सम्बन्ध है । दुराचार = सदाचार का त्याग करने वाले । दुरात्मा = परद्रोह में लगे हुए । अशुचि = शारीरिक मानसिक और आर्थिक शुद्धता से रहित । अध्ययनरहित = वेद के अध्ययन में अधिकृत के द्वारा उस वेदाध्ययन का त्याग । मोहभय = मोह = अज्ञान से उत्पन्न भय । छाया आदि के द्वारा उत्पादित त्रास संभ्रम कहा जाता है अर्थात् असम्भ्रम के विषय में सम्भ्रम ॥

उसी प्रकार अधिकारी भी—

भोजनाध्ययनं निद्रां सन्ध्यायां ये च कुर्वते।
अकामिनीः कामयन्ते गुरुदारांश्च ये प्रिये ॥ ३७ ॥
प्रध्वंसयन्ति बलिनो बलाच्चैवान्ययोषितः ।
तथान्येऽसत्यवक्तारः प्रभुद्रोहकृतोऽशुभाः ॥ ३८ ॥
अनुक्तैः पापचरितैर्ये नरा संयुतास्तथा ।
एतैरन्यैर्निदानैश्च गृह्णते मानुषान् ग्रहाः ॥ ३९ ॥

अकामिनीरनुत्पन्नाभिलाषा: । असत्यं ताच्छील्येन वदन्त: । अनुक्तैरिति ब्रह्महननादिभि:, अन्यैरिति मित्रद्रोहादिभि: ॥ ३९ ॥

स्त्रियश्चैव तु दौःशील्यादशौचाभक्ष्यभक्षणात् ।
तथोभयगुरुद्वेषाद् भर्तरि व्यभिचारतः ॥ ४० ॥
अन्यैरनुक्तैर्दोषैश्च दूषिता मुद्रयन्ति ते ।

उभयगुरव: श्वशुरादयोऽनुग्राहकाश्च । अन्यैरिति निक्षेपहरणादिभि: । त इति ग्रहा: ॥

तथा—

रुदतां चापि बालानां रात्रौ जागरणात्तथा ॥ ४१ ॥

जो सन्ध्या से रहित, सन्ध्याकाल में मैथुन करने वाले तथा सन्ध्याकाल में भोजन, अध्ययन एवं निद्रा करने वाले हैं, अकामिनी के साथ बलात्कार तथा गुरुपत्नी के साथ समागम करने वाले हैं; जो बलवान् होकर बलपूर्वक दूसरी स्त्रियों को मार डालते हैं, झूठ बोलने वाले, स्वामी से द्रोह करने वाले, अशुभ हैं; अनुक्त पापाचार से जो युक्त हैं उनको तथा अन्य कारणों से ये ग्रह मनुष्यों को पीड़ित करते हैं ॥ -३६-३९ ॥

अकामिनी = जिसके अन्दर कामेच्छा उत्पन्न न हो । असत्यवक्ता = स्वभावत: झूठ बोलने वाले । अनुक्त = ब्रह्महत्या आदि । अन्य = मित्रद्रोह आदि ॥ ३९ ॥

जो स्त्रियाँ शीलभ्रष्ट हैं, अपवित्र और अभक्ष्य का भक्षण करती हैं, दोनों पक्षों के गुरु जनों के प्रति द्वेष रखती हैं, पति के (अतिरिक्त अन्य के साथ) व्यभिचार करती हैं, अन्य अनुक्त दोषों से दूषित हैं, उनको वे ग्रह आदि मुद्रित (= पीडित) करते हैं ॥ ४०-४१- ॥

उभयगुरु = ससुर आदि और कृपा करनेवाले । अन्य = निक्षेपहरण (= धरोहर को चुरा लेना) आदि । वे = ग्रह ॥

तथा—

उनमत्तविद्रुता भीतास्त्रस्ता दोषैश्च दूषिताः ।
रुदत्यः क्रोशमानाश्च मुक्तकेशाश्च दारुणाः ॥ ४२ ॥
दुष्टपुक्कसचण्डालस्पर्शेनैव तु दूषिताः ।
शवस्पर्शात्तद्गमनात्तत्रस्थस्पर्शनात्तथा ॥ ४३ ॥
तद्दुष्टसाहचर्याच्च तद्वार्तानुगमात्तथा ।
अशौचाद्यैस्तथानेकैर्दुःस्पर्शैश्चापि दूषिताः ॥ ४४ ॥

दोषैर्दूषिता दौर्भाग्याद्युपहताः । दारुणा हिंसैकासक्ताः । तत्रस्थं शवकुसुमादि, तस्य स्पर्शनात् । तत्र शवसंबन्धिनो ये दुष्टास्तद्वाद्यवादनाधिकृतस्तैः साहचर्यात् । तद्वार्ता शववार्ता, तया अनुगमः संबन्धः ॥ ४४ ॥

तत एवमादिदोषैर्दूषिता यथासंभवं स्त्रियः पुरुषा वा ये केचित् तेषां मध्यात्—

दुष्टा स्त्री पुरुषो वाथ स्नात्वा च्छायां प्रपातयेत् ।
बालानां भूपतीनां च तत्पत्नीनां तपस्विनाम् ॥ ४५ ॥

तदा तेनैव—

रात्रि में जागरण के कारण रोते हुए लड़कों, पागल होकर भागते हुये, डरे हुये, त्रस्त, दोषों से दूषित, रोते हुये, गालियाँ देते हुये, खुले बालों वाले, दारुण, दुष्ट पुक्कश (= निषाद पुरुष के द्वारा शूद्रा स्त्री में उत्पन्न), चण्डाल, (= शूद्र पिता एवं ब्राह्मण माता से उत्पन्न) के स्पर्श से दूषित, शव के स्पर्श से, उसके पास जाने से, उस (= शव) के पास स्थित वस्तु का स्पर्श करने से, उस (= शव) के कारण दूषित व्यक्ति के साथ रहने से, उस (= शव) की बात करने से, अशौच आदि तथा अनेक दुष्ट वस्तु स्पर्श के कारण दूषित (हैं वे भी उनसे ग्रास होते हैं)॥ -४१-४४ ॥

दोषों से दूषित = दुर्भाग्य के मारे हुए । दारुण = हिंसारत । (तत्रस्थस्पर्शनात् =) उस शव के पास स्थित फूल आदि के स्पर्श से । वहाँ = शवसम्बन्धी, जो दुष्ट = शव का बाजा आदि बजाने के लिये अधिकृत व्यक्ति-उनके साथ रहने से । तद्वार्त्ता = शव सम्बन्धी बात, उसका अनुगमन = सम्बन्ध रखने से ॥ ४४ ॥

उक्त प्रकार के दोषों से दूषित स्त्रियाँ या पुरुष जो कोई हों उनमें से—

दुष्ट स्त्री अथवा दुष्टपुरुष स्नान करके बालक, राजा, राजपत्नी अथवा तपस्वी की छाया अपने ऊपर गिराये (इससे उन यक्ष आदि का प्रभाव नहीं पड़ता)॥ ४५ ॥

तब उसी (यदि ऐसा नहीं किया गया)

छायाच्छिद्रेण भूताश्च मातरो बलवत्तराः ।
दृष्टिपातं प्रकुर्वन्ति लब्धच्छिद्रा हि हिंसकाः ॥ ४६ ॥

लब्धच्छिद्रा हीत्यर्थान्तरन्यासः ॥ ४६ ॥

किं च—

रौद्रां दृष्टिं पातयन्ति बालानां च जिघांसया ।
पापिष्ठाश्च दुराचारा भूतैर्ग्रस्ता ज्वरादिभिः ॥ ४७ ॥
तथोन्मत्ता दुष्टचित्ताः पापाचाराः सुदुःखिताः ।
बुभुक्षिता मत्सराश्च शत्रवो धैर्यगर्विताः ॥ ४८ ॥
एते चान्ये च बहवो दृष्टिं संपात्य भीषणाम् ।
पश्यन्ति यदि बालानां पूर्वोक्तानां च सर्वशः ॥ ४९ ॥
दृष्टिपातं ततो जातं ज्ञात्वा श्रेयः समाचरेत् ।
तत्क्षणं न विलम्बेत स्वल्पेनैव कृतेन हि ॥ ५० ॥
बाधन्ते नैव दुष्टानि उषित्वा बाधयन्ति ते ।

पापिष्ठा निषिद्धकर्मरताः । दुराचारा अविनयप्रधानाः । तथेति पूर्वत्र योज्यम् । दुष्टचित्ताः क्रोधनादिस्वरूपाः । पापाचाराः शौण्डिकधीवराद्याः । कृतेनेति शान्तिकादिना । उषित्वेति व्यवस्थितिं लब्ध्वा ॥

छायाछिद्र (= अल्पदोष) से बलवत्तर भूत एवं मातायें दृष्टिपात करती हैं । क्योंकि छिद्र (= दोष) मिल जाने पर ये हिंसक हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

लब्धछिद्रा हि—यहाँ पर अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है (क्योंकि यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन किया गया है) ॥ ४६ ॥

तथा—

पापी, दुराचारी, ज्वर अथवा भूतों से ग्रस्त व्यक्ति बालकों को मारने की इच्छा से उनके ऊपर रौद्र (क्रूर) दृष्टि डालते हैं । उसी प्रकार उन्मत्त, दुष्टचित्तवाले, पापी, दुःखी, भूखे, द्वेषी, शत्रु, धैर्य से गर्वित, और अन्य बहुत से लोग यदि भयङ्कर दृष्टि डालकर पूर्वोक्त बालकों को देखते हैं तो यह समझना चाहिये कि इन बच्चों के ऊपर दृष्टिपात हो गया है—ऐसा जानकर तत्क्षण कल्याणप्रद उपाय करना चाहिये, विलम्ब नहीं करना चाहिये । तत्काल थोड़ा सा भी उपचार करने पर वे दुष्ट बच्चों को पीड़ा नहीं पहुँचाते । विलम्ब होने पर जब वे अपनी व्यवस्था कर उस बच्चे के साथ रहने लगते हैं तब उसको बाधा पहुँचाते हैं ॥ ४७-५१- ॥

पापी = निषिद्ध कर्म में लगे हुए । दुराचारी = उद्दण्ड । दुष्टचित्त = क्रोधी आदि । पापाचारी = जुआड़ी, शराबी, मछुवारा आदि । किये गये के द्वारा =

यत एवम्—

न विलम्बस्तदा कार्यः सद्य एव समाचरेत्॥ ५१ ॥

तदेति तत इत्यर्थः । समाचरेदिति प्रतीकारम् ॥ ५१ ॥

तत्र—

सर्वौषधैः सुप्रशस्तैर्बहुभिर्मङ्गलान्वितैः ।
पञ्चगव्येन वा तत्र मन्त्रयुक्तेन कारयेत् ॥ ५२ ॥
स्नानं सौभाग्यजननं सर्वदोषभयापहम् ।

औषधैः सहदेवीबलामोटकवीराद्यौषधिभिः । कारयेदिति साध्यम् ॥

किं च, दुष्टच्छायावताम्—

आचार्यो मन्त्रकलशं पूर्ववद्विधिचोदितम् ॥ ५३ ॥
ददाति सद्यो बालानां पूर्वोक्तानां च सर्वशः ।

प्रागुक्तप्रक्रियया जप्तम्, पूर्वोक्तानां चेति राजादीनाम्, ददात्यभिषेकाय शिरस्यावर्जयति ॥

तदा—

शान्तिकर्म के करने से । रहकर = अपनी स्थिति को दृढ़ कर ॥

चूँकि ऐसा है—

इसलिये विलम्ब नहीं करना चाहिये । तत्काल (शान्तिकर्म आदि) उपाय करना चाहिये ॥ -५१ ॥

तदा अर्थात् उसी समय । समाचरेत् अर्थात् उपाय करे ॥ ५१ ॥

सुप्रशस्त मङ्गलकारी अनेक सर्वौषधि से अथवा पञ्चगव्य (= गाय के दूध, दही, घी, मूत्र, गोबर) से मन्त्रोच्चारपूर्वक स्नान कराना चाहिये । यह स्नान सौभाग्यजनक और सर्वदोष एवं सर्वभय का नाशक है ॥५२-५३-॥

औषधि = सह देवी (= सहदेइया) बला, मोट, एकवीर आदि । कराना चाहिये = रोगी को स्नान कराये ॥

तथा जिनके ऊपर दुष्ट छाया पड़ गयी है ऐसे—

बालकों अथवा पूर्वोक्त व्यक्तियों के लिये आचार्य पूर्ववत् विधिसम्पन्न मन्त्रकलश को देवे ॥ -५३-५४- ॥

कलश पूर्वोक्त प्रक्रिया से जपसम्पन्न हो । पूर्वोक्त = राजा आदि । देवे = अभिषेक के लिये रोगी के शिर पर गिराये ॥

सद्यःश्रेयस्करं पुण्यं शान्तिदं पुष्टिदं ध्रुवम् ॥ ५४ ॥

भवेदिति शेषः ॥ ५४ ॥

यदा ह्यनन्तास्तत्रस्था मातरः संनिधानतः ।
जिघांसन्ति तदा सद्यो महामातृः प्रपूजयेत् ॥ ५५ ॥

तत्रस्थाः शास्त्रेषु दृष्टाः । मातरो ब्राह्म्याद्यंशकोद्भूताः । महामातृस्तत्स्वामिनी-र्ब्राह्म्याद्याः । तथा च श्रीतन्त्रसद्भावे—

'शाकिनी दूषिका चैव चुम्बिका पत्रलेखिका ।
उच्छुष्मा नक्रदूषी च ऊर्ध्वनिःश्वासिका तथा ॥
अधोनिःश्वासिका चैव आसां कर्म शृणु प्रिये ।
शाकिन्यश्चोत्तमास्तासां शेषा घोरतराः स्मृताः ॥
अजस्रं दूषते या तु रक्तं वै सार्ववर्णिकम् ।
गच्छन्ती वाथ तिष्ठन्ती तेन सा दूषिका स्मृता ॥
पुत्रमित्रपितृभ्रातृबालानास्वादयन्ति च ।
चुम्बन्त्यश्चास्रमश्नन्ति विज्ञेयाश्चुम्बिकास्तु ताः ॥
पत्रेण मुखमासाद्य पिबन्ती चामृतं सदा ।
पत्रलेखी स्मृता सा तु दुर्निवारा महाबला ॥

तब—

(यह कलशावर्जन) तत्काल श्रेयस्कर, शान्तिपुष्टि का दाता एवं पवित्र होता है ॥ -५४ ॥

होता है ॥ ५४ ॥

जब वहाँ स्थित अनन्त मातायें सन्निधान (= पास में रहने) के कारण रुग्ण व्यक्ति को मार डालना चाहती है तब तत्काल महामातृकाओं की पूजा करनी चाहिये ॥ ५५ ॥

वहाँ स्थित = शास्त्रों में वर्णित । मातायें = ब्राह्मी आदि के अंश से उत्पन्न । महामातृकाओं की = उन माताओं की स्वामिनी ब्राह्मी आदि की । (पूजा करनी चाहिये) । श्रीतन्त्रसद्भाव में कहा गया है—

'शाकिनी, दूषिका, चुम्बिका, पत्रलेखिका, उच्छुष्मा, नक्रदूषी, ऊर्ध्वनिःश्वासिका तथा अधोनिःश्वासिका ये आठ मातायें हैं । हे प्रिये ! अब इनके कर्म को सुनो । इनमें से शाकिनियाँ उत्तम कोटि की हैं । शेष मातायें घोरतर हैं । जो चलती हुई या खड़ी होकर निरन्तर समस्त जातियों का रक्त दूषित करती रहती हैं वह दूषिका कही गयी है । पुत्र मित्र पिता भाई या बच्चों का जो आस्वादन करती हैं (= चाटती हैं), चूमती हैं, उनके आँसुओं को पीती हैं वे उन्हें चुम्बिका जानना

रात्रौ भूत्वा विवस्त्रा या मूत्रयित्वा प्रदक्षिणम् ।
कृत्वा तु प्राशयेद्रक्तं मुक्तकेशी तु कर्षयेत् ॥
उच्छुष्मिका तु सा ज्ञेया साधकैर्वीरनायिका ।
नासाग्रं वीक्षमाणा तु स्वादयन्त्यमृतं सदा ॥
नक्रदूषी तु सा ज्ञेया ऊर्ध्वनिःश्वासिका तु सा ।
नग्ना भूत्वा तु गच्छेद्या रात्रौ परगृहं सदा ॥
वस्त्रेणाच्छाद्य वक्त्रं तु भूत्वा चैवमधोमुखी ।
पिबते शोणितं नित्यमधोनिःश्वासिका तु सा
॥' इति ।

शाकिनीभ्यो भिन्ना दूषिकाद्याः सप्त मातरो लक्षिताः, तत्रैव तासां ब्राह्म्याद्यंशोद्भूतत्वम्—

'अधःश्वासा तु ब्राह्म्यंशा नक्रदूषी महेश्वरी ।
दूषिका तु विशाख्यंशा वैष्णव्यंशा तु पार्वति ॥
पत्रलेखी समाख्याता चामुण्डांशा तु चुम्बिका ।
ऊर्ध्वनिःश्वासिका ज्ञेया माहेन्द्र्यंशा वरानने ॥
वाराह्यंशा तथोच्छुष्मा कथिता वीरवन्दिते ।'

इत्युक्तम् । एताश्चानन्ता इति तत्रैव दर्शितम्—

'चुम्बिकायास्त्रयो भेदाः'

चाहिये । मुख में पत्ता लगाकर जो सदा अमृत का पान करती रहती है वह पत्रलेखी है जो कि अत्यन्त बलवती एवं दुर्निवारा है । रात्रि में नंगी होकर मूत्रत्याग करती हुयी प्रदक्षिणा कर जो रोगी का रक्तपान करती है वह मुक्तकेशी है । साधक लोग उच्छुष्मिका उसे समझें जो वीराचारी (= कौल) साधकों की नायिका है और जो सर्वदा नासिका के अग्रभाग को देखती हुयी नाक से अमृतपान करती रहती है वह नक्रदूषी है । जो नग्न होकर रात्रि में दूसरे के घर जाय वह ऊर्ध्वनिःश्वासिका है। वस्त्र से अपना मुख ढँक कर नीचे मुख कर जो नित्य रोगी का रक्त पान करे वह अधोनिःश्वासिका है ।'

दूषिका आदि सात मातायें शाकिनियों से भिन्न कही गयी हैं । वहीं पर उन्हें ब्राह्मी आदि के अंश से उत्पन्न कहा गया है—

'हे वीरवन्दिते ! अधःश्वासा ब्राह्मी के, नक्रदूषी माहेश्वरी के, दूषिका विशाखी के और पत्रलेखी वैष्णवी के अंश से उत्पन्न कही गयी है । चुम्बिका चामुण्डा के अंश से, ऊर्ध्वनिःश्वासा माहेन्द्री के अंश से, तथा उच्छुष्मा वाराही के अंश से उत्पन्न कही गयी है ।'

ऐसा कहा है । इनकी संख्या का अन्त नहीं है—यह—

इत्यादिना ग्रन्थेन ॥ ५५ ॥

पूज्या मातृरुद्दिशति—

ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ।
वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा सप्तमातरः ॥ ५६ ॥
एतास्तु मातरः सप्त पूजयित्वा शिवं भवेत् ।

श्रेयः प्राप्नुयात् । 'भू प्राप्तौ' इत्यस्य तिङ्व्यत्ययाद् भवेच्छब्दः ॥

युक्तं चैतदित्याह—

समस्तमातृचक्रस्य योनयस्ताः प्रकीर्तिताः ॥ ५७ ॥
ताभिः पूजितमात्राभिरुपहारैः पृथग्विधैः ।
कृत्स्नो मातृसमूहस्तु तुष्टो भवति तत्क्षणात् ॥ ५८ ॥

अतश्च—

प्रधानाः सर्वमातॄणामेताः सप्त प्रकीर्तिताः ।
सितरक्तपीतकृष्णैः पुष्पैर्नानाविधैस्तथा ॥ ५९ ॥
पायसैः कृसरै(क्रसरै)र्मत्स्यैर्लेह्यैः पेयैरशेषतः ।
चतुर्विधेन मांसेन घस्मरैर्बलिभिस्तथा ॥ ६० ॥

चुम्बिका के तीन भेद हैं—

इत्यादि ग्रन्थ से कहा गया है ॥ ५५ ॥

पूजनीय माताओं को बतलाते हैं—

ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी तथा चामुण्डा ये सात मातायें हैं । इन सात माताओं की पूजा कर पूजक शिव को प्राप्त हो जाता है ॥ ५६-५७- ॥

शिव को प्राप्त हो जाता है = श्रेय को प्राप्त होता है । यहाँ 'भू' धातु प्राप्त करने अर्थ में प्रयुक्त है । इससे 'तिङ्' का व्यत्यय होने से 'भवेत्' पद बनता है ॥

यह ठीक भी है—यह कहते हैं—

वे समस्त मातृचक्र की कारण कही गयी हैं । अनेक प्रकार के उपहारों से उनकी पूजा करने पर समस्त मातृ समूह तत्क्षण तृप्त एवं तुष्ट हो जाता है ॥ -५७-५८ ॥

इसलिये—

ये सात मातायें समस्त माताओं में प्रधान कहीं गयी हैं । सफेद, लाल, पीले, काले फूलों, अनेक प्रकार के पायसों, खिचड़ी, मछली,

पूजयित्वा तु बालानां सद्यः श्रेयो भविष्यति ।

कृसरैस्तण्डुलसस्यमिश्रैर्भोज्यैः । चतुर्विधेनेत्यानूपजाङ्गलाम्भसनाभसभेदात् ॥

यत एव च—

तस्मात् प्रधानयागेन गुणभूतास्तु देवताः ॥ ६१ ॥
तृप्ता भवन्ति सर्वत्र.............

एवंकृते सति साध्यः—

...........सद्यः श्रेयो ह्यवाप्नुयात् ।

किं च—

त्रिंशत्कोटी सहस्राणां स्वाङ्गुष्ठान्निर्मिता मया ॥ ६२ ॥
विनायकानां घोराणामग्निज्वलिततेजसाम् ।
यदि तैर्विघ्नितः कश्चिदभिभूतो भवेन्नरः ॥ ६३ ॥
तत्राधिदैवतं पूज्यो विघ्नेशस्तु विनायकः ।

विनायकगृहीतस्य लक्षणम्—

चाटने योग्य यवागू आदि, पेय तथा चार प्रकार के मांस, खाने योग्य बलि के द्वारा इनकी पूजा करने से तत्काल बालकों का कल्याण हो जाता है ॥ ५९-६१- ॥

कृसर (क्रसर) = चावल एवं हरे धान्य से मिश्रित भोजन । चार प्रकार के मांस = आनूप (= दलदल में रहने वाले पशु सूअर, भैंस आदि), जाङ्गल (= मृग आदि) आम्भस (घड़ियाल, नक्र आदि) नाभस (= पक्षी का मांस) ॥

चूँकि ऐसा है—

इस कारण प्रधान याग से अङ्गभूत होते हुए देवता भी सर्वत्र तृप्त होते हैं ॥ -६१-६२- ॥

ऐसा करने पर साध्य (= रुग्ण व्यक्ति)

तत्काल श्रेयस् को प्राप्त करता है ॥ -६२- ॥

तथा—

मैंने तीस हजार करोड़ विनायकों का निर्माण अपने अंगूठे से किया है। ये विनायक घोर और जलती हुयी अग्नि के समान तेज वाले हैं । यदि कोई पुरुष उनसे विघ्नित या अभिभूत होता है तो उसकी शान्ति के लिये अधिदैवत पूजा करनी चाहिये क्योंकि विनायक विघ्नों के शमनकर्त्ता हैं ॥ -६२-६४- ॥

'हुङ्कारं मुञ्चते यस्तु पादपांसुं तथैव च ।
यस्तु च्छन्दयते नित्यं दन्तान् कटकटायते ॥
विनायकगृहीतस्य ह्येतद्भवति लक्षणम् ।'

इति श्रीक्रियाकालगुणोत्तरे दर्शितम् ॥

तं च—

अन्यतन्त्रोपचारेण ध्यानयोगेन पूजयेत्॥ ६४ ॥
मोदकैर्विविधैश्चित्रैर्बलिभिर्घस्मरैस्तथा ।
भूरिमद्यैस्तथा मांसै रक्तपुष्पविलेपनैः ॥ ६५ ॥

अन्यतन्त्रे अन्यशासने उपचारो व्यवहारो यस्य ध्यानयोगस्य तेन तेन मन्त्रेणात्रत्येनैव ॥ ६५ ॥

यत्र च यादृशा देवताविशेषाः पूज्याः, तत्र तेषाम्—

सर्वेषामेव वासांसि स्वरूपाणि प्रदापयेत् ।
हेमरत्नानि धातूंश्च दीपांश्चैव प्रदापयेत् ॥ ६६ ॥
स्वेन स्वेनैव रूपेण सर्वं सर्वेषु दापयेत् ।

इत्थंकृते सति—

विघ्नैः प्रमुच्यते साध्यस्तत्क्षणान्नात्र संशयः ॥ ६७ ॥

विनायक के द्वारा आविष्ट व्यक्ति का लक्षण—

'जो व्यक्ति हुंकार करता है, पैरों से धूल उड़ाता है, गाता है और दाँतों को कट-कट करता है वह विनायक से गृहीत है—उसका यही लक्षण है ॥'

ऐसा श्री क्रियाकालगुणोत्तर तन्त्र में कहा गया है ।

उस (गणेश या विनायक) की—

पूजा अन्य तन्त्र में वर्णित उपचार वाले ध्यान योग से करनी चाहिये । यह पूजा विभिन्न प्रकार के लड्डू, अनेक प्रकार की खाने योग्य बलि, मद्य, मांस, रक्तपुष्प और उपलेप (उबटन) से करनी चाहिये ॥-६४-६५॥

अन्य तन्त्र = अन्यशास्त्र, में उपचार = व्यवहार है जिस ध्यानयोग का, उस-उस से तथा इस शास्त्र में वर्णित मन्त्र से पूजा करनी चाहिये ॥ ६५ ॥

जहाँ जिस प्रकार की विशिष्ट देवता की पूजा करनी है वहाँ उन सबको उनके स्वरूप के अनुसार वस्त्र स्वर्ण रत्न धातु दीप आदि देने चाहिये । अपने-अपने रूप के अनुसार सबको सब देना चाहिये ॥ ६६-६७- ॥

ऐसा करने पर—

किं च—

यदि भूतग्रहैर्घोरैर्मुद्रितो बलिभिर्नरः ।
तदा भूतेश्वरो याज्यः पूर्वोक्तेन विधानतः ॥ ६८ ॥

श्रीतोतुले—

'भूतश्चोत्तिष्ठते वेगाद् बलवान् बहुभुक्तथा ।'

इत्यादिना भूतगृहीतो लक्षितः । ग्रहोऽपि तत्रैव—

'बलिकामो भोक्तुकामो हन्तुकामस्तथैव च ।
ग्रहश्च पतितो देवि मानुषांश्चाप्यमानुषान् ॥
करोति विविधान् भावान्...................।' इति ।

पूर्वोक्तेन विधानत इति मन्त्रवीर्यस्फारानुप्रवेशादिना बहुना च बल्यादिना संभारेणेत्यर्थः ॥

किं च—

राक्षसैर्विविधैर्येऽत्र प्राणिनो भाविता ध्रुवम् ।
इष्ट्वा रक्षोधिपं श्रेयः सर्वे तत्र समाप्नुयुः ॥ ६९ ॥

साध्य (= रुग्ण व्यक्ति) उसी समय विघ्नों से मुक्त हो जाता है । इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ -६७ ॥

और—

यदि कोई मनुष्य बलवान् एवं भयङ्कर भूतों या ग्रहों से मुद्रित (= आविष्ट या प्रभावित) है तो उसे पूर्वोक्त विधान के अनुसार भूतेश्वर की पूजा करनी चाहिये ॥ ६८ ॥

श्री तोतुलतन्त्र में—

'भूत से आविष्ट व्यक्ति झट से उठता है; बलयुक्त हो जाता है और बहुत भोजन करता है ।'

इत्यादि वर्णन के द्वारा भूत से गृहीत का लक्षण बतलाया गया । ग्रह (गृहीत) का भी लक्षण वहीं पर—

'ऐसा व्यक्ति बलि चाहता है, भोजन चाहता है, दूसरों को मारना चाहता है, हे देवि ! ग्रहगृहीत व्यक्ति मानुषीय एवं अमानुषीय अनेक व्यवहारों को करता है ।'

पूर्वोक्त विधान से = मन्त्रवीर्य के स्फार—अनुप्रवेश आदि एवं बलि आदि वस्तुओं के द्वारा ॥

जो प्राणी अनेक प्रकार के राक्षसों से अभिभूत हुए वे सब निश्चित रूप

भाविता: गृहीता: । ते च—

'निशां प्रधावते सर्वमेकैकं तु निरीक्षते ।
पिबते च सुरां भूय: स्वमांसं भक्षयत्यपि ॥
शून्यग्रामनिवासी च ताम्रवर्णस्तथा भवेत् ।
रक्षोग्रहगृहीतस्य एतद्भवति लक्षणम् ॥'

इति क्रियाकालगुणोत्तरे लक्षिता: । रक्षोधिपो निर्ऋति: ॥ ६९ ॥

किं च—

**यदा यक्षैरसंख्यातैरभिभूतो भवेन्नर: ।
तदा वैश्रवणं शीघ्रमिष्ट्वा मोक्षमवाप्नुयात् ॥ ७० ॥**

यक्षगृहीतानां च लक्षणं तोतुल एव दर्शितम्—

'यक्षेण तु गृहीतस्य अट्टहासादि लक्षणम् ।'

इति, तथा—

'अतिरौद्रा भवेद्दृष्टिरकस्माच्च प्रधावति ।
भोजनं चैव भुञ्जानो देवं पूजयते सदा ॥
मद्यमांसप्रियश्चैव रुधिरं ग्रसते बहु ।

से राक्षसों के स्वामी की पूजा कर कल्याण को प्राप्त किये ॥ ६९ ॥

भावित = गृहीत (= आविष्ट या अभिभूत) । और वे—

'सारी रात दौड़ते रहते हैं, एक-एक व्यक्ति को घूर कर देखते हैं, अधिक मात्रा में शराब पीते हैं, अपना मांस खाते हैं, ऐसा व्यक्ति शून्य स्थान में रहता है। उसका मुख ताम्रवर्ण का हो जाता है । राक्षस एवं ग्रह से गृहीत व्यक्ति का यही लक्षण होता है ।'

ऐसा क्रियाकालगुणोत्तर में लक्षण बतलाया गया । राक्षसों के स्वामी = निर्ऋति ॥ ६९ ॥

तथा—

जब आदमी असंख्य यक्षों से अभिभूत होता है तो कुबेर की पूजा कर शीघ्र ही अभिभव से मुक्त हो जाता है ॥ ७० ॥

यक्ष से अभिभूत पुरुषों का लक्षण तोतुलतन्त्र में ही कहा गया है—

यक्ष से गृहीत व्यक्ति का लक्षण है कि वह अट्टहास आदि करता है ।

तथा—

'उसकी दृष्टि अत्यन्त क्रूर हो जाती है । अकस्मात् दौड़ने लगता है । भोजन

यक्षग्रहगृहीतस्य एतद्भवति लक्षणम् ॥' इति ॥ ७० ॥

किं च—

अष्टयोन्यो यदा देव्यो विरुद्धा यत्र कुत्रचित् ।
तदा तु भैरवं यागं कृत्वा श्रेयः समाप्नुयात् ॥ ७१ ॥

अष्टयोन्यः पैशाचाद्यष्टविकल्पाः देवयोनिभेदा देव्य इति—

'तत्त्वरूपास्तु योगिन्यो ज्ञातव्याश्च वरानने ।
शिवेच्छानुविधायिन्यो मनोवेगा महाबलाः ॥
विचरन्ति समस्ताश्च ब्रह्मविष्ण्विन्द्रभूमिषु ।
अपराः कुलसंभूता योनिजाः कुलजाः प्रिये ॥
पीठजाः क्षेत्रजाश्चैव शरीरे तु विशेषतः ।' इति,

तथा—

'पीठजाः योगिन्यो ज्ञेयाः क्षेत्रजा देवताः स्मृताः ।
योनिजा रूपिणी प्रोक्ता तासां भेदा ह्यनेकधा ॥' इति,

तथा—

करता रहता है । देवता की पूजा करता है । मद्यमांस बहुत पसन्द करता है और खून अधिक मात्रा में पीता है । यक्ष के द्वारा गृहीत का यही लक्षण है' ॥ ७० ॥

और भी—

जब अष्टयोनि देवियाँ किसी के विषय में विरुद्ध हो जायें तो भैरवयाग करके उनसे मुक्ति मिलती है ॥ ७१ ॥

अष्टयोनि = पैशाच आदि आठ विकल्पों वाली देव योनियाँ हैं । देवियाँ—

'हे वरानने ! योगिनियों को तत्त्वरूप (= षडध्वपतित) समझना चाहिये । ये योगिनियाँ शिव की इच्छानुसार काम करने वाली, मन के समान वेग वाली और अत्यन्त बलशालिनी होती हैं ।'

'ये सब की सब ब्रह्मलोक विष्णुलोक इन्द्रलोक और मर्त्यलोक में विचरण करती रहती हैं । हे प्रिये ! दूसरी योगिनियाँ योनि से उत्पन्न कुलोद्भवा होती हैं इनको कुलजा कहा जाता है । पीठ में एवं क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली योगिनियाँ विशेषतः (साध्य या रुग्ण व्यक्ति के) शरीर में उत्पन्न होती है ।'

तथा—

'पीठ में उत्पन्न को योगिनी एवं क्षेत्र में उत्पन्न को देवता माना गया है । योनिजा को रूपिणी कहा गया है । उनके अनेक भेद हैं ।'

तथा—

'ब्राह्मणक्षत्रविट्शूद्रकुलजाश्चैव नायिकाः ।
सप्तविंशतिभिर्वर्षैरूर्ध्वं जानन्ति तत्पदम् ॥
कुलेऽन्यत्र समुद्भूताः शाकिन्यो रुद्रमातरः ।' इति,

तथा—

'शाकिन्यो रुद्रशाकिन्यश्चान्याः शाबरिकाः शिवाः ।
योगिन्यश्चापरास्तासां यद्व्याप्तमखिलं जगत् ॥
छलेनाकृष्य पिबति क्षुद्रा प्राणिपयः सदा ।
रूपपरिवर्तनार्थं लब्ध्वा पातयति पशून् ॥
शाकिनी सा तु विज्ञेया रौद्रस्थानरता सदा ।
परचित्तगतिज्ञा च रूपस्य परिवर्तनम् ॥
करोत्यमृतलुब्धा च ज्ञेया सा रुद्रशाकिनी ।
शैव्यश्चैवंविधा ज्ञेया गुप्ताचारा वने रताः ॥
न घातयत्यसौ सर्वाञ्छिद्रेणास्वादयेदसृक् ।
शाबर्यस्त्वपरा ज्ञेया मन्त्रतद्गतचेतसः ॥
पञ्चामृतं समस्तं हि मानुषं च हरन्ति ताः ।
पर्यटन्ति क्षणात् पृथ्वीं रूपं कुर्वन्त्यनेकधा ॥
अपरा योगसामर्थ्यात् त्रिकालपरिवेदिकाः ।
शिवास्तु याः समाख्याता मन्त्रध्यानपरायणाः ॥

'ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र के कुल में उत्पन्न नायिकायें कही जाती हैं । सत्ताईस वर्षों (तक घोर यत्न करने) से वे उस ऊर्ध्वपद को जानती हैं । दूसरे कुल में उत्पन्न शाकिनियाँ रुद्रमातायें कही जाती हैं ।'

तथा—

'शाकिनी, रुद्रशाकिनी, शाबरिका, शिवा और अन्य प्रकार की भी योगिनियाँ होती हैं । उनसे सारा संसार व्याप्त है । क्षुद्रस्वभाववाली जो छलपूर्वक खींचकर प्राणियों का दूध पी जाती है और रूपपरिवर्त्तन के लिये पशु को प्राप्त कर मार डालती है उसे शाकिनी समझना चाहिये । यह सदा रौद्र स्थान (= भयङ्कर स्थान-श्मशान नदीतट, जंगल आदि) में रहती है । जो दूसरे के मन की गति को जानती हैं, अपना रूप बदलती रहती हैं तथा अमृत के लिये लालायित रहती हैं वह रुद्रशाकिनी होती है । शिवा उसे समझना चाहिये जो अपना व्यवहार गुप्त रखती है; वन में रहती है यह सबका घात नहीं करती । छिद्र के द्वारा खून पीती है । दूसरी शाबरिका होती हैं जो मन्त्र का ध्यान करती रहती हैं । वे मनुष्यों के समस्त पञ्चामृत (रक्त, मांस, मेदा (अथवा मज्जा) मल मूत्र) का हरण करती हैं । एक क्षण में समस्त पृथ्वी का भ्रमण कर सकती हैं और (एक क्षण में) अनेक रूप धारण करती हैं । दूसरी देवियाँ हैं जो योगशक्ति से त्रैकालदर्शिनी होती है ।

तथाष्टगुणसंपन्नाः पर्यन्तपदवेदिकाः ।'

इत्यादिग्रन्थेन श्रीतन्त्रसद्भावे नानाविधा निरूपिताः । भैरव इति तस्य सर्वशक्तिचक्रेश्वरत्वात् ॥

अत्र भैरवीये यागे—

अन्तर्बलिः प्रदातव्यः सर्वेषां भूरिघस्मरैः ।
तथा बाह्ये बलिः क्षेत्रे दातव्यः श्रेय इच्छता ॥ ७२ ॥
अरण्यके बलिश्चान्यो महिषाद्यैस्तथाजकैः ।

अन्तर्बलिर्नैवेद्यम् । बहिः क्षेत्रपालबलिः । अरण्ये भूतबलिर्महिषच्छागबर्कराद्यैः।

किं च, अत्र माषौदनमत्स्यादिद्रव्यैः—

विविधैस्तु बलिं कुर्यात्............

तं च—

............सर्वेभ्यस्तु प्रदापयेत् ॥ ७३ ॥

देवतायोगिनीभूतादिभ्यः ॥ ७३ ॥

स चायम्—

वे शिवा कही गयी हैं । सदा मन्त्र के ध्यान में लगी होती हैं । ये आठ गुणों (= तन्त्रसार में कथित ४८ संस्कारों में से अन्तिम ८ संस्कार) से सम्पन्न तथा अन्तिम पद को जानने वाली होती हैं' ।

इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा श्री तन्त्रसद्भाव में अनेक प्रकार की कही गयी हैं । भैरव—समस्तशक्तिचक्र का ईश्वर होने से ॥

इस भैरवीय याग में—

कल्याण चाहने वाला व्यक्ति, समस्त (यक्ष राक्षस आदि) के लिए नानाविध भोज्य पदार्थों की अन्तर्बलि दे । बाह्य क्षेत्रों में भी क्षेत्रपाल बलि देनी चाहिये । एक दूसरी भूत बलि जंगल में देनी चाहिये जो भैंसा बकरा आदि की हो ॥ ७२-७३- ॥

अन्तर्बलि = नैवेद्य । बाहर = क्षेत्रपाल बलि । अरण्य में महिष बकरा भेंड़ आदि की भूत बलि देनी चाहिये ॥

और भी यहाँ उड़द, चावल मछली आदि द्रव्यों से—

विविध बलि करे और उसे सबको दे ॥ -७३ ॥

(सबको) = देवता योगिनी भूत आदि के लिये ॥ ७३ ॥

नदीतीरे श्मशाने वा ह्यटव्यां मातृमण्डले।
प्रातर्मध्याह्नकाले च सायं चैवार्धरात्रतः ॥ ७४ ॥
बलिस्तेभ्यः प्रदातव्यस्तेन तृप्ता भवन्ति ते।

सदा च—

उदकं ह्यन्नमिश्रं च भूरि तेभ्यः प्रदापयेत् ॥ ७५ ॥
तेन तृप्तास्तु ते सर्वे सर्वश्रेयःफलप्रदाः।
भवन्त्यवितथं भद्रे मातृवत् पालयन्ति च ॥ ७६ ॥

बलिं निर्वक्ति—

स्मृतिमोजो जयं वृद्धिं वपुरायुर्यशः सुखम्।
नष्टं बलेन सर्वेभ्यो दद्यात्तेन बलिः स्मृतः ॥ ७७ ॥

एतच्च बलिदानान्तं कर्म—

एवं मृत्युजिता सर्वं कर्तव्यं सर्वसिद्धिम्।

किं च—

स्कन्दग्रहगृहीतानां बालानां पीडितात्मनाम् ॥ ७८ ॥
रतिग्रहैस्तथा नार्यो ह्यभिभूताः क्वचिद्यदा।

यह बलि नदी के किनारे, श्मशान में, जंगल एवं मातृमण्डल में प्रातः मध्याह्न, सायं काल एवं मध्यरात्रि में उन सबको देनी चाहिये। इससे वे लोग तृप्त होते हैं ॥ ७४-७५- ॥

और सदा—

उनके लिये अन्नमिश्रित जल अधिक मात्रा में देना चाहिये। हे भद्रे! उससे तृप्त हुये वे सब सचमुच समस्त कल्याण को देते हैं तथा (बलि देने वाले की) माता की भाँति रक्षा करते हैं ॥ -७५-७६ ॥

बलि शब्द के अर्थ को बतलाते हैं—

स्मृति, ओज, विजय, वृद्धि, शरीर, आयु, यश, सुख (ये सब यदि किसी के द्वारा) बलपूर्वक नष्ट कर दिये गये होते हैं तो (उपर्युक्त पदार्थ उन्हें) देते हैं इसलिये (उन पदार्थों को) बलि कहा जाता है ॥ ७७ ॥

बलिदानान्त कर्म

मृत्युञ्जय के द्वारा सर्वसिद्धिप्रद किया जाना चाहिये ॥ ७८- ॥

तथा—

जब स्कन्दग्रह से गृहीत, बालक, पीड़ित व्यक्ति तथा स्त्रियाँ रतिग्रहों

कार्तिकेयस्तदा याज्यः पूर्वोक्तविधिना ध्रुवम् ॥ ७९ ॥

बालग्रहलक्षणम्—

'तदङ्के रमते नित्यं बालानां च प्रसङ्गतः ।
कुमारो नृत्यते चैव पांसुना क्रीडते सदा॥'

इति तत्रैवोक्तम् । पूर्वोक्तविधिरिह मन्त्रेण अर्चाहोमादि ॥ ७९ ॥

एवं कृते हि—

क्षिप्रं तांश्च प्रमुञ्चन्ति स्कन्दाद्या ये शिशुग्रहाः।

चकारात्तेऽपि नारीरतिग्रहाः ॥

एवं विशेषत उक्त्वा सामान्येनाप्याह—

यस्मिन् कुले यदंशेन मुद्रितः कीलितः क्वचित् ॥ ८० ॥
तत्कुलेनैव चेष्टेन सर्वदोषैः प्रमुच्यते ।

यद्यद्देवतांशकोद्भूतेन योगिनीभूतग्रहादिना मुद्रितो यो ग्रस्यमानबलः कीलितो

के द्वारा अभिभूत हों तो पूर्वोक्त विधि से कार्त्तिकेय की पूजा की जानी चाहिये ॥ -७८-७९ ॥

बालग्रह का लक्षण—

सदा उस (= स्कन्द) की गोद में आनन्दित होता है । बच्चों के साथ नृत्य करता है और धूलि से खेलता है ॥

ऐसा वहीं कहा गया है । पूर्वोक्त विधि = मन्त्रोच्चारपूर्वक पूजन होम आदि ॥ ७९ ॥

ऐसा करने पर—

स्कन्द आदि जो शिशुओं के ग्रह हैं वे शीघ्र ही उनको छोड़ देते हैं ॥ ८०- ॥

श्लोक में उक्त 'च' से नारीरतिग्रहों को समझना चाहिये ॥

इस प्रकार विशेष का वर्णन कर सामान्यतया वर्णन करते हैं—

जिस कुल में जिसके अंश से कोई मुद्रित अथवा कीलित होता है उसी कुल के द्वारा पूजा करने से (रुग्ण व्यक्ति) सब दोषों से मुक्त हो जाता है ॥ -८०-८१- ॥

जिस देवता के अंश से उत्पन्न योगिनी, भूत, ग्रह आदि के द्वारा जो (= व्यक्ति) ग्रसितबल वाला होता है अथवा कीलित होता है उसके लिये तत्तत्

वा........... ग्रामा......... धिष्ठाय स्थापितः, तस्य तत्तद्देवतायागादेव श्रेयः । तत्तद्देवाद्यंशकोद्भूतग्रहगृहीतानां च लक्षणं क्रियाकालगुणोत्तरे दर्शितम्—

'न कुप्यति न हृष्येच्च भोजनं नाभिकाङ्क्षति ।
न वाचाऽऽलपते किंचिन्निद्रा नास्योपजायते ॥
न च मूत्रपुरीषं च नाशुचिस्तस्य जायते ।
पद्मपत्रनिभाकारं मुखं तस्योपजायते ॥
देवग्रहगृहीतस्य एतद्भवति लक्षणम् ।
गायते नृत्यते हृष्टो मुखवाद्यं करोति च ॥
गन्धमाल्यरतो नित्यं क्षीरभोजन एव च ।
सततं प्रियशीलश्च अरतिं नैव गच्छति ।
गन्धर्वेण गृहीतस्य एतद्भवति लक्षणम् ॥
गन्धपुष्परतो नित्यं क्षीरभोजन एव च ।
रक्तनेत्रो ह्यधोदृष्टिर्नदीषु नाभिषिञ्चते ॥
जलं चासौ वगाहेत पर्वते रमते सदा ।
जिह्वां लालयते चैव दशनांश्च निपीडयेत् ॥
नागग्रहगृहीतस्य एतद्भवति लक्षणम् ।
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा रुद्रोऽहमिति भाषते ॥
अहं स्कन्दो विशाखश्च नास्ति त(म)त्सदृशो भुवि ।
कदाचिद्भोजनं भुङ्क्ते नैव भुङ्क्ते कदाचन ॥

देवता का याग ही श्रेयस्कर होता है । तत्तद् देवता के अंश से उत्पन्न ग्रह से गृहीत लोगों का लक्षण क्रियाकालगुणोत्तर नामक ग्रन्थ में दिखलाया गया—

'जो न क्रोध करे न प्रसन्न हो । न भोजन चाहे न किसी से बात करे । थोड़ी भी नींद जिसको न लगे । मूत्र मल का त्याग और अशुद्धता जिसे न हों और उसका मुख कमल की पंखुड़ी के समान हो, यह देवग्रह से गृहीत व्यक्ति का लक्षण है ।'

'जो व्यक्ति गाता और नाचता है । प्रसन्न होकर मुख का बाजा बजाता है । सुगन्ध और माला पसन्द करता है । दूध का भोजन करता है । निरन्तर प्रियस्वभाव वाला होता है कभी भी अरति को प्राप्त नहीं होता । यह गन्धर्व से गृहीत (व्यक्ति) का लक्षण है ।

जो व्यक्ति सदा गन्ध और पुष्प में रमण करता है; दूध का भोजन करता है । आँखे लाल रहती हैं; दृष्टि नीचे रहती है; नदी में स्नान नहीं करता । पानी में डूबा होता है; पर्वत पर रमण करता है । जिह्वा को लपलपाता है; दाँतों को पीसता है । यह नागग्रह से गृहीत का लक्षण है ।

जो व्यक्ति मैं विष्णु हूँ, मैं ब्रह्मा हूँ, मैं रुद्र हूँ, मैं स्कन्द और विशाख हूँ ।

अपमन्येत देवांश्च ब्राह्मणांश्चापमन्यते ।
असुरेण गृहीतस्य एतद्भवति लक्षणम् ॥
तपःस्वाध्यायसंयुक्तो ब्राह्मणानुग्रहे स्थितः ।
कृतशौचो भवेन्नित्यमशौचं नैव तिष्ठति ॥
अपशब्दं न गृह्णाति पठत्यपि समं द्विजैः ।
गायते सामवेदं च ऋग्वेदं चाप्युदाहरेत् ॥
वेदार्थेषु च सर्वेषु श्रुतिं नित्यमुदाहरेत् ।
वेद्यमेव तु जानाति हसन्नेव च धावति ।
ब्रह्मरक्षोगृहीतस्य एतद् भवति लक्षणम् ॥' इति ।

एवं लक्षणतो देवादिग्रहगृहीतान् निश्चित्य इह मन्त्रेण देवराजगन्धर्वराजादिपूजा कर्तव्या ॥

यत एवम्—

तदर्थेन मया सर्वं रहस्यं प्रकटीकृतम् ॥ ८१ ॥
अस्मिंस्तन्त्रे तु सर्वेषाममृतं च विधानतः ।

सर्वेषामेव तत्तद्देवतानां यद् रहस्यं परमाद्वैतमपि तन्मन्त्रवीर्यमयम्, तदत्रामृतं च मन्त्रनाथरूपं विधानेन मया स्फुटीकृतम् ॥

धरती पर मेरे सदृश कोई नहीं है—ऐसा जो कहता है । कभी भोजन करता है कभी नहीं करता, देवताओं और ब्राह्मणों का अपमान करता है । यह असुर से गृहीत का लक्षण है ।

जो व्यक्ति तपस्या एवं स्वाध्याय में लगा रहता है; ब्राह्मणों के ऊपर कृपा करता है; सदा स्नान करता है; कभी भी अशुद्ध नहीं रहता, अपशब्द नहीं बोलता; ब्राह्मणों के साथ पाठ करता है; सामवेद का गान और ऋग्वेद का उच्चारण करता है; समस्त वेदार्थों में श्रुति का उदाहरण देता है । वेदनीय को जानता है हँसते हुए दौड़ता है । यह ब्रह्मराक्षस से गृहीत का लक्षण है ॥'

इस प्रकार लक्षण के द्वारा पहचान कर इस मन्त्र से देवराज या गन्धर्वराज आदि की पूजा करनी चाहिये ॥

चूँकि ऐसा है—

इसलिये मैने समस्त देवताओं के रहस्य अमृत को इस तन्त्र में विधानपूर्वक प्रकट कर दिया ॥ -८१-८२- ॥

सबका = तत्तद् देवताओं का, जो रहस्य = परमाद्वैत होते हुए भी तत्तत् वीर्य से युक्त, वही यहाँ अमृत अर्थात् मन्त्रनाथ है । उसे विधान पूर्वक मैंने यहाँ स्पष्ट कर दिया ॥

तदित्थम्—

सर्वतन्त्रेषु सामान्यो मृत्युजित् प्रकटीकृतः ॥ ८२ ॥
सर्वेषां हृदयं गुह्यमप्रकाश्यं महाद्भुतम् ।

उक्तनीत्यैवास्य हृदयादिरूपत्वम् ॥

एतच्च पराद्वैतप्रथानुन्मेषात्—

न केनचिदहं पृष्टः..........

अतश्च—

..........नाख्यातं कस्यचिन्मया ॥ ८३ ॥
रहस्यं........

रहस्यत्वे हेतुमाह—

.....संप्रदायश्च सर्वश्रेयःसुखावहः ।

अयमिति, अर्थात् । चो ह्यर्थे ॥

यत एवम्, अतः—

तो इस प्रकार—

सब तन्त्रों में सामान्यतया वर्णित मृत्युञ्जय, जो कि सबका हृदय, गुह्य, अप्रकाश्य, एवं महाअद्भुत है, को मैने प्रकट किया ॥-८२-८३-॥

उक्त नीति से ही इसकी हृदयादिरूपता (= हृदय के समान सबसे महत्वपूर्ण रूप) स्पष्ट हो जाती है ॥

पराद्वैतप्रथा का उन्मेष न होने के कारण—

मुझसे इसको किसी ने नहीं पूछा ॥ -८३- ॥

इसलिये—

मैंने इस रहस्य को किसी को नहीं बताया ॥ -८३-८४- ॥

रहस्यता में कारण बतलाते हैं—

यह सम्प्रदाय सर्वश्रेय (= सबका कल्याण करने वाला) और सुखदायक है ॥ -८४- ॥

अयम्—इसे अर्थात् समझना चाहिये । श्लोक में 'च' का प्रयोग 'हि' अर्थ में है ।

चूँकि ऐसा है इसलिये—

साधकास्तु प्रसन्ना ये भक्ता ह्याराधयन्ति च ॥ ८४ ॥
सर्वदुःखविमुक्तास्ते सत्यं मे नानृतं वचः ।

सर्वैरेव समय्यादिभिः—

अनेनैवात्मनः कार्यं सर्वदुःखनिवारणम् ॥ ८५ ॥

आचार्यस्तु—

भक्तानां स्वसुतानां च स्वदाराणां च कारयेत् ।
स्वशिष्याणां च भक्तानां नान्यथा तु प्रयोजयेत् ॥ ८६ ॥

लौकिकस्नेहलोभावुत्सृज्य भक्तानामेवंविधं कुर्यात् पुत्रकादिभिर्वा, भक्तः स्वदारादिविषये आचार्यं कारयेदनेनैवेत्येवकारः सत्वस्वप्यन्येषु मन्त्रेष्वस्य मन्त्रेश्वरस्य माहात्म्यं वक्ति ॥

किं च, अयं विधिः—

सर्वाश्रमगुरुत्वाच्च भूपतीनां च सर्वदा ।
तत्सुतानां च पत्नीनां कर्तव्यो हितमिच्छता ॥ ८७ ॥

जो साधक प्रसन्न होकर भक्तिपूर्वक (मृत्युजित् की) आराधना करते हैं वे समस्त दुःखों से मुक्त हो जाते हैं—यह मेरा वचन सत्य है असत्य नहीं ॥ -८४-८५- ॥

सभी समयी आदि साधकों के द्वारा—

अपने समस्त दुःखों का निवारण इसी के द्वारा करना चाहिये ॥-८५॥

आचार्य—

अपने भक्तों, सुतों, पत्नी, शिष्य के भक्तों का (दुःखनिवारण) इसी के द्वारा करे । अन्यथा (= दूसरों के लिये) प्रयोग न करे ॥ ८६ ॥

आचार्य लौकिक स्नेह और लोभ को छोड़कर भक्तों के लिये इस प्रकार (का अनुष्ठान) करे, अथवा पुत्रक दीक्षा आदि के द्वारा ऐसा करे । भक्त पुरुष अपनी स्त्री आदि के विषय में आचार्य के द्वारा अनुष्ठान कराये । (प्रथम श्लोक में प्रयुक्त) 'अनेनैव' शब्द में पठित 'एव' के द्वारा परमेश्वर अन्य मन्त्रों के रहते हुए भी इसी मन्त्रेश्वर की महिमा बतलाते हैं ॥

और भी, यह विधि—

चूँकि राजा सभी आश्रमों का गुरु होता है इस कारण राजाओं राजपुत्रों, राजदाराओं का हित चाहते हुए आचार्य इस विधि को करे ॥ ८७ ॥

सर्वाश्रमगुरुत्वं यथाशास्त्रं प्रजापालकता ॥

इमं च महामन्त्रयोगम्—

नित्ये नैमित्तिके काम्ये शान्त्यर्थं कारयेत् सदा ।

किं च—

मुखे प्रक्षालिते नित्यं तिलकः श्वेतभस्मना ॥ ८८ ॥
सप्ताभिमन्त्रितः कार्यो मातृदोषनिवृत्तये ।

किं च—

समालम्भनपुष्पं वा ताम्बूलेनाभिमन्त्रितम् ॥ ८९ ॥
दीयते यस्य तस्यैव न हिंसन्तीह हिंसकाः ।

नैव हिंसन्तीत्यर्थः ।

किं च—

भोजनं चाभिमन्त्रेत मन्त्रेणानेन मन्त्रवित् ॥ ९० ॥
उभयोः पार्श्वयोर्मध्ये भुञ्जानोऽमृतमश्नुते ।
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तस्तिष्ठते नृपतिः क्षितौ ॥ ९१ ॥

सर्वाश्रम का गुरु होना = शास्त्र के अनुसार प्रजा का पालन करना ॥ ८७ ॥

इस महा मन्त्र योग को नित्य नैमित्तिक काम्य एवं शान्ति कर्म में सदा करवाना चाहिये ॥ ८८- ॥

तथा—

माताओं के दोष की निवृत्ति के लिये साध्य के मुख को धोकर सात बार अभिमन्त्रित श्वेत भस्म से तिलक लगाना चाहिये ॥ -८८-८९- ॥

तथा—

इस मन्त्र से अभिमन्त्रित समालम्भन पुष्प (= देवता को अर्पित पुष्प) ताम्बूल के साथ जिसको दिया जाय उसे हिंसक जीव नहीं मारते ॥ -८९-९०- ॥

तथा—

मन्त्रवेत्ता इस मन्त्र से भोजन को दोनों पार्श्वों एवं मध्य (= सुषुम्ना) में अभिमन्त्रित करे । ऐसे भोजन का ग्रहण करने वाला अमृत भोजन करता है । वह राजा पृथ्वी पर समस्त व्याधियों से मुक्त होकर राज्य करता है ॥ -९०-९१ ॥

एवमिति स्रवत्परामृतचिद्धर्मस्फुरत्तात्मनाऽनेन मन्त्रेण प्रोक्तदृशा संपुटीकार-युक्त्या ध्यातोऽभिमन्त्रितश्चन्द्र(सूर्य)द्वयमध्यस्थितं भोजनं भुञ्जानोऽमृतमश्नुतेऽमृतत्वमेति नृपतिः । नृपतिरित्युपलक्षणम् ।

तस्य च—

अथ क्रीडनकालेषु गजाश्वसहितस्य च ।
अस्त्रक्रीडासु सर्वासु रक्षार्थं कलशं यजेत् ॥ ९२ ॥
क्रीडार्थं विजयार्थं च रक्षार्थं हिंसकादिषु ।

क्रीडाकालेषु दाहकेल्यादिक्रीडावसरेषु क्रीडार्थं निर्विघ्नक्रीडासंपत्तये गजाश्वसहितस्य चकारादमात्यराष्ट्रादियुक्तस्य विजयार्थं संग्रामाद्यवसरेषु सर्वासु शस्त्रक्रीडासु रक्षार्थं शस्त्रक्षतादिदोषशान्तये हिंसकादिविषये रक्षार्थमनेन मन्त्रेण कलशं यजेत् ॥

यस्माद्दुष्टाश्च बहवो जिघांसन्ति नृपादिकम् ॥ ९३ ॥
तस्माद्रक्षा प्रकर्तव्या..........

उक्तकलशार्चारूपा ॥

सर्वप्रजानुकूलपतिरक्षणेनैवं रक्षा—

इस प्रकार स्रवत् परामृतरूपी चिद्धर्म की स्फुरत्ता वाले इस मन्त्र से पूर्वोक्तविधि के अनुसार सम्पुटित कर ध्यान किये गये एवं अभिमन्त्रित चन्द्र एवं सूर्य (= इडा और पिङ्गला) के मध्यस्थित (= सुषुम्ना में स्थित) भोजन को ऊर्ध्वस्थ कमल से टपकने वाले अमृतबिन्दु का आस्वादन करने वाला अमृत का भक्षण करता है अर्थात् अमर हो जाता है । नृपति पद उपलक्षण है अर्थात् जो कोई सामान्य व्यक्ति भी वैसा करेगा अमर हो जायगा ॥

क्रीड़ा के समय क्रीड़ा के लिये सब प्रकार की अस्त्र-क्रीड़ा में हाथी घोड़े सहित रक्षा और विजय के लिये और हिंसक आदि के विषय में रक्षा के लिये कलश की पूजा करनी चाहिये ॥ ९२-९३- ॥

क्रीड़ाकाल में = दाहकेलि आदि क्रीड़ा के अवसरों पर क्रीड़ा के लिये = निर्विघ्न क्रीड़ा समाप्ति के लिये । गज अश्व सहित तथा (श्लोक में) चकार के द्वारा गृहीत अमात्यराष्ट्र आदि से युक्त (राजा) की विजय के लिये संग्राम आदि के अवसरों पर समस्त शस्त्र-क्रीड़ाओं में रक्षा के लिये = शस्त्रक्षत आदि को शान्त करने के लिये तथा हिंसक आदि के विषय में रक्षा के लिये इस मन्त्र से कलश का पूजन करना चाहिये ॥

चूँकि बहुत से दुष्ट लोग राजा आदि को मारना चाहते हैं इसलिये उक्तकलश रूपा रक्षा करनी चाहिये ॥ -९३-९४- ॥

समस्त प्रजा के अनुकूलवर्त्ती राजा की रक्षा से इस प्रकार की रक्षा

............सर्वश्रेयस्करी शुभा।

भवेत् ॥

एवं क्रीडाद्यवसरेषु शिरोरक्षितस्य—

ततः सुप्तस्य नृपते रक्षार्थं कलशं यजेत् ॥ ९४ ॥
रौप्यं चौषधिसंयुक्तं चन्दनागुरुलेपितम् ।
क्षीरेण चाम्भसा पूर्णं..........

तत्रार्चिते कलशे—

............यजेन्मृत्युजितं परम् ॥ ९५ ॥
सर्वश्वेतोपचारेण पुष्पधूपार्घपायसैः ।

इत्थं भगवत्यर्चिते—

अग्रे स्थिता महानिद्रा जगत्संमोहकारिणी ॥ ९६ ॥
सुखार्थं नृपते रात्रौ जीर्णार्थं भोजनादिके ।
आरब्धा देवदेवेन आज्ञां दत्त्वेति भावयेत् ॥ ९७ ॥

देवेन आज्ञां दत्त्वा नृपते रात्रावग्रे स्थिता निद्रा सुखार्थं भोजनादिजीर्णतार्थं च

सबके लिये कल्याणकरी एवं शुभङ्करी ॥ -९४- ॥
होती है ॥

इस प्रकार क्रीड़ा आदि के अवसरों पर जिसके शिर की रक्षा की जा चुकी है—

और बाद में राजा सो रहा है तो उस राजा की रक्षा के लिये कलश की पूजा करनी चाहिये । वह कलश चाँदी का होना चाहिये । उसमें सर्वौषधियाँ डाली गयी हों तथा चन्दन एवं अगुरु से वह उपलिप्त हो साथ ही दूध एवं जल से पूरित हो ॥ -९४-९५- ॥

उस पूजित कलश में—

समस्त श्वेतवस्तुओं तथा पुष्प धूप अर्घ और पायस के द्वारा उत्तम मृत्युञ्जय की पूजा करनी चाहिये ॥ -९५-९६- ॥

इस प्रकार भगवान् मृत्युञ्जय की पूजा होने पर—

यह भावना करनी चाहिये कि देवाधिदेव ने आज्ञा देकर जगत्सम्मोहकारिणी निद्रा को भेजा है जो रात्रि में सुखपूर्वक सोने के लिये तथा भोजन को पचाने के लिये राजा के सामने आकर खड़ी है ॥ ९६-९७ ॥

आरब्धा प्रवर्तितेति भावयेत् ।

एवं कृते नृपतिः—

ततो रात्रिं समग्रां तु तिष्ठेद्वै निद्रया सह ।

किं च—

यक्षरक्षःपिशाचाद्यैर्दुःस्वप्नैर्मातृसंभवैः ॥ ९८ ॥
भयैस्सन्त्रासदुःखैस्तु मुक्तस्तिष्ठेद्यथासुखम् ।

किं च दिग्गतेषु—

लोकपालेषु सास्त्रेषु रक्षार्थं नृपसंनिधौ ॥ ९९ ॥
पूजनं चार्घपुष्पाद्यैः कलशे पूजिते सति ।

कर्तव्यम् ॥

अतश्च कस्यचिद् शक्तिपातपूतस्य नृपतेः—

यस्यैवं सततं कुर्याज्ज्ञानवान् दैशिकोत्तमः ॥ १०० ॥

कलशाद्यर्चाम् ।

देवाधिदेव के द्वारा रात्रि में सुख के लिये और भोजन आदि को पचाने के लिये निद्रा आगे स्थित है और प्रवर्त्तित हो रही है—ऐसी भावना करनी चाहिए ।

ऐसा करने पर राजा—

पूरी रात निद्रा के साथ रहता है ॥ ९८- ॥

और—

(वह राजा) यक्ष राक्षस पिशाच आदि से, माताओं के द्वारा उत्पादित दुःस्वप्नों से, भय एवं सन्त्रास के दुःखों से मुक्त होता हुआ सुखपूर्वक रहता है ॥ -९८-९९- ॥

तथा—

कलश की पूजा सम्पन्न हो जाने पर रक्षा के लिये राजा के समीप अस्त्रसहित दश दिक्पालों की अर्घपुष्प आदि से पूजा करनी चाहिये ॥ -९९-१००- ॥

इसलिये शक्तिपात के द्वारा पवित्रित जिस किसी राजा के लिये—

ज्ञानवान् उत्तम गुरु निरन्तर ऐसा करता है अर्थात् ॥ -१०० ॥

कलश आदि की पूजा करता है ।

असौ—

पूर्वोक्तं समवाप्नोति...........

भुक्तिमुक्त्यादि ॥

न चैतदसंभाव्यम्, यतः—

..............प्राहेति भगवाञ्छिवः ।

किं च—

निमित्तेषु च सर्वेषु अमृतेशं यजेत च ॥ १०१ ॥
कामरूपं सदा..............

यत्तन्नैमित्तिकदेवताकारकममृतेशमिति ॥

......यस्मात् सर्वकामानवाप्नुयात् ।

चिन्तामणिकल्पत्वादस्येत्युक्तत्वात् ॥

निमित्तेष्वित्युक्तिं लेशतः स्फुटयति—

प्रजानां रक्षणार्थाय शालीनां चापि संपदे ॥ १०२ ॥
सुतपत्नीषु रक्षार्थमात्मनो राष्ट्रवृद्धये ।
इन्द्ररूपं यजेत्तत्र विजयार्थं नृपस्य च ॥ १०३ ॥

वह राजा पूर्वोक्त को भली भाँति प्राप्त करता है ॥ १०१- ॥

भोग मोक्ष आदि को

और यह असम्भव नहीं है क्योंकि—

ऐसा भगवान् शिव स्वयं कह चुके हैं ॥ -१०१- ॥

तथा—

समस्त नैमित्तिक अवसरों के उपस्थित होने पर सदा कामरूपी अमृतेश की पूजा करनी चाहिये ॥ -१०१-१०२- ॥

यह अमृतेश तत्तत् नैमित्तिक देवता के कारक हैं ॥

जिससे समस्त अभिलाषायें पूरी होती हैं ॥ -१०२- ॥

क्योंकि ये चिन्तामणिरत्न के समान हैं—ऐसा कहा जा चुका है ।

पूर्वश्लोकोक्त 'निमित्तेषु' इस पद को संक्षेपतः स्पष्ट करते हैं—

प्रजाओं की रक्षा, शाली आदि धान्य की प्राप्ति, सुत पत्नी आदि की रक्षा, राष्ट्र की वृद्धि तथा अपने राजा की विजय के लिये इन्द्ररूपी अमृतेश

तत्रेति नैमित्तिके इन्द्रदिने । आत्मनो नृपस्य विजयार्थमिति सङ्गतिः ॥१०३॥

किं च—

गोब्राह्मणेषु रक्षार्थमात्मनः स्वजनेषु च ।
महानवम्यां पूज्येत भूरियागेन वेश्मनि ॥ १०४ ॥

तथा सति हि—

पूर्वोक्तं समवाप्नोति आयुरारोग्यसंपदम् ।

किं च—

अस्त्रयागः प्रकर्तव्यः प्रयत्नात् सिद्धिहेतवे ॥ १०५ ॥

महानवम्यामेव ॥ १०५ ॥

एवं हि यष्टा—

अस्त्रसिद्धिमवाप्नोति..............

दिव्यान्यस्त्राणि मन्त्रप्रभावात् संपादयति ।

की पूजा करनी चाहिये ॥ -१०२-१०३ ॥

उस (समय) में = नैमित्तिक इन्द्रदिन में । अपने राजा की विजय के लिये— यह अन्वय है ॥ १०३ ॥

तथा—

गो ब्राह्मण की अपनी तथा अपने जनों की रक्षा के लिये महानवमी की तिथि में (अपने) घर में भूरियाग[1] (= अधिकाधिक वस्तुओं) के द्वारा (अमृतेश की) पूजा करनी चाहिये ॥ १०४ ॥

ऐसा होने पर (याजक)—

पूर्वोक्त आयु आरोग्य और सम्पत्ति को प्राप्त करता है ॥ १०५- ॥

तथा

सिद्धि के लिये महानवमी में ही प्रयत्नपूर्वक अस्त्रयाग करना चाहिये ॥ -१०५ ॥

महानवमी में ॥ १०५ ॥

इस प्रकार यज्ञ करने वाला—

अस्त्रसिद्धि को प्राप्त करता है ॥ १०६- ॥

---

१. इज्यते अनेन इति यागः = पूजापदार्थः ।

राजादिश्च विजयमाप्नोतीत्याह—

.............प्रयोक्ता फलमश्नुते।

प्रयोक्ता पूर्वोक्तयाजयिता ॥

किं च—

यदा मृत्युवशाघ्रात: कालेन कलितो नृप: ॥ १०६ ॥
अरिष्टचिह्नितात्मा वै देशो वा तत्सुतादय: ।
ब्राह्मणादिषु सर्वेषु नाशे जनपदस्य च ॥ १०७ ॥
शाल्यादिषु च सस्येषु फलमूलोदकेषु च ।
दुर्भिक्षव्याधिकार्येषु उत्पातेषु महत्सु च ॥ १०८ ॥
तदा नीराजनं कार्यं रा(ज्ञा)ज्ञो राष्ट्रविवृद्धये ।

सुतादय इत्यादिशब्दाद् राज्ञ उत्पातान्तेषु सत्सु यदा ब्राह्मणादिषु नाशस्तदा नीरेण अभिषेकवारिणा, अजनं सर्वदोषाणां निवारणार्थं क्षेप: नि:शेषेण राजनं दीप्तिमत्तोत्पादनं कार्यम् ॥

तद् वक्तुमुपक्रमते—

अर्थात् मन्त्र के प्रभाव से दिव्य अस्त्रों को प्राप्त करता है ।

राजा आदि विजय को प्राप्त करते हैं—यह कहते हैं—

प्रयोक्ता दृष्टफल को प्राप्त करता है ॥ -१०६- ॥

प्रयोक्ता अर्थात् पूर्वोक्त यज्ञ कराने वाला

तथा—

राजा जब काल से ग्रस्त होकर मरणासन्न हो जाय; उसका देश या उसके पुत्र आदि में अरिष्ट दृष्ट होने लगें; ब्राह्मण आदि (व्यक्ति) तथा जनपद, शालि आदि धान्य, फल कन्दमूल, जल जब नष्ट होने लगे; दुर्भिक्ष व्याधि आदि तथा महान् उत्पात उपस्थित होने लगे तब राजा और राष्ट्र की (अथवा राजा के राष्ट्र की) विवृद्धि के लिये नीराजन करना चाहिये ॥ -१०६-१०९- ॥

'सुतादय:' यहाँ आदि शब्द से ब्राह्मण से लेकर राजा तक के उत्पातग्रस्त तथा नष्ट होने पर ऐसा समझना चाहिये । (नीराजन शब्द का अर्थ बतलाते हैं—) नीर = अभिषेकजल, के द्वारा अजन = समस्त दोषों के निवारण के लिये प्रक्षेप (नीराजन है अथवा) नि:शेषतया, राजन = दीप्तिमत्ता का उत्पादन, करना चाहिये ॥ ('अजन' में 'अज' विक्षेपे तथा 'राजन' में 'राजृ' दीप्तौ धातु है) ॥

उस (नीराजन) को बतलाने के लिये कहते हैं—

पूर्ववद्यजनं कृत्वा कलशेनाभिषेचयेत् ॥ १०९ ॥

कथम् ?—इत्याह—

निःशङ्को निर्जने रात्रौ शुभर्क्षे च तथांशके ।
जयपुण्याहशब्दैश्च वेदमङ्गलनिःस्वनैः ॥ ११० ॥
अभिषिञ्चेत्तु राजानं..........

निर्जन इति गुप्तस्थाने ॥

अथ चाचार्यः—

.......सिद्धार्थान् जुहुयाद् बहून् ।
नीराजनविधानेन नामाङ्के संस्कृते प्रिये ॥ १११ ॥
वह्नौ संरुद्धमनसा अजांश्च प्रोक्षयेद् बहून् ।
तृप्त्यर्थं भूतसङ्घस्य मन्त्री रक्षार्थमुद्यतः ॥ ११२ ॥

नीराजनमसामान्यदीप्त्युत्पादनं मूलमन्त्रप्रयोगपूर्वकम् । 'अमुकस्य नीराजनमस्तु स्वाहा' इत्यत्र प्रयोगः । भूतानि च सङ्घश्चेति समासः, सङ्घो मातृयोगिन्यादिगणः ॥ ११२ ॥

एवं बल्यन्तं कर्म बहिष्कृत्वा—

पूर्व की भाँति पूजन कर कलश से अभिषेक करना चाहिये ॥-१०९॥

किस प्रकार ?—यह बतलाते हैं—

शुभ नक्षत्र तथा शुभ अंश (= दिन या लग्न) में रात्रि के समय निर्जन स्थान में जय पुण्याह शब्दों वेदमन्त्रोच्चारण एवं मङ्गलध्वनि के द्वारा राजा का अभिषेक करना चाहिये ॥ ११०-१११- ॥

निर्जन = गुप्तस्थान ॥

हे प्रिये ! इसके बाद आचार्य—

नीराजन के विधान से नाम के संस्कृत होने पर एकाग्रचित्त होकर अग्नि में प्रचुरमात्रा में सिद्धार्थ (= सफेद सरसों) का हवन करे । रक्षा के लिये तत्पर मन्त्री भूत एवं सङ्घ की तृप्ति के लिये अनेक बकरों का प्रोक्षण करे ॥ -१११-११२ ॥

नीराजन = मूल मन्त्र का प्रयोग करते हुए असाधारण दीप्ति को बनाना । यहाँ 'अमुकस्य नीराजनमस्तु स्वाहा' इस प्रकार अग्नि में हवन का प्रयोग होगा । भूतसङ्घ = भूतानि च सङ्घश्च यह द्वन्द्वसमास है । सङ्घ = माताओं योगिनियों आदि का समूह ॥ ११२ ॥

शाकुनोक्त्यांशगत्या वा विज्ञाय शकुनं हितम् ।
यक्षेन्द्रशिववारुण्या निर्यातः सर्वसिद्धिदः ॥ ११३ ॥

ज्योतिर्गणोक्त्या स्वयं शुभांशकज्ञानाद् वा शकुनं माङ्गल्यमवसरं ज्ञात्वा यक्षेश्वराद्यधिष्ठितोत्तरपूर्वेशानपश्चिमदिग्भ्योऽन्यतमया दिशा विजयाभिमुखेन राज्ञा सह निर्यातः आचार्यः सर्वसिद्धिदो भवति ॥ ११३ ॥

नीराजनानन्तरं राज्ञः—

अथ पूर्वोक्तविधिना गृहे यागं तु कारयेत् ।
यावत् सप्ताह्निकं देवि भूरिहोमेन सिद्धिदम् ॥ ११४ ॥

भूरिहोमेनेति सहार्थे तृतीया ॥ ११४ ॥

यदर्थं चैवमिज्यते—

अस्याचला महालक्ष्मी राज्यं वा यदभीप्सितम् ।

तत् भवति ॥

स च—

इस प्रकार यागगृह के बाहर बलिपर्यन्त कर्म को करने के बाद—

शाकुनशास्त्र में कथित अंश के द्वारा अथवा स्वयं हितप्रद शकुन को जानकर उत्तर पूर्व ईशान अथवा पश्चिम दिशा से निकलने वाला (आचार्य) सर्वसिद्धिप्रद होता है ॥ ११३ ॥

ज्योतिर्गण (= ज्योतिषीलोगों) की उक्ति के अनुसार या स्वयं शुभ अंश (अँगुलियों पर गिने जाने वाले अंश) के ज्ञान से शकुन = मांगलिक अवसर, को जानकर यक्ष (= कुबेर) आदि से अधिष्ठित उत्तर पूर्व ईशान और पश्चिम दिशाओं में से किसी एक दिशा से विजय के लिये निकलते हुए राजा के साथ निकलने वाला आचार्य सर्वसिद्धिप्रद होता है ॥ ११३ ॥

हे देवि !

नीराजन के बाद (आचार्य)—

पूर्वोक्तविधि से राजा के घर में प्रचुर होम के साथ सिद्धिप्रद साप्ताह्निक याग कराये ॥ ११४ ॥

भूरिहोमेन—यहाँ 'साथ' अर्थ में तृतीया है ॥ ११४ ॥

जिस (राजा आदि) के लिये इस प्रकार यज्ञ किया जाता है—

उसको अचल महालक्ष्मी या अभीष्ट राज्य मिलता है और ॥ ११५-॥

वह—

भौमान्तरिक्षसिद्धीश्च प्राप्नुयान्नृपतिः सुखी ॥ ११५ ॥

यदा—

तदा नीराजनं ख्यातं सर्वश्रेयस्करं परम् ।

किं चैतत् सर्वम्—

पूर्वोक्तान्नाशयेद्दोषान् देवि नास्त्यत्र संशयः ॥ ११६ ॥

इमं च मन्त्रनाथम्—

गोषु मध्ये यजेद्यस्मात् सदा वर्धेत गोकुलम् ।

तत्र च—

सिन्दूरं गैरिकं वापि अभिमन्त्र्यैव मन्त्रवित् ॥ ११७ ॥
योजयेद् गोषु रक्षार्थं शृङ्गोर्ध्वे सर्वदोषजित् ।

किं च—

अश्वानामपि रक्षार्थं पूर्वोक्तविधिना यजेत् ॥ ११८ ॥

तत्र च—

अभिमन्त्र्यैव कलशं मूर्ध्नि तेषां प्रपातयेत् ।

राजा सुखी होकर मृत्युलोक या अन्तरिक्षलोक की सिद्धि प्राप्त करता है ॥ -११५ ॥

यह नीराजन अत्यन्त उत्कृष्ट एवं सर्वश्रेयस्कर कहा गया है ॥११६-॥

तथा हे देवि ! यह (= नीराजन) पूर्वोक्त समस्त दोषों का नाश कर देता है इसमें कोई संशय नहीं है ॥ -११६ ॥

इस मन्त्रेश्वर की—

यदि गायों के मध्य में पूजा की जाय तो सदा गोकुल की वृद्धि होती है ॥ ११७- ॥

वहाँ—

मन्त्रवेत्ता सर्वदोषजित सिन्दूर या गैरिक को अभिमन्त्रित कर गायों की रक्षा के लिये उनकी सींगों में लगाये ॥ -११७-११८- ॥

तथा—

घोड़ों की भी रक्षा के लिये पूर्वोक्त विधि से यजन करे ॥ -११८ ॥

कलश का अभिमन्त्रण कर उन (= घोड़ों अथवा गायों) के शिर पर

सिद्धार्थो मन्त्रजप्तस्तु कण्ठे कार्योऽथ मूर्धनि ॥ ११९ ॥

एवमेव च—

सर्वदोषविनिर्मुक्तान् गजांश्चैव तु रक्षति।

सिद्धार्थो मन्त्रितः ॥

किं च—

अजादिषु पशुष्वेवं रक्षां सर्वेषु कारयेत् ॥ १२० ॥
सर्वप्राणिषु रक्षार्थं योक्तव्यो नृपतेः सदा ।

नृपतेः संबन्धिषु सर्वप्राणिष्विति संबन्धः ॥

एवं हि—

महाशान्तिर्भवेत्तेषां दुर्भिक्षं नश्यति क्षणात् ॥ १२१ ॥

किं च—

महाभयेषु सर्वेषु भूकम्पोल्कानिपातने ।
अतिवृष्टावनावृष्टौ मूषकादिभयेषु च ॥ १२२ ॥
अकालोत्पन्नपुष्पादौ देवैर्नष्टैश्च खण्डितैः ।

(उस कलश का जल) गिराये । मन्त्र के जप से अभिमन्त्रित सिद्धार्थ (= सफेद सरसो) उनके गले या शिर पर बाँध दे ॥ ११९ ॥

इसी प्रकार—

अभिमन्त्रित सिद्धार्थक हाथियों को सब रोगों से मुक्त करता तथा उनकी रक्षा करता है ॥ १२०- ॥

तथा—

इसी प्रकार बकरी आदि सभी पशुओं के विषय में रक्षा करनी चाहिये। राजा से सम्बद्ध सभी प्राणियों के शरीर में इसे सदा लगाना या बाँधना चाहिये ॥ -१२०-१२१- ॥

ऐसा करने पर—

उनको महाशान्ति मिलती है तथा दुर्भिक्ष एक क्षण में नष्ट हो जाता है ॥ -१२१ ॥

तथा—

सब प्रकार के महाभय, भूकम्प, उल्कापात, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक आदि का भय होने पर, अकाल (= अनुचित समय) में उत्पन्न पुष्प

ज्वरलूतादिदोषैश्च अपमृत्युभिरेव च ॥ १२३ ॥
दुःखैर्नानाविधैश्चैव आघ्रातं मण्डलं यदि ।
कर्मदोषाश्च ये केचिद् ग्रहदोषास्तथागताः ॥ १२४ ॥
तिरोभावस्तथोत्पन्नो मन्त्रच्छिद्रं तथागतम् ।
नागादिविषदोषाश्च कीटविस्फोटकादयः ॥ १२५ ॥
वातपित्तविकाराश्च श्लेष्मदोषाश्च सर्वतः ।
अर्शांसि चक्षूरोगाश्च तथा विसर्पकादयः ॥ १२६ ॥
व्याध्यन्तराणि दोषाश्च क्षतजाद्याः सहस्रशः ।
आभ्यन्तरा व्याधयश्च शोकाद्याश्चित्तनाशकाः ॥ १२७ ॥
अभिशप्ताश्च देवाद्यैर्ब्राह्मणाद्या यदा जनाः ।
तदा तु पूर्ववद्यागः कर्तव्यः शान्तिहेतवे ॥ १२८ ॥

नष्टैरित्यग्निदाहादिति । खण्डितैः स्फुटितैः । आघ्रातं मण्डलं यदीति संबन्धः । कर्मदोषा असत्कर्मजानि दुःखानि । तिरोभावो देवगुर्वपराधजं किल्विषम् । मन्त्रच्छिद्रमविहिताचारेण मन्त्राराधनजो दोषः । यथोक्तमन्यत्र—

'नान्यच्छिद्रं प्रपश्यामि मन्त्रिणो मन्त्रसाधने ।
यत्र तादृग्यथालिङ्गः केवलं विचलत्यसौ ॥' इति ।

(= श्वेत चर्मरोग या नेत्र रोग—फूली) आदि, देवताओं के द्वारा मण्डल (= राज्य या क्षेत्र) के नष्ट अथवा खण्डित होने पर, ज्वर लूता आदि दोषों, अकालमृत्यु, नाना प्रकार के दुःखों से आक्रान्त होने पर, जो कोई कर्मदोष या ग्रहदोष, तिरोभाव, मन्त्रच्छिद्र, सर्प आदि के विषदोष, कीटदोष, फोड़ा फुँसी, वातपित्त कफ के दोष, बवासीर, चक्षुरोग, विसर्पक (= सूखा रोग या खुजली), दूसरी व्याधियाँ, क्षतज आदि हजारों दोष, चित्त को नष्ट करने वाली शोक आदि आन्तरिक व्याधियों के होने पर तथा जब ब्राह्मण आदि देवता आदि से अभिशप्त हो जाँय तब शान्ति के लिये पूर्व की भाँति यजन करना चाहिये ॥ १२२-१२८ ॥

नष्ट—अग्निदाह आदि के कारण । खण्डित = टूटा फूटा । कर्मदोष = अनुचित कर्म से उत्पन्न दुःख । तिरोभाव = देवता अथवा गुरु के प्रति किये गये अपराध से उत्पन्न पाप । मन्त्रच्छिद्र = शास्त्रनिषिद्ध आचार के द्वारा विहित मन्त्रसाधना से उत्पन्न दोष । जैसा कि अन्यत्र कहा गया—

'मन्त्र की साधना के समय किसी दूसरे मन्त्री के अन्य अर्थात् शास्त्रान्तरविहित, छिद्र अर्थात् दोष को मैं नही देखता । जो उस प्रकार का यथालिङ्ग (= अपने सम्प्रदाय के अनुसार आचरण करने वाला) नहीं है केवल वही (अपने सम्प्रदाय के मार्ग से) विचलित होता है ।'

नागाः सर्पाः । कीटैरान्तरैः क्रिमिभिर्जनिता विस्फोटा कीटविस्फोटाः । क्षतजा व्रणोत्थाः । आभ्यन्तरा अन्तर्गडुप्रायाः ॥ १२८ ॥

किं चास्य मन्त्रराजस्य—

प्रत्यहं हवनं कार्यं राज्ञां राष्ट्रविवृद्धये ।

आचार्येण ॥

एवं कृते राज्ञा—

सुखेन भुज्यते राज्यं नात्र कार्या विचारणा ॥ १२९ ॥

यतः—

सकृत्पूजनमात्रेण नश्यन्ते हिंसकादयः ।
नष्टा दश दिशो यान्ति सिंहस्येव मृगादयः ॥ १३० ॥

किं चैतन्मन्त्रार्चादिः—

सतताभ्यासयोगेन दारिद्र्यं नश्यति कुलात् ।

नाग = सर्प । कीट = शरीर के अन्दर वर्त्तमान कृमियों, के द्वारा उत्पादित विस्फोट को कीटविस्फोट कहते हैं । क्षतज = घाव से उत्पन्न । आभ्यन्तर = भीतरी गलगण्ड इत्यादि ॥ १२८ ॥

तथा इस मन्त्रराज का—

राजाओं के राष्ट्र की वृद्धि के लिये प्रतिदिन हवन करना चाहिये ॥ १२९- ॥

आचार्य के द्वारा

ऐसा करने पर राजा—

अपने राज्य का सुखपूर्वक भोग करता है, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये ॥ -१२९ ॥

क्योंकि—

एकबार के पूजन मात्र से हिंसक आदि नष्ट होकर दशो दिशाओं में उसी प्रकार भाग जाते हैं जैसे सिंह को देखकर अन्य जंगली जन्तु ॥ १३० ॥

इस मन्त्र की पूजा आदि के—

सतत अभ्यास से (= अभ्यास वाले व्यक्ति के) कुल से दारिद्र्य नष्ट हो जाता है ॥ १३१- ॥

किं च—

यस्मिन् देशे च काले च निवसेन्मन्त्रवित् सदा ॥ १३१ ॥
ईतयो व्याधयश्चैव खार्खोदास्तस्य वा ग्रहाः ।
शाकिन्यो विविधा यक्षाः पिशाचा राक्षसास्तथा ॥ १३२ ॥
बालग्रहाश्च विस्फोटा व्यन्तराश्चापराश्च ये ।
सर्वाणि विषजातानि दुर्भिक्षं ग्रहपीडनम् ॥ १३३ ॥
सर्वं न प्रभवेत्तत्र मन्त्रवित्संनिधानतः ।

खार्खोदाः परप्रयुक्ता यन्त्राः । व्यन्तरा घनाः ॥

अत ईदग् व(च) आचार्यः—

स पूज्यः सर्वजन्तूनां भूपतीनां च सर्वदा ॥ १३४ ॥

स हि—

दानपूजनसंमानैरसमैः पूज्यते यदि ।
तेन पूजितमात्रेण सर्वे मन्त्राश्च पूजिताः ॥ १३५ ॥
भवन्ति सुखदास्तत्र तन्मुखांस्तांस्तु पूजयेत् ।

तथा—

यह मन्त्रवेत्ता जिस देश अथवा काल में निवास करता है वहाँ पर ईतियाँ[1], व्याधियाँ, खार्खोद, ग्रह, शाकिनियाँ, अनेक यक्षराक्षस पिशाच, बालग्रह, विस्फोट, व्यन्तर (= पिशाच, यक्ष आदि अति प्राकृतिक जीव) तथा जो शत्रु आदि हैं, समस्तविष, दुर्भिक्ष, ग्रहपीड़ा आदि मन्त्रवेत्ता से सन्निधान के कारण प्रभावी नहीं होते ॥ -१३१-१३४- ॥

खार्खोद = शत्रु आदि के द्वारा प्रयुक्त यन्त्र ।

इसलिये ऐसा आचार्य—

समस्त जीवों और राजाओं का सर्वदा पूज्य होता है ॥ -१३४ ॥

वह (आचार्य)—

यदि (आचार्य) असम (= आचार्य से भिन्न श्रेणी के) लोगों के साथ दान पूजन सम्मान के साथ पूजित होता है तो उसके पूजित होने से सभी मन्त्र पूजित होकर वहाँ पर सबके लिये सुखद होते हैं । इसलिये आचार्य की प्रमुखता के साथ उनकी (= असम लोगों की) भी पूजा करनी चाहिये ॥ १३५-१३६- ॥

---

१. अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः ।
प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः ॥

तत्रेति यत्राचार्यवर्यः पूज्यते ॥

यतश्च—

सर्वत्र च्छेदकर्तारो ग्रहाः हिंसन्ति साधकम् ॥ १३६ ॥
तस्माद् ग्रहाणां दातव्यं सदैवोदकमोदनम् ।

उदकमोदनं चेत्यर्थः ॥

एवं हि—

इष्टा ग्रहा हि तृप्यन्ति तृप्ता न प्रभवन्ति हि ॥ १३७ ॥

यदा च विषमा ग्रहाः—

तदा रक्षा तु कर्तव्या देशिकेन महात्मना ।

अथ रक्षासतत्त्वनिर्णयाय श्रीदेवी उवाच—

रक्षा तु कथिता देव प्राणिनामनुकम्पया ॥ १३८ ॥
कीदृशी प्रोच्यते सा तु कस्य वा क्रियते कथम् ।

स्वरूपविषयान् प्रकारविषयांश्च प्रश्नान् स्फुटयति—

व्यापकः पुरुषः प्रोक्तो ह्यमूर्तः सर्वदेहिनाम् ॥ १३९ ॥

वहाँ = जहाँ आचार्यश्रेष्ठ की पूजा की जाती है ॥

क्योंकि—

छेदकर्त्ता ग्रह सर्वत्र साधक को कष्ट पहुँचाते हैं इस कारण ग्रहों के लिये सदा उदक एवं ओदन देना चाहिये ॥ १३६-१३७- ॥

इस प्रकार—

पूजित ग्रह तृप्त हो जाते हैं और तृप्त होकर दुष्प्रभाव नहीं उत्पन्न करते ॥ -१३७ ॥

यदि ग्रह विषम (= कष्टसाध्य) हों—

तब महात्मा आचार्य के द्वारा रक्षा की जानी चाहिये ॥ १३८- ॥

रक्षातत्त्व को बतलाने के लिये श्रीदेवी ने कहा—

हे देव ! प्राणियों के ऊपर कृपा की भावना से आपने रक्षा तो बतलायी पर वह किस प्रकार की कही गयी है और किसके लिये किस प्रकार की जाती है? ॥ -१३८-१३९- ॥

(देवी) रक्षा के स्वरूपविषयक और प्रकारविषयक प्रश्नों को स्पष्ट करती है—

देही बाह्यान्तरस्थोऽसौ निर्गुणो ह्यशरीरवान् ।

यो देही पुरुषः स यस्मादमूर्तो बाह्यान्तरस्थो व्यापकः सत्त्वादिगुणवर्जितो वस्तुतोऽशरीरः ॥

ततः—

कथं तु क्रियते तस्य रक्षा कस्माच्च रक्ष्यते ॥ १४० ॥

नित्यव्यापकचिदेकमूर्तेर्निष्कलस्यास्य हिंसारक्षाविषयत्वायोगात् ॥ १४० ॥

अथ न आत्मा रक्ष्यते, अपि तु देहः ?—तत्राप्याह—

शरीरं सकलं वाथ रक्षितव्यं कथं च तत् ।
पृथिव्यादिमहाभूतैर्निर्मितं चोदितं किल ॥ १४१ ॥

सकलत्वाद्रक्षार्हमपि पृथिव्यादिभूतजत्वेनावश्यंभाविविनाशत्वेन नैतत् रक्षितुं शक्यमित्यर्थः ।

न च तृतीयः कश्चिद् रक्ष्योऽस्ति, कथं कुतः केन वाऽसौ रक्ष्यत

समस्त शरीरधारियों का पुरुष (= आत्मा) व्यापक और अमूर्त्त कहा गया है । यह देही समस्त शरीरधारियों के बाहर और भीतर रहता हुआ स्वयं निर्गुण और अशरीरी है ॥ -१३९-१४०- ॥

जो देही अर्थात् देहधारी पुरुष (= जीवात्मा) है वह अमूर्त्त होने के कारण सबके बाहर और भीतर स्थित, व्यापक, सत्त्व रजस् और तमस् गुणों से रहित वस्तुतः शरीररहित है ॥

इसलिये—

उसकी रक्षा किस प्रकार और किससे की जायेगी ॥ -१४० ॥

क्योंकि नित्य व्यापक चित्स्वरूप यह (= पुरुष या आत्मा) रक्षा का विषय नहीं हो सकता ॥ १४० ॥

और यदि यह कहें कि आत्मा की नहीं देह की रक्षा की जाती है?—तो इस विषय में भी कहते हैं—

शरीर सकल (= सावयव) है उसकी रक्षा कैसे हो सकती है । वह तो पृथिवी आदि महाभूतों से निर्मित और नियन्त्रित है ॥ १४१ ॥

सकल होने के कारण रक्षा के योग्य होने पर भी पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न होने के कारण इसका विनाश अवश्यंभावी है इस कारण इसकी रक्षा अशक्य है ॥ १४१ ॥

यदि यह कहिये कि (शरीर और आत्मा के अतिरिक्त) कोई तीसरा रक्ष्य है तो

इत्यादिश्यताम्—इत्याह—

अन्यस्तृतीयो वा रक्ष्यः कस्मादेव कथं विभो ।
कस्माच्च रक्षणीय स्यात् केन वा वद शूलधृक् ॥ १४२ ॥

कथं केन प्रकारेण, कस्माद् भयहेतोः, केन कारणेनेत्यत्रार्थः ॥ १४२ ॥

एतत्सर्वमशेषेण का रक्षा भगवन् वद ।

एतदिति रक्षाया विषयप्रकाररूपम्, का च स्वरूपेण रक्षा भवेदित्यर्थः ॥

एतन्निर्णयाय श्रीभगवानुवाच—

शृणु देवि परं प्रश्नं न पृष्टोऽहं सुरासुरैः ॥ १४३ ॥
गरुडाद्यैस्तथा शिष्यैर्बहुभिर्मुनिभिर्न च ।

पृच्छ्यत इति प्रश्नः प्रश्ननीयं रक्षास्वरूपमहं न कैश्चिदपि पृष्टः । तदेतद् वस्तु शृणु, इत्यनेन देव्यास्तत्त्वज्ञता श्लाघ्यते ॥

यच्च त्वयैवं प्रश्नार्थं वस्तु पृष्टः(ष्टम्)—

वह किस प्रकार किस कारण और किसके द्वारा रक्षित होता है ?—यह बतलाइये—यह कहते हैं—

हे व्यापक देव ! हे त्रिशूलधारी ! यदि कोई तीसरी वस्तु रक्ष्य है तो किस कारण और किस प्रकार । उसकी रक्षा कौन और किस भय से करेगा ॥ १४२ ॥

किस प्रकार, किस भय से और किस कारण से ॥ १४२ ॥

हे भगवन् ! यह सब तथा रक्षा क्या है—यह पूर्णरूप से बतलाइये ॥ १४३- ॥

यह = रक्षा का विषयप्रकार । क्या = रक्षा का स्वरूप क्या होना चाहिये ॥

इसको बतलाने के लिये श्रीभगवान् ने कहा—

हे देवि ! इस उत्तम प्रश्न (के उत्तर) को सुनो । इस प्रकार के प्रश्न को लेकर कभी भी मुझसे सुर, असुर, गरुड़ आदि, मुनि लोग तथा उनके अनेक शिष्यों ने नहीं पूछा ॥ -१४३-१४४- ॥

जो पूछा जाय वह प्रश्न = पूछने योग्य रक्षा के स्वरूप को मुझसे किसी ने नहीं पूछा । इस वस्तु को सुनो । इस उत्तर के द्वारा देवी की तत्त्वज्ञता की प्रशंसा की जाती है ॥

जिस प्रश्नार्थ वस्तु को तुमने पूछा है—

तदद्य ते प्रवक्ष्यामि शृणुष्वायतलोचने ॥ १४४ ॥

तत्र रक्षास्वरूपं तावद् निर्णेतुमुपक्रमते—

व्यापकः पुरुषः सूक्ष्मो निर्गुणो निष्क्रियोऽचलः ।

अतश्च नासौ रक्षार्हः ॥

किन्त्वाणवस्तथा कार्मो मायीयस्त्रिविधो मलः ॥ १४५ ॥

अस्यास्ति ॥ १४५ ॥

ततश्च—

तत्संबन्धात् स मलिनो ह्यस्वतन्त्रोऽप्यशक्तिमान् ।
अविशुद्धो ह्यसौ तस्मान्मलत्रयनिरोधतः ॥ १४६ ॥

यतो मलत्रयनिरोधादसावविशुद्धः, अत एव कलादिमलावृतत्वाद् मलिनः, कर्मवशत्वादस्वतन्त्रः, आणवमलवशादशक्तिमान् ज्ञत्वकर्तृत्वशून्यः ॥ १४६ ॥

तत्र चिन्मयस्यास्य कथं मलयोगः ?—इत्याह—

हे विशालाक्षि ! आज मैं तुमको वह बतलाऊँगा, सुनो ॥ -१४४ ॥

रक्षास्वरूप बतलाने के लिये उपक्रम करते हैं—

पुरुष व्यापक सूक्ष्म निर्गुण निष्क्रिय अचल है ॥ १४५- ॥

इसलिये वह रक्षा का पात्र नहीं है,

किन्तु वह आणव, मायीय तथा कार्म इन त्रिविध मलों से युक्त है ॥ -१४५ ॥

इसका है ॥ १४५ ॥

इसलिये—

उनसे सम्बद्ध होने के कारण वह (= पुरुष) मलिन, अस्वतन्त्र, अल्पशक्तिमान् है । चूँकि यह तीन मलों से निरुद्ध है अतः अशुद्ध है ॥ १४६ ॥

चूँकि यह मलत्रय के निरोध के कारण अविशुद्ध है इसलिये कला आदि मलों से आवृत होने के कारण मलिन है; कर्म के अधीन होने से अस्वतन्त्र है; आणवमल के कारण अशक्तिमान् = सर्वज्ञत्व सर्वकर्तृत्व से शून्य (= अल्पज्ञ और अल्पकर्त्ता) है ॥ १४६ ॥

प्रश्न—यह तो चिन्मय है फिर इसका मल से सम्बन्ध कैसे ?—यह कहते हैं—

निर्मलो वा कथं सक्तो भोगेषु.......

पूर्णचिदानन्दघनस्य विशुद्धस्य कथमशुद्धभोगाकांक्षा स्यादिति मायाशक्त्युल्लासितापूर्णमन्यतात्मकाणवमलभाज एव 'किंचिन् मे स्यात्' इति रागतत्त्वात्माऽभिलाषो घटते ।

अन्यथाऽत्र—

.............एतद्विरुध्यते।

निर्मलस्य भोगासक्तत्वात् ॥

एतत् स्फुटयति—

शुद्धो भोगी न सिद्ध्येत्तु.........

यत:—

............विकल्पो भोग उच्यते ॥ १४७ ॥

विकल्पमात्र: संसार:.........

शुद्धस्य चिदानन्दघनस्य च सुखदु:खप्रतिपत्त्यात्मा विकल्पपरमार्थो भोग: संसरणसत्त्व उपपद्यते । यदुक्तमन्यत्र[1]—

यदि यह (= पुरुष) निर्मल है तो फिर भोग में कैसे आसक्त है ॥ १४७- ॥

जो पूर्ण चिदानन्दघन और विशुद्ध है उसको अशुद्ध भोगों की आकाङ्क्षा कैसे होगी । इसलिये जब वह मायाशक्ति के द्वारा उल्लासित अपूर्णमन्यतारूप आणव मल से ग्रस्त होता है तब 'मुझे कुछ मिले' या 'मेरे पास कुछ हो' ऐसी रागतत्त्वात्मक अभिलाषा उत्पन्न होती है ॥

अन्यथा (= यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो) यहाँ—

यह विरुद्ध होता है ॥ -१४७- ॥

निर्मल हो और भोगासक्त भी हो यह सम्भव नहीं ॥

इसको स्पष्ट करते हैं—

शुद्ध (आत्मा) भोगी नहीं होता ॥ -१४७- ॥

क्योंकि—

भोग विकल्प को कहते हैं । विकल्प ही संसार है ॥ -१४७-१४८-॥

शुद्ध और चिदानन्दघन को सुखदु:खानुभवरूप विकल्प अर्थात् भोग उसके

---

१. स्वायम्भुवागमवचनमेतत् ।

[१]'यद्यशुद्धिर्न पुंसोऽस्ति सक्तिर्भोगस्य किंकृता ।' इति ॥

यतः संसरणसारो भोगः शुद्धस्य न युक्तः,

तेन—

............पशोः संसरणं सदा ।
संसार्यस्य च बद्धस्य निर्मलत्वं न युज्यते ॥ १४८ ॥

पशुरुक्ताणवमलेनाज्ञीकृतोऽणुः । संसरणं भोगाद् भोगान्तरगमनम् । संसार्यस्य पारमेश्वरशक्त्या प्रापितसंसारभावस्य ॥ १४८ ॥

यत एवमतः—

आणवोऽयं मलः सूक्ष्मः कार्यतो ह्युपपद्यते ।
अभिलाषस्ततः कार्यो भोगादौ स प्रवर्तकः ॥ १४९ ॥

रागतत्त्वात्मनोऽभिलाषात् कार्यकारणरूपापूर्णंमन्यतात्माऽसावनुमीयते ।

संसारी होने पर ही होता है । जैसा कि अन्यत्र कहा गया—

'यदि पुरुष की अशुद्धि न हो तो भोग के प्रति आसक्ति किस कारण से होगी ।'

चूँकि संसरण होना ही भोग है और वह शुद्ध पुरुष को नहीं होता, इसलिये—

पशु का सदा संसरण होता रहता है । जो संसार्य और बद्ध है वह कभी भी निर्मल नहीं हो सकता ॥ -१४८ ॥

पशु = उक्त आणवमल से अज्ञ बनाया गया अणु । संसरण = एक प्रकार के भोग से दूसरे प्रकार के भोग को प्राप्त होना । संसार्य = परमेश्वर की शक्ति से जिसको संसारभाव प्राप्त हो गया है वह ॥ १४८ ॥

चूँकि ऐसा है इस कारण—

यह सूक्ष्म आणवमल कार्यरूप होने के कारण अभिलाष बन जाता है उसके बाद कार्य होता है और वह (= कार्य रूप में परिणत अतएव अभिलाष नामक आणवमल) भोग आदि में प्रवृत्ति करता है ॥ १४९ ॥

यह आत्मा रागतत्त्वरूप अभिलाष के कारण कार्यकारणरूप अपूर्णंमन्यतावाला है—ऐसा अनुमान होता है । अनुमान का स्वरूप इस प्रकार होगा—असौ पुरुषः अपूर्णंमन्यः रागतत्त्वात्मनोऽभिलाषात् । यत्र यत्र अभिलाषाऽभावाभावः तत्र तत्र अपूर्णमन्यताऽभावाभावः यथा ईश्वरे । अयं जीवो न तथा (= अभिलाषा भावाभाववान्) तस्मात् न तथा (अपूर्णंमन्यताऽभावाभाववान्) इस व्यतिरेक व्याप्ति से अनुमान किया जाएगा ।

यत्तु—

'अभिलाषो मलोऽत्र तु' (४।१०५)

इति श्रीस्वच्छन्दग्रन्थे उक्तं, तत्र विशेषसामान्यविषयालम्बनाभिलाषात्माऽवैराग्यरागतत्त्वलक्षणोऽपूर्णंमन्यतात्मा निष्कर्माभिलाष आणवो मलोऽभिप्रेतः। भोगादावित्यादिग्रहणात् सांख्यादिदृष्टे तात्त्विके पक्षेऽपि ॥ १४९ ॥

एवमाणवं निर्णीय द्वयं निर्णेतुमाह—

कार्मं यद् भोगकार्यं तद्देशकालशरीरतः ।
कलादि यत्पृथिव्यन्तं मायाकार्यं विदुर्बुधाः॥ १५० ॥

भोगः सुखादिसंवित् कार्यं यस्य, तद् कार्मं मलम्, तद् देशकालशरीरेभ्यः प्राच्येभ्यो हेतुभ्यो भवति, कलादिक्षित्यन्तं तु त्रिंशत्तत्त्वात्म मायाकार्यं मायाख्यं मलम् ॥ १५० ॥

एतत् प्रकृते योजयति—

एवं मलत्रयोपेतः संसारे संसरेदणुः ।
कोशकारः क्रिमिर्यद्वदात्मानं वेष्टयेद् दृढम्॥ १५१ ॥

और जो कि—

'इस (शास्त्र) में अभिलाष ही मल है ।'

ऐसा स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया वहाँ अभिलाष का अर्थ है—आणव मल जिसमें कर्म नहीं है केवल अपूर्णंमन्यता है। यह अपूर्णता अवैराग्यरूपी रागतत्त्व है जिसका विषय समस्त वस्तुयें होती हैं। 'भोगादौ' यहाँ पर आदि के ग्रहण से सांख्य आदि दर्शनो में वर्णित तत्त्वों के विषय में भी अभिलाष होता है ॥ १४९ ॥

इस प्रकार आणवमल का निर्णय करने के बाद शेष दो (= कार्म और मायीय) का निर्णय करने के लिये कहते हैं—

जो तत्तद् देश काल में तत्तद् शरीर के द्वारा भोगरूपी कार्य होता है वह कार्म मल है। कला से लेकर पृथ्वी पर्यन्त जो माया का कार्य है विद्वान् लोग उसे मायीय मल कहते हैं ॥ १५० ॥

भोग = सुख आदि का अनुभव, वही है कार्य जिसका वह कार्म मल कहा जाता है। वह मल देश काल शरीर, जो कि पूर्व जन्म या अतीत में होते हैं, के कारणों से होता है। कला से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तीस तत्त्वात्मक जो माया का कार्य है यही मायीय मल है ॥ १५० ॥

इसको प्रस्तुत से जोड़ते हैं—

इस प्रकार तीन मलों से युक्त अणु (= जीव) संसार में संसरण करता

तद्वेष्टनेन शक्तोऽसौ तथात्मा पाशपञ्जरैः ।

आत्मानं वेष्टयेत् कोशकारदृष्टान्तेन स्वशक्त्यैवास्याणुभूमिकाग्रहणम्, न तु व्यतिरिक्तद्रव्यरूपानादिमलशक्तिनिरुद्धत्वम् । एतच्च श्रीस्वच्छन्दोद्द्योते पञ्चम-पटलान्तेऽस्माभिर्निर्णीतम् ॥

ततश्च तम्—

यावन्न चेश्वरो देवो ह्यनुगृह्णाति शक्तिमान् ॥ १५२ ॥
तावद् बलावगूहेन गूहितस्तिष्ठते पशुः ।

स्वशक्तिगूहनावभासिताणुभूमिकः परमेश्वरो यावन्न निजशक्तिविकासेनानु-गृह्णात्यणुभूमिम् तावत् स्वमायाशक्त्यवगूहनेन गूहितः पशुस्तिष्ठति ॥

अत्रानीश्वरवादिमतमाशङ्कापूर्वं परिहरति—

अथ चेन्नेश्वरः कश्चित् स्वतन्त्रमखिलं जगत् ॥ १५३ ॥

है । जैसे कोशकार कृमि (= रेशम का कीड़ा) अपने को (तन्तुओं से) वेष्टित करता रहता है उसी प्रकार यह शक्त अर्थात् समर्थ आत्मा अर्थात् अणु अपने को अपनी शक्ति से उत्पादित (मलों के द्वारा) दृढ़तापूर्वक वेष्टित करता है । उस वेष्टन से यह आत्मा पाश रूपी पिंजड़े में बँध जाता है ॥ १५१-१५२- ॥

अपने को घेरे में डालता है—कोशकार के दृष्टान्त से यह स्पष्ट होता है कि यह पुरुष अपनी ही शक्ति से अणु की भूमिका का स्वीकार करता है न कि व्यतिरिक्त द्रव्यरूप अनादि मल की शक्ति से निरुद्ध होता है । इसको मैंने स्वच्छन्दोद्योत के पञ्चमपटल के अन्त में विस्तारपूर्वक बतलाया है ॥

इस कारण—

जब तक शक्तिमान् परमेश्वर उसके ऊपर अनुग्रह नहीं करते तब तक अपनी मायाशक्ति के अवगूहन से वेष्टित होकर वह परमेश्वर पशुरूप में रहता है ॥ १५२-१५३- ॥

अपनी शक्ति के गूहन (= वेष्टन) में अणु भूमिका का अवभासन करने वाला परमेश्वर जब तक अपनी शक्ति के विकास से अणु भूमि को अनुगृहीत नहीं करता तब तक अपनी ही मायाशक्ति के अवगूहन से गूहित (= वेष्टित) वह पशुरूप में पड़ा रहता है ॥

यहाँ अनीश्वरवादी के मत की आशंका कर उसका परिहार करते हैं—

यदि ईश्वर की सत्ता नहीं है और सारा संसार स्वतन्त्र है ॥ -१५३ ॥

सौगतमीमांसकसांख्यादिभिरिष्यते ॥ १५३ ॥

तत्—

नियमः कारणानां तु न भवेत् ....

असत्कार्यवादिमते यतः कुतश्चिद् यत् किंचिद् जायेत असतो वा सत्स्वभावताऽयोगाद् न कुतश्चित् किमपीति परिदृश्यमानः कारणनियमो न स्यात्। यद् यदनन्तरं दृश्यते, तज्जननरूपं तदित्यनन्यापेक्षस्वरूपमात्रावस्थितभाववादिमतेन युज्यते । आत्माश्रितत्वेऽपि जडानां संस्कारमात्ररूपाणां कर्मणां परिपाकादिवैचित्र्यं फलहेतुता चेश्वराधिष्ठानं विना न घटते । सत्कार्यवादिपक्षेऽपि सर्वस्य सत्त्वाद् न किंचित् कुत्रचित् कारणम्, अभिव्यक्त्यादेरसतो वा कारणेनासत्कार्यवादः, अविद्यावादेऽपि ब्रह्मणोऽकर्तृत्वेऽविद्यायाश्च तुच्छत्वे जगद्वैचित्र्याघटनम्, भासमानस्यातुच्छत्वेऽभ्युपगममात्रेण(ा) तुच्छस्यापि जगतो जनकमतुच्छमेवेत्यविद्यायां वस्तुत्वे द्वैतापातो न युक्त इति स्वच्छस्वच्छन्दचिद्घनपरमेश्वरप्रभावं विना कारणानां न नियमः स्यात् ॥

ततश्च—

जैसा कि बौद्ध, मीमांसक एवं सांख्य दर्शन वाले मानते हैं ॥ १५३ ॥

तो कारणों का नियम नहीं रहेगा ॥ १५४- ॥

असत्कार्यवादी (= शून्यवादी बौद्ध) के मत में जहाँ कहीं से जो कुछ उत्पन्न होने लगेगा ? अथवा असत् के सत्स्वभाववाला न होने से कुछ भी कहीं से भी नहीं उत्पन्न होगा । इस प्रकार परिदृश्यमान कार्यकारण का नियम नहीं रहेगा । जो जिसके बाद दिखायी देता है वह उस (पूर्ववर्त्ती) का जनन रूप होता है—यह सिद्धान्त अनन्यापेक्ष स्वरूपमात्रावस्थित भाववादी के मत के अनुसार ठीक है । (यह मत चार्वाक का है जिसके अनुसार संसार के समस्त भाव अर्थात् पदार्थ बिना किसी की अपेक्षा के स्वरूपमात्र में स्थित रहते हैं, अर्थात् सब स्वभावतः, बिना किसी कारण के स्थित हैं) । आत्मा के अधीन रहने पर भी जड एवं संस्कारमात्ररूप में स्थित कर्मों का परिपाक आदि वैचित्र्य और उन कर्मों का फल का कारण बनना ईश्वराधिष्ठान के बिना सम्भव नहीं है । सत्कार्यवादी सांख्य के पक्ष में भी सबके सर्वत्र होने से कोई कहीं कारण नहीं बन सकता । अथवा कारण के द्वारा अभिव्यक्ति आदि के असत् होने से असत्कार्यवाद होने लगेगा । अविद्यावाद (= वेदान्त) में भी ब्रह्म के कर्त्ता न होने और अविद्या के तुच्छ (= असत्) होने पर जगत् की विचित्रता का निर्माण सम्भव नहीं होगा । भासमान को अतुच्छ मानने पर अतुच्छ जगत् का जनक अतुच्छ ही होगा और इस प्रकार अविद्या के भी वास्तविक मानने पर द्वैतापात भी उचित नहीं है । इस प्रकार स्वच्छ स्वच्छन्द चिद्घन—परमेश्वर के प्रभाव के बिना कारणों का नियम नहीं बन पायेगा ॥

............असमञ्जसम् ।

सर्वमेव स्यादिति शेषः ॥

प्रकृतमर्थं दृष्टान्तक्रमेण घटयति—

वलीवर्दो यथा कश्चिद् बध्यते पाशबन्धतः ॥ १५४ ॥
तृणैः संयोजितो भोगैरस्वतन्त्रस्तथा पशुः ।

पाशो रज्जुः, आणवादिश्च । वलीवर्दवत् पशुः पाशैर्बद्धः, अस्वतन्त्रः, तृणप्रायैर्भोगैर्योजितः ॥

अतश्च—

ग्राह्यस्य पाशहा तस्य ग्राहकः कश्चिदुत्तमः ॥ १५५ ॥
समर्थो दृश्यते यद्वत् तद्वदीशोऽप्यनुग्रही ।
सर्वेषां सर्वकृच्छक्तः स्वशक्त्या बृंहितः शिवः ॥ १५६ ॥

ग्राह्यस्येति पाशबद्धस्य पाशहा पाशमोचको यथा उत्तमः समर्थः कश्चिदेव, न तु सर्वः, तद्वत् सर्वकृदीश्वरः प्रभविष्णुः शिवः स्वया स्वातन्त्र्यात्मना शक्त्या

इसलिये—

सब कुछ असमञ्जस (= गड्डमड्ड) हो जायगा ॥ -१५४- ॥

सब कुछ हो जाएगा—यह शेष है ॥

प्रस्तुत अर्थ को दृष्टान्त के द्वारा पुष्ट करते हैं—

जिस प्रकार कोई बैल पाश (= रस्सी) के बन्धन से बाँधा जाता है फिर अस्वतन्त्र हुआ वह तृणरूपी भोग से युक्त किया जाता है उसी प्रकार पशु (= बद्ध जीव भी पाशों से बद्ध हुआ अस्वतन्त्र होकर भोगों में लिप्त कर दिया जाता है) ॥ -१५४-१५५- ॥

पाश = रस्सी और आणव आदि मल । बैल की भाँति पशु (= जीव) भी पाशों से बद्ध होने से अस्वतन्त्र है और तृणसदृश भोगों से संयुक्त किया गया है ॥

इसलिये—

जैसे उस ग्राह्य का पाशछेदक कोई उत्तम समर्थ ग्राहक (मनुष्य) दिखलायी पड़ता है उसी प्रकार सबके लिये सब कुछ करने में समर्थ और अपनी शक्ति से बृंहित शिवस्वरूप ईश्वर भी अनुग्रहवान् है ॥ -१५५-१५६ ॥

जैसे ग्राह्य = पाशबद्ध, का पाशहा = पाश से मुक्ति दिलाने वाला कोई ही

बृंहितत्वात् शक्त: सर्वेषामनुग्राहकोऽसौ ॥ १५६ ॥

यया शक्त्या बृंहितोऽसौ—

अवियुक्ता तु सा तस्य निजरश्मी रवेरिव ।

किं च—

दाहप्रकाशके वह्नावूष्मा नैव वियुज्यते ॥ १५७ ॥

यद्वत्—

तद्वदीशस्य सा शक्तिरवियुक्ता शिवात्मिका ।
जगत: कारणं देवी सैवैका बहुभि: स्थिता ॥ १५८ ॥

बहुभेदत्वमेव स्फुटयति—

इच्छाज्ञानक्रियारूपा कृत्यभेदेन वर्तते ।

एषणीयज्ञेयकार्यात्मकासूत्रितकल्पास्फुटस्फुटजगदाभासकत्वादिच्छादित्रयरूपेणैकैव स्वातन्त्र्यशक्तिर्वर्तते ॥

व्यक्ति उत्तम = समर्थ, होता है न कि सब, उसी प्रकार सर्वकर्त्ता ईश्वर और प्रभावशाली शिव अपनी स्वातन्त्र्यरूपा शक्ति के द्वारा वर्द्धमान होने से समर्थ होने के कारण सबके ऊपर अनुग्रह करने वाला होता है ॥ १५६ ॥

जिस शक्ति के द्वारा यह (= शिव) संवर्द्धित होता है—

वह (शक्ति सदा) उससे अवियुक्त रहती है जैसे कि सूर्य की अपनी किरणें सूर्य से ॥ १५७- ॥

तथा—

जिस प्रकार दाह और प्रकाश करने वाली अग्नि में ऊष्मा कभी भी वियुक्त नहीं होती ॥ १५७ ॥

वैसे ही—

उसी प्रकार परमेश्वर की वह शिवात्मिका शक्ति (उससे) अवियुक्त रहती है । जगत् की (उत्पत्ति स्थिति लय की) कारणभूता वह देवी एक होते हुए भी अनेक रूपों में स्थित है ॥ १५८ ॥

(उसकी) अनेकरूपता को स्पष्ट करते हैं—

वह अपने कार्य के भेद से इच्छा ज्ञान एवं क्रिया रूपा है ॥ १५९-॥

एक ही स्वातन्त्र्य शक्ति एषणीय ज्ञेय एवं कार्य रूप में आसूत्रित अस्फुट और स्फुट जगत् की आभासिका होने से इच्छा आदि तीन रूपों में स्थित है ॥

अतश्च—

अघोरा साभवदिच्छा व्यापिका समवायिनी ॥ १५९ ॥
घोरा ज्ञानस्वरूपा तु सा परिग्रहवर्तिनी ।
घोरघोरतरा चान्या क्षोभिका सा क्रियात्मिका ॥ १६० ॥

न विद्यते घोरं भेदस्पर्शरूपं यस्याः, सा अघोरा आसूत्रिताशेषविश्वाद्वय-प्रकाशात्मा परा अनुग्रहप्रवणा, अत एव व्यापिका समवायिनी शिवाभिन्ना । घोरा भेदाभेदाभासरूपा परापरा, अत एव परितः समन्ताद् ग्रहणेन विश्वस्य स्वभित्तौ स्वानतिरिक्तस्याप्यतिरिक्तस्येवोल्लेखात्मना स्वीकारेण वर्तते तच्छीला । घोरघोरतरा स्फुटविश्वभेदावभासरूपा, अत एव क्षोभिका ग्राह्यग्राहकादिकालुष्योल्लासिका-ऽपरारूपा ॥ १६० ॥

या एवंभूताद्वयद्वयाद्वयद्वयदर्शिका इच्छाज्ञानक्रियारूपा एकैव श्रीमातृसद्-भावादिसंज्ञाभिराम्नायेषूक्ता परा चिद्भैरवनाथस्य स्वातन्त्र्यशक्तिः—

सा रक्षा सर्वभूतानां सर्वरक्षा सुरक्षिणी ।

शक्तिपातवशात् प्रत्यभिज्ञाता सती सर्वाणि संसारभवानि रक्षतीति तदाख्यातैव

अघोररूपिणी वह इच्छा हो जाती है जो कि व्यापिका एवं समवायिनी (= शिव में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली) है । घोरा वह ज्ञानस्वरूपा है जोकि परिग्रहवर्त्तिनी है । तीसरी घोरघोरतरा है जो कि क्षोभिका और क्रियात्मिका है ॥ -१५९-१६० ॥

(अघोरा =) जिसका घोर = भेदस्पर्शरूप, नहीं है वह अघोरा अर्थात् समस्त विश्व का अपने से अभिन्न रूप में प्रकाश करनेवाली है । उसे परा भी कहते हैं । वह अनुग्रह में संसक्त रहती है इसीलिये व्यापिका तथा समवायिनी = शिव से अभिन्न है । घोरा भेद-अभेद उभयात्मक आभासरूपा है । इसे परापरा नाम से भी जाना जाता है । इसलिये परिग्रहवर्त्तिनी = परितः = सब ओर से, (ग्रह =) ग्रहण के द्वारा = अपने से अभिन्न भी विश्व का अपने ही ऊपर भिन्नरूप से उल्लेख के द्वारा वर्त्तमान है । घोरघोरतरा = स्पष्टरूप से विश्व का भिन्नरूप में अवभास कराने वाली है इसलिये क्षोभिका = ज्ञेय ज्ञाता आदि मालिन्य की उल्लासिका है । इसे अपरा भी कहते हैं ॥ १६० ॥

जो इस प्रकार के अद्वय द्वयाद्वय एवं द्वय रूप की दर्शिका इच्छा ज्ञान क्रिया रूपा है; (वह) एक है तथा शास्त्रों में मातृसद्भाव आदि नामों से कथित है; चिद् भैरवनाथ की परा स्वातन्त्र्यशक्ति है—

वह समस्त प्राणियों की रक्षारूपा सुरक्षिणी है ॥ १६१- ॥

शक्तिपात के कारण जब वह प्रत्यभिज्ञात हो जाती है तो सब = संसार में

सुष्ठु रक्षिकेयं तात्त्विकी रक्षा ॥

युक्तं चैतदित्याह—

सा च दीक्षा समुद्दिष्टा दानक्षपणलक्षणा॥ १६१ ॥

चो ह्यर्थे । दानं शिवत्वाभिव्यक्तेः, क्षपणं तु पाशानाम् ॥ १६१ ॥

एषा हि—

अनेनैव प्रकारेण सर्वदोषनिवर्हणी ।
व्यापकस्य सतः पुंसः सा रक्षा न विरुध्यते॥ १६२ ॥

अनेनैवेति दानक्षपणात्मदीक्षारूपेण । न विरुध्यत इति व्यापकस्याणोः स्वरूपप्रकाशनात् ॥ १६२ ॥

किं च—

पुनरन्यां प्रवक्ष्यामि रक्षां सर्वसुरक्षिणीम् ।

तां विषयप्रदर्शनपूर्वमाह—

मलत्रयनिरोधेन नानाकर्मफलोदयात्॥ १६३ ॥
शब्दादिविषयाणां य इन्द्रियाणां प्रवर्तते ।

उत्पन्न होने वालों, की रक्षा करती है इसलिये वह सर्वरक्षा और सुरक्षिणी (= भली भाँति रक्षा करने वाली) कही गयी है ॥

यह ठीक भी है—

वही दान क्षपण लक्षण वाली दीक्षा कही गयी है ॥ -१६१ ॥

यहाँ 'च' का प्रयोग 'हि' (= निश्चय) अर्थ में है । दान—शिव की अभिव्यक्ति का । क्षपण—पाशों का ॥ १६१ ॥

यह—

इसी प्रकार से सब दोषों का नाश करने वाली है । व्यापक सत् पुरुष की रक्षा रूपा वह विरुद्ध नहीं होती ॥ १६२ ॥

इसी प्रकार से = दान एवं क्षपण वाले दीक्षाप्रकार से । विरुद्ध नहीं होती क्योंकि व्यापक अणु को उसका अपना रूप प्रकाशित कर देती है ॥ १६२ ॥

तथा

अब पुनः सर्वसुरक्षिणी रक्षा को बतलाऊँगा ॥ १६३- ॥

विषयप्रदर्शन कर उसे कहते हैं—

जो तीनों मलों के निरोध के कारण अनेक कर्मफलों का उदय होने से

हृत्पुण्डरीकमध्यस्थो धर्माधर्मप्रवर्तकः ॥ १६४ ॥
रागद्वेषाभिभूतस्तु त्रिधान्तःकरणावृतः ।
कार्यकारणसंबद्धः करणैर्भूतसंयुतैः ॥ १६५ ॥
निर्बद्धश्चिन्मलेनैव शतशोऽथ सहस्रशः ।
कार्याकार्यान्तरशतैर्धर्माधर्मविचेष्टितैः ॥ १६६ ॥
प्रलुप्तनिजचैतन्यो जीव इत्यभिधीयते ।
तस्य रक्षा समुद्दिष्टा मन्त्रैर्विविधविस्तरैः ॥ १६७ ॥
धारणायन्त्रतन्त्रैश्च शिवेन परमात्मना ।
जीवरक्षा तु सा प्रोक्ता क्रियाशक्तिर्महेश्वरी ॥ १६८ ॥

त्रिमलावृतत्वेन कृतो यो नानाकर्मफलानां सुखादिसंविद्भागानामुदयोऽभिमुखीभावस्ततो हेतोर्भोगसाधनानां शब्दादिगोचराणां चक्षुरादीनां यः प्रकर्षेण आसङ्गेन वर्तते, अतश्च हृत्स्थोऽपीन्द्रियवृत्त्यैव धर्माधर्मयोः प्रवर्तक उल्लासकः, अत एव सुखदुःखानुशायिरागद्वेषाभ्यामभिभूतः अध्यवसायादिव्यापारबुद्ध्याद्यन्तःकृतिपरवशः, कार्यैः रूपादिभिर्विषयैः कारणैश्च कारणस्कन्दपक्षस्थैर्बुद्ध्याद्यहङ्कारतन्मात्रैः संबद्धः, तथा करणैस्त्रयोदशभिः पृथिव्यादिभूतसंश्लिष्टैर्निःशेषेण बद्धः पुर्यष्टकस्थूलदेह-

---

शब्द आदि (= स्पर्श रूप रस गन्ध) विषयों वाली इन्द्रियों (= श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना घ्राण) के अनुकूल व्यवहार करता है, हृदय कमल के भीतर रहता हुआ धर्म-अधर्म का प्रवर्त्तक है, रागद्वेष से अभिभूत, तीन प्रकार के अन्तःकरण (= बुद्धि अहङ्कार मन) से आवृत है; भूतों से युक्त करणों के द्वारा कार्यकारण से सम्बद्ध है; चित्त के सैकड़ों हजारों मल से बद्ध हैं, सैकड़ों कार्य अकार्य रूपी धर्माधर्म करने से अपने चैतन्य को विस्मृत कर बैठा है, वह जीव कहलाता है । अनेक प्रकार के विस्तार एवं मन्त्रों से उसकी रक्षा (शास्त्रों में) बतलायी गयी है । परमात्मा शिव में धारणा यन्त्र एवं तन्त्रों के द्वारा जीवरक्षा को बतलाया है । वह रक्षा माहश्वेरी क्रियाशक्ति है ॥ -१६३-१६८ ॥

आणव आदि तीन मलों से आवृत होने के कारण जो अनेक कर्मफलों का अर्थात् सुख आदि संविद्भागों का उदय = अभिमुखीभाव, इस कारण भोग के साधनों = शब्द आदि विषयों वाले चक्षु आदि के प्रभाव से जो प्रकर्ष के साथ = आसक्ति के साथ प्रवृत्त होता है; इसलिये हृदय में रहते हुए भी जो इन्द्रियों की वृत्ति के द्वारा ही धर्माधर्म का प्रवर्त्तक = उल्लासक, है इसलिये सुखदुःख के अनुशायी राग एवं द्वेष से अभिभूत है; अध्यवसाय (= निश्चय) आदि व्यापार वाले बुद्धि आदि अन्तःकरण के परवश है; कार्य = रूप आदि विषय कारणों = कारण स्कन्द पक्ष में स्थित बुद्धि से लेकर अहङ्कार तन्मात्राओं, से सम्बद्ध; करण = पृथिवी आदि महाभूतों के सहित तेरह करणों से निःशेषतया बद्ध = पुर्यष्टक एवं

रूपतामापादितः, इत्थं भूतपर्यन्तेन सर्वेणैतेन चेत्याभासात्मना चिन्मलेन शतश इति रागवृत्तिप्रपञ्चरूपेण तथा कर्तव्याकर्तव्यविशेषरूपैरसंख्यधर्माधर्मोत्थापकै-र्वाग्बुद्धिशरीरव्यापाररूपैर्विचेष्टितैः प्रलुप्तं शून्यादेर्गुणभावमापन्नं निजं सहजं ज्ञत्व-कर्तृत्वात्म चैतन्यं यस्य, स जीव इत्युच्यते । तस्य च परमात्मना शिवेन मन्त्रतन्त्रव्यापाररूपा जीवः पुर्यष्टकचैतन्यरूप आत्मा रक्ष्यते यया, सा तदाख्या क्रियाशक्तिरूपा महेश्वरीति प्रभविष्णुः रक्षा उक्ता ॥ १६८ ॥

किं च—

अन्या तृतीया रक्षा या शरीरस्य तु रक्षिणी ।
महाभयेभ्यः सर्वेभ्यः..........

तां तत्तद्धेतुकभयहरां वक्तुमाह—

..........भूतयक्षग्रहादिकैः ॥ १६९ ॥
डाव्या डामरिकाभिश्च भगिनीमातृभिस्तथा ।
शाकिनीयोगिनीभिश्च मुखमण्डितकादिभिः ॥ १७० ॥
नानाविधैरशेषैश्च हिंसकैः क्रियते ध्रुवम् ।
यद् भयं तस्य शमनी सा रक्षा शक्तिरुच्यते ॥ १७१ ॥

मुखमण्डितका भूतविशेषाः, आदिशब्दात् नृसिंहादयः । शक्तिरिति

देहरूपता को प्राप्त, इस प्रकार भूतपर्यन्त इस सबसे चेत्याभासरूपी चित्तमल के द्वारा, राग वृत्ति प्रपञ्चरूप तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्यविशेष रूप, असंख्य धर्माधर्म के उत्पादक वाणी बुद्धि शरीरव्यापाररूप चेष्टाओं के द्वारा जिसका सर्वज्ञत्व सर्वकर्त्तृत्व रूप स्वाभाविक चैतन्य लुप्त = गौण या शून्य, हो गया है, वह जीव कहा जाता है । परमात्मा शिव मन्त्रतन्त्रव्यापाररूपा जिस शक्ति के द्वारा पुर्यष्टक चैतन्यरूप उस (जीव) की रक्षा करता है वह क्रिया शक्तिरूपा महेश्वरी = प्रभविष्णु, रक्षा कही गयी है ॥ १६८ ॥

इसके अतिरिक्त—

एक तीसरी रक्षा है जो समस्त बड़ी भीतियों से शरीर की रक्षा करती है ॥ १६९- ॥

तत्तत् कारणों से उत्पन्न भय को दूर करने वाली उस (रक्षा) को कहते हैं—

भूत, यक्ष, ग्रह, डावी, डामरिका आदि, भगिनी, माता, शाकिनी, योगिनी, मुखमण्डितका तथा अन्य अनेक प्रकार के समस्त हिंसकों द्वारा जो भय उत्पन्न किया जाता है जो उसका शमन करती है वह रक्षाशक्ति कहीं जाती है ॥ -१६९-१७१ ॥

मुखमण्डितका = एक प्रकार के भूत (जो अपने मुखों को अनेक रूपों में

क्रियाख्यैव। शिष्टं प्रागेव व्याकृतप्रायम् ।

अतश्च—

भूतजं मलिनं चैतदध्रुवं यदशाश्वतम् ।
वातपित्तकफश्लेष्मसंनिपातादिविस्तरैः ॥ १७२ ॥
अनेकशतसंख्यातैर्दोषैर्दुष्टं शरीरकम् ।
तच्च हिंसन्ति बहवो हिंसका दुष्टबुद्धयः ॥ १७३ ॥
वातजाः पित्तजा भूताः श्लेष्मजाः संनिपातजाः।
भोक्तुकामा रतिकामा हन्तुकामास्तथापरे ॥ १७४ ॥
बलिकामाश्च बहवो हिंसकाः सुतजन्तुषु ।
वातस्थानं समासाद्य वातजा प्रभवन्ति हि ॥ १७५ ॥
क्षोभयन्ति स्वकं स्थानं पित्तजाः पैत्तिकं तथा ।
श्लेष्मजाश्च स्वकं स्थानं सर्वस्थाः संनिपातजाः ॥ १७६ ॥
क्षोभयन्ति विनाशार्थं देहरक्षा तदर्थतः।
मन्त्रौषधक्रियायोगै रक्षा वै शिवचोदिता ॥ १७७ ॥
कर्तव्या शिवदा नित्या सा शिवाशिवहारिणी ।

भूतजत्वादेव मलिनम् । अध्रुवं विनाशि । अशाश्वतं प्रतिक्षणपरिणामि ।

बदलते रहते हैं) । आदि शब्द से नृसिंह आदि समझना चाहिये । शक्ति = क्रिया नामक शक्ति । शेष पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है ॥

इसलिये—

पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न, मलिन, अस्थायी, अनित्य, वात पित्त कफ श्लेष्म सन्निपात आदि से युक्त, सैकड़ों दोषों से दूषित इस शरीर को बहुत से दुष्ट बुद्धि वाले हिंसक हिंसित करते हैं । ये सब भूत वातज, पित्तज, श्लेष्मज, सन्निपातज होते हैं । कोई भोजन चाहते हैं कोई स्त्रीसमागम, दूसरे मार डालना चाहते हैं और बहुत से हिंसक हैं जो पुत्रों और जन्तुओं के विषय में बलि चाहते हैं । (शरीर में) वातस्थान को प्राप्त कर वातज भूत उत्पन्न होते हैं । वे अपने (= वातग्रस्त) स्थान को पीड़ित करते हैं । पित्तजभूत पैत्तिक स्थान को श्लेष्मज श्लेष्मायुक्त स्थान को तथा संनिपातज समस्त शरीर को विनाश के लिये पीड़ित करते हैं । उसके लिये मन्त्र औषध क्रियायोग से शिव के द्वारा बतलायी गयी देहरक्षा करनी चाहिये । यह रक्षा नित्य, शिवदा एवं शिवाशिव (= कल्याणरूपा एवं अशिव की नाशिनी अथवा मंगल कार्यों में विघ्न) का नाश करने वाली है ॥ १७२-१७८- ॥

भूतज होने के कारण (यह शरीर) मलिन है । अध्रुव = नाशवान् । अशाश्वत

वातादिदोषैर्दुष्टं तावत् सर्वजन्तूनां कुत्सितं शरीरम् । तच्च हिंसका हिंसन्ति बहवः । वातादिजा भूता उन्मदाः । यदुक्तं क्रियाकालगुणोत्तरे—

'वातिकाः पैत्तिकाश्चैव श्लैष्मिकाः संनिपातजाः ।'

इत्युपक्रम्य—

'गन्धमाल्यप्रियो नित्यं वातिकं स्थानमाश्रितः ।
तृषा पीडयते नित्यं सुतीक्ष्णं चाभिभाषते ॥
निद्रां करोति सततं भुङ्क्ते रात्रिन्दिव तथा ।
एतै रूपैस्तु विज्ञेयः पैत्तिकं स्थानमाश्रितः ॥
यस्तु च्छन्दयते नित्यं फेनं चैव विमुञ्चते ।
अभक्ष्यैकमतिर्ज्ञेयः श्लैष्मिकं स्थानमाश्रितः ॥
दोषत्रयं समाश्रित्य नानारूपाणि दर्शयेत् ।
दुश्चिकित्स्यः स उन्मादो विज्ञेयः सांनिपातिकः ॥'

इति क्षोभयन्ति विकुर्वन्ति । यत एवम्, तदर्थं देहो रक्ष्यते यया तदाख्या प्रोक्तरूपा रक्षा श्रेयस्करी श्रेयोरूपाऽश्रेयःशमनी चोद्दिष्टा ॥

= प्रतिक्षण परिणामी । समस्त जन्तुओं का शरीर वात आदि दोषों से दूषित होने के कारण कुत्सित (= घृणास्पद) है । उसे अनेक हिंसक नष्ट करते हैं । वात आदि से उत्पन्न भूत = पागल । जैसा कि क्रियाकालगुणोत्तर तन्त्र में कहा गया—

'वातिक पैत्तिक श्लैष्मिक एवं सन्निपातज (चार प्रकार के भूत होते) हैं ।'

ऐसा उपक्रम (= प्रारम्भ) कर—

'जो गन्ध एवं माला को पसन्द करता, वातिक स्थान में रहता है । (= जो आविष्ट शरीर को) प्यास के द्वारा पीड़ित करता है और कटु भाषण करता है वह वातिक भूत समझा जाता है ।'

'जो सर्वदा सोता रहता और रात दिन भोजन करता रहता है तथा (शरीर के) पैत्तिक स्थान (= पित्ताशय आदि) में रहता है (उसे पैत्तिक भूताविष्ट जानना चाहिये) ।'

'जो गीत गाये, मुँह से झाग निकाले, अभक्ष्यभक्षण करे या करना चाहे तथा श्लैष्मिक स्थान में रहता हो वह श्लैष्मिक भूत वाला होता है ।'

'(वात पित्त कफ) तीनो दोषों का आश्रय लेकर जो अनेक रूपों को दिखलाता है उसे सान्निपातिक समझना चाहिये वह उन्मादी दुश्चिकित्स्य होता है ।'

'क्षुब्ध करते हैं = विकृत करते हैं । चूँकि ऐसा है इसलिये जिसके द्वारा देह की रक्षा की जाती है वह उक्तरूप वाली रक्षा शिवा (= श्रेयस्करी) और अशिव (= अश्रेयस्) की शमनकर्त्री कही गयी है ॥'

अतश्च—

बलिकामांस्तु बलिभिर्घस्मरैस्तर्पयेत् प्रिये ॥ १७८ ॥

बलिकामस्य च लक्षणम्—

'उद्विग्नस्तु भवेद्यस्तु प्रेक्षते च समन्ततः ।
ज्वरो दाहश्च शूलश्च शिरोरुग् यस्य जायते ॥
बुभुक्षितस्तृषार्तो वा देहि देहीति भाषते ।
बलिकामः स विज्ञेयः........................ ॥'

इति तत्रैवोक्तम् ॥ १७८ ॥

भोक्तुकामा जिघांसन्ति.........

एषामपि च लक्षणम्—

'रक्तनेत्रो भवेद्यस्तु हर्षितश्चाभिभाषते ।
ईदृशं लक्षणं यस्य भोक्तुकामो ग्रहो भवेत् ॥'

इति तत्रैवोक्तम् ॥

एते च—

इसलिये—

हे प्रिये ! बलि की कामना करने वालों का भक्षणीय बलि से तर्पण करना चाहिये ॥ -१७८ ॥

बलि चाहने वाले (भूत) का लक्षण—

'जो उद्विग्न हो, चारो ओर देखे । जिसको ज्वर, शरीर में जलन, दर्द, शिरोवेदना हो । जो सर्वदा बुभुक्षित, तृषार्त्त हो और 'दे दो', 'दे दो'—ऐसा कहे उसे बलि चाहने वाला समझना चाहिये ।'

ऐसा वहीं (= क्रियाकालगुणोत्तर में) कहा गया है ॥ १७८ ॥

भोजन की इच्छा वाले (ये भूत भोजन न मिलने पर आविष्ट व्यक्ति को) मार डालना चाहते हैं ॥ १७९- ॥

इनका भी लक्षण है—

'जिसकी आँखे लाल हों हर्षित (रोमाञ्चित या प्रसन्न) होकर भाषण करे जिसका इस प्रकार का लक्षण हो उस व्यक्ति को (बलिकामी भूत से) आविष्ट समझना चाहिये ।'

ऐसा वहीं कहा गया है ।

ये सब—

..........नश्यन्ते मन्त्रयोगतः ।

मन्त्राभिजप्तवारिताडनादिना नश्यन्ति ॥

रतिकामास्त्वनेकैश्च सर्वैस्तन्त्रैस्तथौषधैः ॥ १७९ ॥
मन्त्रिणानुग्रहस्थेन प्रोत्सार्या मन्त्रयोगतः ।

तेषामपि तत्रैव लक्षणम्—

'स्नानशीलः शुचिर्नित्यमुद्विग्नश्चैव जायते ।
पूर्वभाषी भवेन्नित्यमुपभोगं च याचते ॥
गन्धमाल्यप्रियश्चैव वस्त्राभरणमिच्छति ।
प्रियवादी भवेन्नित्यमुपरोधं करोति च ॥
रमते स्त्रीशरीरेषु विचित्रैश्चैव हृष्यति ।'

इत्युक्तम् ॥

हन्तुकामास्तु ये प्रोक्ता दुराधर्षा महाबलाः ॥ १८० ॥

तेषामपि तत्रैव—

'यस्तु वै धुनते केशान् वैद्यं चैव निरीक्षते ।
हन्तुकामः स.................................. ॥'

मन्त्र के योग से नष्ट हो जाते हैं ॥ -१७९- ॥

मन्त्रजप के द्वारा अभिमन्त्रित पानी से ताडित होने से नष्ट हो जाते हैं ।

अनुग्रह चाहने वाला मन्त्री रतिकामी ग्रहों का प्रोत्सारण सब तन्त्र औषधि और मन्त्र से करे ॥ -१७९-१८०- ॥

इनका भी लक्षण वहीं कहा गया है—

'इनसे आविष्ट व्यक्ति स्नानशील एवं पवित्र होता है । हमेशा उद्विग्न रहता है । पूर्वभाषी (= अतीत की बात करने वाला) होता है । उपभोग (= स्त्रीसमागम) की याचना करता है । वह गन्धमाल्यप्रिय होता और वस्त्र तथा आभूषण की कामना करता है । वह सदा मृदुभाषी होता है और हठ करता है; स्त्री शरीर के साथ रमण करता है और विचित्र (पदार्थों की प्राप्ति) से प्रसन्न होता है ।'

जो हनन की इच्छा वाले कहे गये वे दुराधर्ष (= कठिनाई से वश में आने वाले) तथा महाबलशाली होते हैं ॥ -१८० ॥

उनका भी लक्षण वहीं कहा गया है—

'जो व्यक्ति अपने बालों को झटकारे और वैद्य (= तान्त्रिक आचार्य) को घूर-घूर कर देखे (तो यह समझना चाहिये कि उसके ऊपर आवेश करने वाला ग्रह) हनन करना चाहता है ।'

इति, तथा—

'अग्निप्रवेशनं कुर्यादुदके पतनं तथा ।
प्रमादात् पतति क्षोण्यां नृत्यत्यथ च रोदिति ॥
हन्तुकामगृहीतस्य भवत्येतत्तु लक्षणम् ।'

इति लक्षणमुक्तम् । दुराधर्षा बलिनो दुःसहाश्च ॥ १८० ॥

यद्यपि—

तथापि पारमेशेन मन्त्रतेजोबलेन ते ।
शिवशक्तिप्रभावेण नश्यन्त्यत्र न संशयः ॥ १८१ ॥

शिवशक्तिप्रभावस्तदाज्ञावशवर्तिता ॥ १८१ ॥

प्रासङ्गिकमुपसंहरति—

एवं संक्षेपतः प्रोक्तस्त्वयं भूतविनिर्णयः ।
प्राणिनां तु हितार्थाय विस्तरोऽन्यत्र वर्णितः ॥ १८२ ॥

अन्यत्र श्रीतोतुलक्रियाकालगुणोत्तरादौ ।

तत्र हि—

'तस्मात् समाधियुक्तेन मन्त्रपूतेन वारिणा ।

तथा—

'यदि कोई व्यक्ति अग्नि में प्रवेश करता या करना चाहता है; पानी में गिरना चाहता है; प्रमाद के कारण पृथ्वी पर गिरता है; नाचता और रोता है; तो यह लक्षण हन्तुकाम के द्वारा गृहीत का होता है ।'

ऐसा लक्षण कहा गया है । दुराधर्ष = बलवान् और दुःसह ॥ १८० ॥

यद्यपि (वे ग्रह दुराधर्ष और हन्तुकाम होते हैं)—

तथापि परमेश्वर से सम्बद्ध मन्त्र के तेज के बल से तथा शिवशक्ति के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं इस विषय में कोई संशय नहीं है ॥ १८१ ॥

शिव शक्ति का प्रभाव = उनकी आज्ञा के वशीभूत होना ॥ १८१ ॥

प्रासङ्गिक का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार प्राणियों के हित के लिये यह भूतनिर्णय संक्षेप में कहा गया । इसका विस्तृत वर्णन अन्यत्र है ॥ १८२ ॥

अन्यत्र = तोतुल शास्त्र, क्रियाकालगुणोत्तर तन्त्र आदि में । वहाँ—

'इसलिये समाधियुक्त (= वैद्य) मन्त्र के द्वारा पवित्रित जल से संस्पृष्ट कर गुह्य

गुह्यः संस्पृश्य वक्तव्यो ब्रूहि सत्यं तु गुह्यक ॥
को भवान् किंनिमित्तं च गृहीतो मानुषस्त्वया ।
का च ते क्रियते पूजा ब्रूहि सत्यं किमिच्छसि ॥
एवं तु ब्रूहि मे नित्यं रुद्रस्य वचनं स्मर ।
पटेनान्तरितं कृत्वा वामहस्तं प्रसारयेत् ॥
आकुञ्चयेत्तु प्रच्छन्नं तथा तथ्यं विनिर्दिशेत् ।'

इत्यादि बह्वस्ति ॥ १८२ ॥

प्रकृतमुपसंहरति—

एवं तु क्रियते रक्षा सुज्ञाता सुकृता भवेत् ।
अन्यथा तु स्वघाताय वेदितव्यात्र योगिना ॥ १८३ ॥

एवमिति प्रोक्तपराशक्त्यादिव्याप्तिस्वरूपतः सर्वरक्षाजीवरक्षादेहरक्षेतिविषयतो बलिकर्ममन्त्रतन्त्रयोगादीतिकर्तव्यताप्रयोगतश्च सुष्ठु ज्ञाता या रक्षा क्रियते, सा सुकृता स्यात् ॥ १८३ ॥

किं च—

से कहे—हे गुह्यक ! सच-सच बताओं तुम कौन हो? इस मनुष्य को तुमने क्यों पकड़ रखा है ? तुम्हारी कौन सी पूजा की जाय ? सच बताओं क्या चाहते हो ? यह मुझे बताओं, रुद्र के वचन का नित्य स्मरण करो । (उस आविष्ट व्यक्ति को) कपड़े के पर्दे के अन्दर रख कर आचार्य अपना बाँयाँ हाथ फैलाये और सिकोड़े । इस प्रकार वह (= आविष्ट व्यक्ति) प्रच्छन्न तथ्य को स्पष्ट करेगा ।'

(आचार्य के द्वारा अपना हाथ फैलाने और सिकोड़ने से आविष्ट व्यक्ति पर्दे के अन्दर रहकर उस हाथ पर कुछ संकेत करता है और आचार्य उस संकेत के द्वारा प्रच्छन्न तथ्य को जान लेता है ।)

इत्यादि बहुत कहा गया है ॥ १८२ ॥

प्रस्तुत का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार रक्षा की जाती है । भली-भाँति ज्ञात होने पर वह सुन्दर ढंग से सम्पन्न होती है (और रक्षा करती है) । अन्यथा योगी उसे अपने (= साध्य के) घात के लिये की गयी समझे ॥ १८३ ॥

इस प्रकार = प्रोक्त पराशक्ति आदि की व्याप्ति रूप से, सर्वरक्षा जीव-रक्षा देहरक्षा का विषय होने से, बलिकर्म मन्त्र-तन्त्र योग आदि इतिकर्त्तव्यता के प्रयोग से, अच्छी तरह ज्ञात जो रक्षा की जाती है वह सुकृत (= सफल) होती है ॥ १८३ ॥

तथा—

रक्षा बहुप्रकारा च कर्तव्याम्नायदर्शनात्।

तत्र—

आधाररक्षा प्रथमा बीजरक्षा द्वितीयिका ॥ १८४ ॥
तृतीया गर्भरक्षा तु सूतिकाले चतुर्थिका ।
पञ्चमी सूतिकारक्षा स्नात्वा षष्ठी भवेदिह ॥ १८५ ॥
बालानां सप्तमी प्रोक्ता पुरुषाणां तथाष्टमी ।

तानेतान्—

भेदांस्तु संप्रवक्ष्यामि ह्याधारादिगतान् प्रिये ॥ १८६ ॥

सम्यक् प्रवक्ष्यामि व्याख्यास्यामि ॥ १८६ ॥

तत्र—

मातापित्रोः परा रक्षा कार्या तत्त्वविचिन्तकैः ।

तदाश्रयत्वात् सर्वस्य ॥

अत्र युक्तिमाह—

दोषैः सुदष्टः पुरुषः संभवन्त्यस्य हिंसकाः॥ १८७ ॥
हिंसन्ति रक्षणीयोऽसौ संभवार्थं प्रयत्नतः ।

शास्त्रों की दृष्टि से रक्षा अनेक प्रकार की करनी चाहिये ॥ १८४- ॥

उन प्रकारों में—

आधार रक्षा प्रथम है । बीजरक्षा द्वितीय है । तीसरी गर्भ रक्षा और चौथी प्रसवकाल में होती है । पाँचवीं सूतिका की रक्षा छठीं सूतिका के स्नान के बाद होती है । सातवीं बालकों की और आठवीं पुरुषों की रक्षा होती है ॥ -१८४-१८६- ॥

हे प्रिये ! अब मैं उन आधार आदि में वर्त्तमान भेदों को बतलाऊँगा ॥ -१८६ ॥

संप्रवक्ष्यामि = भली-भाँति कहूँगा = व्याख्या करूँगा ॥ १८६ ॥

तत्त्वज्ञानी वैद्य सबसे पहले माता पिता की रक्षा करे ॥ १८७- ॥

क्योंकि समस्त (रक्षाभेद) उन्हीं पर आधृत रहता है ॥

इस विषय में तर्क देते हैं—

पुरुष स्वभावतः दोषों से दुष्ट होता है इस कारण इसके हिंसक (= भूत आदि) उत्पन्न हो जाते हैं । वे इसकी हिंसा करते हैं

दोषाः प्राक्तनाः कुशलोक्ता रागद्वेषाविनयादयः, तैः सुष्ठु दष्टः स्पृष्टप्रायः सर्वः पुरुषः । अतश्चास्य पूर्वोक्ता हिंसकाः संभवन्ति, हिंसन्ति चैनम् । तदसौ पुरुषो रक्ष्यः संभवार्थं सन्ततिप्रसवार्थम् ॥

किं च, दोषदष्टत्वादेव—

यदा स्त्री मुद्रिता भूतैस्तदा गर्भो न संभवेत् ॥ १८८ ॥
एवं च प्रथमा रक्षा त्वाधाराख्या प्रकीर्तिता ।

एवं चेति, अतश्चेत्यर्थः । आधारः पितरौ, तदाश्रयत्वा(दा)धाररक्षा ।

बीजरक्षामाह—

रेतोरक्तमयः कायः सर्वेषां प्राणिनां यतः ॥ १८९ ॥
ततः संरक्षितौ द्वौ तु कर्तव्यौ मन्त्रवादिभिः ।

द्वाविति रेतोरक्ते । आर्तवे बीजरक्षा बन्धनीयेत्यर्थः ॥

इसलिये सन्तान की उत्पत्ति के लिये प्रयत्नपूर्वक इसकी रक्षा करनी चाहिये ॥ -१८७-१८८- ॥

दोष = पूर्वजन्मसम्बन्धी, कुशलोक्त (= तत्तत् शास्त्र में निष्णात व्यक्ति के द्वारा उक्त) राग द्वेष उद्दण्डता आदि । उनके द्वारा प्रायः सभी पुरुष दष्ट = स्पृष्ट (= युक्त) होते हैं । इसलिये पूर्वोक्त हिंसकों की सम्भावना रहती है और वे इसकी हिंसा कर देते हैं । इसलिये इसकी रक्षा होनी चाहिये । संभव के लिये = सन्तति को उत्पन्न करने के लिये ॥

तथा, दोष से युक्त होने के कारण ही—

जब स्त्री भूतों से मुद्रित (= आविष्ट, गृहीत) होती है तब उसका गर्भवती होना सम्भव नहीं होता । इसलिये प्रथम रक्षा आधाररक्षा कही गयी है ॥ -१८८-१८९- ॥

एवं च = इसलिये । आधार = माता-पिता । उन पर आधृत होने से यह रक्षा आधाररक्षा कही जाती है ॥

बीजरक्षा को बतलाते हैं—

चूँकि सब प्राणियों का शरीर या तो रक्तमय (= रजयुक्त) या रेतोमय (= वीर्य वाला) होता है इसलिये मन्त्रवेत्ता लोगों को चाहिये कि वे दोनों (= माता-पिता) को सुरक्षित करे ॥ -१८९-१९०- ॥

दोनों को = रेतस् (= वीर्य) एवं रक्त (रजस्) को । तात्पर्य यह है कि आर्त्तव अर्थात् रजस् काल में वीर्य की रक्षा करनी चाहिये (क्योंकि उसी समय गर्भाधान के लिये सुरक्षित शुद्ध वीर्य की आवश्यकता होती है) ॥

किं च—

रतिकामा ग्रहा ये च कामाचारा ह्यनेकशः ॥ १९० ॥
पिबन्ति रेतो रक्तं च नष्टेऽस्मिन् संभवः कुतः ।
तस्मात्तु कारणादस्मिन् रक्षिते संभवो भवेत् ॥ १९१ ॥

अस्मिन्निति रेतोरक्तात्मनि । बीजसंभवो गर्भाधानम् ॥ १९१ ॥

तृतीयामाह—

संभूते गर्भगे हेतौ संरक्ष्यं गर्भपातनम् ।

संभूत इति, अर्थात् गर्भे ॥

चतुर्थीमाह—

प्रसूतिकाले नारीणां रक्षागतिविशारदैः ॥ १९२ ॥
रक्षा कार्या प्रयत्नेन.........

रक्षाया गतिः पूर्वोक्ता व्याप्तिः, तत्र विशारदैर्निर्मलधीभिर्मन्त्रार्चायत्नौषधयुक्त्यात्मना प्रकृष्टेन यत्नेन रक्षा कार्या ॥

एवं च—

............न हिंसन्तीह हिंसकाः ।

तथा—

जो ग्रह रति चाहने वाले हैं तथा अनेक कामाचारी हैं वे सब रेतस् एवं रक्त को पी जाते हैं । इस (रेतस् तथा रक्त) के नष्ट होने पर सन्तान की उत्पत्ति कैसे होगी । इस कारण इसके रक्षित होने पर सन्तानोत्पत्ति हो सकती है ॥ -१९०-१९१ ॥

इसके = रेतस् एवं रक्त के । बीजसम्भव = गर्भाधान ॥ १९१ ॥

तीसरी रक्षा को बतलाते हैं—

गर्भधारण हो जाने पर गर्भपात की रक्षा करनी चाहिये ॥ १९२- ॥

चौथी रक्षा को कहते हैं—

रक्षा करने में कुशल व्यक्तियों के द्वारा स्त्रियों के प्रसवकाल में (उस स्त्री एवं बच्चे की) प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये ॥ -१९२-१९३- ॥

रक्षागतिविशारद = रक्षा की गति = पूर्वोक्त व्याप्ति, उस विषय में विशारद = निर्मल बुद्धि वाले, मन्त्र पूजा प्रयत्न औषध युक्त यन्त्र से रक्षा करें ॥

इस प्रकार करने पर—

यहाँ हिंसक गण हिंसा नहीं करते ॥ -१९३- ॥

इहेति प्रसवकाले ॥

प्रसूताया रक्षां पञ्चमीमाह—

यावन्न सूतिका शुद्धा तद्गृहस्थं तु बालकम्॥ १९३ ॥

तावत्—

सूतिकागृहदोषाद्या बाधन्ते रक्षया विना।
तस्मात् सुरक्षितं कार्यं बाह्यास्त्राद्यैर्विचक्षणैः॥ १९४ ॥

कार्यमिति, सूतिकागृहमित्यर्थात् ॥ १९४ ॥

षष्ठीमाह—

सूतिकास्नानकाले तु बालो वा यश्च तत्स्थितः ।
हिंसन्ति बलिनो भूतास्तस्मात् स्नाने तु रक्षयेत् ॥ १९५ ॥

यश्चेति जातबालादन्योऽपि बालादिर्यस्तत्र स्नानगृहे स्थितोऽर्थात् तमपि भूता हिंसन्ति, तस्माद् रक्षेत् ॥ १९५ ॥

सप्तमीमाह—

स्नात्वा तदुत्तरं कालं बाला रक्ष्याः सधात्रिकाः ।

यहाँ = प्रसवकाल में ॥

पाँचवीं प्रसूता की रक्षा को बतलाते हैं—

जब तक प्रसूता शुद्ध नहीं होती तब तक प्रसूतिगृह में स्थित बालक को रक्षा के अभाव में सूतिकागृह के दोष आदि बाधा (= पीड़ा) पहुँचाते हैं । इसलिये विद्वान् बाह्य अस्त्र आदि से सूतिकागृह को सुरक्षित करे ॥ -१९३-१९४ ॥

अर्थात् सूतिकागृह को ॥ १९४ ॥

छठवीं रक्षा को कहते हैं—

सूतिका के स्नान के समय प्रसूत बालक या अन्य बालक जो वहाँ उपस्थित होता है बलवान् भूत उसका घात करते हैं । इस कारण स्नानकाल में रक्षा करनी चाहिये ॥ १९५ ॥

और जो = प्रसूत बालक के अतिरिक्त बालक आदि वहाँ स्नानगृह में स्थित है उनको भी भूत पीड़ा पहुँचाते हैं । इस कारण रक्षा करनी चाहिये ॥ १९५ ॥

सातवीं को कहते हैं—

स्नान करने के बाद धात्रीसमेत बालकों की रक्षा करनी

स्नात्वा ये स्थिता बालास्ते रक्ष्याः ॥ १९६ ॥

धात्री कस्माद् रक्ष्येत्याह—

धात्री तु कारणं तस्य क्षीरस्पर्शादिपोषणैः ॥ १९६ ॥
तस्मात् सा रक्षितव्यादौ धात्री बालस्तदूर्ध्वतः ।

किं च—

सर्वकालं तु संरक्ष्यो मन्त्रौषधिप्रयोगतः ॥ १९७ ॥
धारणाध्यानमुद्राभिर्यन्त्रैर्धूपैरतन्द्रितम् ।
तिलाज्यादिकृतैर्होमैः कलशैर्विविधैः शुभैः ॥ १९८ ॥
शिरसि ह्यभिषेकैश्च रक्षणीयश्च सर्वदा ।

बालो यः संरक्षार्हः कल्याणमूर्तिः, स सर्वदाऽतन्द्रितं कृत्वा रक्षणीयः, न तु दुर्जातः ।

कि च—

प्रतिबुद्धं तु सुप्तं च रुदन्तं च प्रसाधितम् ॥ १९९ ॥
भुञ्जानं शयनस्थं तु तिष्ठन्तं क्रीडमानकम् ।
प्रभाते चार्धरात्रे च सायं मध्याह्नगोचरे ॥ २०० ॥

चाहिये ॥ १९६- ॥

जो बालक स्नान कर चुके हैं उनकी भी रक्षा होनी चाहिये ॥ १९६ ॥

धात्री की रक्षा क्यों करनी चाहिये—यह कहते हैं—

धात्री दूध पिलाने, मालिश करने आदि के द्वारा उस (प्रसूत बालक की वृद्धि) का कारण बनती है इसलिये पहले उसकी रक्षा करनी चाहिये बाद में बालक की ॥ -१९६-१९७- ॥

तथा—

बालक की सब समय मन्त्र एवं औषधि के प्रयोग से, धारणा ध्यान मुद्रा से, यन्त्र एवं धूप से, तिल घृत आदि के होम से, अनेक शुभ कलशों के द्वारा शिरपर अभिषेक से सावधानीपूर्वक रक्षा करनी चाहिये ॥ -१९७-१९९- ॥

जो बालक कल्याणमूर्त्ति और रक्षा के योग्य है उसी की सावधानी के साथ रक्षा करनी चाहिये न कि दुर्जात (= वर्णसङ्कर आदि) की ॥

जागे हुए, सोये, रोते, अलङ्कृत, भोजन करते हुए, विस्तर पर पड़े, खड़े, चलते हुए बालक का, प्रभात, अर्धरात्रि, सायंकाल,

सन्ध्याकालेषु सर्वेषु रक्षेद्यत्नात्तु बालकम् ।

क्रीडमानमिति चरन्तम् ॥

सन्ध्यासु किमिति यत्नतो रक्षेदित्याह—

देवासुराणां भूतानां मातृणां भगिनीषु च ॥ २०१ ॥
ग्रहदुष्टपिशाचानां संध्याकाले तु सङ्गमः ।
तस्मात् सर्वासु सन्ध्यासु रक्षितव्यश्च बालकः ॥ २०२ ॥

तथा—

गच्छंस्तिष्ठन् स्वपञ्जाग्रत् सर्वकालं तु रक्ष्यते ।

एतदेवोपपादयति—

गच्छन्तं दर्शनाद्देवि जिघांसन्तीह हिंसकाः ॥ २०३ ॥
रक्षाहीनं तु तिष्ठन्तं मुद्रयन्ति सुभीषणाः ।
स्वस्थं च्छलेन सुप्तं तु त्रासयन्ति समन्ततः ॥ २०४ ॥
जाग्रतः केवलं रात्रौ भीषयन्ति ग्रहाधमाः ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सर्वदा रक्ष्यते शिशुः ॥ २०५ ॥

मध्याह्न, सन्ध्याकाल में सब समय प्रयत्न के साथ रक्षा करनी चाहिये ॥ -१९९-२०१- ॥

क्रीडमानम् = चलते हुए ॥

सन्ध्याकाल में क्यों यत्नपूर्वक रक्षा करे—यह कहते हैं—

सन्ध्याकाल में देवता, राक्षस, भूत, भगिनी, ग्रह, दुष्टपिशाच आदि का सङ्गम होता है (और उनमें से कोई एक या कई एक मिलकर बालक को ग्रसित कर सकते हैं) इस कारण सभी सन्ध्याओं में बालक की रक्षा करनी चाहिये ॥ -२०१-२०२ ॥

तथा—

चलते, खड़े, सोते, जागते सब समय (बालक की) रक्षा की जाती है ॥ २०३- ॥

इसी को स्पष्ट करते हैं—

हे देवि ! हिंसकगण चलते हुए बालक को मारना चाहते हैं । वे भीषण ग्रह रक्षारहित को मुद्रित करते हैं । स्वस्थ एवं सुप्त को छलपूर्वक संत्रस्त करते हैं । निम्नश्रेणी के ग्रह जागने वाले बालक को केवल रात्रि में डराते हैं । इसलिये सब यत्न करके सर्वदा शिशु की रक्षा करनी चाहिये ।

जीवेन्नान्यैरुपायैस्तु मन्त्रवादैर्विना प्रिये ।

किं च—

विशेषाद्राजतनयो रक्षितव्यो हि दैशिकैः ॥ २०६ ॥
भाग्यभुक् सुप्रशस्तश्च सर्वलक्षणलक्षितः ।

भाग्यानि भुङ्क्ते फलद्वारेण ।

तं च यतः—

दृष्ट्वा यत्नेन दुष्टाश्च जिघांसन्ति शिशुं शुभम् ॥ २०७ ॥
तस्मात् सर्वप्रकारेण धरणाभिर्निरन्तरम् ।
प्राकारास्त्रेण वा देवि मन्त्रैर्वा विविधैः शुभैः ॥ २०८ ॥
लिखितैर्यन्त्रयोगैर्वा पूजितैः सुप्रयत्नतः ।
वेष्टितैः कण्ठसंलग्नैः सूत्रकैर्वासितादिकैः ॥ २०९ ॥
धूपैर्विविधरूपैश्च धारितैर्मणिभिस्तथा ।
रक्षोघ्नैस्तिलकैर्वापि नीराजनपुरःसरैः ॥ २१० ॥
रक्षणीयः सदा बालो राजपुत्रो विशेषतः ।

धारणा अधोमुखसितसरोजसंनिविष्टेन्दुबिम्बस्रवत्सुधया ब्रह्मद्वारपूरणादिरूपाः ।

हे देवि ! मन्त्रवाद के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय से बालक जीवित नहीं रह सकता ॥ -२०३-२०६- ॥

तथा—

आचार्य लोग विशेषरूप से राजा के पुत्र की रक्षा करें क्योंकि वह समस्त सुलक्षणों से युक्त, प्रशस्त एवं भाग्यवान् होता है ॥ -२०६-२०७- ॥

चूँकि दुष्टग्रह सुन्दर भाग्यवान् शिशु को देखकर प्रयत्नपूर्वक उसको मार डालना चाहते हैं इसलिये हे देवि ! धारणा, प्राकारास्त्र, अनेक शुभ मन्त्रों को लिखकर यन्त्र से युक्त कर उसकी पूजा करने पर उसे (बालक के शरीर में) लपेटने, गले बाँधने, मन्त्र को धागे में वासित करने, अनेक धूपों, मणियों के धारण, रक्षोघ्नतिलकों, नीराजनों के द्वारा बालक की, विशेषरूप से राजपुत्र की रक्षा करनी चाहिये ॥ -२०७-२११- ॥

धारणा = चाँदनीरात में कमल को अधोमुख करने पर उससे निकले हुए जल से बालक के शिर पर वर्त्तमान ब्रह्मद्वार[1] को भरना । यन्त्र योग पूजित ये तीन

१. नवजात शिशु के शिर के मध्य का जो भाग अत्यन्त कोमल होता एवं दबाने पर दबता है वही ब्रह्मद्वार, ब्रह्मरन्ध्र, ब्रह्मबिल समस्त्रार आदि नामों से पुकारा जाता है ।

यन्त्रयोगानां पूजितैरित्यादि विशेषणत्रयम् कण्ठलग्नैरिति काकाक्षिवत् । नीराजनं पूर्वोक्तम् ॥

पुरुषरक्षामष्टमीमाह—

राजानस्तदमात्याश्च राजपत्न्यस्तथा प्रिये ॥ २११ ॥
अनेनैव विधानेन रक्षितव्याः सुनिश्चितैः ।
यस्मात् क्षुद्रा ग्रहा भूता मातरो दुष्टहिंसकाः ॥ २१२ ॥
देवेष्वसाध्या बलिनो दुर्जया दुरतिक्रमाः ।
जिघांसन्ति प्रयत्नेन नित्यकालमतन्द्रिताः ॥ २१३ ॥
तेषां प्रशमनार्थाय प्राणिनामनुकम्पया ।
मन्त्रास्त्रौषधयत्नाश्च महाबलपराक्रमाः ॥ २१४ ॥
अनुग्रहार्थं मर्त्यानां मया सर्वेऽवतारिताः ।

अस्त्राणि नाराचतोमरादीनि, यत्नाश्चेति चकाराद् मणयः ॥

अस्य मन्त्रनाथस्य विशेषमाह—

तेषामेव हि सर्वेषां मन्त्राणां भूरितेजसाम् ॥ २१५ ॥

विशेषण को कण्ठलग्न के साथ काकाक्षिगोलकन्याय से जोड़ना चाहिये । अर्थात् मन्त्र योग पूजित को लिखितैः सूत्रकैः के साथ, इसी प्रकार 'कण्ठसंलग्नैः' को 'सूत्रकैः' और 'लिखितैः' के साथ जोड़ना चाहिये । नीराजन का वर्णन पहले किया जा चुका है ॥

आठवीं पुरुषरक्षा को कहते हैं—

हे प्रिये ! राजाओं, उनके मन्त्रिवर्गों, राजाओं की स्त्रियों, की रक्षा इसी विधान से सुनिश्चित (= विधानज्ञ आचार्यों) के द्वारा की जानी चाहिये क्योंकि क्षुद्रस्वभाव वाले ग्रह, भूत, मातायें, दुष्टहिंसक जीव देवताओं से भी असाध्य होते हैं । दुर्जय और दुरतिक्रम वे प्रयत्नपूर्वक सर्वदा सावधान होकर (मनुष्यों को) मारना चाहते हैं । उनकी शान्ति के लिये प्राणियों के ऊपर कृपा की इच्छा से मनुष्यों के अनुग्रह के लिये मैंने मन्त्रों, अस्त्रों, औषधियों और प्रयत्नों—जो कि महाबली एवं महापराक्रमी हैं, का अवतारण किया है ॥ -२११-२१५- ॥

अस्त्र = नाराच तोमर आदि । 'यत्नाश्च' पद में पठित चकार से मणियों का ग्रहण करना चाहिये ॥

इस मन्त्रनाथ का वैशिष्ट्य बतलाते हैं—

उन अत्यन्त तेजस्वी समस्तमन्त्रों का बल, ओज, ज्ञान, स्मृति, मेधा,

बलमोजस्तथा ज्ञानं स्मृतिर्मेधा वपुः श्रियः।
जीवनं प्रभु सर्वेषां मृत्युजित् कथितो मया॥ २१६ ॥

तेषामिति ग्रहाद्युपशमहेतूनां व्याप्तिः, स्मृतिरविचला प्रतिपत्तिरूपा च प्रज्ञा मन्त्राणां सारतश्च पूर्वोक्तनीत्या प्रभु प्रभविष्णु मृत्युजित्स्वरूपमेव, तथा वपुर्वाचकविशेषात्म स्वरूपं श्रियो भोगमोक्षवितरणरुचो जीवनं वाच्यरूपं चैतन्यम् ॥ २१६ ॥

तदेवं सर्वमन्त्रवैलक्षण्यमस्य दर्शयन्नन्यमन्त्रस्थितिं तावदाह—

भूरियागैर्जपैर्होमैस्तपसा संयमेन च ।
मन्त्राश्चास्त्राणि सिध्यन्ति युगभावानुरूपतः ॥ २१७ ॥
तथा कलियुगे दुष्टे पापिष्ठा ये नराधमाः ।
तेषां ते सिद्धिदा मन्त्रा भवन्ति न भवन्ति च ॥ २१८ ॥

कृतादियुगेषु यो भावः सत्त्वादिप्रधान आशयस्तदानुरूप्येण यथोत्तरमधिकाधिकप्रयत्नव्रताराधनादिकृच्छ्रेण सिद्ध्यन्ति, भवन्ति न भवन्ति चेति बाहुल्येन न भवन्तीत्यर्थः ॥ २१८ ॥

नेत्रनाथस्य त्वयं विशेषो यत्—

शरीर, लक्ष्मी का जीवन तथा सबका प्रभु यह मृत्युजित् मन्त्र मैंने बतलाया ॥ -२१५-२१६ ॥

(यह मन्त्र) उनका = ग्रह आदि के उपशम के हेतुओं की व्याप्ति स्मृति = अविचल ज्ञानरूप प्रज्ञा, मन्त्रों का सार होने से पूर्वोक्त नीति के अनुसार प्रभु = प्रभविष्णु (= समर्थ) मृत्युञ्जय का स्वरूप है । वपु = वाचक विशिष्ट स्वरूप । श्री का = भोगमोक्ष वितरण रूपी शोभा का, जीवन = वाच्यरूपी चैतन्य है ॥ २१६ ॥

इस मन्त्र की अन्य मन्त्रों से विलक्षणता दिखलाते हुए अन्य मन्त्रों की स्थिति को बतलाते हैं—

प्रचुर याग, जप, होम, तपस्या और संयम के द्वारा मन्त्र और अस्त्र युग के भाव के अनुरूप सिद्ध होते हैं । इस दृष्ट (या दुष्ट) कलियुग में जो नराधम पापी हैं उनके लिये अन्य मन्त्र (= किञ्चित्) सिद्धिप्रद होते हैं और (प्रचुरमात्रा में) नहीं भी होते ॥ २१७-२१८ ॥

सत्ययुग आदि में जो सत्त्वादिप्रधान भाव = आशय, रहता है उसके अनुरूप उत्तरोत्तर अधिकाधिक व्रत प्रयत्न आराधना आदि कष्ट से (ये मन्त्र सिद्ध होते हैं) । होते हैं और नहीं होते = अधिक मात्रा में नहीं होते ॥ २१८ ॥

नेत्रनाथ की यह विशेषता है कि—

अस्य देवातिदेवस्य न कृतादियुगस्थितिः ।

अतश्चायम्—

भावानुरूपनिष्ठानामतपोव्रतसेविनाम् ॥ २१९ ॥
सर्वभावप्रपन्नानां द्वैताद्वैतजिगीषया ।
दौर्भाग्यालस्ययुक्तानां पापोपहतचेतसाम् ॥ २२० ॥
भक्तिमात्रावलम्बित्वात् सिध्यत्यत्र न संशयः ।

पूर्वोक्तसिद्धान्तादिसर्वदर्शनभावानुरूपा निष्ठा स्थितिर्येषाम्, तपो व्रतं चानिषेवमाणानामपि, तथा सर्वान् भावान् प्रपन्नानां सर्वव्यवहारसङ्गिनाम्, दौर्भाग्यादिमतां च द्वैताद्वैतजिगीषया पूर्वनिर्णीतपरमाद्वैतव्याप्त्या यद् भक्तिमात्रावलम्बित्वमाराधकत्वम् तस्मात्, अत्रेति जीवद्दशायामेव सिध्यति समावेशतः स्फुरति, अभीष्टसिद्धिं च घटयति । न संशय इति च प्राग्वत् ॥

अयं च—

चिन्तारत्नं यथा सर्वं चिन्तितार्थं प्रयच्छति ॥ २२१ ॥
तथा सर्वाणि कार्याणि भावितस्य करोति हि ।

भावितो निश्चितमतिः ॥

यह देवातिदेव सत्ययुग आदि में नहीं थे ॥ २१९- ॥

इसलिये यह देव—

भाव के अनुरूप निष्ठा रखने वाले, तपस्या व्रत न करने वाले, द्वैत्व अद्वैत की जिगीषा से समस्त भावों को प्राप्त, दुर्भाग्य आलस्य से युक्त, पापीचित्त वाले लोगों को केवल भक्ति करने के कारण इसी जीवन में सिद्ध हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं ॥ -२१९-२२१- ॥

पूर्वोक्त शैव सिद्धान्त आदि समस्त दर्शन के भावों के अनुरूप जिनकी स्थिति हैं, जो तप व्रत का सेवन नहीं करते; समस्त भावों को प्राप्त = समस्त व्यवहारों को करने वाले, अभागे लोग जो द्वैताद्वैतवादियों को जीतने की इच्छा से परमाद्वैत व्याप्ति के कारण भक्तिमात्र का अवलम्बन रूप आराधन करने वाले हैं; इस कारण उनको इसी जीवन में सिद्धि मिलती है = समावेश का स्फुरण हो जाता है और इष्टसिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥

जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न समस्त चिन्तित वस्तु को देता है उसी प्रकार यह (= मृत्युञ्जयभट्टारक) दृढ़निश्चयी साधक के सभी कार्यों की सिद्धि करता है ॥ -२२१-२२२- ॥

भावित = निश्चितबुद्धि वाला ॥

किं च—

सूर्याचन्द्रौ यथा लोके सामान्येनावभासकौ॥ २२२ ॥
पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ।
सामान्यं वर्तयत्येतदन्नं क्षुद्दोषहृद्यथा ॥ २२३ ॥
तथा सर्वेषु भूतेषु व्यापकः परमेश्वरः ।
शिवः प्रपञ्चरहितः सर्वेषां सर्वदः प्रभुः ॥ २२४ ॥
मृत्युजित् परमो देवः सर्वेषां सर्वसिद्धिदः ।

एतदिति पृथिव्यादिव्योमान्तं कर्तृ क्षुद्दोषहृदन्नं कर्म सामान्यं साधारणं वर्तयति निष्पादयति सर्वं पाशजालं द्यतीति सर्वदो मोचकः । शिष्टं व्याकृतप्रायम् ॥

अतश्च—

भक्तिमात्रावलम्बित्वाद्धारणाध्यानतत्परः ॥ २२५ ॥
योऽस्य वेत्ता प्रपन्नश्च मन्त्री निष्कम्पचेतनः ।
स सर्वं फलमाप्नोति सर्वसिद्ध्यरहो भवेत् ॥ २२६ ॥

तथा—

जिस प्रकार इस संसार में सूर्य और चन्द्रमा समानरूप से प्रकाश करते हैं; पृथ्वी जल तेज वायु और आकाश सामान्यतया व्यवहार करते हैं; जिस प्रकार अन्न क्षुधारूपी दोष को दूर करता है उसी प्रकार समस्त भूतों में व्यापक परमेश्वर, शिवप्रद, प्रपञ्चरहित, सबके पाश का नाश करने वाला, समर्थ परमदेव मृत्युञ्जय सबको सब प्रकार की सिद्धि देता है ॥ -२२२-२२५- ॥

यह = पृथ्वी से लेकर आकाशपर्यन्त का कर्त्ता । क्षुद् दोष का हरण करने वाला अन्न को सबको समान रूप से (तृप्ति) देता है । सर्वद = सब पाश जाल का दान = नाश करने वाला अर्थात् मोचक ॥

इसलिये—

भक्तिमात्रावलम्बी होने से धारणा ध्यान में तत्पर जो मन्त्री इस तत्त्व का वेत्ता, प्रपन्न और दृढ़ विश्वास वाला है वह सब फल को प्राप्त करता है और सब सिद्धि के योग्य है ॥ -२२५-२२६ ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के एकोनविंश अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १९ ॥

'धारणा परमात्मत्वम्' (८।१।१६)

इत्यादि धारणास्वरूपमष्टमे दर्शितम् । वेत्ता विचारको वीर्यज्ञः । निष्कम्पचेतनो निश्चतधीः । सर्वं फलं समस्तसंपदात्मिकां मुक्तिम् । अरह इति ऐशः पाठ इति शिवम् ॥ २२६ ॥

प्रस्फुरच्चित्समावेशोन्मेषिजीवावभासितम् ।
दिव्यां देहस्थितिं कुर्वन्नेत्रं रक्षाकरं नुमः ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योते एकोनविंशोऽधिकारः ॥ १९ ॥

'परमात्मता = चैतन्य को धारण करने वाले योगी की धारणा (भवबन्ध का नाश करती) है ।' (८-१६)

इस प्रकार धारणा का स्वरूप अष्टम अधिकार में बतलाया गया । वेत्ता = विचारज्ञ मन्त्र के वीर्य को जानने वाला । निष्कम्पचेतन = निश्चित बुद्धि वाला । सब फल = समस्त सम्पत्स्वरूपा मुक्ति । 'अरह' यह ईश्वरीय पाठ है । (लौकिकपाठ 'अर्ह' है) ॥ २२६ ॥

स्फुरित होने वाले चित् समावेश का उन्मेषी, जीव के द्वारा अवभासिक रक्षा करने वाले, देह स्थिति को दिव्य बनाने वाले नेत्र को हम नमस्कार करते हैं ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के एकोनविंश अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १९ ॥

विंशोऽधिकारः

* नेत्रोद्योतः *

परसूक्ष्मादियोगेन मुद्रितानपि लीलया ।
उन्मुद्रयत्पराद्वैतं नुमो नेत्रं महेशितुः ॥

पूर्वोक्तसङ्गतिपूर्वं भाव्यधिकारार्थमवतारयितुं श्रीदेवी उवाच—

उक्तं देवेन तत्सर्वं परिपृष्टं हि यन्मया ।
अधुना श्रोतुमिच्छामि संशयोऽयं हृदि स्थितः ॥ १ ॥
योगिन्यो मातरश्चैव शाकिन्यो बलवत्तराः ।
कथं परपुरात् प्राणान् क्षणादाकर्षयन्ति ताः ॥ २ ॥

---

* ज्ञानवती *

विविधविधस्वरूपं धारयित्वा हि देव्यो
न खलुपशुवधं ता रागद्वेषाच्चरन्ति ।
इति नियममथातो योगसूक्ष्मादिकं च
वदनवितथवाची प्रीयतां नेत्रनाथः ॥

पर सूक्ष्म आदि के योग से मुद्रितों को भी जो लीला से उन्मुद्रित करते हैं ऐसे शङ्कर के पराद्वैत नेत्र को हम नमस्कार करते हैं ।

पूर्वोक्त की संगति को कहते हुए भावी अधिकार के विषय का अवतरण करने के लिये देवी ने कहा—

हे भगवन् ! जो मैंने पूछा आपने उस सब का उत्तर दे दिया । अब जो संशय मेरे हृदय में स्थित है (उसका समाधान) सुनना चाहती हूँ । जो ये बलवत्तर योगिनियाँ मातायें और शाकिनियाँ हैं वे किस प्रकार परपुर

कस्माच्च निर्घृणा रौद्राः किं वा तासां प्रयोजनम् ।
एतत्सर्वमशेषेण भगवन् वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

श्रोतुमिच्छामीति देवी प्रश्नवाक्यार्थनिर्णयमधिगन्तुमिच्छति । कथमिति, कस्मादिति, किं वेत्युक्तिभिः प्रकारहेतुप्रयोजनविषयां जिज्ञासां स्फुटयति ॥ ३ ॥

एतन्निर्णयाय श्रीभगवानुवाच—

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि रहस्यं परमाद्भुतम् ।
यथा प्राणाञ्जिघांसन्ति पशूनां पतिशासनात्॥ ४ ॥
रागद्वेषविमुक्तास्ता लोभमोहविवर्जिताः ।
यागार्थं देवदेवस्य पशून् वै प्रोक्षयन्ति ताः ॥ ५ ॥
न लोभेन न हिंसार्थं न चैव हि जिघांसया ।
महाभैरवदेवस्य शासनं पालयन्ति ताः ॥ ६ ॥
तदर्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ।
पशवः पतियागार्थमुपयुक्ता न चान्यथा ॥ ७ ॥

पतिशासनादिति तदाश्रित्य । एवं कस्मादिति हेतुः, यागार्थमित्यनेन च प्रयोजनं निर्णीतम् । लोभमोह इत्यादिना निर्घृणत्वं प्रत्युक्तम् । प्रोक्षयन्ति

(= दूसरों के शरीर) से प्राणों को खींच लेती हैं ? वे किस कारण निर्घृण और रौद्र हैं? उनका (प्राणाकर्षण का) प्रयोजन क्या है—यह सब पूर्णरूप से बतलाइये ॥ १-३ ॥

'श्रोतुम् इच्छामि'—इससे देवी प्रश्नवाक्यार्थ का निर्णय जानना चाहती है । 'कथम्' से प्रकार, 'कस्मात्' से कारण और 'किं वा' से प्रयोजन की जिज्ञासा को स्पष्ट करते हैं ॥ ३ ॥

इसका उत्तर देने के लिये भगवान् ने कहा—

हे देवि ! परम अद्भुत रहस्य को सुनो कि ये योगिनियाँ आदि परमेश्वर की आज्ञा से पशुओं के प्राणों को क्यों हरना चाहती हैं । वे राग द्वेष लोभ मोह से रहित हैं । देवाधिदेव की पूजा के लिये वे पशुओं का प्रोक्षण करती हैं । न लोभ से न हिंसा के लिये न जिघांसा से वे ऐसा करती हैं । वे महाभैरव देव की आज्ञा का पालन करती हैं । इसीके लिये स्वयंभू परमेश्वर ने पशुओं की सृष्टि की । पशु पति के याग के लिये उपयोग में लाये जाते हैं अन्य प्रयोजन के लिये नहीं ॥ ४-७ ॥

पति के शासन के कारण = उसके आधार पर । 'कस्मात्' कारण को बतलाता है । याग के लिये—यह वाक्य प्रयोजन बतलाता है । लोभ-मोह इत्यादि कथन के द्वारा उनके निर्घृण होने का खण्डन किया गया । प्रोक्षण करती हैं =

उपहाराय योजयन्ति । हिंसार्थमुपद्रवाय । तदर्थमिति यागाय । स्वयमेवेत्यनेन पतिशासनादित्युक्तिः प्रमाणीकृता । न चेति च एवार्थे ॥ ७ ॥

अतश्च ताः—

एषामनुग्रहार्थाय पशूनां तु वरानने ।
मोचयन्ति च पापेभ्यः पापौघांश्छेदयन्ति तान्॥ ८ ॥

अनुग्रहो मुक्तिः । तान् पशून् ॥

यत एवम्, ततः—

पशूनामुपयुक्तानां नित्यमूर्ध्वगतिर्भवेत् ।

ऊर्ध्वगतिः शुद्धविद्यादिपदसृष्टिर्मुक्तिर्वा ॥

पूर्वोक्ताश्च देव्यः—

त्रिविधेन तु योगेन योजयन्ति शिवाज्ञया॥ ९ ॥
परेणैव हि सूक्ष्मेण स्थूलेन त्रितयेन तु ।
योजयन्ति............

उपहरन्ति ॥

उपहार के लिये नियुक्त करती हैं । हिंसा = उपद्रव । उसके लिये = याग के लिये । स्वयमेव—इस कथन से 'पतिशासनात्' यह उक्ति प्रमाणित की गयी । 'न च' में 'च' एव अर्थ में हैं ॥ ७ ॥

इसलिये—

हे वरानने ! वे इन पशुओं के अनुग्रह के लिये उनके पापों को काटती हैं और उनको पापों से मुक्त करती हैं ॥ ८ ॥

अनुग्रह = मुक्ति । उनको = पशुओं को ॥

चूँकि ऐसा है इसलिये—

(योगिनी आदि के द्वारा) उपयुक्त पशुरूप जीवों की सदा ऊर्ध्वगति होती है ॥ ९- ॥

ऊर्ध्वगति = शुद्धविद्या आदि तत्त्वों में सृष्टि अथवा मुक्ति ॥

पूर्वोक्त देवियाँ—

शिव की आज्ञा से (पशुओं को) पर सूक्ष्म और स्थूल इन तीन प्रकार के योगों से युक्त करती हैं ॥ -९-१०- ॥

युक्त करती हैं = उपहृत करती हैं ॥

यतश्चैवं योगिन्यः पशून् योजयन्ति, ततः—

.........न चैवात्र घातयन्ति बलेन ताः ॥ १० ॥

तत्र परयोगं तावद् वक्तुमुपक्रमते—

परः सर्वात्मकोऽनन्तो निष्क्रियो निर्मलस्तु यः ।
व्यापकः परमेशानः सर्वकारणकारणम् ॥ ११ ॥
सर्वभूतान्तरावस्थः सर्वानुग्रहकारकः ।

सर्वात्मको विश्वाभेदिपराद्वैतरूपः । अनन्तः कालानवच्छिन्नः । निष्क्रियः सक्रमक्रियाशून्यः स्फुरत्तात्मा, अक्रमक्रियाशक्त्या तु नित्ययुक्तः । निष्क्रान्तो मलो यस्मात्, स एव हि स्वरूपगोपनया मलोल्लासकृद् मलास्पृष्टश्च । व्यापको देशेन असंकुचितः । परमेशानः स्वतन्त्रः । अत एव सर्वेषां ब्रह्मादिकारणानां कारणम्, अन्तरावस्थः प्रकाशविमर्शात्महृद्रूपः तदुक्तं गीतासु—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्येष वसतेऽर्जुन'[१]—(१८।६१) इति ।

एष एव च स्वाभेदप्रथात्मानं सर्वेषामनुग्रहं करोति ॥

तादृशे—

चूँकि योगिनियाँ पशुओं को उस प्रकार योजित करती हैं—

(इसलिये यह नहीं समझना चाहिये कि) वे पशुओं का बलपूर्वक घात करती हैं ॥ -१० ॥

परयोग को स्पष्ट करने का उपक्रम करते हैं—

जो सर्वात्मक अनन्त निष्क्रिय और निर्मल है साथ ही व्यापक परम ईश्वर सब कारणों का कारण समस्त भूतों के अन्दर स्थित और सबका अनुग्रह करने वाला है वही पर तत्त्व है ॥ ११-१२- ॥

सर्वात्मक = विश्व से अभिन्न पर अद्वैतरूप । अनन्त = काल की सीमा से परे । निष्क्रिय = सक्रम क्रिया से शून्य, स्फुरत्ता रूप किन्तु अक्रम क्रिया से नित्ययुक्त । (निर्मल =) जिससे मल समाप्त हो चुका है, वही अपने रूप को छिपाकर मलयुक्त होता है और फिर मल से अस्पृष्ट (= रहित) होता है । व्यापक = देश की सीमा से परे । परम ईश्वर = स्वतन्त्र । इसीलिये (सृष्टि आदि के) कारणभूत ब्रह्मा आदि का भी कारण है । अन्तरावस्थ = प्रकाशविमर्शात्मक हृदय रूप । वही गीता में कहा गया है—

'हे अर्जुन ! ईश्वर समस्त प्राणियों के हृद्प्रदेश में रहता है ।' (१८-६१)

यही सबका अपने से अभिन्न प्रथा रूप अनुग्रह करता है ॥

---

१. हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

तस्मिन्नेव नियुक्तास्ता निर्मला विगतक्लमाः ॥ १२ ॥
एकीभावमनुप्राप्य न वियुक्ताः कथंचन ।

निःशेषेण युक्ताः समाविष्टाः, अतश्च परमानन्दलाभाद् विगतो देहप्राणाद्याश्रयः क्लमो यासाम्, अतश्च तदभिन्नाः ॥

तच्छक्तौ तु विलीनास्ता इच्छारूपेण संस्थिताः ॥ १३ ॥
ज्ञानोत्कर्षाः क्रियावस्था यागयोगावधूतिकाः ।

इच्छारूपेणेत्यविकल्पसंवित्स्फारेण, ज्ञानोत्कर्षाः क्रियावस्था ज्ञानेद्धाः क्रियास्फारनिष्ठाः । यागः परमेशाय पशुनिवेदनम्, योगः परमेशैक्यापत्तिः, ताभ्याम-वहतं धूतं कम्पो यासां तास्तथा निश्चलतदैक्यमय्यः ॥

तदित्थं ताः—

तद्भावं तु समास्थाय तद्रूपं योजयन्ति यान् ॥ १४ ॥
ते मुक्ताः शिवभूतास्तु शिवशक्त्या शिवेरिताः ।
निर्मलाः शिवरूपास्तु तत्प्रभावाद् भवन्ति च ॥ १५ ॥

उसी प्रकार से

उस परमेश्वर से नियुक्त वे (= योगिनियाँ) निर्मल एवं क्लम से रहित होती हुई (उस परमेश्वर के साथ) ऐकात्म्य को प्राप्त कर कभी भी उससे वियुक्त नहीं होतीं ॥ -१२-१३- ॥

(नियुक्त =) निःशेषेण युक्त अर्थात् समाविष्ट । इसलिये परम आनन्द को प्राप्त करने के कारण उनका देह प्राण आदि का आश्रयण रूप क्लम नष्ट हो जाता है इसलिये वे उस (परमेश्वर) से अभिन्न हो जाती हैं ॥

उस (= परमेश्वर) की शक्ति में विलीन हुई वे (उसकी) इच्छा के रूप में स्थित रहती हैं । वे ही ज्ञान के उत्कर्ष वाली होकर क्रियावस्था को प्राप्त होती हैं और याग एवं योग के द्वारा अवधूतिका होती हैं ॥ -१३-१४- ॥

इच्छारूप से = निर्विकल्पकसंवित्स्फार के द्वारा । ज्ञानोत्कर्ष = ज्ञान से प्रदीप्त । क्रियावस्था = क्रिया में लगी हुई । (यागयोगावधूतिका =) याग = परमेश्वर के लिये पशु का निवेदन । योग = परमेश्वर के साथ ऐक्य होना । उन दोनों के द्वारा जिनका धूत = कम्पन, अवहत (= नष्ट) हो गया है अर्थात् परमेश्वर के साथ स्थिर ऐक्य वाली ॥

तो इस प्रकार वे—

उस (= शिव) भाव को प्राप्त कर जिन (पशुओं) को उस (शिव) रूप से युक्त करती हैं वे शिव से प्रेरित शिवशक्ति के द्वारा मुक्त होकर

तद्रूपाः सत्योऽर्थात् तत्रैव यान् योजयन्ति, ते तासां योगिनीनां प्रभावात् शिवशक्त्या शिवेनेरिताः प्रेरिताः शिवभूताः प्राप्तनिर्मलशिवैकरूपा भवन्ति ॥१५॥

अतश्च—

यथा योगेन दीक्षायां शिवत्वमुपलभ्यते ।

देहस्थितैरेव दीक्षितैः ॥

तथा वै योगियोगेन शिवत्वमुपयान्ति ते ॥ १६ ॥

योगिनीनां योगेन चण्डीशस्वरूपकरणेन ॥

एवं हि—

अत्यन्तमलिनस्यास्य पूर्वोक्तस्याधिकारिणः ।
मलप्रध्वस्तरूपस्य नैर्मल्यं व्यञ्जयन्ति ताः ॥ १७ ॥

न केवलं मलिनस्य यावद् मलैः प्रध्वस्तं कुत्सिभोगेष्वापातितं रूपं यस्य तादृशः, अधिकारिणो देहिनो नैर्मल्यं ज्ञानक्रियाशक्त्यात्मतां च ॥ १७ ॥

एताश्च देव्यः—

शिव हो जाते हैं । उन (योगिनियों) के प्रभाव से वे निर्मल और शिवरूप हो जाते हैं ॥ -१४-१५ ॥

तद्रूप होती हुई वे जिनको उनमें जोड़ती हैं वे (जीव) उन योगिनियों के प्रभाव से शिवशक्ति के द्वारा शिव से प्रेरित होकर शिव बन जाते हैं अर्थात् नैर्मल्य को प्राप्त कर शिव रूप हो जाते हैं ॥ १५ ॥

इसलिये—

जिस प्रकार इस देह में दीक्षित लोग दीक्षा होने पर योगी के योग के द्वारा शिवत्व को प्राप्त करते हैं उसी प्रकार वे शिवत्व को प्राप्त करते हैं ॥ १६ ॥

योगि = योगिनी के योग अर्थात् चण्डीशरूप होने से

इस प्रकार—

अत्यन्त मलिन एवं मलों के द्वारा नष्टस्वरूप वाले इस पूर्वोक्त अधिकारी की निर्मलता को वे (देवियाँ) व्यक्त करती हैं ॥ १७ ॥

केवल मलिन ही नहीं बल्कि मल के द्वारा प्रध्वस्त = घृणित भोगों में आपतित रूप वाले, अधिकारी = देही (= जीव) की निर्मलता = ज्ञानक्रिया-शक्तिरूपता को (वे व्यक्त करती हैं) ॥ १७ ॥

मूलच्छेदेन तेषां हि जिघांसन्ति मलत्रयम्।

अतश्च—

मलत्रयवियुक्तस्य शरीरं न प्ररोहति ॥ १८ ॥

तदित्थम्—

दीपवद्योजनं तस्य पशोर्नैव हि घातनम् ।

परयोगिन्यो हि—

व्यापकेन स्वरूपेण स्वशक्तिविभवेन च ॥ १९ ॥
त्रोटयन्ति पशोः पाशान् शरीरं येन नश्यति ।
शरीरेण प्रनष्टेन मोक्षणं नहि मारणम् ॥ २० ॥

व्यापकेन शिवात्मना । स्वशक्तिविभवेन शाक्तेन । येनेति त्रोटनेन ॥ २० ॥

यदीदृग् मरणं न, कीदृक् तर्हि तदित्याह—

ये देवियाँ—

उन (पशुरूप जीवों) के तीनों मलों को समूल नष्ट कर देती हैं ॥ १८- ॥

इसलिये—

तीनों मलों से वियुक्त आत्मा का शरीर फिर उत्पन्न नहीं होता (अर्थात् नये शरीर से सम्बन्ध नहीं होता) ॥ -१८ ॥

तो इस प्रकार—

(इन देवियों से आक्रान्त) पशु का घात नहीं होता बल्कि दीप के समान योजन होता है । (जैसे तेल बत्ती से युक्त पात्र को दूसरे दीप के साथ जोड़ देने पर यह पात्र भी दीप की तरह प्रकाशित होने और प्रकाश करने लगता है उसी प्रकार यह पशु देवियों के द्वारा हिंसित होकर परम चित्स्वरूप वाला हो जाता है) ॥ १९- ॥

परयोगिनियाँ—

अपने व्यापक स्वरूप एवं स्वशक्ति के वैभव के द्वारा पशु के पाशों को तोड़ देती हैं जिससे शरीर नष्ट हो जाता है । शरीर के नष्ट होने पर (जीव का) मोक्ष होता है न कि मारण ॥ -१९-२० ॥

व्यापक = शिवात्मक । उनका अपना शक्तिविभव शाक्त होता है । जिससे = (पाशों के) तोड़ने से ॥ २० ॥

दृढप्ररुढपाशस्य बद्धस्य पुरुषस्य यः।
वियोगस्तु शरीरेण मरणं तद्विदुर्बुधाः ॥ २१ ॥

उपसंहरति—

एवं परः प्रकाशस्तु..........

शाम्भवपदे विश्रान्तिप्रबोधेन योग उक्तः ॥

................सूक्ष्मश्चैवाधुनोच्यते।

तमाह—

सूक्ष्मं शक्तिमयं ज्ञानं ज्ञानशक्त्या तु गम्यते ॥ २२ ॥
अरावरावराविण्या ध्वनिभावानुसारकम्।

शक्तिमयं चित्स्फुरत्ताप्रधानम्, न तु प्राग्वत् शाम्भवप्रकाशविश्रान्त्यात्म, ज्ञानशक्त्या देहादिप्रमातृताप्रशमनोन्मग्नसंविदा गम्यते प्राप्यते। कीदृश्या ?—न विद्यते रावो मन्त्रविशेषोच्चारध्वनिर्यस्य तादृग् यो रावः सहजो नादामर्शस्तेन राविण्या प्रोन्मिषत्पराहंविमर्शरूपया। कीदृशं ज्ञानम् ?—इत्याह—ध्वनेर्नादामर्शस्य भावः सत्ता, तदनुसरणं तन्मयीभावं प्राप्तम् ॥

यदि यह मरण नहीं है तो फिर वह (= मरण) कैसा होता है ?—यह कहते हैं—

दृढ़ एवं प्ररूढ़ पाश वाले बद्ध पुरुष का शरीर से जो वियोग होता है विद्वान् लोग उसको मरण समझते हैं ॥ २१ ॥

इसका उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार परप्रकाश ॥ २२- ॥

शाम्भवपद में विश्रान्ति के प्रबोध से परयोग कहा गया ॥

अब सूक्ष्म योग कहा जा रहा है ॥ -२२- ॥

बिना उच्चारण के ध्वनि करने वाली ज्ञानशक्ति के द्वारा ध्वनिभावानुसारी सूक्ष्म एवं शक्तिमय ज्ञान प्राप्त किया जाता हैं ॥ -२२-२३- ॥

शक्तिमय = चित्स्फुरत्ता वाला न कि शाम्भव प्रकाश की विश्रान्ति रूप। (यह ज्ञान) ज्ञानशक्ति अर्थात् देह आदि की प्रमातृता के नष्ट होने से प्रकट संवित् के द्वारा प्राप्त किया जाता है। यह ज्ञानशक्ति कैसी है—यह बतलाते हैं—जिसमें राव = मन्त्रविशेष के उच्चारण की ध्वनि, नहीं है ऐसे अराव वाला राव = सहज नाद का आमर्श, उसके राविणी = प्रोन्मिषत् पर अहंविमर्शरूपा है। वह ज्ञान कैसा है—यह बतलाते हैं—ध्वनि = नादामर्श, का भाव = सत्ता, उसके अनुसरण =

एतच्च—

सिद्धानां सिद्धिदं ज्ञानं खेचर्यः पर्युपासते ॥ २३ ॥

सिद्धाः श्रीखगेन्द्राद्याः, खेचर्यः संविद्गगनचारिण्यो देव्यः । परितः समन्तादुपासते तन्मयत्वेन स्फुरन्ति ॥ २३ ॥

यद्यपि शाक्तं ज्ञानं सर्वेषां भित्तिः, तथापि—

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं पशूनां समलं स्थितम् ।

अज्ञानं मायाशक्तिकृतमात्मन्यनात्मताप्रतिपत्तिपुरःसरमनात्मनि देहादावात्माभिमानात्म ॥

यत एवमतो योगाभ्यासप्रबुद्धेन निजेन—

निर्मलेन तु ता देव्या ज्ञानेनाभिभवन्ति तत् ॥ २४ ॥

एवं च—

यथा प्रबुद्धः सुप्तेन क्रीडते च यतस्ततः ।
मदिरासवपानेन यथैवोन्मादितः क्वचित् ॥ २५ ॥

तन्मयीभाव, को प्राप्त है ॥

सिद्धों के लिये सिद्धिप्रद इस ज्ञान को खेचरी देवियाँ प्राप्त की होती हैं ॥ -२३ ॥

सिद्ध = गरुड़ आदि, खेचरियाँ = संविद्गगन में विचरण करने वाली देवियाँ । उपासना करती हैं = तन्मय होकर स्फुरित होती हैं ॥ २३ ॥

यद्यपि शाक्त ज्ञान सबकी भित्ति (= आधार) है तथापि—

यह ज्ञान जब अज्ञान से आवृत हो जाता है तो पशुओं में मल के रूप में स्थित रहता है ॥ २४- ॥

यह अज्ञान माया की शक्ति के द्वारा बनाया हुआ (है यह) आत्मा के विषय में अनात्मा और अनात्मा = देह आदि में आत्मा स्वरूप होता है ॥

चूँकि ऐसा है इसलिये योगाभ्यास से प्रबुद्ध—

अपने निर्मल ज्ञान के द्वारा इस अज्ञान को वे देवियाँ अभिभूत कर देती हैं ॥ -२४ ॥

जैसे स्वप्न में जागा हुआ व्यक्ति सुप्त व्यक्ति के साथ इधर-उधर खेलता है; जैसा मदिरा (= मादक वस्तुओं का क्वाथ बनाकर भाप द्वारा तैयार किया गया उन्मादक द्रव) आसव (= मादक पदार्थों = महुआ,

क्रीडते ह्यस्वतन्त्रत्वाद् बालो वा भ्राम्यति क्वचित्।
उन्मत्तो वाप्रमत्तेन प्रेर्यते पशवस्तथा ॥ २६ ॥
मातृभिर्गुह्यकैः शक्त्या स्वेन योगबलेन तु ।

तथेत्यत्र प्रेर्यन्त इति वचनपरिणामाद् योज्यम् । गुह्यका यक्षा भूतग्रहाद्युपलक्षकाः । शक्त्या स्वसामर्थ्येन ॥

अतश्च तैः—

जीव आकृष्यते क्षिप्रं पशूनां योगवीर्यतः ॥ २७ ॥

एतदेव स्फुटयति—

यत्तत्परममव्यक्तं शाश्वतं ह्यचलं ध्रुवम् ।
तत्प्राप्य योगमार्गेण प्रविश्य परदेहतः ॥ २८ ॥
परो भूत्वा स्वशक्त्या तु जीवं जीवेन वेष्टयेत् ।

यत्तदित्यादि प्राग्वत् । तत्प्राप्य परं चिन्मयं बलं समाविश्य योगमार्गेणेति

गुड़, जौ आदि) को पानी के साथ मिलाकर भूमि में गाड़ देने तथा छह महीने, एक साल या अधिक समय में निकाला गया उन्मादक द्रव्य) के द्वारा कोई उन्मादित हो जाता है अथवा जैसे बालक परतन्त्र होने के कारण क्रीड़ा करता या इधर-उधर घूमता है अथवा अप्रमत्त के द्वारा उन्मत्त इधर-उधर प्रेरित किया जाता है उसी प्रकार माताओं गुह्यकों के द्वारा अपने सामर्थ्य या योगबल से पशु (= जीव) भी प्रेरित किये जाते हैं ॥ २५-२७- ॥

तथा के बाद प्रेर्यते का विमर्श होने पर प्रेर्यते के स्थान पर प्रेर्यन्ते ऐसा वचन परिणाम अर्थात् एकवचन की जगह बहुवचन समझना चाहिये । गुह्यक = यक्ष । यह पद भूतों एवं ग्रहों का भी सूचक है । शक्ति = सामर्थ्य ॥

इसलिये उनके द्वारा—

योग की शक्ति से पशुओं का जीव शीघ्रता से खींच लिया जाता है ॥ -२७ ॥

इसी को स्पष्ट करते हैं—

जो वह परम अव्यक्त शाश्वत अचल और ध्रुव (चिन्मय तत्त्व) है, योगी उसे प्राप्त कर योगमार्ग से दूसरे के देह (= हृदय) में प्रवेश कर पर देह के साथ पर होकर अपनी शक्ति के द्वारा दूसरे के जीव को अपने जीव से वेष्टित करे ॥ २८-२९- ॥

तत्त्वार्थचिन्तामणिप्रदर्शितागमिकगोलकाभ्यासासादितसमस्ततद्रसोपलम्भः स्वदेह एवाविकासस्थित्या प्राणाकर्षापकर्षाभ्यामस्वतन्त्रीकृतप्राणबलो योगी पादशाखाब्रह्म-रन्ध्रत एकतरेण पथा गोलकस्थित्यैव परहृदयं प्रविश्य परो भूत्वेति—

'सञ्चारो वायुतत्त्वस्थो वायुतत्त्वं च बुद्धिगम्।
अहङ्कारगता बुद्धिः स चित्तत्त्वं समाश्रितः॥'

इत्याम्नायदृष्ट्या परत्राहंप्रतीतिदार्ढ्ये मात्राशतं स्थित्वा प्राणक्षोभेण तं क्षोभयित्वा स्वेन्द्रियशक्तिभिस्तदिन्द्रियाक्रमणपूर्वमात्मशक्तिस्वीकृतस्य परस्य शरीरं स्वपरिस्पन्दप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रमेणात्मशरीरीकृत्य जीवं परपुर्यष्टकं, जीवेन स्वपुर्यष्टकेन, स्वशक्त्येति प्रोन्मिषितशाक्तबलेन स्वप्राणेन वेष्टयेदाक्रमेत्॥

तदित्थम्—

आक्रम्य तं हृदिस्थं वै अध ऊर्ध्वप्रवेशतः॥ २९॥
एकीभावं समासाद्य समत्वं तत्र चाभ्यसेत्।
परं कारणमाश्रित्य स्वतन्त्रत्वं तदाभ्यसेत्॥ ३०॥

जो पूर्वोक्त तत्त्व है उसे प्राप्त कर = पर चिन्मय बल से समाविष्ट होकर। योगमार्ग के द्वारा = तत्त्वार्थचिन्तामणि नामक ग्रन्थ में बतलाये हुए आगामिक गोलक के अभ्यास से समस्त उस रस को प्राप्त कर अपने ही देह में अविकास की स्थिति के द्वारा प्राण के आकर्षण अपकर्षण से प्राणबल को परतन्त्र बनाकर योगी पाद (= पैर के अंगूठे) से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक एक रास्ते (= नाड़ी) से गोलक की स्थिति से ही दूसरे के हृदय में प्रवेश कर दूसरा बन कर—

'सञ्चार वायुतत्त्व में रहता है, वायुतत्त्व बुद्धि में, बुद्धि अहङ्कार में और वह चित् तत्त्व में रहता है।'

इस आम्नाय के सिद्धान्त के अनुसार दूसरे के अन्दर 'मैं हूँ' इस प्रतीति के दृढ़ होने पर शत प्रतिशत स्थित होकर प्राण के क्षोभ से उस दूसरे व्यक्ति को क्षुब्ध कर अर्थात् अपनी इन्द्रियों की शक्तियों से उसकी इन्द्रियों को आक्रान्त कर, उसके शरीर को अपनी शक्ति के अधीन कर लेता है। इस प्रकार अपने परिस्पन्द की प्रवृत्ति-निवृत्ति के क्रम से उसका शरीर नियन्त्रित हो जाता है। फिर उसके जीव = पुर्यष्टक, को अपने जीव = पुर्यष्टक, के द्वारा अपनी शक्ति अर्थात् अपने द्वारा उत्पन्न शाक्तबल वाले अपने प्राण से, वेष्टित करे = आक्रान्त करे॥

तो इस प्रकार—

(आचार्य) हृदय में स्थित उस (जीव) को आक्रान्त कर अधः एवं ऊर्ध्व प्रवेश के द्वारा उसके साथ (अपने जीव को) एक बनाकर वहाँ समानता का अभ्यास करे। उसके बाद परकारण का आश्रयण कर स्वतन्त्रता का अभ्यास करे॥ -२९-३०॥

परं कारणं शाक्तं बलमाश्रित्य तद्ग्रहेणावष्टभ्य । तत्र चेति परं प्रेरयति यदेवाहं करोमि, तदेवायं करोत्वितीदृशं समभ्यस्यन् तेन सह ऐक्यमासाद्य स्वतन्त्रत्वमभ्यसेदिति जिगमिषुं निरोधयेत् तिष्ठन्तं गमयेदिति क्रमेण तं स्वचेष्टावशगं कुर्यात् । तदेतदुक्तं गुरुभिः—

'तत्स्थ अश्नीयात् पिबेद् गच्छेत्तिष्ठेत्सुप्यात् तावद्यावत्समासादितसकलचेष्टाफलः स योगी संपद्यते ततस्तमानयेद्विसृजेन्मोहयेदुन्मीलयेदापूरयेद्विशिष्टं वा स्थानं प्रापयेत् ।'

इत्यादि ॥ ३० ॥

अथ—

व्यापकेन स्वरूपेण शक्त्या शक्तिं तु दारयेत् ।

समावेशबलाद् वीर्यभूतां व्यापकतामास्थाय स्वशक्त्या तत्प्राणशक्तिं दारयेत् छेदार्थमाक्षिपेत् ॥

तदेतत्संपुटीकृत्य शक्तिच्छेदं तु कारयेत् ॥ ३१ ॥

पर कारण = शाक्त बल, का आश्रयण कर अर्थात् उसकी पकड़ से स्थिर होकर । योगी वहाँ—उस दूसरे व्यक्ति को प्रेरित करता है कि 'जो मैं करता हूँ वही यह भी करे'—इस प्रकार का अभ्यास करता हुआ उसके साथ एकता को प्राप्त कर फिर स्वतन्त्रता का अभ्यास करे अर्थात् जाने वाले उसको रोके, रुके हुए उसको जाने के लिये प्रेरित करे—इस क्रम से उसे अपनी चेष्टा के वशीभूत करे । वही गुरुओं ने कहा है—

'उसके (= साध्य व्यक्ति के) (शरीर-हृदय) में स्थित होकर (पहले उसके = साध्य के अनुसार) खाये, पीये, जाये बैठे, सोये ! यह कार्य तब तक करे जब तक कि वह योगी उसकी समस्त चेष्टाओं को प्राप्त न कर ले । उसके बाद (अपनी इच्छानुसार) उसे बुलाये, वापस भेजे, मोहित करे उन्मीलित करे (= जगाये) आपूरित करे (= सुलाये) अथवा विशिष्ट स्थान को पहुँचाये ॥' इत्यादि ॥ ३० ॥

इसके बाद—

अपने व्यापक स्वरूप में स्थित होकर अपनी शक्ति से उसकी शक्ति को छिन्नभिन्न कर दे ॥ ३१- ॥

समावेश के बल से वीर्यभूत व्यापकता में स्थित होकर अपनी शक्ति के द्वारा उस जीव की प्राणशक्ति को विदीर्ण कर दे = विच्छिन्न करने के लिये आक्षिप्त करे ॥

उसको इसके द्वारा सम्पुटित कर शक्तिच्छेद कर दे ॥ -३१ ॥

तया स्वशक्त्या सर्वतो वलित्वा परप्राणशक्तिं च्छुरिकाप्रयोगेण च्छिन्द्यादित्यर्थः ॥ ३१ ॥

शक्तिरूपं ततो देवि सत्त्वमास्थाय योगवित् ।
स्वसत्त्वसत्तारूपेण चित्सूर्यत्वेन तापयेत् ॥ ३२ ॥
द्रावयेत्तु परस्थो हि रश्मीन् रश्मिभिरर्कवत् ।

शक्तिरूपं प्राणशक्तिप्रधानं सत्त्वं परजीवमास्थाय स्वीकृत्य योगी स्वसत्त्वस्य संबन्धिना शाक्तस्फुरत्तात्मसत्तारूपेण कारणेन, चित्सूर्यत्वेनेति चैतन्यार्करूपितया, सन्तापितं कुर्यात् । ततस्तदीयान् चक्षुरादिरश्मीन् परे तत्रैव परदेहे, स्थितः सन् दीप्तैः स्वैश्चक्षुरादिभि रश्मिभिः सूर्य इव सोमरश्मीन् द्रावयेद् विलापयेत् ॥

तत्रापि योगबलात्—

योजयेद् हृदये सर्वान् शब्दादीनिन्द्रियाणि च ॥ ३३ ॥
भूतानि रसभूतानि गुणानेव हि सर्वतः ।
अन्तःकरणसङ्घातं............

परसंबन्धीनि विषयभूतबहिरन्तःकरणानि प्रोक्तविलापनतो रसभूतानि द्रुतत्व-

---

उस अपनी शक्ति के द्वारा दूसरे की प्राणशक्ति को चारो ओर से घेर कर छुरिका के प्रयोग से उसे काट दे ॥ ३१ ॥

हे देवि ! इसके बाद योगवेत्ता विद्वान् शक्तिस्वरूप दूसरे के सत्त्व अर्थात् जीव को स्वीकृत कर अपने सत्त्व की सत्ता रूप चित् सूर्य से (उस पर जीव) को तापित करे । और पर अर्थात्—दूसरे की देह में स्थित वह योगी (उस साध्य की इन्द्रिय रूपी) रश्मियों को उसी प्रकार द्रावित करे जैसे कि सूर्य अपनी रश्मियों से (चन्द्रमा की किरणों को द्रावित करता है) ॥ ३२-३३- ॥

शक्तिरूप = प्राणशक्तिप्रधान । सत्त्व = दूसरे जीव को, आस्थाय = स्वीकार करके, योगी अपने सत्त्व से सम्बद्ध शाक्त स्फुरत्तावाले कारणभूत चित्सूर्य के द्वारा = चैतन्यरूपी सूर्य के द्वारा, सन्तापित करे । इसके बाद उसी दूसरे के शरीर में स्थित होते हुए उस पर जीव की चक्षु आदि रश्मियों (= इन्द्रियों) को अपनी दीप्त चक्षु आदि रश्मियों के द्वारा उसी प्रकार विलापित कर दे जैसे कि सूर्य अपनी रश्मियों के द्वारा चन्द्रकिरणों को द्रावित करता है ॥

योग के बल से फिर—

उसके सब शब्द आदि विषयों, इन्द्रियों, भूतों गुणों और अन्तःकरणसमूह को, जो कि द्रावण के कारण रसस्वरूप हो गये हैं, उसी के हृदय अर्थात् आत्मा में एकरूप अर्थात् मिश्रित कर दे ॥ ३३-३४- ॥

माप्तानि सर्वाणि योजयेदात्मन्येकीकुर्यात् ॥

अथ—

............गृहीत्वा तत्स्वचेतसा ॥ ३४ ॥
प्रविशेत्तु तदा योगी पुरमाक्रम्य सर्वतः ।
द्रुतं गृहीतं तत्सर्वं क्षिप्रमात्मस्थमानयेत् ॥ ३५ ॥

तदिति पूर्वोक्तं सर्वं गृहीत्वा, आगमोक्तदृष्ट्या साध्यस्य मूर्धद्वारेण निष्क्रम्य चेतसा पुरं शरीरं प्रविशेत् । ततस्तदाक्रम्य शक्त्याऽस्य यत् पूर्वं द्रुतं विलापितं संगृहीतम्, तत् सर्वं क्षिप्रमात्मनिष्ठं कुर्यात् ॥ ३५ ॥

तदित्थं योगी—

तत्क्षणादानयेज्जीवं मुद्रामन्त्रप्रयोगतः ।

मुद्राऽत्र प्रथमं स्वशरीरनिःसरणसमये करङ्किणी, तच्छरीराक्रमणे क्रोधना, तद्रश्म्यादिविलापने लेलिहाना, तत्पुराद् निःसरणे खेचरी, स्वहृत्प्राप्तौ भैरवी ।

पर सम्बन्धी समस्त रूप रस आदि विषय, पञ्चमहाभूत बाह्य एवं आभ्यन्तर करण जो कि उपर्युक्त विलापन के कारण द्रवस्वरूप हो गये हैं, को योजित करे अर्थात् आत्मा से एक कर दे ॥

इसके बाद—

उस, सब को लेकर योगी उसके अपने चित्त के साथ अपने स्वयं के शरीर में प्रवेश करे । तत्पश्चात् द्रुत और संगृहीत उस सबको शीघ्र ही अपनी आत्मा में समाहित कर ले ॥ -३४-३५ ॥

वह = पूर्वोक्त शब्द आदि सब को संगृहीत करके आगमोक्तविधि के अनुसार साध्य के मूर्धाद्वार से निकल कर, चित्त के साथ पुर = शरीर, में प्रवेश करे । उसके बाद शक्ति के द्वारा उस संगृहीत को आक्रान्त कर जो पूर्व द्रुत अर्थात् विलापित और संगृहीत (विषय) है, उस सब को शीघ्र ही आत्मसात् कर ले ॥ ३५ ॥

इस प्रकार योगी—

मुद्रा एवं मन्त्र के प्रयोग से उसी क्षण दूसरे जीव को आकृष्ट करता है ॥ ३६- ॥

(अब यहाँ मुद्राओं और मन्त्रों का परिचय देते हैं—)

योगी अपने शरीर से निकलने के समय करङ्किणी मुद्रा का, उस (= साध्य) के शरीर को आक्रान्त करने के समय क्रोधना, उस आक्रान्त (= साध्य) की रश्मि आदि के विलापन में लेलिहाना, उसके शरीर से (बाहर) निकलने में खेचरी, और

तद्बन्धसतत्त्वं श्रीविज्ञानभैरवोद्द्योतेऽस्माभिर्दर्शितम् । मन्त्रस्तु पञ्चपिण्डक्षुरिका-कालरात्र्यभिधानः श्रीगुप्ततन्त्रात् श्रीपूर्वादिदृष्टः । तत्प्रयोगाद् योगिन्यः क्षणात् परजीवमानयन्ति ॥

अतश्च—

अनेन विधिना सूक्ष्मं योगी योगं समभ्यसेत् ॥ ३६ ॥
तत्सर्वं प्राप्नुयात् क्षिप्रं सूक्ष्मयोगेन योगवित् ।

प्रथममुक्तदृशा योगमभ्यस्येत् ततो योगविदनेन सूक्ष्मेण योगेन तत्सर्वमिति जीवाकर्षणमागमोक्तं च तत्सिद्धिफलं क्षिप्रमाप्नोति ।

उपसंहरति—

सूक्ष्मयोगः समाख्यातः............

अथ—

...............स्थूलश्चैवाधुनोच्यते ॥ ३७ ॥

तमाह—

पिण्डस्थं तत्प्रयोगेण पिण्डमाकर्षयेद् ध्रुवम् ।

अपने हृदय में प्रवेश के लिये भैरवी मुद्रा का प्रयोग करता है । इन मुद्राबन्धों का स्वरूप मैंने विज्ञानभैरवोद्योत में स्पष्ट कर दिया है । मन्त्रों के नाम हैं—पञ्चपिण्ड, क्षुरिका, कालरात्रि । इनका वर्णन श्रीगुप्ततन्त्र एवं मालिनीविजय आदि में हैं । इनके प्रयोग से योगिनियाँ एक क्षण में परजीव का आकर्षण कर लेती हैं ॥

इस विधि के द्वारा योगी पहले सूक्ष्म योग का अभ्यास करे । बाद में योगवेत्ता होकर सूक्ष्म योग के द्वारा वह सब शीघ्र ही प्राप्त करता है ॥ -३६-३७- ॥

पहले उक्त रीति से योग का अभ्यास करे इसके बाद योगवेत्ता इस सूक्ष्मयोग से वह सब = जीवाकर्षण और आगमोक्त उसकी सिद्धिफल, को शीघ्र प्राप्त करता है ॥

इस प्रकार सूक्ष्म योग का व्याख्यान किया गया ॥ -३७- ॥

अब

स्थूल योग का कथन किया जा रहा है ॥ -३७ ॥

उसको कहते हैं—

उसके प्रयोग से पिण्डस्थ पिण्ड का निश्चित आकर्षण हो जाता है ॥ ३८- ॥

पिण्डस्थं स्थूलशरीरगतम्, पिण्डं पुर्यष्टकदेहम् तत्प्रयोगेणेति तत्तत्प्रतिकृतिकर्म विचित्रगरदानादियुक्त्या क्षुद्रया, आकर्षयेत् ॥

तथा—

मन्त्रमुद्राविधानेन विधिना पांसवेन च ॥ ३८ ॥
ध्यानयोगबलेनैव छुम्मकाद्यङ्गलक्षणैः ।
पातयन्ति न सन्देहः पशूनां पाशवं पुरम् ॥ ३९ ॥

तत्र मन्त्रविधानेन मारणं श्रीस्वच्छन्दे दर्शितम्—

'क्रोधराजनिरुद्धं तु श्मशानपटमध्यगम् ।
श्मशानधूलिना लेख्यं विषरक्तान्वितेन च ॥
यस्य नाम वरारोहे हुंफट्कारविदर्भितम् ।
मारयेति समायोगात् क्रूरजातिविदर्भितम् ॥
म्रियते सप्तरात्रेण यो रक्षाभिः सुरक्षितः ।' (९।६४।६६) इति ।

मुद्राविधानं तु व्योमकुण्डलिनीत्यादिमान्त्रसंप्रदायोपक्रमेण—

'बद्ध्वा सप्तशिखां मुद्रामाशिखान्तं हलाकृतिम् ।'

इत्यादिना,

पिण्डस्थ = स्थूलशरीर में वर्त्तमान । पिण्ड = पुर्यष्टक देह (सूक्ष्मशरीर जो कि पञ्चज्ञानेन्द्रिय एवं मन बुद्धि अहङ्कार इन आठ तत्त्वों से बना है) । इस प्रयोग से = तत्तत् प्रतिकृति (= प्रतीकार कर्म) जैसे विचित्र विषपान कराने जैसी क्षुद्र युक्ति के द्वारा, आकृष्ट करता है ॥

मन्त्र-मुद्रा के विधान, पांसव विधि, ध्यान योग के बल और छुम्मका आदि अङ्ग लक्षणों के द्वारा (योगिनियाँ) पशुओं के पाशव शरीर को मार डालती हैं—इससे सन्देह नहीं ॥ -३८-३९ ॥

मन्त्रविधान के द्वारा मारण को श्री स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया—

'हे वरारोहे ! श्मशान पट (कफन) के ऊपर विष (= लोहबान) एवं रक्त से मिश्रित श्मशान की राख से जिसका नाम क्रोधराज (= क्रूं) से सम्पुटित कर लिखे और वह नाम क्रूर (= :) और जाति (= ज) अर्थात् 'जः' से तथा 'हुंफट्' से युक्त एवं 'मारय' से जुड़ा हो (इस प्रकार मन्त्र का स्वरूप होगा क्रूं अमुकं क्रूं मारय जः हुं फट्) । ऐसा आदमी यदि रक्षाविधि से सुरक्षित भी हो तो भी सात रात्र में मर जाता है ।' (स्व० ९।६४-६६)

मुद्रा का विधान व्योमकुण्डलिनी इत्यादि मान्त्रसम्प्रदाय के उपक्रम के द्वारा—

शिखान्त (= ऊर्ध्व द्वादशान्त) तक हल की आकृति वाली सप्त शिखा मुद्रा का बन्धन कर—

'तदा ग्रसन्ति योगिन्यो रावं कृत्वा शिखान्तरे ।'

इत्यन्तेन श्रीगुप्ततन्त्रे प्रदर्शितम् । पांसवविधिरपि—

'सप्तम्यां कृष्णपक्षस्य प्रभाते लक्षयेत् सदा ।
कृतन्यासबला धीराधीरा वा योगिनी प्रिये ॥
प्रथमं निर्गता या तु नारी वा पुरुषोऽपि वा ।
वामदक्षिणहस्ताभ्यां वामदक्षिणपादयोः ॥
ग्राहयेत् पांसुमुद्धृत्य दक्षिणे पुरुषस्य च ।
अपसव्येन वामाया मल्लोके मारयेत् सदा ॥'

इत्यादिना तत्रैव दर्शितः । ज्ञानयोगबलं योगीश्वर्यात्मनिजमूर्त्यावेशाद् नाभ्युदयक्रमेण साध्यदेहस्थपञ्चामृताकर्षणसामर्थ्यम् । छुम्मकानि[१] आगमिक-पारिभाषिकनामानि, तद् यथा—

'शस्त्रं विभागजननम्' मांसं बलविवर्धनम्, कालेयकं कुसुमम्,
वसा मण्डम्, शिरो विचारः, शस्त्रहतो लब्धः ।'

इति, आदिनाऽन्येषां तत्तड्डाकिनीतन्त्रोक्तानामाचाराणाम् तैर्यान्यङ्गानामुपहारी-

यहाँ से प्रारम्भ कर—

'तब योगिनियाँ शिखा के बीच में शब्द कर (साध्य को) ग्रसित कर लेती हैं ।'

यहाँ तक श्रीगुप्ततन्त्र में दिखाया गया है ।

पाँसव विधि भी—

'हे प्रिये ! न्यास के द्वारा बल को प्राप्त धीरा या अधीरा योगिनी कृष्ण पक्ष की सप्तमी को प्रभात काल में ध्यान से देखे । जो नारी अथवा पुरुष (अनुष्ठान स्थल के सामने से) पहले निकले, अपने बाँये अथवा दाहिने हाथ से उसके बायें अथवा दायें पैर की धूल को ले ले । पुरुष के दायें पैर की और स्त्री के बायें पैर की धूल लेनी चाहिये । वह निश्चित मेरे लोक में मरता है ।'

इत्यादि के द्वारा वहीं दिखायी गयी है । ज्ञानयोगबल का अर्थ है—योगीश्वरीरूप अपनी मूर्त्ति के आवेश से नाभि में उदय के क्रम से अर्थात् नाभि से प्रारम्भ कर साध्यदेह में स्थित पञ्चामृत (= मल मूत्र रक्त मांस मेदा या मज्जा) के आकर्षण का सामर्थ्य । छुम्मका यह आगमसम्मत परिभाषिक नाम हैं, जैसे—

शस्त्र = विभाग करना । मांस = बलको बढ़ाना । कालेयक = कुसुम । वसा = मण्ड (माँड़) । शिर = विचार । शास्त्रहत = प्राप्त । आदि पद से भिन्न-भिन्न डाकिनी तन्त्र में उक्त आचारों का ग्रहण करना चाहिये । उन आचारों के द्वारा

१. स्वच्छन्दतन्त्रे पञ्चदशे पटले छुम्मकानि द्रष्टव्यानि ।

क्रियमाणानां लक्षणान्यङ्गनानि हठपशुयुक्त्याच्छेदास्तैः ॥

तदित्थम्—

त्रिविधेन तु योगेन योगिन्यो बलवत्तराः ।
जिघांसन्ति यदा देवि तदा श्रेयः समाचरेत्॥ ४० ॥

त्रिविधाद् योगादाद्यः प्रकारः पशोर्मुक्तिं ददातीति श्रुत्यैवोक्तः, द्वितीयतृतीयौ भोगमोक्षौ वितरत इत्यर्थलब्धौ । आम्नायान्तरेषु चैतदस्तीत्याशयेन योगेश्या भक्षितस्यागमेषु मृतोद्धारादिदीक्ष्यत्वमुच्यते ॥ ४० ॥

श्रेयः समाचारं दर्शयति—

मृत्युजित् परमं देवममृतं सर्वतोमुखम् ।
परेणैव स्वरूपेण व्यापकत्वेन मन्त्रवित् ॥ ४१ ॥
ज्ञात्वा तं परमं योगं मन्त्री व्याप्य पशोः पुरम् ।
इच्छाशक्त्या त्वधिष्ठाय पशूनां जीवितं शुभम्॥ ४२ ॥
संरक्षेद्योगविन्मन्त्री क्रमाज्ज्ञात्वा तु योगिनाम् ।
पूर्वोक्तानां तु सर्वेषां हिंसकानां यशस्विनि ॥ ४३ ॥

उपहृत किये जाने वाले अङ्गों के लक्षण अर्थात् चिह्न अर्थात् हठ पशुयुक्ति (= बलात् अङ्गच्छेद) के द्वारा काटना, उन कर्त्तन क्रियाओं के द्वारा (वे पशुओं को मार डालती हैं)।

तो इस प्रकार—

हे देवि ! बलवत्तर योगिनियाँ जब इन (= पर सूक्ष्मस्थूल) तीन प्रकार के योगों से लोगों को मारना चाहती है तब इस श्रेयःकार्य को करना चाहिये ॥ ४० ॥

तीन प्रकार के योगों में से जो प्रथम प्रकार (= परयोग) है वह पशु को मुक्ति देता है यह श्रुति के ही द्वारा कहा गया । (योग का) दूसरा और तीसरा प्रकार भोग और मोक्ष देता है यह अर्थात् समझना चाहिये । दूसरे शास्त्रों में यह (कहा गया) है—इस आशय से योगेशी के द्वारा भक्षित पशु की मृतोद्धारी दीक्षा आगमों में कही गयी है ॥ ४० ॥

हे यशस्विनि ! मन्त्रवेत्ता मृत्युञ्जय अमृत सर्वतोमुख (= सब के सब इष्ट साधन में समर्थ) परमदेव को पर एवं व्यापक रूप में जान कर उस परम योग का ज्ञान करे । फिर वह मन्त्री पशु के शरीर को व्याप्त कर अपनी इच्छाशक्ति के द्वारा पशु के शुभ जीवन की पूर्वोक्त सभी हिंसक योगिनियों से रक्षा करे ॥ ४१-४३ ॥

यथोक्तविशेषणविशिष्टं पूर्वनिर्णीतदृशा मृत्युजित्स्वरूपं मन्त्रविदिति सर्वमन्त्रचैतन्यरूपं ज्ञात्वा तथा पूर्वोक्तानां हिंसकानां योगिनीनामिति योगिन्यादीनां सर्वेषां संबन्धिनं तमिति पराशक्तिव्याप्त्या उक्तं परं योगं ज्ञात्वा मन्त्री मन्त्रवीर्यज्ञो योगवित्परेणैव स्वरूपेणेत्युक्तपरध्यानेन पशूनां पुरं शरीरं व्याप्य तदुन्मिषितस्फुरत्तात्मानन्दव्याप्तिसारयेच्छाशक्त्या तेषामेव जीवितमधिष्ठाय आच्छुरितं कृत्वा मन्त्रक्रमादितीहत्यमान्त्रपरामर्शयुक्त्या रक्षेत् ॥ ४३ ॥

एवं परयोगमुद्रितानां परध्यानक्रमेण रक्षामुक्त्वा सूक्ष्मयोगमुद्रितानां सूक्ष्मध्यानक्रमेणाप्याह—

सूक्ष्मं स्वशक्तिमार्गेण चक्रानुगमयोगतः ।
पूर्वोक्तग्रन्थिभेदेन सूक्ष्मध्यानेन योगवित् ॥ ४४ ॥
मोचयेत् सर्वदोषेभ्यो नान्यथा तु कदाचन ।
ज्ञानयोगबलोपेतो मन्त्रतन्त्रविशारदः ॥ ४५ ॥

योगिनीप्रयुक्तं सूक्ष्मं योगं ज्ञात्वा ज्ञानयोगबलशाली मन्त्रतन्त्रविषये विशारदो निर्मलधीरत एव मन्त्रविद् इहत्यमन्त्रवीर्यज्ञ आचार्यः स्वशक्तिमार्गेण पूर्वोक्तचक्राधारयुक्त्या ग्रन्थ्यादिभेदेन सूक्ष्मध्यानामृतेन सर्वदोषेभ्यः साध्यं मोचयेत्, न त्वज्ञातसूक्ष्मयोगः सूक्ष्मयोगमुद्रितं कदाचिन् मोचयितुं क्षमः ॥ ४५ ॥

मन्त्रवेत्ता यथोक्तविशेषणविशिष्ट मृत्युञ्जय के मन्त्रचैतन्यरूपी स्वरूप को जानकर अर्थात् पूर्वोक्त हिंसक योगिनी आदि से सम्बद्ध उक्त परयोग को पराशक्ति की व्याप्ति के द्वारा जान कर परस्वरूप अर्थात् पर ध्यान से पशुओं के पुर = शरीर, को व्याप्त कर उस ध्यान से उन्मिषित स्फुरत्ता वाले आनन्द तत्त्व की व्याप्तितत्त्ववाली इच्छाशक्ति के द्वारा उन पशुओं के जीवन को अधिष्ठित कर मन्त्र के क्रम से = मान्त्रपरामर्शयुक्ति के द्वारा, रक्षा करे ॥ ४३ ॥

इस प्रकार परयोग से मुद्रित जीवों की परध्यान के क्रम से रक्षा को बतला कर सूक्ष्मयोग से मुद्रित जीवों की सूक्ष्मध्यान के क्रम से रक्षा को बतलाते हैं—

ज्ञानयोग के बल से युक्त मन्त्र तन्त्र में विशारद आचार्य सूक्ष्मयोग का ज्ञान कर अपने शक्तिमार्ग के द्वारा पूर्वोक्तग्रन्थि = चक्र, के भेदन के द्वारा सूक्ष्मध्यान की सहायता से साध्य को समस्त दोषों से मुक्त करे अन्यथा नहीं ॥ ४४-४५ ॥

योगिनियों के द्वारा प्रयुक्त सूक्ष्मयोग को जानकर ज्ञानयोगबलशाली एवं मन्त्रतन्त्र के विषय में विशारद = निर्मलबुद्धि वाला, अत एव मन्त्रवेत्ता = एतत् सम्बन्धी मन्त्र के प्रभाव को जानने वाला, आचार्य, अपनी शक्ति से = पूर्वोक्त चक्राधारयुक्ति से, ग्रन्थि आदि के भेदन के द्वारा सूक्ष्मध्यानामृत की सहायता से साध्य को समस्त दोषों से मुक्त करे । जिसे सूक्ष्मयोग ज्ञात नहीं है वह आचार्य सूक्ष्मयोग से मुद्रित

स्थूलयोगमुद्रितोन्मुद्रणायाप्याह—

मृत्युजित्सिद्धमन्त्रश्च तपस्वी संयतेन्द्रियः ।
ध्यानमन्त्राभियुक्तश्च सत्त्वस्थो ज्ञानवान् बली ॥ ४६ ॥
संतुष्टः परमो योगी इष्टापूर्तविधौ रतः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्तो लोभमोहविवर्जितः ॥ ४७ ॥
निर्भयश्चैव निःशङ्को ह्यनुग्रहपरायणः ।
पूर्वोक्ताद्दारुणाद्दोषान्मोचकः स भवेत् प्रिये ॥ ४८ ॥

मृत्युजिता मन्त्रेण सिद्धमन्त्रस्तपस्वी जितचित्तोऽतश्च संयतानि निवृत्तविषयाभिलाषाणीन्द्रियाणि यस्य, वीर्यज्ञत्वात् सिद्धमन्त्रोऽपि जपध्यानासक्तः, सत्त्वस्थो निःसंशयः, ज्ञानवान् परतत्त्ववित्, बली लब्धशाक्तस्फारः, अत एव योगी इष्टापूर्तयागदानादौ रतोऽभिनिविष्टः, लौकिकरागादिदोषहीनः, निर्भयो बल्यादिकर्मसु प्रगल्भः, निःशङ्को वीराचारः, अनुग्रहपरायण आचार्यो यागहोमबल्यादिकर्मणैव

व्यक्ति को कभी भी मुक्त कराने में समर्थ नहीं होता (अतः ऐसा आचार्य कभी भी मुक्त कराने का प्रयास न करें)॥ ४५ ॥

स्थूलयोग से मुद्रित (= आक्रान्त, साध्य के) उन्मुद्रण (= मुद्रानिवृत्ति = दुष्ट आत्माओं के आवेश की शान्ति) के लिये (स्थूलध्यानयोग को) कहते हैं—

हे प्रिये ! जिस योगी ने मृत्युञ्जय मन्त्र को सिद्ध कर लिया, तपस्वी, इन्द्रियों को वश में रखने वाला, ध्यान एवं मन्त्र (के जप में) लगा हुआ, सत्त्वस्थ, ज्ञानी, बली, परमसन्तुष्ट, इष्ट एवं पूर्त में लगा हुआ, रागद्वेषरहित, लोभ मोह से वर्जित, निर्भय, निःशङ्क, अनुग्रह में संसक्त हो वही पूर्वोक्त दारुण दोष से (साध्य को) मुक्त कराने से समर्थ होता है ॥ ४६-४८ ॥

मृत्युजित् नामक मन्त्र से सिद्धि को प्राप्त, तपस्वी, मन को वश में करने के कारण जिसकी इन्द्रियाँ विषय की अभिलाषाओं से रहित है, मन्त्रवीर्य का ज्ञाता होने के कारण जप एवं ध्यान में लगा हुआ । सत्त्वस्थ = संशयरहित, ज्ञानवान् = परतत्त्व का ज्ञाता । बली = शाक्तस्फार वाला । इष्टापूर्त[1] यागदान आदि, में रत = अभिनिविष्ट, लौकिक राग आदि दोषों से हीन, निर्भय = बलि

---

१. अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम् ।
आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते ॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ।
शरणागतसन्त्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम् ।
..........................दत्तमित्यभिधीयते ॥ सं०हि०श०को०—ब.वा.शिव आप्टे

मन्त्रमुद्रापांसवविध्यादिमुद्रात्मनो दारुणाद् दोषाद् मोचको भवत्येव ॥ ४८ ॥

अनेनैव विधानेन तु मन्त्रवादः कार्यः—इत्याह—

अन्यथा वर्तते यस्तु स भवेदात्मनाशकः ।
स्वकुलभ्रंशको दुष्टो नरके पच्यते ध्रुवम् ॥ ४९ ॥

स्वकुलात् तत्तद्देवतांशकस्थितेर्भ्रश्यति सकम्पत्वादेर्दोषाद् दुष्टो नश्यति ।

तदुक्तम्—

'नान्यच्छिद्रं प्रपश्यामि मन्त्रिणो मन्त्रसाधने' ।

इत्यादि ॥ ४९ ॥

तत्त्वज्ञेनापि न यथातथा मन्त्रवादः कार्यः—इत्याह—

भूताश्च विविधाकारा मातरो दुष्टहिंसकाः ।
योगिन्यो गुह्यका यक्षाः पिशाचा दुरतिक्रमाः ॥ ५० ॥
बलिकामा हन्तुकामा भोक्तुकामास्तथापरे ।
रतिकामा ह्यसाध्याश्च स्कन्दाद्या ब्रह्मराक्षसाः ॥ ५१ ॥

आदि कर्मों में दृढ़, निःशङ्क = वीराचारी, अनुग्रह में लगा हुआ आचार्य याग होम बलि आदि कर्म के द्वारा मन्त्रमुद्रापांसवविधि आदि मुद्रा वाले दारुण दोष का मोचक होता है ॥ ४६-४८ ॥

इसी विधान से मन्त्रवाद करना चाहिये—यह कहते हैं—

जो आचार्य अन्यथा व्यवहार करता है वह आत्मघाती होता है । अपने कुल का नाश करने वाला वह दुष्ट निश्चित रूप से नरकगामी होता है ॥ ४९ ॥

अपने कुल से = तत्तत् देवतांश वाली स्थिति से, भ्रष्ट हो जाता है और (शारीरिक) कम्प आदि दोष से दुष्ट होकर मर जाता है ।

वही कहा गया है—

'मन्त्र की साधना में मैं मन्त्री के लिये कोई दूसरा छिद्र (= रास्ता) नहीं देखता'—इत्यादि ॥ ४९ ॥

तत्त्वदर्शी आचार्य भी जैसे-तैसे मन्त्रवाद न करे—यह कहते हैं—

अनेक प्रकार के भूत, अनेक प्रकार की मातायें, दुष्टहिंसक, योगिनियाँ, गुह्यक, यक्ष पिशाच ये सब दुर्लङ्घ्य होते हैं । कुछ लोग बलि चाहते हैं, दूसरे हत्या चाहने वाले होते हैं, कोई भोजन और कोई स्त्रीसमागम के इच्छुक होते हैं । ये सब तथा असाध्य स्कन्द आदि

असंख्यातास्ततो घोरा न तैस्तु सह कुत्रचित् ।
विरोधश्चैव कर्तव्य आत्मज्ञैः स्वार्थपण्डितैः ॥ ५२ ॥

दुष्टहिंसका अपस्माराद्याः । गुह्यकाः प्रधानयक्षाः । स्कन्दा बालग्रहाः आद्यशब्दाद् विघ्नाः । आत्मज्ञत्वं तत्त्ववित्त्वम् । विरोधाकरणे हेतुः स्वार्थपाण्डित्यम् स्वदेहपुत्रकलत्रादिरक्षापरत्वात् भूताद्या हि विरुद्धा देहाद्यपघातं चिन्तयन्ति ॥

यथोक्तरूपश्च मन्त्रवादः—

धनार्थिभिर्वा लुब्धैश्च न कार्यश्च यशोऽर्थिभिः ।

लुब्धाः कृपणाः ॥

किन्तु—

स्वकुटुम्बसुतादीनां कारुण्याच्चैव कारयेत् ॥ ५३ ॥

कारुण्यादेवान्यस्य कुर्यात् ॥ ५३ ॥

तथा—

नृपाणां तत्सुतानां च तत्पत्नीनां च सर्वदा ।

यतः—

ब्रह्मराक्षस असंख्य हैं । वे घोर भी हैं । आत्मज्ञानी एवं स्वार्थपण्डित व्यक्ति उन सब के साथ कहीं भी विरोध न करे ॥ ५०-५२ ॥

दुष्टहिंसक = अपस्मार (= मिर्गी) आदि । गुह्यक = प्रधान यक्ष । स्कन्द = बालग्रह । आद्यपद से विघ्न समझना चाहिये । आत्मज्ञ = तत्त्ववेत्ता । विरोध के न करने में कारण है—स्वार्थपाण्डित्य, क्योंकि यह अपनी देह पुत्र स्त्री आदि की रक्षा से सम्बद्ध होता है । भूत आदि विरुद्ध होकर (मन्त्री या साध्य) के देह आदि का आघात सोचते हैं ॥

और यथोक्तरूप मन्त्रवाद—

धनार्थी, लोभी अर्थात् कृपण एवं यश चाहने वालों के द्वारा नहीं किया जाना चाहिये किन्तु अपने कुटुम्ब या पुत्र आदि के प्रति करुणाभाव होने पर करना चाहिये ॥ ५३- ॥

परन्तु

करुणा के कारण अन्य के लिये करना चाहिये ॥ -५३ ॥

तथा—

राजाओं, राजपुत्रों एवं राजपत्नियों के लिये सर्वदा करना चाहिये ।

यस्मिन् देशेऽथवा राष्ट्रे निवसेन्मन्त्रयोगवित् ॥ ५४ ॥
तत्र राजा प्रभुश्चैव सदैवाश्रमिणां गुरुः ।

सम्यक्प्रजापालनात् ॥

अतश्च—

तत्कृते वर्तमानस्य क्षमन्ते तास्तु मातरः ॥ ५५ ॥
पूर्वोक्ताद्दारुणाद् घोराः प्रशमं यान्ति सर्वथा ।

वर्तमानस्येति मन्त्रवादं कुर्वतः । दारुणादिति हिंसादेः । घोरा इत्यन्येऽपि भूताद्याः ॥

ताश्च बल्युपहारेण भूरियागेन ते नृपाः ॥ ५६ ॥
सन्तोषयन्ति यस्माद्वै तस्मात्सर्वं क्षमन्ति ताः ।
मन्त्रवादो हि सर्वत्र न कार्यः शिवचिन्तकैः ॥ ५७ ॥

प्रोक्त एव च विषये—

नानाविधैरुपायैश्च शरीरं पाञ्चभौतिकम् ।
विनाशयन्ति ये घोरास्तेषां प्रशमनं शृणु ॥ ५८ ॥

क्योंकि

मन्त्रवेत्ता जिस देश अथवा राष्ट्र में रहता है वहाँ का राजा सदैव आश्रमियों (अर्थात् ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और संन्यासी), का गुरु होता है ॥ ५४-५५- ॥

क्योंकि वह प्रजा का सम्यक् पालन करता है ॥

उसके लिये वर्त्तमान (आचार्य) को वे मातायें तथा घोर ग्रह क्षमा कर देते हैं; तथा उनके पूर्वोक्त दारुण दोष से वे शान्ति को प्राप्त हो जाते हैं (अर्थात् राजा आदि के प्रति उपद्रव नहीं करते) ॥ -५५-५६- ॥

वर्त्तमान के = मन्त्रवाद करने वाले के । दारुण = हिंसा आदि । घोर कहने से अन्य भूत आदि भी समझना चाहिये ॥

चूँकि वे राजा लोग अधिक याग एवं बलि के उपहार से उनको सन्तुष्ट करते हैं इस कारण वे लोग सब कुछ क्षमा कर देती हैं । शिवचिन्तकों को चाहिये कि वे सर्वत्र मन्त्रयाग न करे ॥ -५६-५७ ॥

उक्त विषय में ही—

जो घोर शक्तियाँ अनेक प्रकार के उपायों के द्वारा पाञ्चभौतिक शरीर का नाश करती हैं उनकी शान्ति का उपाय सुनो ॥

स्थूलं स्थूलेन योगेन चूर्णधूपविलेपनैः ।
यन्त्रचक्रप्रयोगैश्च जीवरक्षादिभिस्तथा ॥ ५९ ॥
धारणाध्यानयोगैश्च सिद्धमन्त्रैश्च सर्वदा ।
मुद्रामन्त्रविधिज्ञैश्च गमागमविचिन्तकैः ॥ ६० ॥
भूततन्त्रविधौ वीरैरौषधज्ञैः सुचिन्तकैः ।
संयतैरप्रमत्तैश्च सर्वसङ्करवर्जितैः ॥ ६१ ॥
स्नातैश्च कृतपूजैश्च जपध्यानपरायणैः ।
लक्ष्यलक्षणवेदज्ञैर्निरपेक्षैः सुपेशलैः ॥ ६२ ॥
मन्त्रवादस्तु कर्तव्यो नान्यथा क्षेमचिन्तकैः ।

स्थूलो योगस्तत्तद्देवताकृतिध्यानादि, चूर्णं नानौषधिजम्, ओषधिक्रियायोगस्तु विशिष्टैकौषधिप्रयुक्तिः । आलेपनं दीप्तमन्त्राम्भःप्रोक्षणादिना । यन्त्रचक्रं विशिष्टसंनिवेशलिखितो मन्त्रसमूहः । चकाराद् मन्त्रसंपुटीकारादिना जपः । तैर्या पूर्वनिर्णीतस्य जीवस्य रक्षा, आदिशब्दात् शरीररक्षा आप्यायनाद्यर्था । योजनादिधारणास्तथा तद्ध्यानपूर्वं योगाः साध्यदेहामृतप्लावनादिसमाधयस्तैः । सिद्धाः

वे आचार्य माताओं आदि के स्थूल योग को स्थूलयोग जैसे चूर्ण के धूप और विलेपन, यन्त्र एवं चक्र के प्रयोग, जीवरक्षा आदि, धारणा ध्यान योग के प्रयोग के द्वारा दूर करें । जो मन्त्र को सिद्ध किये हों, मुद्रा मन्त्र की विधि के ज्ञाता हों, गमागम के विद्वान् हों, भूतविधि एवं तन्त्रविधि के विषय में वीर, औषधियों के ज्ञाता, सुचिन्तक, संयत, अप्रमत्त, सर्वसाङ्कर्य से रहित, स्नानयुक्त, पूजा को सम्पादित किये हुए, जप ध्यान में लगे हुए, लक्ष्यलक्षण और वेद को जानने वाले, निरपेक्ष, सुपेशल हों तथा क्षेम[1] के ज्ञाता हों मन्त्रवाद उन्हीं लोगों को करना चाहिये अन्य लोगों को नहीं ॥ ५८-६३- ॥

स्थूलयोग = तत्तद् देवता की आकृति का ध्यान आदि । चूर्ण जो कि अनेक औषधियों से बनाया गया होता है । औषधिक्रियायोग = किसी विशिष्ट औषधि का प्रयोग । आलेपन = दीप्तमन्त्र से अभिमन्त्रित जल से प्रोक्षण आदि । यन्त्रचक्र = विशिष्ट सन्निवेश (= आकार, क्रम आदि) से लिखित मन्त्रों का समूह । ('यन्त्रचक्रप्रयोगैश्च' इस पद में) 'च' से मन्त्र को (या मन्त्र से) सम्पुटित कर जप समझना चाहिये । उनके द्वारा पूर्वनिर्णीत जीव की जो रक्षा । (जीवरक्षादिभिः' पद में) आदि से आप्यायन आदि प्रयोजन वाली शरीररक्षा समझना चाहिये । (धारणाध्यानयोगैश्च =) योजना आदि धारणायें तथा उनका ध्यान करने के बाद योग = साध्य के शरीर में अमृत का प्लावन आदि रूप समाधियाँ, उनके द्वारा ।

---

१. लब्धरक्षणं क्षेम ।

मन्त्राः पठितसिद्धाः कल्पोक्तविधिना आराधिता वा । तैरेतैः कारणभूतैर्मन्त्रादि-विधिज्ञैरर्थादाचार्यैः कर्तृभिर्मन्त्रवादः कार्यः, न अन्यथा । कीदृशैर्मन्त्रादिज्ञैः । गमागमयोर्विचिन्तकैर्मन्त्रलक्षणरौरित्यर्थः । तथा वीरैर्निष्कम्पैः । सुचिन्तकैस्तत्त्वाधि-रूढधिषणैः । संयतैर्जितेन्द्रियैः, अप्रमत्तैरनवलिप्तैः, सर्वसङ्करवर्जितैः स्वशास्त्रोक्त-विधिनिष्ठैः । लक्ष्यं भूतादिगृहीतस्वरूपम्, लक्षणानि तन्त्रोक्तानि चिह्नानि, वेदास्तज्ज्ञप्तिसाधनानि शास्त्राणि, तज्ज्ञैः । निरपेक्षैः क्षीणलोभलौल्याभिमानादि-दोषैः । सुपेशलैरदाम्भिकैः । क्षेमचिन्तकैरित्यत्रायमाशयः—यद्युक्तक्रमातिक्रमेण तत् क्रियते, तदा क्षेममेव बाध्यते । एवमेतैः श्लोकैः पूर्वोक्तप्राय एवार्थः सोपस्कार उक्तः ॥

सर्वथेदमत्र सतत्त्वमित्याह—

यदीच्छेदुत्तमां सिद्धिं मोक्षं वा शाश्वतं ध्रुवम् ॥ ६३ ॥
मन्त्रवादो न कर्तव्य इत्याह परमेश्वरः ।
अनुग्रहार्थं मर्त्यानां भूपतीनां कुटुम्बिनाम् ॥ ६४ ॥
अनुग्रहपदस्थेन कर्तव्यो हितमिच्छता ।

सिद्धमन्त्र = पाठ के द्वारा सिद्ध या कल्पग्रन्थों में कही गयी विधि के द्वारा आराधित मन्त्र । ये सब साधन हैं और मन्त्र आदि की विधि को जानने वाले आचार्य कर्ता हैं । ऐसे ही कर्ताओं के द्वारा मन्त्रवाद को करना चाहिये न कि दूसरे प्रकार से । ये मन्त्र आदि के ज्ञाता कैसे होने चाहिये ? उत्तर देते हैं—गम और आगम को जानने वाले अर्थात् मन्त्रों के लक्षणों को जानने वाले हों । वीर = निष्कम्प । सुचिन्तक = तत्त्ववेत्ता । संयत = जितेन्द्रिय । अप्रमत्त = अभिमान-रहित । सर्वसङ्करवर्जित = अपनी परम्परा वाले शास्त्रों में कथित विधिविधान में श्रद्धा और विश्वास रखने वाले । लक्ष्य = भूत आदि के द्वारा गृहीतस्वरूप वाला व्यक्ति । लक्षण = तन्त्रग्रन्थों में उक्त चिह्न । वेदज्ञ = वेदों और उनके ज्ञान के साधन भूत शास्त्र को जानने वाले । निरपेक्ष = लोभ, लौल्य (जिह्वा अदि के द्वारा आस्वाद आदि की प्रबल इच्छा), अभिमान आदि दोषों से रहित । सुपेशल = दम्भरहित । क्षेमचिन्तक—यदि उक्त क्रम का अतिक्रमण कर ऐसा किया जाता है तो क्षेम ही बाधित होता है । इस प्रकार इन उपर्युक्त श्लोकों के द्वारा पूर्वोक्त अर्थ ही सुन्दर ढंग से कहा गया ॥

यह सब प्रकार से उचित और यथार्थ है—यह कहते हैं—

यदि (कोई आचार्य) उत्तम सिद्धि या स्थिर एवं निश्चित मोक्ष चाहता है तो उसे मन्त्रवाद नहीं करना चाहिये—ऐसा परमेश्वर ने कहा है । मनुष्यों राजाओं गृहस्थों के अनुग्रह के लिये उनका हित चाहने वाला अनुग्रह पद पर स्थित आचार्य (इस मन्त्रवाद को) करे ॥ -६३-६५- ॥

ध्रुवं निश्चतम् । अनुग्रहार्थम् न तु लोभपूजाद्यर्थम् । अनुग्रहपदस्थेनेत्याचार्येणानुकम्प्यविषय एव कर्तव्य: ॥

तत्रापि—

कदाचिन्न प्रबन्धेन...............

सदा कुर्वन्नाशमेतीत्याह—

............यदि कुर्याद्विनश्यति ॥ ६५ ॥

यत:—

न क्षमन्ते बलोपेता: शिवयागेषु भाविता: ।
नित्यशुद्धा वीतभया भैरवाज्ञानुपालिन: ॥ ६६ ॥

योगिनीभूताद्या नित्यशुद्धा रागद्वेषादिहीना: ॥ ६६ ॥

बलोपेतत्वे युक्तिमाह—

आज्ञप्तास्ते मया पूर्वं मुद्रामन्त्रप्रयोगत: ।
आत्मार्थं ते जिघांसन्ति तेन ते बलिन: स्मृता: ॥ ६७ ॥

ध्रुव = निश्चल । अनुग्रह के लिये न कि लोभ वश अथवा सम्मान प्राप्त करने के लिये । 'अनुग्रहपदस्थेन' पद आचार्य के द्वारा अनुकम्पनीय को ही (अनुग्रह का) विषय बनाना चाहिये—यह बतलाता है ।

उसमें भी—

कभी प्रबन्ध से (= नियमपूर्वक अधिक समय तक) नहीं करे । यदि सदा ऐसा करता है तो आचार्य नाश को प्राप्त हो जाता है ॥ ६५ ॥

क्योंकि—

बलवान्, शिवयागों में भावित (= अधिकारपूर्वक उपस्थित) नित्यशुद्ध अर्थात् रागद्वेष से रहित निर्भय एवं भैरव की आज्ञा के अनुपालक योगिनी भूत आदि (ऐसे आचार्य को) नहीं सहते (अर्थात् उन्हें मार डालते हैं) ॥ ६६ ॥

योगिनीभूत आदि, नित्यशुद्धा = रागद्वेषादिविहीन ॥ ६६ ॥

बल से युक्त होने में तर्क देते हैं—

मेरे (= भैरव के) द्वारा पहले ही वे मुद्रा एवं मन्त्र के प्रयोग के द्वारा नियुक्त हैं । वे अपने लिये (मनुष्यों को) मारते हैं इस कारण वे बलवान् कहे गये हैं ॥ ६७ ॥

आज्ञप्ता इति पूर्वोक्तदुराचारच्छिद्रणाय नियुक्ताः ॥ ६७ ॥

अत्र पुराकल्पं स्मारयति—

पुरा देवातिदेवेन शिवेन परमात्मना ।
सृष्टा ह्यनेन विधिना विचरन्ति दिशो दश ॥ ६८ ॥
तद्बलेन समाविष्टा जयिनो बलवत्तराः ।
प्रवृत्तास्ते महाघोराः पूर्वं देवजिघांसया ॥ ६९ ॥

अनेनेत्यतच्छास्त्रोद्दिष्टेन दैत्योन्मूलनात्मना ॥ ६९ ॥

ते च दैत्योन्मूलनानन्तरं भगवद्वृता दुर्जया देवजिघांसापरा अपि यदा जातास्तदा चतुर्दशविधं सर्गं भोक्तुं प्रवृत्ताः सन्तः—

दृष्टाः स्वयम्भुवा पूर्वं.........

यतस्ततः सृष्टाः—

..............मन्त्राश्चामोघशक्तयः ।
सप्तकोट्यस्तु बलिनो वशिनः प्रतिपक्षकाः ॥ ७० ॥

चकाराद् विद्याश्च वशिनः स्वतन्त्राः । प्रतिपक्षा इति भूतादीनाम् ॥ ७० ॥

अतश्च—

आज्ञप्त = पूर्वोक्त दुराचारियों को नष्ट करने के लिये नियुक्त ॥ ६७ ॥

यहाँ पुराकल्प का स्मरण दिलाते हैं—

प्राचीन काल में देवाधिदेव परमात्मा शिव के द्वारा इस विधि से सृजित होकर (ये योगिनी आदि) दशों दिशाओं में विचरण करते रहते थे उस (= शैव) बल से समाविष्ट हुये विजयी बलवान् एवं अत्यन्त घोर वे देवताओं को मारने के लिये प्रवृत्त हो गये ॥ ६८-६९ ॥

इस विधि से = इस शास्त्र में कथित दैत्यों को नष्ट करने वाली विधि से ॥ ६९ ॥

दैत्यों को नष्ट करने के बाद वे भगवान् से वर प्राप्त करने के कारण दुर्जेय हो गये और देवताओं को मारने लगे और चौदह प्रकार की सृष्टि खा जाने के लिये प्रवृत्त हो गये तब—

स्वयंभू (परमेश्वर) ने ऐसा देखकर अमोघ शक्ति वाले वशीकारी प्रतिपक्षरूपी सात करोड़ मन्त्रों की सृष्टि की ॥ ७० ॥

'मन्त्राश्च' में चकार से विद्यायें समझनी चाहिये । वशी = प्रतिपक्ष अर्थात् भूत आदि के विरोधी ॥ ७० ॥

ये दुष्टा जगतो घोरा जिघांसन्ति बलोत्कटाः ।
तेषां हि शमनार्थाय जगतो रक्षणाय च ॥ ७१ ॥
मन्त्रौषधक्रियायोगः शतशोऽथ सहस्रशः ।
आज्ञप्तः परमेशेन तदर्थं हि प्रवर्तनम् ॥ ७२ ॥
मन्त्रवादेषु सर्वेषु...........

प्रोक्तविषये कृपातः कदाचिदेव ॥

............नाज्ञाभङ्गेन चान्यथा ।

एवं हि पारमेशाज्ञानुवृत्त्या विषये प्रयुज्यमानाः—

तत्प्रभावाच्च बलिनो मन्त्राश्चामोघशक्तयः ॥ ७३ ॥
तद्वीर्यापूरिताः सर्वे शेषा वर्णास्तु केवलाः ।

तच्छब्देन परमशिवः परामृश्यते ॥

यतश्च पूर्वोक्तदृशा परमशिवरूपः सर्वमन्त्रवीर्यभूत इहत्यो मन्त्रराजः—

मृत्युजित्तेन चाख्यातः सर्वमन्त्रेश्वरः प्रभुः ॥ ७४ ॥
न चास्य कश्चिन्मन्त्रो वा विद्या वाज्ञां विलङ्घयेत् ।

सर्वे दुष्टाश्चास्य भगवतः—

इसलिये—

जो दुष्ट घोर एवं बलवान् (भूत आदि) संसार के (प्राणियों को मारना) चाहते हैं (या मारते हैं) उनको शान्त करने तथा संसार के लिये परमेश्वर ने सैकड़ों हजारों मन्त्र औषधि एवं क्रियायों को आज्ञा दी । इसलिये समस्त मन्त्रवादों के विषय में प्रवृत्ति होती है । उक्त विषय में यह प्रवृत्ति (परमेश्वर की) की कृपा से किसी भी समय होती है, आज्ञाभङ्ग एवं अन्य प्रकार से नहीं ॥ ७१-७३- ॥

उस (परम शिव) के प्रभाव से सब मन्त्र उसके वीर्य से आपूरित हो कर अमोघ शक्ति वाले हो गये हैं । शेष (= जो मन्त्र नहीं है वे तो) केवल वर्ण हैं ॥ -७३-७४- ॥

तत् शब्द से परमशिव को कहा गया है ॥

पूर्वोक्त दृष्टि के अनुसार चूँकि इस ग्रन्थ में वर्णित मन्त्रराज परमशिव रूप है—

इसलिये यह मृत्युञ्जय मन्त्र समस्त मन्त्रों का स्वामी तथा सर्वसमर्थ कहा गया है । कोई भी दूसरा मन्त्र या विद्या इसकी आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं कर सकती ॥ ७४-७५- ॥

स्मरणाच्च पलायन्ते सिंहस्येव मृगादयः ॥ ७५ ॥

तत्त्वविदं इति शेष इति शिवम् ॥ ७५ ॥

मन्त्रा मन्त्रयितारो मन्त्राक्रम्याश्च सर्वमन्त्राश्च ।
यस्याज्ञावशगास्ते तदान्तरं जयति शाङ्करं नेत्रम् ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योते विंशोऽधिकारः ॥ २० ॥

इन मन्त्र भगवान् से सब दुष्ट (आत्मायें)—

(मन्त्र) के स्मरण से तत्त्ववेत्ता के पास से ऐसे भाग जाते हैं जैसे सिंह को देखकर मृग आदि ॥ ७५ ॥

तत्त्वदर्शी के पास से ॥ ७५ ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के विंश अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २० ॥

मन्त्र, मन्त्र का प्रयोग करने वाले, मन्त्र के द्वारा आक्रम्य और समस्तमन्त्र (= मन्त्र मन्त्रेश्वर आदि) ये सब जिसके वशवर्त्ती हैं वह शाङ्करनेत्र सर्वातिशायी है ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के विंश अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २० ॥

एकविंशोऽधिकारः

* नेत्रोद्योतः *

जयति स्वपरिस्पन्दानन्दान्दोलनलीलया ।
मन्त्रतत्त्वं त्रितत्त्वात्म तन्त्रयन्नेत्रमैश्वरम् ॥

सर्वमन्त्राश्च इति यदधिकारान्त उपक्षिप्तम्, तन्निर्णयाय मन्त्रसतत्त्वं तावद् जिज्ञापयिषुः श्रीदेवी उवाच—

मन्त्राः किमात्मका देव किंस्वरूपाश्च कीदृशाः।
किंप्रभावाः कथं शक्ताः केन वा संप्रचोदिताः॥ १ ॥

क आत्मा येषां शम्भुः, शक्तिरणुर्वा । किं च स्वरूपं निराकृति साकृति वा

---

* ज्ञानवती *

शिवात्मा शक्त्यात्मा पुनरणुसदात्मा मनुगणः
प्रसन्नात्मा देवो निरदिशत देव्यास्तदनु वै ।
त्रितत्त्वात्मेदं यन्निखिलमिह जगतीतल अतो
मनूनां सिद्ध्यर्थं जयति शुचि नेत्रं गिरिगुरोः ॥

अपने परिस्पन्दानन्द के आन्दोलन की लीला से मन्त्रतत्त्व को नियन्त्रित अथवा विस्तारित करने वाला त्रितत्त्व का आत्मारूप शाङ्कर नेत्र सर्वजयी है ।

पूर्व अधिकार के अन्त में जो यह कहा गया कि मृत्युञ्जय मन्त्र सब मन्त्रों का राजा है उसको स्पष्ट करने के लिये मन्त्र तत्त्व को बतलाने की इच्छा से श्रीदेवी ने कहा—

हे देव ! मन्त्रों का आत्मा (= तत्त्व) क्या है ? उनका स्वरूप क्या है ? वे किस प्रकार के हैं ? उनका प्रभाव क्या है ? वे (इष्टसिद्धि में) कैसे समर्थ होते हैं ? किसके द्वारा वे प्रेरित होते हैं ॥ १ ॥

येषाम् । किमिव दृश्यन्ते कीदृशाः, निराकाराः कर्तारो न केऽपि केनचित् दृश्यन्ते, साकारा अपि कुम्भकृद्वन्न सर्वकर्तारो दृश्यन्ते । कः प्रभावो भुक्तिमुक्ति-दोषप्रशमको नित्यो येषाम् । कथं केन प्रकारेण शक्ताः, यतो निराकारस्य व्योमवत् न शक्तता, अतश्च तन्मूला अपि कर्तृता कथम् ? आकृतिमत्त्वेऽवच्छिन्नस्य मलिनस्यास्वातन्त्र्यात् का शक्तिः ? अशरीरस्य च नानुग्रहादौ कर्तृत्वम्, नापि परमेश्वरप्रयोज्यत्वमुपपन्नम् । अत एवानाकृतेः परमेश्वरस्यापि कथं शक्तत्वं प्रचोदकत्वं चेत्याशयेन केन वा संप्रचोदिता इत्युक्तम्, केन प्रकारेण कर्त्रा चेत्यर्थः ॥ १ ॥

तदेतत् क्रमेण स्फुटयति—

शिवात्मकास्तु चेद्देव व्यापकाः शून्यरूपिणः ।
क्रियाकरणहीनत्वात् कथं तेषां हि कर्तृता ॥ २ ॥
अमूर्तत्वात् कथं तेषां कर्तृत्वं चोपपद्यते ।
विग्रहेण विना कार्यं कः करोति वद प्रभो ॥ ३ ॥

यदि शिवात्मका मन्त्राः, तदा तेषां शिववद् व्यापिनां परिस्पन्दात्मनां क्रियया करणैश्च हीनत्वात् कथं कर्तृत्वं शिववदमूर्तत्वादपि न तद् युज्यते, यतो विग्रहं

उन मन्त्रों की आत्मा क्या है—शिव, शक्ति अथवा अणु? वे साकार हैं या निराकार? कैसे दिखलायी पड़ते हैं अर्थात् कोई निराकार कर्त्ता किसी के द्वारा नहीं दिखलायी पड़ते । साकार भी कुम्भकार के समान सबके कर्त्ता नहीं होते । सांसारिक भोग एवं मोक्ष के दोष का शामक प्रभाव, जो कि नित्य है, क्या है? वे किस प्रकार समर्थ हैं क्योंकि निराकार (पदार्थ) आकाश के समान (किसी कार्य को करने में) समर्थ नहीं होता फिर वह कर्त्ता कैसे होगा । और यदि साकार है तो सीमित एवं मलिन उसके स्वतन्त्र न होने से उसकी शक्ति ही क्या होगी । अशरीरी अनुग्रह आदि का कर्त्ता नहीं हो सकता न ही वे (= अनुग्रह आदि) परमेश्वर के प्रयोज्य हो सकते । इसलिये निराकर परमेश्वर भी कैसे समर्थ एवं प्रयोजक होगा—इस आशय से 'केन वा सम्प्रचोदिताः' कहा गया । इसका अर्थ है कि वे किस प्रकार के कर्त्ता से प्रचोदित हैं ॥ १ ॥

इसी बात को क्रमशः स्पष्ट करते हैं—

हे देव ! यदि मन्त्र शिवात्मक हैं तो वे व्यापक और शून्यस्वरूप हैं फिर क्रिया एवं करण से रहित होने के कारण वे कर्त्ता कैसे होंगे ? अमूर्त होने से वे कर्त्ता कैसे होंगे । हे प्रभो ! यह बतलाइये कि शरीर के बिना कौन कार्य कर सकता है ॥ २-३ ॥

मन्त्र यदि शिवात्मक हैं तो उनके शिव के समान सर्वव्यापी एवं परिस्पन्दात्मक होने के कारण क्रिया एवं करण से रहित होने से वे कर्त्ता कैसे होंगे, शिव के

विना न कश्चित् कार्यं कुर्वन् दृष्टः । एवं शिवस्यापि यन्मन्त्रप्रचोदकत्वम्, तत् कथमित्यनेनैवाक्षिप्तम् । एवंप्रायं च श्रुत्यन्तविदां मतम् । ते हि गुणवत एव कर्तृत्वमितीश्वरोपासामगुणब्रह्मोपासेति मत्वाऽकर्त्रेव निस्तिमितं सांख्यपुरुषकल्पमद्वयं ब्रह्म इच्छन्ति ॥ ३ ॥

यतः—

न दृष्टो ह्यशरीरस्य व्यापारः परमेश्वर ।

कस्यापि ॥

एवं च—

शरीरिणो यतो बन्धः..........

ततः—

............कथं बद्धस्य कर्तृता ॥ ४ ॥

किं च, शरीरित्वादेव शिवमन्त्रादिवर्गो मलिन इति मलिनत्वादस्वतन्त्रो लुप्तशक्तिर्विभाव्यते ।

उक्तं हि—

'पशुर्नित्यो ह्यमूर्तोऽज्ञो निष्क्रिय' (श्रीकिरणा०) इति ॥ ४ ॥

समान अमूर्त होने से भी वह (= कर्तृत्व) उपपन्न नहीं होता क्योंकि बिना शरीर के कोई भी कार्य करता हुआ नहीं देखा गया । इसी प्रकार शिव भी जो मन्त्र के प्रचोदक कहे गये हैं वह भी कैसे सम्भव है—यह इसी से आक्षिप्त हो जाता है । श्रुत्यन्त = वेदान्त, के विद्वानों का ऐसा मत है—वे गुणवान् को ही कर्त्ता मानते हैं इसलिये ईश्वर की उपासना निर्गुण ब्रह्म की उपासना है ऐसा मानकर अद्वय ब्रह्म को निस्तिमित (= निश्चल, शान्त, निश्चेष्ट) सांख्य दर्शन वाले पुरुष के समान मानते हैं ॥ ३ ॥

क्योंकि—

हे परमेश्वर ! शरीर से हीन कोई भी व्यापारवान् नहीं देखा गया ॥४-॥

चूँकि शरीरधारी का ही बन्धन होता है इसलिये जो बद्ध होगा वह कर्त्ता कैसे होगा ॥ -४ ॥

शरीर होने के कारण ही शिव मन्त्र आदि का समूह मलिन होता है मलिन होने के कारण वह (समूह) अस्वतन्त्र और सुप्त शक्तिवाला माना जाता है ।

कहा गया है—

'पशु नित्य अमूर्त्त अल्पज्ञ और निष्क्रिय है' ॥ ४ ॥

अतश्च—

शक्तिहीनस्य कर्तृत्वं विरुद्धं सर्ववस्तुषु ।

क्वचित् त्वंशे कुम्भकारपशोरिवास्तु, किं तेन । तदित्थं किमात्मकाः किंस्वभावाः कीदृशाः कथं शक्ताः केन वा प्रचोदिता इति शाम्भवत्वे प्रश्नपञ्चकं स्फुटीकृतम् ॥

किंप्रभावा इति प्रश्नं स्फुटयति—

एवं शिवात्मका मन्त्राः कथं सिध्यन्ति वस्तुतः ॥ ५ ॥

एवमुक्तदृशा वस्तुतो व्यापकनिराकारशिवस्वभावा नित्यनिर्मुक्तशुद्धबोधमात्ररूपाः कथं सिध्यन्ति, कथं सिद्धीर्वितरन्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥

एवं शांभवत्वं मन्त्राणां विकल्प्य शाक्तत्वमपि विकल्पयति—

अथ चेच्छक्तिरूपास्ते.........

तर्हि यच्छक्तिरूपास्ते, सा—

..............कस्य शक्तिस्तु कीदृशी ।

किंसंबन्धिनीं किंस्वभावा च ।

इसलिये—

जो शक्तिहीन है उसका सब वस्तुओं में कर्तृत्व विरुद्ध है (अर्थात् वे कर्त्ता नहीं हो सकते) ॥ ५- ॥

किसी अंश में (यदि मन्त्र) कुम्भकारपशु के समान हो गया तो उससे क्या? (अर्थात् वह मन्त्र सर्वकर्त्ता तो नहीं ही होगा) । तो इस प्रकार (मन्त्र) किस स्वरूप, किस स्वभाव, कैसे दिखाई देने वाले, किस प्रकार समर्थ और किसके द्वारा प्रयोज्य है?—ये पाँच प्रश्न (मन्त्रों के) शिवस्वरूप होने में स्पष्ट कर दिये गये ॥

मन्त्र किस प्रभाव वाले हैं?—इस प्रश्न को स्पष्ट करते हैं—

इस प्रकार ये मन्त्र वस्तुतः शिवात्मक कैसे सिद्ध होते हैं ॥ -५ ॥

इस प्रकार = उक्त रीति से । वस्तुतः अर्थात् व्यापक निराकार शिवस्वभाव वाले नित्यनिर्मुक्त शुद्ध केवलबोधरूप मन्त्र, कैसे सिद्ध होते हैं—कैसे सिद्धि प्रदान करते हैं ॥ ५ ॥

मन्त्रों के शाम्भवत्व के विषय में प्रश्न कर अब उनके शाक्तत्व के विषय में प्रश्न करते हैं—

यदि वे शक्तिरूप हैं तो वह शक्ति किसकी और कैसी है ? अर्थात् किससे सम्बद्ध और किस स्वभाव वाली है ? ॥ ६- ॥

तमेव तत्स्वभावं विकल्पयति—

शक्तिः किं कारणं देव कार्यं तस्याश्च कीदृशम् ॥ ६ ॥

किं स्वरूपसहकारिरूपा शक्तिराहोस्विदतीन्द्रिया कार्योन्नेया, कार्यमपि तस्याः कीदृशम् ॥

न च स्वरूपसहकार्यात्मस्वतन्त्रवस्तुरूपा वक्तुं शक्यते शकनात्मा शक्तिः, नाममात्रकरणेन तु न विमतिरित्याह—

यावन्न शक्तिमान् कश्चित्............

तावत्—

..............कस्य शक्तिर्विधीयते ।

प्रतिपाद्यते ॥

यतः सा—

स्वतन्त्रा न प्रसिध्येत्तु विना सिद्धेन केनचित् ॥ ७ ॥
असिद्धेन तु यत्साध्यं तदसिद्धं प्रचक्षते ।

उसके उसी स्वभाव के विषय में प्रश्न करते हैं—

हे देव ! क्या वह कारणस्वरूपा है । (यदि ऐसी है तो) उसका कार्य कैसा है ॥ -६ ॥

क्या वह शक्ति स्वरूप की सहकारी (= शक्तिमान् की सहकारिणी) है अथवा अतीन्द्रिय होती हुई कार्य के द्वारा अनुमेय है, फिर उसका कार्य कैसा है ॥ ६ ॥

शकनरूपा वह शक्ति स्वरूप की सहकारिणी होते हुए स्वतन्त्र वस्तु नहीं कही जा सकती । उसका अलग से यदि शक्ति नाम दे दिया गया तो किसी को आपत्ति नहीं है—

यह कहते हैं—

जब तक कोई शक्तिमान् नहीं होगा ॥ ७- ॥

तब तक

शक्ति किसकी मानी जायगी ॥ -७- ॥

शक्ति प्रतिपाद्य कौन है ॥

क्योंकि वह शक्ति—

बिना किसी सिद्धवस्तु के वह स्वतन्त्र रूप से नहीं रह सकती । जो असिद्ध के द्वारा सिद्ध किया जाता है वह असिद्ध कहलाता है । कहीं भी

वस्तुशून्या न चैवात्र शक्तिर्वै विद्यते क्वचित्॥ ८ ॥
शक्तिरूपास्तु ते मन्त्राः केवलास्तु विपर्ययः ।

केवलाः शक्तिरूपा इत्यस्पष्टशाम्भवधामशक्तिमात्रात्मका मन्त्रा इत्ययं विपर्ययो भ्रमः, यतः सिद्धेन केनचिद् वह्निना इव धर्मिणा विना दाहकत्वादिधर्मरूपेव न काचित् स्वतन्त्रा शक्तिः प्रसिध्यति । न च तयैव शकनरूपया शक्तिमानाश्रयभूतः कश्चित् साधयिष्यत इति युक्तम् । यत आश्रयसिद्धिं विना न शक्तिसिद्धिः, शक्तिसिद्धिं विना न आश्रयसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः । यदाहुः—

'तदसिद्धं यदसिद्धेन साध्यते ।' इति ।

न चातीन्द्रियाऽपि काचिदसौ शक्तिमद्वस्तु विनाऽस्तीति न शाक्ता अपि मन्त्राः ।

आणवत्वमपि विकल्पयितुमाह—

अथ चेदाणवा मन्त्रा विग्रहाकाररूपिणः ॥ ९ ॥

तर्हि ते—

आत्मस्वरूपा विख्याता मलिना बलिनो नहि ।

शक्ति वस्तुशून्य नहीं होती । वे मन्त्र शक्तिरूप हैं । केवल (= शक्तिरहित) मन्त्र तो विपर्यय (= अमन्त्र) हैं ॥ -७-९- ॥

मन्त्र केवल शक्तिरूप = शाम्भव तेज से अस्पृष्ट केवल शक्तिमात्ररूप है यह विचार केवल भ्रम है क्योंकि वह्नि के समान किसी सिद्ध धर्मी के बिना दाहकत्व आदि धर्मरूपा शक्ति की सत्ता ही नहीं होती । शकनरूपा उसी शक्ति के द्वारा कोई शक्तिमान् आश्रयभूत सिद्ध नहीं किया जाता । आश्रय के बिना शक्ति की सिद्धि नहीं और शक्ति की सिद्धि के बिना शक्त्याश्रय की सिद्धि नहीं होती । इस प्रकार दोनों में अन्योऽन्याश्रय है । जैसा कि कहते हैं—

'जो असिद्ध के द्वारा सिद्ध किया जाता है वह असिद्ध होता है ।'

यह अतीन्द्रिय भी होगी तो भी शक्तिमद् वस्तु के बिना नहीं रह सकती । इसलिये मन्त्र शाक्त भी नहीं हैं ॥

मन्त्रों के आणवत्व को भी विकल्पित करने के लिये कहते हैं—

यदि मन्त्र आणव हैं तो वे शरीर के आकार वाले होंगे ॥ -९ ॥

ऐसा होने पर

वे आत्मरूप माने जायेंगे और मलिन होंगे और जो मलिन होते हैं वे बलवान् नहीं होते ॥ १०- ॥

एवं च—

मलिनो मलिनस्येव प्रक्षालयति कस्य कः ॥ १० ॥

निर्मला एव मलिनममलीकर्तुं क्षमाः, न तु मलिनाः । मन्त्राश्च आणवत्वादात्मवन्मलिना एव ॥ १० ॥

एवं च—

न सिद्धा ह्याणवा मन्त्रा केवलाः परमेश्वर ।

ये आणवास्ते न केवला न शुद्धाः । अतश्च कथमन्यान् केवलीकुर्युः कथं वाऽसाध्यं साधयेयुरित्याशयशेषः ॥

तर्ह्यन्य एव केचिदेते भविष्यन्तीत्याह—

तत्त्वत्रयं विनास्तित्त्वं विरुद्धं वस्तुसन्ततेः ॥ ११ ॥

आगमेषु न विना त्रितत्त्वं किंचिदस्तीत्युच्यते, नापि परप्रमातृप्रमेयात्मतां विना किंचिदप्युपद्यते ॥ ११ ॥

अतश्च—

युक्तिरेवात्र वक्तव्या प्राणिनां हितकाम्यया ।

इस प्रकार—

कौन सा मलिन किस मलिन को स्वच्छ करता है ॥ -१० ॥

निर्मल ही मलिन को मलरहित बना सकते हैं न कि मलिन । और मन्त्र आणव होने के कारण जीवात्मा की भाँति मलिन हो जायेंगे ॥ १० ॥

इस प्रकार

हे परमेश्वर ! आणव मन्त्र भी केवल नहीं हैं ॥ ११- ॥

जो आणव होंगे वे केवल = शुद्ध, नहीं होंगे । फिर वे दूसरों को कैसे केवली बनायेंगे । अथवा असाध्य को कैसे सिद्ध करेंगे—यह तात्पर्य है ॥

फिर वे (मन्त्र) कोई दूसरे ही होंगे—यह कहते हैं—

वस्तुओं का अस्तित्व तीन तत्त्व (= इच्छा ज्ञान क्रिया) के बिना विरुद्ध है (अर्थात् सम्भव नहीं है) ॥ -११ ॥

आगमों में तीन तत्त्व के बिना कुछ भी नहीं है और न परप्रमाता की प्रमेयता के बिना कुछ सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

इसलिये इस विषय में प्राणियों के हित की इच्छा से कोई युक्ति कही जानी चाहिये ॥ १२- ॥

कथमेतदुपपद्यत इति यतः सम्यग्विचाररूपा युक्तिरेव सर्वहृदयप्रत्यायिका । यदुक्तं सौरभेये—

'या चिद्व्यापाररूपैव युक्तिः सर्वत्र साधनम् ।
भोगे वाऽप्यथवा मोक्षे तस्मात्तत्रादृतो भवेत् ॥' इति ॥

न च यद्युक्तविचारतो मन्त्रा नोपपद्यन्ते, मा उपापादिषतेति वाच्यम् । यतः—

दृश्यन्ते बलिनो मन्त्रा अप्रधृष्याः सुरासुरैः ॥ १२ ॥
सर्वानुग्राहकत्वेन सर्वदाः सर्वगाः शिवाः ।

चतुष्कलनाथादयो मन्त्रा आर्तिनिवारणसिद्धिमुक्तिप्रदा अनुभूयन्त एव ॥

तदित्थम्—

संक्षेपतो महादेव संशयं तु वद स्व मे ॥ १३ ॥
त्वत्तः परतरो नान्यः कश्चिदस्ति जगत्पते ।
ब्रूहि सर्वं महेशान यदि तुष्टोऽसि मे प्रभो ॥ १४ ॥

हे महादेव स्व आत्मन् संक्षेपतः संशयमिमं वद संशयविषयं निश्चिनु । यतो

यह कैसे सिद्ध होता है क्योंकि सम्यक् विचाररूपा युक्ति ही सबके हृदय में विश्वास उत्पन्न करती है । जैसा कि सौरभेयागम में कहा गया है—

'जो चिद्व्यापाररूपा युक्ति है वही भोग अथवा मोक्ष में सर्वत्र साधन है इसकारण उसी (चिद्व्यापार) में आदरयुक्त होना चाहिये' ॥

यदि उक्त विचार से मन्त्र उपपन्न नहीं होते तो मत उपपन्न हों ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि—

मन्त्र बलवान् हैं; वे सुरों एवं असुरों से अप्रधृष्य देखे जाते हैं । सबके ऊपर अनुग्रह करने के कारण वे सब कुछ देने वाले, सर्वत्र गमन करने वाले तथा कल्याणकारी है ॥ -१२-१३- ॥

चतुष्कलनाथ (= अकार) आदि मन्त्र दुःख का निवारण करने वाले तथा सिद्धि और मुक्ति देने वाले हैं—ऐसा अनुभव किया जाता है ॥

तो इस प्रकार—

हे महादेव ! संक्षेप में मेरे संशय का निराकरण कीजिये । हे (संसार के और मेरे) स्व (= स्वामी !) आपसे बढ़कर कोई दूसरा नहीं है । हे महेश्वर ! यदि आप मुझसे सन्तुष्ट हैं तो मुझको सब कुछ बतलाइये ॥ -१३-१४ ॥

हे महादेव । हे स्व ! = आत्मन् (= स्वामी)। इस संशय को संक्षेप में कहिये

न त्वदन्यः प्रकृष्टो निर्णेता कोऽप्यस्ति, अतो यथाप्रश्नितं सर्वं ब्रूहि ॥ १४ ॥

एवं श्रुत्वा श्रीभगवानुवाच—

अहो प्रश्नो महागूढो न पृष्टोऽहं तु केनचित् ।
चोदितं तु मया सर्वं सर्वशास्त्रेषु सर्वदा॥ १५ ॥
न विन्दन्ति विमूढास्तु माययाच्छादिताः सदा ।

यस्त्वया प्रश्नः कृतः, सोऽत्यर्थं गूढः । तं चाहं न केनचित् पृष्टः । मया तु यदत्र वक्तव्यम्, तत् सर्वं सर्वशास्त्रेषूक्तम् । सर्वकालं मायया आच्छादितास्तु जना उक्तमपि वैमुख्यात्र लभन्ते, त्वं तु विदितशास्त्रसतत्त्वाऽपि विमूढजनानुकम्पयैव प्रकाशयितुमिच्छसीत्याशयशेषः । न पृष्टोऽहं तु केनचित् चोदितास्तु मया सर्व इति पाठेऽहं केनचित् (न) पृष्टः, अपि तु कुमारब्रह्मविष्ण्वादिभिः सर्वैस्तदन्यत् पृष्टः, ते च मया तत्र तत्र शास्त्रे चोदिता उद्बोधिता अपि न विन्दन्ति, त्वया तु तत्त्वज्ञतया गूढोऽयं प्रश्नः कृत इत्यर्थः ॥

अथ प्रश्नितं निर्णयति—

तत्त्वत्रयं विना वस्तु मन्त्रो वक्तुं न युज्यते ॥ १६ ॥

= इसका निराकरण कीजिये क्योंकि आपके अतिरिक्त कोई दूसरा निर्णय करने वाला नहीं है इसलिये जैसा मैंने प्रश्न किया है उसके अनुसार सब बतलाइये ॥ १४ ॥

यह सुनकर श्रीभगवान् ने कहा—

अरे यह प्रश्न तो अत्यन्त गूढ़ है । किसी ने मुझसे इसको नहीं पूछा । मैने सदा सब शास्त्रों में इसको कहा है लेकिन जो माया से आवृत और मूढ़ हैं वे इसे नहीं जानते ॥ १५-१६- ॥

तुमने जो प्रश्न किया वह अत्यन्त गूढ़ है । उसको किसी ने मुझसे नहीं पूछा । मैं जो यहाँ कहूँगा वह सब मैंने शास्त्रों में कह दिया है । जो लोग सब समय माया से आच्छादित (बुद्धि वाले) हैं, विमुख होने के कारण इस शास्त्रोक्तवचन को नहीं समझ पाते । तुम शास्त्रों के तत्त्व को जानने वाली होती हुयी भी मूढ़ लोगों के ऊपर कृपा करने के लिये प्रकाशित करना चाहती हो—यह आशय है । 'चोदितास्तु मया सर्वम्' ऐसा पाठ मानने पर मैं किसी के द्वारा नहीं पूछा गया अपि तु कार्त्तिकेय ब्रह्मा विष्णु आदि सबके द्वारा उससे भिन्न प्रश्न पूछा गया । और वे मेरे द्वारा भिन्न-भिन्न शास्त्रों में कहे जाने पर भी नहीं समझते । तत्त्वज्ञा तुम इस गूढ़ प्रश्न को की हो ॥

अब प्रश्न का उत्तर देते हैं—

तीन तत्त्वों के बिना वस्तु एवं मन्त्र का कथन ठीक नहीं होता ॥-१६॥

मननत्राणधर्मका हि मन्त्रा ज्ञानक्रियाशक्तिसतत्त्वशक्त्यणुपक्षनिष्ठा अपि शक्तेः शक्तिमदव्यतिरेकात् शाम्भवा अपीत्यर्थः ॥ १६ ॥

अत्र दण्डापूपीयन्यायमाह—

आस्तां तावत्.........

प्रकृतो मन्त्रवर्गः ॥

.....जगत्सर्वं तत्त्वहीनं न सिध्यति ।

तत्त्वं स्वच्छस्वच्छन्दचित्प्रकाशात्मा परमशिवः । तदेव च विश्वस्य सिद्धिर-प्रकाशात्मनः प्रकाशात्मकसिद्ध्ययोगात् ।

इत्थं परचित्प्रकाशात्मत्वादेव—

त्रितत्त्वनिर्मितं सर्वं यत्किंचिदिह दृश्यते ॥ १७ ॥

परो हि प्रकाशः स्वाच्छ्यस्वाच्छन्द्याभ्यामिच्छाज्ञानक्रियाशक्तिसतत्त्वतत्त्वत्रयभूमौ स्वानतिरिक्तमप्यतिरिक्तमिवैषणीयज्ञेयकार्यात्म जगदाभासयति पश्यन्त्यादिपदेष्विव वाच्यवाचकक्रमं जीवः ॥ १७ ॥

मन्त्र मनन एवं त्राण धर्मों वाले हैं; ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति वाले अणु में रहने पर भी शक्ति एवं शक्तिमान् के अभिन्न होने के कारण ये शाम्भव भी हैं ॥ १६ ॥

यहाँ दण्डापूपीय[1] न्याय को कहते हैं—

प्रस्तुत मन्त्रवर्ग को छोड़ दीजिये, तत्त्व से रहित सम्पूर्ण संसार की ही सिद्धि नहीं होगी ॥ १७- ॥

तत्त्व = स्वच्छ स्वच्छन्द चित्प्रकाशस्वरूप परमशिव । वही विश्व की सिद्धि हैं क्योंकि जो प्रकाशरूप नहीं है वह प्रकाशात्मक सिद्धि नहीं कर सकता ॥

इस प्रकार परचित्प्रकाशात्मक होने से ही—

जो कुछ यहाँ दिखलाई देता है वह सब तीन तत्त्वों से निर्मित हैं ॥ १७ ॥

जो पर प्रकाश है वह स्वच्छ और स्वच्छन्द होने के कारण इच्छा ज्ञान क्रिया रूप तीन तत्त्वों की आधारभूमि पर अपने से अभिन्न भी एषणीय ज्ञेय एवं कार्यरूप जगत् को भिन्न के समान उसी प्रकार आभासित करता है जैसे जीव पश्यन्ती आदि (= मध्यमा वैखरी) स्तरों पर वाच्यवाचक क्रम को (आभासित करता है) ॥ १७ ॥

---

१. दण्ड और अपूप (= मालपुआ) दोनों एक जगह रखे गये । चूहा दण्ड खा गया—ऐसा किसी ने कहा तो यह अर्थात् सिद्ध हो गया कि मालपुआ तो पहले ही खा गया होगा मूषिकेण दण्डो भक्षितः इत्यनेन तत्सहचरितमपूप-भक्षणमर्थादायातं भवतीति नियतसमानन्यायात् अर्थान्तरमापतति—(सा०द० १०)

एवमुक्तरीत्या—

तत्त्वत्रयं विना देवि न पदार्थो हि विद्यते ।
तस्मात्तत्त्वत्रयं सर्वं परं चापरमेव च ॥ १८ ॥

परं शुद्धोऽध्वा, अपरं त्वशुद्धः ॥ १८ ॥

एवं च—

शिवात्मकाः शक्तिरूपा ज्ञेया मन्त्रास्तथाणवाः ।
तत्त्वत्रयविभागेन वर्तन्ते ह्यमितौजसः ॥ १९ ॥

पारमेश्वरेच्छादिशक्तिनिविष्टाः शिवादिरूपाः, अतश्च अमितमोजः सर्वत्रानुग्रहादावप्रतिहतं शक्तत्वं येषाम् ॥ १९ ॥

तदेतत् तत्त्वत्रयात्मत्वं जगतो वितत्य निरूपयितुमाह—

परं सर्वात्मकं शुद्धमनाद्यं कारणं ध्रुवम् ।
अप्रमेयमनिर्देश्यमनौपम्यमनामयम् ॥ २० ॥
निराभासं परं शान्तं सर्वावयववर्जितम् ।
व्यापकं सर्वतोभद्रं सार्वज्ञ्यादिगुणैर्युतम् ॥ २१ ॥

इस प्रकार उक्त रीति से—

हे देवि ! तीन तत्त्वों के बिना किसी भी पदार्थ का अस्तित्व नहीं है । इस कारण ये तीन तत्त्व पर और अपर सब कुछ हैं ॥ १८ ॥

पर = शुद्ध अध्वा । अपर = अशुद्ध अध्वा ॥ १८ ॥

इस प्रकार—

आणव मन्त्रों को शिवात्मक एवं शक्तिरूप समझना चाहिये । अत्यन्त तेजस्वी ये मन्त्र तीन तत्त्वों के विभाग के साथ रहते हैं ॥ १९ ॥

ये मन्त्र परमेश्वर की इच्छा आदि तीन शक्तियों से युक्त शिवशक्तिरूप हैं इसलिये उनकी ओज = शक्ति, सर्वत्र अनुग्रह आदि कार्यों में अप्रतिहत = निर्विघ्न है ॥ १९ ॥

संसार की इस तत्त्वत्रयात्मकता को विस्तार के साथ निरूपित करते हैं—

परतत्त्व सर्वात्मक, शुद्ध, आदिरहित, सबका कारण, ध्रुव, अप्रमेय, अनिर्देश्य, अनुपम, निरामय, निराभास, अन्तिम, शान्त, अवयवहीन, व्यापक, सबका सब प्रकार से कल्याण करने वाला, सर्वज्ञता आदि[1] गुणों

---

१. सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञा आहुः षडङ्गानि महेश्वरस्य ॥

विज्ञानघनसंपूर्णं स्वानन्दानन्दनन्दितम् ।
निरानन्दं निर्विकल्पं निराचारं निरक्षरम् ॥ २२ ॥
अद्वैतं कल्पनाहीनं चिद्घनं चिन्मलापहम् ।
चिदचिद्व्यापकं ज्ञेयं नित्योदितमनुत्तमम् ॥ २३ ॥
निर्विकारं परं नित्यं निर्मलं निरुपप्लवम् ।
सर्वोपमानरहितं सर्वभावविवर्जितम् ॥ २४ ॥
सर्वरूपकलातीतमचलं शाश्वतं विभुम् ।
सर्वगं सर्वभावस्थं सर्वभूतेषु संस्थितम् ॥ २५ ॥
हृदिस्थं सर्वभूतानां प्रेरकं सर्ववस्तुषु ।
न तेन रहितं किंचिद् दृश्यते सुरवन्दिते ॥ २६ ॥
तस्मात्सर्वगतं विश्वं स एकः परमेश्वरः ।
सर्वज्ञो नित्यतृप्तश्च तस्य बोधो ह्यनादिमान् ॥ २७ ॥
स्वतन्त्रोऽलुप्तशक्तिश्चानन्तशक्तिर्महेश्वरः ।
तस्य चेच्छा महेशस्य न विकल्प्या कथञ्चन ॥ २८ ॥
अमेयत्वादनादित्वात् कथं केनोपलभ्यते ।
कार्यतो ह्यनुमानेन वस्तुतः परिभाव्यते ॥ २९ ॥
कार्यं तस्य परा शक्तिर्यथा सूर्यस्य रश्मयः ।
वह्नेरूष्मेव विज्ञेया ह्यविनाभाविनी स्थिता ॥ ३० ॥

से युक्त, विज्ञानघन, सम्पूर्ण, अपने आनन्द से आनन्दित, निरानन्द, निर्विकल्प, निराचार, क्षरण से रहित, अद्वैत, कल्पनारहित, चिद्घन, चैतन्य के मल को दूर करने वाला, चित् एवं अचित् में व्याप्त, नित्योदित, सर्वोत्तम, विकाररहित, नित्य, निर्मल, निरुपद्रव, सर्वोपमान-रहित, सर्वभाव से शून्य, समस्त रूप एवं कला से परे, अचल, शाश्वत, व्यापक, सर्वत्रगामी, समस्तपदार्थों में वर्त्तमान, समस्त प्राणियों (अथवा महाभूतों) में स्थित, समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित, सब वस्तुओं का प्रेरक हैं। हे सुरवन्दिते ! कुछ भी उससे रहित नहीं हैं। इस कारण वह एक परमेश्वर सर्वगामी विश्वरूप है। वह सर्वज्ञ और नित्य तृप्त है। उसका बोध भी अनादि है। वह महेश्वर स्वतन्त्र, अलुप्तशक्ति वाला तथा अनन्तशक्ति वाला है। उस महेश्वर की इच्छा का कोई विकल्प नहीं है (अथवा उसके बारे में सन्देह नहीं करना चाहिये)। चूँकि वह अमेय और अनादि है इसलिये उसे कौन और किस प्रकार प्राप्त कर सकता है। अपने कार्य एवं अनुमानप्रमाण के द्वारा वह वास्तविक समझा जाता है। जैसे सूर्य की किरणें (सूर्य का कार्य है), उसी प्रकार पराशक्ति उसका कार्य है। यह शक्ति उसके साथ अविनाभाव रूप से नित्य स्थित है जैसे

सर्वानन्दकरी भद्रा शिवस्येच्छानुवर्तिनी।
तद्धर्मधर्मिणी शान्ता नित्यानुग्रहशालिनी ॥ ३१ ॥
विवर्त एतत्सर्वं हि तच्छक्तेर्नान्यतो भवेत्।

परं धाम सर्वात्मत्वादिविशेषणविशिष्टं ज्ञेयम्, तस्य चेच्छाख्या शक्तिस्तादृश्येव कार्याद् जगदुदयादेरनुमेया, कार्यमपि तस्यैव भगवत: पराऽद्वितीया शक्तिरभिन्नैव । तेन सर्वमेतत् परमेशशक्तेर्विवर्तो विचित्रात्मतया वर्तनमितीदमत्र तात्पर्यम् । पदार्थस्तु—परं यत् प्रकृष्टं प्रकृतं मृत्युजित्तत्त्वं चिद्घनम्, तत् सर्वमात्मा स्वरूपं यस्य तादृक् । न तेन सर्वेण आच्छादितमिति शुद्धम् । स्वभित्तौ चानतिरेकिणोऽप्यतिरेकिण इव शिवादेः क्षित्यन्तस्य विश्वस्योन्मीलकत्वाद् ध्रुवं निश्चितं कृत्वाऽनाद्यं सर्वादिभूतं कारणम् । नहि परममहसोऽस्य स्वस्वतन्त्रचित्प्रकाशातिरिक्तं किमपि कारणं सिद्ध्यति । तदुक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्—

'यदसत्तदसद्युक्ता नासत: सत्स्वभावता ।
सतोऽपि न पुनः सत्तालाभेनार्थोऽथ चोच्यते॥
कार्यकारणता लोके सान्तर्विपरिवर्तिन: ।
उभयेन्द्रियवेद्यत्वं तस्य कस्यापि शक्तित: ॥ (२।४।३-४) इति ।

अग्नि के साथ उसकी ऊष्मा । वह शक्ति सर्वानन्दकरी, कल्याणकृत्, शिव की इच्छा के अनुसार चलने वाली, उसके धर्म की धर्मिणी, शान्ता और नित्य अनुग्रहपरा है । यह समस्त विश्व उसका विवर्त्त है इस कारण (यह विश्व) उसकी शक्ति से भिन्न नहीं है ॥ २०-३२- ॥

पर धाम को सर्वात्मत्व आदि विशेषणों से विशिष्ट समझना चाहिये । उस (= पर धाम) की इच्छा नामक शक्ति भी वैसी ही है । कार्य = संसार की सृष्टि आदि के द्वारा उसका अनुमान होता है । कार्य भी उसी भगवान् की परा अद्वितीया शक्ति है जो कि उस पर से अभिन्न है । इसलिये यह समस्त विश्व परमेश्वर की शक्ति का विवर्त्त अर्थात् उसकी विचित्र रूप से वर्त्तना है । अब श्लोकों में आये पदों का अर्थ बतलाते हैं—पर = प्रकृष्ट प्रकृत जो मृत्युजित् तत्त्व चिद्घन, वही सब = आत्मा = स्वरूप, है जिसका वैसा । उस समस्त से आच्छादित न होने के कारण वह शुद्ध है । अपनी भित्ति पर अनतिरिक्त होते हुए भी अतिरिक्त की भाँति, (अनाश्रित) शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त विश्व का उन्मीलक होने के कारण ध्रुव = निश्चित, है । अनाद्य = सबका प्रथम कारण । परमतेजस्वी इस तत्त्व के अपने प्रकाश से भिन्न कोई भी कारण सिद्ध नहीं होता । वही ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया है—

'जो असत् है वह असत् ही है । असत् की सत्स्वभावता समीचीन नहीं होती । सत् के भी पुन: सत्तालाभ होने से वह अर्थ (= पदार्थ) कहा जाता है । लोक में जो कार्यकारणता है वह भेदाभेदरूप से परिवर्त्तनशील अन्त:करण की है ।

विश्वकारणत्वादेवाप्रमेयम् । अतश्चेदमीदृगिति निर्देष्टुमभिधातुमशक्यम् । एवं चानौपम्यं न विद्यते उपमाऽन्येन सादृश्यं यस्य, तदतिरिक्तस्याभावादित्यर्थः । आभासादीषत्प्रकाशाद् निष्क्रान्तं न संकुचितचिद्वदीषद् भातीत्यर्थः । विश्वस्य तत्सामरस्येन स्थितेर्भेदोपशमात् परं शान्तम् । न च सदाशिवेशदशावदवयवकल्पमपि तत्र विश्वमतः सर्वावयववर्जितमित्युक्तम् । व्यापकं सर्वतोभद्रम् ।

'केन नाम न रूपेण कल्याणकारि व्यापकम्'

इति चिदचिद्व्यापकमित्यनेन स्फुटीकृतम्, सार्वज्ञ्यादीति सर्वज्ञो नित्यतृप्तश्चेत्यादिना विज्ञानघनेति चिद्घनमित्यनेन । स्वानन्देति यथा स्वप्रकाशः प्रकाश उच्यते, तथा स्वोऽनन्यापेक्ष आनन्दश्चमत्कारात्मा विमर्शो यस्य तादृशा आनन्देन नन्दितं समृद्धम्, न तु विषयसुखवद् ग्राहकविमृश्यम् । निष्क्रान्ता आनन्दा अवच्छिन्नाश्चमत्कारा यतः, विकल्पेभ्य आचारेभ्य अक्षरेभ्यश्च निष्क्रान्तम्; अक्षरं जीवो वाचकमन्त्रकलात्मा च । कल्पनया हीनमद्वैतं प्रतिपक्षरहितमनुत्तमम्, चिद्घनमद्वैतम् । अतश्च तेषां जीवानां यन्मलं मायाशक्त्युत्थितः स्वरूपगोपनात्मा संकोचः, तत्प्रशमकृत् । नित्योदितं सदा स्फुरत् । निष्क्रान्ता विकाराः

(पदार्थों का) बाह्य एवं आन्तर दोनों इन्द्रियों से वेद्यत्व भी उसी किसी (= अद्भुत परतत्त्व) की शक्ति से होता है ।' (२-४-३-४)

विश्व का कारण होने से वह अप्रमेय है । इसलिये 'यह ऐसा है'—इस प्रकार का निर्देश उसके विषय में सम्भव नहीं है । इस प्रकार वह अनौपम्य है अर्थात् इसकी किसी के साथ सदृशता नहीं है । क्योंकि उसके अतिरिक्त और कोई है ही नहीं । वह निराभास = किञ्चित् प्रकाश से रहित है अर्थात् संकुचित् चिद् के समान थोड़ा थोड़ा भासित नहीं होता। समस्त विश्व उससे समरस होकर स्थित है इसकारण वह (परतत्त्व) भेद का उपशम होने से शान्त है । सदाशिव या ईश्वर की दशा के समान विश्व उसमें अवयव की भाँति नहीं है इसलिये 'सर्वावयववर्जित' कहा गया । व्यापक एवं सर्वतोभद्र—

'किस रूप से कल्याणकारी और व्यापक नहीं है ।' (अर्थात् सभी प्रकार से वह कल्याणकृत् है)।

यह बात 'चिदचिद्व्यापकम्' कथन से स्फुट है । सार्वज्ञ आदि—इसकी व्याख्या 'सर्वज्ञो नित्यतृप्तश्च' से लेकर 'चिद्घनम्' तक की गयी है । स्वानन्द—जैसे स्वप्रकाश प्रकाश कहा जाता है उसी प्रकार स्व = अनन्यापेक्ष, आनन्द = चमत्काररूप विमर्शयुक्त आनन्द से, नन्दित = समृद्ध, है न कि विषयसुख की भाँति ग्राहक के द्वारा विमृश्य है । निरानन्द = अवच्छिन्न चमत्कार से रहित । निर्विकल्प, निराचार, निरक्षर = विकल्पों आचारों और अक्षरों से परे । अक्षर का अर्थ है—जीव जो कि वाचक, मन्त्र एवं कलारूप है । वह कल्पना से रहित और अद्वैत = प्रतिपक्षरहित, अनुत्तम चिद्घन है । इसलिये उन जीवों के मल अर्थात्

समग्रजगद्गतजन्मसत्ताविपरिणत्यादयो यस्मात् । परं विश्वापूरकम् । नित्यमकालकलितम् निर्मलमस्पृष्टाणवमलम् । निरुपप्लवमागन्तुकमायीयकार्ममलहीनम् । यथाऽद्वितीयत्वादुपमा साम्यमस्य न केनचित्, तथोपमानमपि न किंचिदस्ति । सर्वैर्भावैर्बुद्धिधर्मैर्विवर्जितम् । सर्वेषां पृथ्व्यादितत्त्वानां या रूपकला: कल्यमानानि स्वरूपाणि, ता अतिक्रम्य स्थितम् । अचलं शाश्वतं च प्राग्वत् । विभुमीश्वरम्, सर्वं गच्छति गमयत्युपसंहरतीति सर्वगम् । गमिरत्रान्तर्भावितणिच्क: । सर्वेषु भवेषु जडेषु चाजडेषु स्थितं तद्विना तेषां स्थितेरयोगात् । एतदेव हृदिस्थमित्यादिना व्यक्तीकृतम् सर्वभूतानां हृदि ग्राहकपदेऽन्तरनुप्राणकत्वेन स्थितं सत् सर्ववस्तुषु प्रेरकं तत्तद्ग्राह्यकार्यनिष्ठं ग्रहीतृकर्तृताप्रदमित्यर्थ: । अतश्च तेन रहितं न किंचिद् दृश्यते प्रकाशमानस्य तत्प्रकाश्यैक्यात् । यत् एवम्, तस्मात् सर्वगतं देवम्, यत् विश्वं तत् सर्वमेव परमेश्वर एकोऽद्वितीय इत्युक्त्या परमाद्वैतरूपता निर्वाहिता । सर्वज्ञ इत्यादि प्रागेव व्याकृतम् । एवमीदृशो नाथस्येच्छाख्या शक्तिरीदृशी एव । कार्यत इति जगत्सर्गसंहारादिकार्यादेव कर्तुश्चिन्नाथस्य सामर्थ्यात्मा साऽनुमीयते । यथोक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्—

परमेश्वर की मायाशक्ति से उत्पन्न स्वरूपगोपनात्मा संकोच का प्रशमन करने वाला है । नित्य उदित = सर्वदा स्फुरण करने वाला । वह सम्पूर्ण जगत् के जन्मस्थिति विपरिणाम आदि से रहित है । पर = विश्व का आपूरण करने वाला । नित्य = अकालकलित । निर्मल = आणव मल से असंस्पृष्ट । निरुपप्लव = मायीय एवं कार्म मलों, जो कि आगन्तुक हैं, से हीन । सर्वोपमानरहित = अद्वितीय होने के कारण न वह उपमेय है और न उपमान । सभी भावों = बुद्धिधर्मों, से विवर्जित । वह पृथिव्यादि समस्त तत्त्वों की रूपकलाओं = कल्यमान अर्थात् रच्यमाण स्वरूपों को पार करके स्थित हैं । वह अचल और शाश्वत है । विभु = ईश्वर । सर्वग = सब को प्राप्त एवं सब का संहारक । यहाँ 'गम्' धातु के साथ 'णिच्' प्रत्यय छिपा है । समस्त भावों = जड़ भूतों एवं चेतनों, में स्थित है क्योंकि उस मृत्युजित् के बिना उन भावों की स्थिति ही सम्भव नहीं है । 'हृदिस्थम्' इत्यादि पदों के द्वारा यही स्पष्ट किया गया है । समस्त प्राणियों के हृदय = ग्राहकपद, में अन्त: = अनुप्राणक के रूप में, स्थित रहते हुए सब वस्तुओं के प्रेरक अर्थात् तत्तद् ग्राह्यकार्य में स्थित ग्रहीतृरूपी कर्तृता को देने वाले हैं । इसलिये उनसे रहित कुछ दिखायी नहीं देता क्योंकि जो कुछ प्रकाशमान है वह उस प्रकाश से अभिन्न है ।

चूँकि ऐसा है इसलिये वह देव सर्वगत हैं । जो यह विश्व है वह पूरे का पूरा परमेश्वर ही है । 'एको' 'अद्वितीय:' इन पदों से उसकी पर अद्वैतरूपता बतलायी गयी है । इस प्रकार ऐसे नाथ की इच्छा शक्ति भी ऐसी ही है । कार्य से—जगत् के संहार आदि कार्य से, कर्त्ता = चिन्नाथ, की सामर्थरूपा, उसका अनुमान होता है। जैसा कि ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया—

'फलभेदादारोपितभेदः पदार्थात्मा शक्तिः ।' इति ।

तस्यैव शक्तिमतस्तत् कार्यं पराऽद्वितीया शक्तिराभास्यत्वादाभासनात्मज्ञान-शक्तिमयमिति यावत्, अत एव सूर्यरश्म्यादिवदभिन्नैव । एवंरूपतयैव हि स्फुरिताऽसौ सर्वेषामानन्दकरी शिवावेशहेतुः । अतश्च भद्रा कल्याणिनी प्रोक्त-शिवेच्छानुगतत्वेन वर्तमाना । अतश्च तत्स्वभावत्वात् शान्ता निर्विकारा अत एवंरूपत्वादेव नित्यमनुग्राहिका । सर्वं च क्रियाशक्त्या निर्मितमेतज्जगत् तस्या एव विश्वाभासात्मनः शक्तेर्विवर्तो विचित्ररूपतया वर्तनम्, अतश्च नान्यतो भवेत्, तच्छक्तिकृतत्वं विनाऽन्यस्यैवाभावात् । यथोक्तं शिवसूत्रेषु—

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' (३।३०) इति ।

श्रीसर्वमङ्गलायामपि—

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।' इति ॥

तदित्थम्—

सानन्दा तु परा शक्तिर्निरानन्दः परः शिवः ॥ ३२ ॥

सह आनन्देन उल्बणेन हर्षेण वर्तते सानन्दा । निःशेषेण महासामरस्य-

---

'शक्ति पदार्थ की आत्मा है और फल के भेद से आरोपित भेदवाली है ।'

उसी शक्तिमान् का वह कार्य ज्ञानशक्तिवाला होता है । यह आभासन रूप होता है । क्योंकि वह आभास्य होता है । यह भी पर = अद्वितीय शक्ति ही है तथा सूर्य और उसकी रश्मि के समान अभिन्न है । इस रूप से स्फुरित होने के कारण ही वह सबको आनन्द देने वाली तथा शिवावेश का कारण है । इसलिये भद्रा = कल्याणकारिणी, तथा प्रोक्तशिवेच्छा के अनुकूल व्यवहार करने वाली है । और इसीलिये उस (= शिव) के स्वभाववाली होने के, कारण (वह) शान्त = निर्विकार है । इस प्रकार की होने के कारण यह नित्य अनुग्रह करने वाली है । उसकी क्रियाशक्ति के द्वारा निर्मित यह समस्त संसार विश्वाभासरूपा उसी शक्ति का विवर्त्त = विचित्र रूप से वर्त्तनामात्र, है । इसलिये यह अन्य किसी तत्त्व से उत्पन्न नहीं होता क्योंकि उसकी शक्ति से किये गये के अतिरिक्त अन्य की कोई शक्ति या सत्ता नहीं है । जैसा कि शिवसूत्र में कहा गया—

'यह विश्व उसकी (परमेश्वर की) अपनी शक्ति का प्रचय है ।'

श्री सर्वमङ्गला नामक ग्रन्थ में भी—

समस्त संसार इसकी शक्तियाँ है और शक्तिमान स्वयं महेश्वर है ॥

तो इस प्रकार—

पराशक्ति सानन्द है और परशिव निरानन्द ॥ -३२ ॥

जो आनन्द = उल्बण हर्ष, से युक्त हो वह सानन्द होता है । निःशेष =

विश्रान्त्यात्मा आन्दो यस्य, स निरानन्दः ॥ ३२ ॥

आनन्दोल्बणत्वादेव च शक्तिः समुल्लसन्ती सर्वज्ञतादिगुणषट्काभासरूपेत्याह—

सार्वज्ञादिगुणा ये च शिवस्य परमात्मनः ।
शाक्तास्ते नान्यतो दृष्टा ह्यन्यथानुपपत्तितः ॥ ३३ ॥

परशक्तेरिच्छाप्रमुखं ज्ञानरूपतापत्तौ सर्वज्ञत्वादिव्यक्तेः शाक्ता एव एते गुणा इत्यर्थः ॥

तदित्थम्—

एकः शिवस्तथैका तु शक्तिरेव हि शाश्वती ।
अभिन्नाद्वैतसंस्थाना सैवैका समुदायिनी ॥ ३४ ॥

अभिन्नं द्वैतप्रतियोगि यदद्वैतम्, तेन संस्था यस्याः । समुदायिनी अशेषविश्वसामरस्यात्मा ॥

सर्वज्ञतादिगुणवैचित्र्येण वर्तमानाऽपि कथमभिन्नेत्याह—

इच्छारूपा शिवस्यैषा ह्यभिन्ना सर्वतोमुखी ।

महासामरस्य की विश्रान्तिरूप, आनन्द है जिसमें वह निरानन्द है ॥ ३२ ॥

आनन्द के अत्यधिक होने से ही शक्ति उल्लसित होती हुई, सर्वज्ञता आदि छह गुणों की आभासरूपा हो जाती है—यह कहते हैं—

परमात्मा शिव के जो सर्वज्ञता आदि गुण हैं वे शक्ति के ही गुण हैं दूसरे के नहीं। उनकी अन्यथा उपपत्ति नहीं देखी गयी है ॥ ३३ ॥

परशक्ति के इच्छा की प्रधानता के साथ, ज्ञानरूपा होने पर सर्वज्ञता आदि की अभिव्यक्ति होती है, इसलिए ये (सर्वज्ञता आदि) गुण शाक्त ही हैं ।

तो इस प्रकार—

शिव एक है; उसी प्रकार शाश्वती शक्ति भी एक है । वह (शिव से) अभिन्न अद्वैतरूप में स्थित रहने वाली तथा समुदायिनी है ॥ ३४ ॥

अभिन्ना = द्वैत का विरोधी जो अद्वैत उसके साथ जिसकी स्थिति है वह (अभिन्ना अद्वैतसंस्थाना) है । समुदायिनी = समस्त विश्व की समरसतारूपा ॥

सर्वज्ञता आदि विचित्र गुणों के साथ रहने पर भी वह अभिन्न कैसे है?—यह कहते हैं—

शिव की इच्छारूपा यह उससे अभिन्न और सर्वतोमुखी है । कुछ

किञ्चिदुच्छूनतापत्तेः सार्वज्ञादिगुणास्ततः ॥ ३५ ॥

किञ्चिदुच्छूनतया ज्ञानक्रियाशक्तिरूपतापन्ना परा शक्तिरेव सर्वज्ञतादिरूपतया स्थितेत्यर्थः ॥

अत एवाह—

ज्ञानरूपा तु सैवैका यदा संबोधयत्यलम् ।
बोधो ह्यनादिरत्यन्तः परं ज्ञानं तु सा स्मृता ॥ ३६ ॥
ज्ञानशक्तिरिति ख्याता सार्वज्ञादिगुणास्पदम् ।
यदा स्वतन्त्रालुप्ता सा क्रिया करणरूपिणी ॥ ३७ ॥
वर्णरूपाष्टभेदेन स्फोटादिध्वनिरूपिणी ।
मातृका सा विनिर्दिष्टा क्रियाशक्तिर्महेश्वरि ॥ ३८ ॥
क्रियाख्या परमा सा तु सर्ववाङ्मयरूपिणी ।

सैवेति प्रक्रान्ता-परा शक्तिः । यदा संबोधयतीत्येकैव हि शक्तिस्तत्तत्कृत्योपाधिवशात् तत्तद्रूपा उच्यते । बोधो हीति यतो बोधो दिक्कालाद्यनवच्छेदादाद्यन्तरहितस्तादृक् परं यद् ज्ञानं, तत् सैव परा शक्तिर्ज्ञानशक्तिरिति ख्याता प्रथिता,

---

उच्छूनता के कारण उसमें सर्वज्ञता आदि गुण आ जाते हैं ॥ ३५ ॥

पराशक्ति ही (परम शिव के स्पन्दित होने के कारण इच्छारूपा होती हुयी) ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति रूपों को प्राप्त कर सर्वज्ञता आदि के रूप में स्थित है ॥

इसीलिये कहते हैं—

वह परा शक्ति जब सम्बुद्ध होती है या अपने को संबोधित करती है तब एक अर्थात् अकेली ही वह ज्ञानरूपा हो जाती है । यह बोध भी अनादि और अनन्त है । और वह (पराशक्ति) पर ज्ञान कही गयी है । वह ज्ञानशक्ति कही गयी है जो कि सर्वज्ञता आदि गुणों का स्थान है । जब वह स्वतन्त्र होने के साथ अलुप्तशक्ति वाली होती है तब करणरूपिणी क्रियाशक्ति कहलाती है । उस समय वह आठ के भेद से (= अ, क, च, ट, त, प, य और श) वर्ग के रूप में वर्ण रूप में स्थित होती है तथा स्फोट आदि (आठ प्रकार की) ध्वनि रूपवाली हो जाती है । (अ, से लेकर 'क्ष' तक) वह मातृका कही गयी है । यह महेश्वर की क्रियाशक्ति है । यह क्रिया नामक परमा शक्ति समस्त वाङ्मयरूपा है ॥ ३६-३९- ॥

वही = प्रस्तुत पराशक्ति । जब सबोधन करती है—एक ही शक्ति तत्तत् कृत्यरूप उपाधि के भेदवश तत्तद् रूपा (= इच्छारूपा ज्ञानरूपा आदि) कही जाती है । बोध—चूँकि बोध देश काल आदि के अवच्छेद से रहित है इसलिये उस

अतश्च प्रोक्तसर्वज्ञत्वादिगुणास्पदं स्मृता, ज्ञानशक्त्यविनाभावित्वात् सर्वज्ञतातृप्त्यनादिबोधानन्तशक्त्याख्यानां गुणानाम् । सैव च परा शक्तिर्गृहीतज्ञानशक्तिभूमिका यदा विश्वसर्गादौ स्वतन्त्रा (अत एव) सदैवालुप्तशक्तिर्भवति, तदा सैव करणरूपिणी निर्माणरूपा सती क्रियाशक्तिरुच्यते । कथमक्रमाया अपि ज्ञानशक्तेः सक्रमक्रियारूपता ?—इत्याशङ्क्य आह—वर्णरूपेत्यादि । बोधो हि स्वातन्त्र्यसारस्फुरत्तात्मविमर्शशक्तिपरमार्थः, अन्यथाऽस्य च मत्कर्तृत्वात्मबोधकत्वानुपपत्तावाकारधारित्वमात्रेण जडस्फटिकादितुल्यतैव । आकारोन्मज्जनादेरपि चानुपपत्तिर्बोधविविक्तस्य तद्धेतोरप्रकाशनेनासिद्धेरिति बोधः स्फुरत्तात्मपरवाग्रूपाहंविमर्शात्मिकर्तृत्वसतत्त्व एव । उक्तं च प्रत्यभिज्ञायाम्—

'स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदु ।' (१।५।११) इति,
'चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् ।' (१।५।१३)

इत्यादि च । वाक्यपदीयेऽपि—

'वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥' (१।१२५) इति ।

प्रकार का जो परज्ञान है वही पराशक्ति ज्ञानशक्ति के नाम से कही गयी है । और इसीलिये उपर्युक्त सर्वज्ञत्व आदि गुणों का आस्पद (= आश्रयभूत) कही गयी है । क्योंकि सर्वज्ञता तृप्ति अनादिबोध अनन्तशक्ति आदि गुण ज्ञानशक्ति के बिना नहीं रह सकते । वही पराशक्ति ज्ञानशक्ति की भूमिका में उतरने के बाद जब विश्व की सृष्टि आदि के विषय में सदा अलुप्तशक्ति होती है तब वही करणरूपिणी = निर्माणरूपा, होकर क्रियाशक्ति कही जाती है । क्रमरहित ज्ञानशक्ति सक्रमक्रियाशक्तिरूपा कैसे हो जाती है?—यह शङ्का कर कहा—वर्णरूपा इत्यादि । बोध का अर्थ है—स्वातन्त्र्यसाररूपी स्फुरत्ता वाली विमर्शशक्ति । अन्यथा चमत्काररूप बोध की अनुपपत्ति होने पर केवल आकार धारण करने से यह बोध जड़ स्फटिक आदि के समान हो जायगा । आकार का उन्मज्जन (= प्रकट होना) आदि भी सिद्ध नहीं होगा क्योंकि बोध से रहित वस्तु उसके कारण के अप्रकाशन से असिद्ध हो जायगी । इसलिये बोध स्फुरत्तात्मक परावाक्रूप अहंविमर्श का कर्त्ता है । ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा भी गया है—

'विमर्श को प्रकाश का स्वभाव माना गया है ।' (१.५.११)

तथा—

'चित् शक्ति प्रत्यवमर्श (= विमर्श) रूपा है और वही परावाक् है ।' (१.५.१३) इत्यादि ॥

वाक्यपदीय में भी—

'यदि अवबोध की शाश्वती वाग्रूपता नष्ट हो जाय तो प्रकाश कभी भी

तदित्थं बोधस्वातन्त्र्यात्मा परैव वाक्शक्तिः पश्यन्त्यादिपर्यन्तसूक्ष्मस्थूलशब्दनात्मा ध्वनिरूपा—

'घोषो रावः स्वनः शब्दः स्फोटाख्यो ध्वनिरेव च ।
झांकारो ध्वङ्कृतिश्चैव ह्यष्टौ शब्दाः प्रकीर्तिताः ॥' (११।६-७)

इति श्रीस्वच्छन्दोक्तदृशा,

'दीप्ताग्न्याभः प्रथमः भेदितकांस्यप्रभोऽथ वंशनिभः ।
भ्रमरीरव इव पञ्चमतन्त्रीसदृगखिलतन्त्रीगः ॥
घण्टासमोऽम्बुदसदृग्वाताहततन्त्रिकासमानश्च ।
श्रव्यो दशधा नादः क्रमेण सूक्ष्मतया ॥'

इत्यस्मद्गुरुनिरुक्तनीत्याऽष्टविधशब्दव्याप्तिरादिक्षान्तपञ्चाशद्वर्णभट्टारकरूपतया समस्तमन्त्रादिमयशुद्धाशुद्धजगज्जननी, अज्ञाता माता मातृका प(ा)रमेश्वरी क्रियाशक्तिः । एषैव चाक्रमाऽपि समस्तवाच्यवाचकात्मवाङ्मयाभासरूपतया सक्रमा क्रिया उच्यते । तदुक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्—

'सक्रमत्वं च लौकिक्याः क्रियायाः कालशक्तितः ।

प्रकाशित नहीं होगा । क्योंकि वह (= वाग्रूपता) प्रत्यवमर्श वाली है ।' (१.१२५)॥

तो इस प्रकार बोधस्वातन्त्र्यरूपा परा ही वाक् शक्ति पश्यन्ती आदि तक सूक्ष्म स्थूल शब्द करने वाली ध्वनिरूपा हैं—

'घोष, राव, स्वन, शब्द, स्फोट, ध्वनि, झङ्कार और ध्वङ्कृति—ये आठ प्रकार के शब्द कहे गये हैं ।' (स्व.तं. ११.६-७)

इस स्वच्छन्दतन्त्र में उक्त रीति से, तथा

'पहला दीप्त अग्नि की ध्वनि के समान, दूसरा फूटे हुए कांस्य वर्त्तन के ध्वनि के समान, तीसरा बाँस की आवाज के सदृश, इसी प्रकार भ्रमरी के गुञ्जन के सदृश, वीणा के पञ्चम स्वर की भाँति, वीणा के समस्त तारों के एक साथ बजने जैसा, घण्टा के समान, बादल की गर्जन के समान और वायु से आहत वीणा सितार आदि की ध्वनि के समान—इस प्रकार दश प्रकार के नाद को सूक्ष्म रूप से सुनना चाहिये ।'

हमारे गुरु के द्वारा उक्त नीति के अनुसार आठ प्रकार की शब्दव्याप्ति को 'अ' से लेकर 'क्ष' तक के ५० वर्णों तथा इनके द्वारा रचित मन्त्रों आदि से युक्त शुद्धाशुद्ध संसार की जननी पारमेश्वरी क्रियाशक्ति है । यह माता अज्ञात होने के कारण (मातृशब्द से अज्ञात अर्थ में 'कन्' प्रत्यय जोड़ने से निष्पन्न) मातृका कही जाती है । अक्रमा (= क्रमरहित) होते हुए भी यह समस्त वाच्यवाचकरूप वाङ्मय की अभासरूपा होने से सक्रमा क्रिया कही जाती है । वही ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया है—

घटते नैव शाश्वत्याः प्राभव्याः स्यात् प्रभोरिव ॥' (२।१।२)

इति ॥

तदित्थं स्वस्वातन्त्र्याभासितक्रमात्मा—

एवं क्रियेति सा प्रोक्ता एकानन्यस्वभावजा ॥ ३९ ॥
स्वभावोत्था स्वभावार्था स्वा स्वतः स्वोदिता शिवा।

एकाऽद्वयात्माऽपि, एवमित्युक्तदृशा क्रमारूषिता सती पारमेश्वरी शक्तिः क्रियेत्युक्ता। सा च न केवलं नान्यस्मात् स्वभावाज्जायत इत्यनन्यस्वभावजा, अपि तु स्वभावादेवोत्थानं विश्वरूपोच्छलत्ता यस्यास्तादृशीति व्यतिरेकेणान्वयेन च स्वातन्त्र्यमस्या दर्शितम्। स्वयं विश्वात्मतयोच्छलितापि स्वत इति स्वत्र रूपे स्थिता। न च विश्वेन आच्छादिता, अपि तु स्वोदिता स्वप्रकाशा, अत एव स्वे स्वानतिरिक्ता भावा भवन्तोऽर्था विश्वे पदार्था यस्याः सा तथा। अतश्च स्वा आत्मभूता विशेषाभासनाद् विश्वस्य। ततश्च शिवा स्वच्छस्वच्छन्दप्रकाशात्म-शिवरूपा। तदुक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्—

'या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता।

'लौकिक क्रिया का सक्रमत्व कालशक्ति के कारण होता है। लेकिन प्रभु की शाश्वती शक्ति का सक्रमत्व उस प्रकार का नहीं होता है जैसा कि परमेश्वर का' ॥ (२.१.२)

इस प्रकार अपने स्वातन्त्र्य के कारण आभासितक्रमरूपा—

वह (= शक्ति) क्रिया कही गयी है जो कि एक एवं अनन्यस्वभाव से उत्पन्न है। वह (पराशक्ति के) अपने ही स्वभाव से उत्पन्न, स्वभाव-रूप अर्थों वाली, स्वस्वरूपा, स्वतः स्थित, अपने से ही उदित एवं शिवरूपा है ॥ -३९-४०- ॥

एका = अद्वयरूपा। इस प्रकार = उक्त रीति से। क्रम से युक्त पारमेश्वरी शक्ति क्रिया कही गयी है। वह किसी दूसरे स्वभाव से नहीं उत्पन्न होती इसलिये अनन्यस्वभावजा है। उसका उत्थान = विश्वरूप में उच्छलत्ता, स्वभाव से ही होता है। इस प्रकार व्यतिरेक और अन्वय के द्वारा उसका स्वातन्त्र्य बतलाया गया। स्वयं विश्वरूप में उच्छलित होती हुयी भी वह स्वतः = अपने में ही स्थित है। (यहाँ 'तसिल्' प्रत्यय सप्तमी अर्थ में है।) वह विश्व के द्वारा आच्छादित नहीं है वरन् स्वोदिता = स्वप्रकाशा, है इसलिये स्वभावार्था = स्व = अपने से अभिन्न, भाव = उत्पन्न होने वाले अर्थ, अर्थात् समस्तपदार्थ वाली है। इसी कारण स्वा = आत्मभूता, है क्योंकि विश्व का विशेषरूप से आभास होता है। इसलिये शिवा = स्वच्छ स्वच्छन्द प्रकाशात्मक शिवरूपा है। वही ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया—

अक्रमानन्तचिद्रूप: प्रमाता स महेश्वर: ॥' (१।७।१) इति ॥

एतत् स्फुटयति—

व्यतिरिक्ता न चैवैषा कर्तृत्वं शक्तिरुच्यते ॥ ४० ॥

चो ह्यर्थे भिन्नक्रम: । यत: कर्तु: स्वतन्त्रस्य भाव: स्वरूपमेव धर्मान्तर-प्रतिक्षेपेण कर्तृत्वम् । तदेव च शक्ति: शकनं सामर्थ्यं समर्थादनतिरिक्तमुच्यते । अतो व्यतिरिक्ता एषा न भवति ।

तदुक्तं श्री विज्ञानभैरवे—

'शक्तिशक्तिमतोर्यस्मादभेद: संव्यवस्थित: ।
अतस्तद्धर्मधर्मित्वात् परा शक्ति: परात्मन: ॥' (१८)

इति ॥ ४० ॥

ननु यदि शिव: शक्तिमान् जगद्रूपतया स्फुरति, तदयं विकारित्वाद् माया-तत्त्ववदुपादानं जात इति तदधिष्ठात्रा निमित्तकारणरूपेण कर्त्रन्तरेण भवितव्यम्, तथा—

'भोगसाधनसंसिद्ध्यै भोगेच्छोरस्य मन्त्रराट् ।

'तत्तत् पदार्थों के क्रमवाली जो यह प्रतिभा है वह अक्रम अनन्त चिद्रूप प्रमाता परमेश्वर ही है' ॥

इसको स्पष्ट करते हैं—

यह (शिव से) भिन्न नहीं हैं क्योंकि (उस शिव की) कर्त्तृता ही शक्ति कही जाती है ॥ ४० ॥

उक्त श्लोक में 'च' का प्रयोग 'हि' अर्थ में है और उसका क्रम भिन्न है (अर्थात् उसको 'एषा' के बाद पढ़ना चाहिये ।) क्योंकि कर्त्ता जो कि स्वतन्त्र होता है, का भाव = स्वरूप, ही धर्मान्तर के प्रतिक्षेप के कारण कर्त्तृत्व होता है । वही शक्ति = शकन = सामर्थ्य, समर्थ व्यक्ति से अभिन्न कहा जाता है । इसलिये यह (शिव से) भिन्न नहीं है । वही विज्ञानभैरव में कहा गया—

'चूँकि शक्ति और शक्तिमान् का अभेद सम्यक्तया निश्चित है इसलिये उस धर्म का धर्मी होने के कारण यह परमेश्वर की पराशक्ति है' ॥ ४० ॥ (वि.भै. १८)

प्रश्न है कि यदि शिव शक्तिमान् होता हुआ विश्व के रूप में स्फुरण करता है तो यह विकारी हो गया और इस कारण मायातत्त्व की भाँति यह जगत् का उपादान कारण हो जायगा, फिर निमित्त कारण के रूप में कोई इस उपादान का अधिष्ठाता कर्त्ता होना चाहिये ? तथा—

'इस भोगेच्छु के भोगसाधन की सिद्धि के लिये मन्त्रराट् ने शक्तियों के द्वारा

जगदुत्पादयामास मायां विक्षोभ्य(आविश्य)शक्तिभिः ॥' (१।२५)

इति श्रीपूर्वनिरूपितनीत्या तत्क्षोभकेन केनचिदनन्तभट्टारककल्पेनापि भाव्यम् ?—इत्याशङ्क्याह—

शिवस्य परिपूर्णस्य स्वतन्त्रस्य विभोर्यतः ।
कः कर्ता क्षोभकः को वा तस्माद‌द्वैतता शिवे॥ ४१ ॥

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।'

इति स्थित्या विश्वात्मत्वात् परिपूर्णस्य शिवस्य चिदानन्दघनस्य भगवतो मृत्युजितः पारिपूर्ण्येनान्यानपेक्षत्वात् स्वतन्त्रस्य विभोर्व्यापकस्य कः कर्ता, कश्च क्षोभकः? न कश्चित्, स्वतन्त्रचिद्भैरवतातिरिक्तस्यान्यस्याभावात् । यत एवम्, तस्मात् शिवे शिवभट्टारकेऽद्वैतता परमाद्वयरूपत्वम्; न तु द्वैतस्य नामास्ति । तदुक्तं श्रीभगवता कात्येन श्रीपूर्ववार्तिके—

'सिद्धे व्याप्तृत्वे भेदविरोधात् तदभेदो विश्वस्य ।' इति ।

भगवतश्चिदात्मत्वेन चेत्यधर्मदेशाद्यनवच्छेदाद् यावद् व्याप्तृत्वं सिद्धं तावत् । एतेनैव परमाणोः परममहत आकाशादेरपि चान्तर्बहिश्च ओतप्रोतत्वात् कथं भेद

माया को विक्षुब्ध कर विश्व को उत्पन्न किया ।' (मा.वि.तं. १.२५)

श्रीपूर्वशास्त्र में निरूपित इस नीति के अनुसार अनन्तभट्टारक के समान कोई उसका क्षोभक होना चाहिये ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

चूँकि शिव परिपूर्ण स्वतन्त्र और सर्वव्यापी है इसलिये उसका कर्त्ता या क्षोभक दूसरा कौन हो सकता है । इस कारण शिव अद्वैत है ॥ ४१ ॥

'समस्त संसार इसकी शक्तियाँ है और शक्तिमान् तो महेश्वर ही है ।'

इसके अनुसार विश्वात्मक होने के कारण परिपूर्ण, कल्याणप्रद, चिदानन्दघन भगवान् मृत्युञ्जय के परिपूर्ण होने से अन्य से निरपेक्ष होने के कारण स्वतन्त्र एवं विभु = व्यापक, परमेश्वर का कौन कर्त्ता हो सकता है ? और कौन क्षोभक हो सकता ? अर्थात् कोई नहीं । क्योंकि स्वतन्त्र चिद्भैरवता के अतिरिक्त कोई दूसरा कोई है ही नहीं । चूँकि ऐसा है इसलिये शिव भट्टारक में अद्वैतता = परमाद्वयरूपता है । वहाँ द्वैत का नाम भी नहीं है । वही भगवान् कात्य (= अभिनवगुप्त) ने श्रीपूर्ववार्त्तिक में कहा है—

'(परमेश्वर की) व्यापकता सिद्ध होने पर भेद का विरोध होने के कारण विश्व का उनसे अभेद ही है ।'

भगवान् के चिदात्मक होने से चेत्य धर्म = देश आदि, से अनवच्छिन्न होने के कारण जब तक व्याप्तृत्व सिद्ध है तब तक । इसी (परमेश्वर) के द्वारा परमाणु से लेकर परम महत् आकाश आदि तक ओतप्रोत होने के कारण कैसे भेद हो

इति भेदविरोधात् तेनैव व्यापिना विश्वस्य चेतनाचेतनस्याभेदः ॥ ४१ ॥

तदित्थं विश्वात्मत्वेन—

यत्तस्य सर्वशक्तित्वं सा शक्तिरुपचर्यते ।
तया तु कुरुते सृष्टिं स्थितिं संहृतिमेव च ॥ ४२ ॥
करोति भगवान् सर्वं तिरोभावमनुग्रहम् ।

यत् सर्वशक्तित्वं भगवतः, सैवास्य शक्तिः स्वातन्त्र्यम् स्वस्वातन्त्र्यादेव विश्वशक्तिर्भगवान् । यदुक्तं शिवसूत्रेषु—

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम् ।' (३।३०) इति ।

उपचर्यत इति भेदेन शिवात् परं व्यवह्रियते न तु तात्त्विको जगतः शिवशक्तेरपि शिवात् कश्चिद् भेदो घटते । तदुक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्—

'फलभेदादारोपितभेदः पदार्थात्मा शक्तिः ।'

इति तया च स्वाव्यतिरिक्तया शक्त्या भगवान् सर्वं करोति । एतदेव सृष्ट्यादिपञ्चकं कुरुत इति विशेषोक्त्या स्फुटीकृतम् ॥

सकता है । इसलिये भेदविरोध होने के कारण उसी व्यापक के साथ जड़चेतन विश्व का अभेद है ॥ ४१ ॥

तो इस प्रकार विश्वात्मक होने के कारण—

जो उस (परमेश्वर) का सर्वशक्तित्व है वही शक्ति नाम से पृथक् समझी जाती है । उसी के द्वारा भगवान् शिव सृष्टि स्थिति संहार निग्रह और अनुग्रह सब कुछ करते हैं ॥ ४२-४३- ॥

जो भगवान् का सर्वशक्तित्व है वही इसकी शक्ति = स्वातन्त्र्य है । अपने स्वातन्त्र्य के कारण ही भगवान् विश्वशक्ति वाले हैं । जैसा कि शिवसूत्र में कहा गया—

'इस (परमेश्वर) की अपनी शक्ति का प्रचय ही विश्व नाम से जाना जाता है ।' (३.३०)

उपचरित होती है—भेद के कारण शिव से अतिरिक्त मानी जाती है न कि यह तत्त्वतः भिन्न है । संसार का भी शिवशक्ति से अतिरिक्त कोई भेद नहीं है । (अर्थात् जो शिव है वही शक्ति है जो शक्ति है वही जगत् है) वही ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया है—

'शक्ति पदार्थस्वरूप है और वह फल में भेद होने से आरोपित भेदवाला है ।'

उस अपने से अभिन्न शक्ति के द्वारा भगवान् मृत्युञ्जय सब कुछ करते हैं । इन सृष्टि आदि पाँच कार्यों को करते हैं यह विशेष उक्ति के द्वारा स्पष्ट किया

एतदेव विभागेन दर्शयति—

क्रियाशक्त्या तु सृजति ज्ञानशक्त्या जगत्स्थितिम् ॥ ४३ ॥
संहारं रुद्रशक्त्या तु तिरोभावं तु वामया ।
अनुग्रहं ज्येष्ठया तु कुरुते नात्र संशय: ॥ ४४ ॥

एकैव शक्तिमत: शक्ति: कृत्यभेदाज्ज्येष्ठादिरूपतयोच्यते—इत्याह—

कृत्यं पञ्चविधं शम्भोर्जगतो दृश्यते यत: ।
क्रियमाणं विकल्प्यं तत् सर्वज्ञस्य विचेष्टितम् ॥ ४५ ॥

जगति कृत्यं कार्यं सृष्ट्यादिभेदेन पञ्चधा क्रियमाणं यतो दृश्यते, तत् तस्मात् शंभोर्विचेष्टितं स्पन्दितं विकल्प्यं ज्येष्ठादिशक्तिभेदेनोच्यते ॥ ४५ ॥

तदित्थम्—

यतस्तत: शक्तिरेषा शिवस्यैवानुमीयते ।

सर्वस्मादाभासमानादाभासनरूपा शक्तिराभासकस्य शिवनाथस्य चिदात्मन: न त्वन्यस्य कस्यचिदनुमीयते निश्चीयते ॥

गया ॥

इसी के विभाग के द्वारा दिखलाते हैं—

परमेश्वर अपनी क्रियाशक्ति के द्वारा सृष्टि करते हैं; ज्ञानशक्ति के द्वारा संसार की स्थिति बनाते हैं । रुद्रशक्ति के द्वारा संहार, वामाशक्ति के द्वारा तिरोभाव (= निग्रह) एवं ज्येष्ठा शक्ति के द्वारा अनुग्रह करते हैं । उसमें संशय नहीं है ॥ -४३-४४ ॥

शक्तिमान् की एक ही शक्ति कार्य के भेद से ज्येष्ठा आदि रूपों से कही जाती है—यह कहते हैं—

चूँकि संसार के विषय में शिव का पाँच प्रकार का कार्य किया जाता दिखलायी पड़ता है इसलिये सर्वज्ञ की चेष्टा भी विकल्प्य होती है ॥ ४५॥

चूँकि संसार में क्रियमाण कृत्य = कार्य, सृष्टि स्थिति आदि के भेद से पाँच प्रकार का किया जाता दिखलायी देता है इस कारण शम्भु का विचेष्टित = स्पन्द, विकल्प्य है = ज्येष्ठा आदि शक्ति के भेद से कहा जाता है ॥ ४५ ॥

तो इस प्रकार—

जैसे तैसे यह शक्ति शिव की ही अनुमित होती है ॥ ४६- ॥

समस्त आभासमान पदार्थों के कारण आभासनरूपा शक्ति आभासक चिदात्मा शिव की ही है न कि किसी दूसरे की—यह अनुमित होता है = निश्चित होता है ॥ ४५- ॥

यतः सर्वस्य कार्यस्य पारमेश्वरी शक्तिरेव कारणम्, ततः—

आत्माणवो ह्यनन्ताश्च मलेनैव निरोधिताः ॥ ४६ ॥
तेऽनुगृहीताः परया परमेशस्य चेच्छया ।

पूर्वनिर्णीतमायाशक्तिसङ्कोचात्मना मलेनाणवेन निरोधिता ग्राहितापूर्णमन्यताभिमानाः, अत एवाऽनन्ता आत्माणवः । ते च परया परमेशेच्छयाऽनुगृहीताः प्रापितपरमेश्वराभेदाः ॥

तदित्थम्—

शिवः शक्तिस्तथात्मा च त्रितत्त्वं चेत्यनुत्तमम् ॥ ४७ ॥

शिवशक्त्योस्तावदुक्तदृशा परमोत्कृष्टत्वम्, आत्मनस्तु सङ्कोचाभासवतोऽपि चित्प्रकाशात्मतयैव ग्राहकत्वादुत्तमत्वम् ॥ ४७ ॥

तदेवं परमशिवभट्टारकः शिवशक्त्यात्माख्यतत्त्वत्रयात्मना स्फुरित्वा पुनरपि स्वातन्त्र्यात्—

त्रिस्वरूपस्तथा देवो रुद्रो विष्णुः पितामहः ।
करोति षड्विधां सृष्टिं चतुर्भेदविभेदिताम् ॥ ४८ ॥

चूँकि पारमेश्वरी शक्ति ही समस्त कार्यों का कारण है इसलिये—

अनन्त आत्मारूपी अणु मल के द्वारा निरुद्ध किये जाते हैं और बाद में वे परमेश्वर की परा इच्छाशक्ति के द्वारा अनुगृहीत होते हैं ॥-४६-४७-॥

पहले वर्णित मायाशक्ति के संकोचस्वरूप आणव मल से निरोधित = अपूर्णमन्यतारूपी अभिमान से युक्त, किये गये होते हैं इसलिये वे जीवात्मारूपी अणु अनन्त हैं । वे परमेश्वर की परा इच्छाशक्ति के द्वारा अनुगृहीत = परमेश्वर से अभेद को प्राप्त, करा दिये जाते हैं ॥

इस प्रकार—

शिव, शक्ति एवं आत्मा ये तीन तत्त्व सर्वोत्तम हैं ॥ -४७ ॥

शिव और शक्ति तो उक्त रीति से सबसे उत्कृष्ट हैं (= शिव सर्वातिशायी अद्वय तत्त्व है और शक्ति उससे अभिन्न, इसलिये दोनों सर्वातिशायी होने के कारण सर्वोत्तम हैं) और जीवात्मा यद्यपि संकोचाभास वाला है तो भी वह परम चैतन्यरूपी प्रकाशस्वरूप के रूप में ग्राहक होने के कारण उत्तम है ॥ ४७ ॥

तो इस प्रकार परमशिवभट्टारक शिव, शक्ति एवं आत्मा नामक तीन तत्त्वों के रूप में स्फुरित होकर पुनः स्वातन्त्र्य के कारण—

वह देव तीन रूपों ब्रह्मा विष्णु एवं रुद्र होकर चार भेदों वाली छह

त्रिस्वरूप इत्येक एव त्रिमूर्तिः । सृष्टिमिति स्थितिसंहृत्युपलक्षणपरम् ॥ ४८॥

षड्विधत्वं चतुर्भेदत्वं च दर्शयति—

प्रेतनारकतिर्यञ्चसदेवमुनिमानुषम् ।
जरायुजाण्डजं देवि तथा संस्वेदजोद्भिजम् ॥ ४९ ॥
शक्त्या तु भगवान् सर्वं करोति हि विभुत्वतः ।

प्रेतनारकसृष्टिस्तामसी, किंचिदपचिततमस्का तु पशुपक्षिसरीसृपात्मतिर्यक्-सृष्टिः । दैवी सृष्टिः सात्त्विकी । मौनी रजःसत्त्वमयी । मानुषी रजस्तमोमयी । तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'प्रथमं तामसीं सृष्टिं करोति तमसोत्कटाम् ।
नरकान् विविधाकारान् पशून् वै स्थावरान्तकान् ॥
तमोरजःसमावेशान् मानवान् संसृजेत् पुनः ।
रजः सत्त्वसमाविष्टः सृजेन्मुनिवरेश्वरान् ॥
गतनिद्रः प्रबुद्धस्तु सत्त्वाविष्टो जगत्पतिः ।

प्रकार की सृष्टि करते हैं ॥ ४८ ॥

त्रिस्वरूप = यह त्रिमूर्त्ति एक ही है । सृष्टि पद स्थिति और संहार को भी बतलाता है ॥ ४८ ॥

छह प्रकारों और चार भेदों को दिखलाते हैं—

(छह भेद हैं—) प्रेत, नारकीय, तिर्यक् (= पशु पक्षी सरीसृप), देवता, मुनि और मनुष्य । हे देवि ! जरायुज (= जरायु-नवजात शिशु को सर्वथा आवृत की हुयी पतली झिल्ली) से उत्पन्न, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज । इन सबकी रचना भगवान् विभु होने के कारण अपनी शक्ति से करते हैं ॥ ४९-५०- ॥

प्रेतों एवं नरकवासियों (तथा वृक्ष गुल्म आदि) की सृष्टि तामसी होती है । पशु पक्षी और रेंग कर चलने वाले सर्प आदि वाली तिर्यक् सृष्टि कुछ कम तामसी होती है । देवों की सृष्टि सात्त्विकी होती है । मुनियों ऋषियों की सृष्टि सत्त्वरजोमयी तथा मनुष्यों की सृष्टि रजस्तमोमयी होती है । वही बात श्री स्वच्छन्दतन्त्र में कही गयी है—

'परमेश्वर पहले तमस् = अज्ञान, से परिपूर्ण तामसी सृष्टि करते हैं । इसमें अनेक प्रकार के नरक, पशु से लेकर स्थावर पर्यन्त की रचना होती है । तत्पश्चात् तमस् एवं रजोगुण के समावेश से मनुष्यों की रचना करते हैं । उसके बाद रजोगुण एवं सत्त्वगुण से समाविष्ट होकर मुनियों ऋषियों की सृष्टि करते हैं । जब उनकी निद्रा समाप्त हो जाती है और वे प्रबुद्ध होते हैं तब वे संसार के स्वामी

सृजेद्देवान् सलोकेशान् पूर्वयैव व्यवस्थया ॥'

इति जरायुजा मानुषाद्या: । अण्डजा: पक्ष्याद्या: । स्वेदजा मशकाद्या: । उद्भिजानि स्थावराणि, मुनिदेवास्तु मनोजा बाहुल्येन । शक्त्या स्वातन्त्र्यात्मना यद् विभुत्वमैश्वर्यम्, तत: ॥

एतदेवोपपादयति—

निमित्तकारणं देवो यथा सूर्यो मणे: क्रिया ॥ ५० ॥
उपादानं तु सा शक्ति: संक्षुब्धा समवायत: ।

निमित्तं सन्निधिमात्रेणोपकारि, न तु व्यापारावेशेन, कार्यते स्वशक्त्या आभास्यतेऽनेन विश्वमिति कारणं कर्ता देवो द्योतनादिसतत्त्व: परमेश्वर: । तस्य च संबन्धिनी सैव परा शक्तिरुपादानम् । सा च समवायत: शिवसामरस्यावस्थिते: संक्षुब्धा विश्वजगज्जननानुगुणा किंचिदुच्छूनताकल्पा समनाभूमिमाश्रितवती । यथा सूर्यो निमित्तकारणम्, यथा मणे: क्रिया उपादानमर्थाद् वह्निजनने इति दृष्टान्त: । शिवशक्तिसामरस्यमेव स्वानतिरिक्तमप्यतिरिक्तमेवेदम्—

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' (३।३०)

सत्त्वगुण से आविष्ट होकर पूर्व व्यवस्था के अनुसार देवताओं और लोकेश्वरों की सृष्टि करते हैं ।'

जरायुज = मनुष्य आदि । अण्डज = पक्षी आदि । स्वेदज = मच्छर आदि । उद्भिज = स्थावर वृक्ष आदि । मुनि देव = प्राय: मन से उत्पन्न । शक्ति = स्वातन्त्र्यरूपा । विभुत्व = ऐश्वर्य ॥

इसी को सिद्ध करते हैं—

वे देव (= परमेश्वर, इस सृष्टि के) निमित्तकारण हैं जैसे कि सूर्यकान्तमणि के अग्निउत्पादन में सूर्य । उसमें समवाय सम्बन्ध से रहने वाली वह शक्ति संक्षुब्ध होने पर सृष्टि का उपादान कारण बनती है ॥ -५०-५१- ॥

निमित्त = केवल पास में स्थित होने के कारण उपकारक न कि व्यापार के आवेश से । कारण—जिसके द्वारा विश्व किया जाय अर्थात् अपनी शक्ति से आभासित हो, वह कारण है । कर्ता हैं देव = द्योतन आदि वाले परमेश्वर । उससे सम्बद्ध पराशक्ति उपादान कारण है । समवाय से = शिव के साथ समरस होकर, स्थित वह शक्ति संक्षुब्ध होकर सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति के अनुकूल कुछ उच्छून होकर समना बन जाती है । जिस प्रकार सूर्य निमित्त कारण है = सूर्यकान्तमणि की अग्निउत्पाद रूपी क्रिया का निमित्त है, और मणि उस क्रिया का उपादान कारण है—यह दृष्टान्त है । शिवशक्ति का सामरस्य ही अपने से अभिन्न को भी भिन्न जैसा बनाता है ।

इति शिवसूत्रादिष्टनीत्या जगदुन्मीलयति, न तु व्यतिरिक्तं किमप्यपेक्षते, प्रयोजनाभिलापेन वा केनचित् प्रवर्तते । एतावतैव च सूर्यकान्तादिना सह दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभाव:, न तु सर्वसर्विकया, येन सूर्यादिवद् भेदो जाड्यं वा शिवशक्त्यो: स्यात् ॥

तदेव स्फुटयति—

यथार्करश्मिसंयोगात् सूर्यकान्तो मणिर्महान् ॥ ५१ ॥
तेज: प्रकिरतेऽत्यर्थमुभयोर्नैव कामिता ।
अयस्कान्तमणिं दृष्ट्वा लोह: प्रकुरुते क्रियाम् ॥ ५२ ॥
उभयोर्नैव कामोऽस्ति निमित्तं तु तथा शिव: ।

उभयोरित्यर्कसूर्यकान्तयो: । क्रियामिति स्पन्दनात्मिकाम् । उभयोरित्ययोऽयस्कान्तयो: । निमित्तं संनिधिमात्रेण स्वशक्तित एव विश्वमुन्मीलयति ॥

नन्वहेतूनां देशकालप्रकृतिनियमायोगादवश्यं सूर्यकान्तादेर्नियामक: कश्चिदस्ति । सत्यमस्ति, किन्त्वसौ—

सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्येत यस्तयोस्तु प्रचोदक: ॥ ५३ ॥

'इसकी अपनी शक्ति का प्रचय ही विश्व है ।' (३.३०)

इस शिवसूक्तोक्त सिद्धान्त के द्वारा इस संसार को उन्मीलित करता है न कि इसके उन्मीलन के लिये किसी भिन्न पदार्थ की अपेक्षा करता है या किसी प्रयोजन से प्रवृत्त होता है । इतना ही सूर्यकान्त आदि के साथ दृष्टान्त—दार्ष्टान्तिक सम्बन्ध है न कि पूर्णरूपेण । इससे यह समझना चाहिये कि शिव शक्ति सूर्य आदि के समान जड़ आदि नहीं हैं ॥

उसी को स्पष्ट करते हैं—

जिस प्रकार सूर्य की किरणों के संयोग से महान् सूर्यकान्तमणि तेज का अत्यन्त विकिरण करती है और इस विकिरण की इच्छा दोनों को नहीं होती; अथवा अयस्कान्त मणि (चुम्बक) को पास में पाकर लोहा चलने लगता है लेकिन इस चलने की इच्छा दोनों की ही नहीं होती उसी प्रकार शिव भी (निराकाङ्क्ष) निमित्त हैं ॥ -५१-५३- ॥

दोनों का = सूर्य और सूर्यकान्तमणि का । क्रिया = स्पन्दन । दोनों का = लोहा एवं अयस्कान्त मणि का । निमित्त है अर्थात् पास में रहने मात्र से अपनी शक्ति से विश्व को उन्मीलित (= प्रकट) करते हैं ॥

प्रश्न है कि जो कारण नहीं होते उनके लिये देश काल प्रकृति का नियम भी नहीं होता इस कारण सूर्यकान्त आदि का कोई न कोई नियामक अवश्य है । हाँ, है किन्तु—

परमेश इत्यर्थः । सूक्ष्मत्वादित्यवेद्यत्वात् ॥ ५३ ॥

तादृक्सर्वस्य जगतो नानुभूतं तु कारणम् ।

युक्तं चैतत्, यतः—

यदि तु विश्वकारणं परमेशोऽनुभूयेत, स एव सूर्यकान्तादेरपि प्रचोदको निरूप्येत न त्वसावनुभूयते, अनुभवित्रेकरूपत्वात् ॥

ननु च—

'न हि ज्ञानादृते भावाः केनचिद्विषयीकृताः ।
ज्ञानं ज्ञेयात्मतां यातमेतस्मादवसीयते ॥'

इति कालिकाक्रमोक्तनीत्या चिच्छक्तिरेव विष्वस्यावभासने हेतुरनुभूयते, क्रियाशक्तिरिव निर्माणे, तत् कथमुक्तं 'नानुभूतं तु कारणम्' इति ?—सत्यं, बहिः प्रसरन्ती शक्तिर्विश्वावभासकतयाऽनुभूयते, आन्तरं तु विश्वकारणं शिवशक्तिसामरस्यमुक्तयुक्तेर्न परिच्छेत्तुं शक्यमित्याह—

उपादानं तु सा शक्तिः सर्वत्रैव विभाव्यते ॥ ५४ ॥

जो उन दोनों (सूर्यकान्त और लोहे) का प्रेरक तत्त्व है वह सूक्ष्म होने के कारण दिखायी नहीं देता ॥ -५३ ॥

प्रचोदक = परमेश्वर । सूक्ष्म होने के कारण = अवेद्य होने से ॥ ५३ ॥

समस्त संसार का उस प्रकार का कारण अनुभव में नहीं आता ॥ ५४- ॥

यह ठीक भी है । क्योंकि यदि विश्व का कारण परमेश्वर अनुभव में आता तो वही सूर्यकान्त आदि का भी प्रेरक समझा जाता । लेकिन वह इस प्रकार का अनुभूत नहीं होता । क्योंकि वह केवल अनुभविता रूप है ।

प्रश्न है कि—

'ज्ञान के अतिरिक्त कोई दूसरा विषय पदार्थों को नहीं बनाता । इससे यह निश्चय होता है कि ज्ञान ही ज्ञेय बन गया ।'

कालिकाक्रम में कथित इस सिद्धान्त के अनुसार चित् शक्ति ही विश्व के अवभासन में कारण समझी जाती है जैसे कि निर्माण में क्रियाशक्ति, तो फिर कैसे कहा गया कि 'कारण अनुभूत नहीं होता ?' आपका प्रश्न सत्य है । शक्ति जब बाहर प्रसृत होती है तब वह विश्व का अवभासक समझी जाती है किन्तु जो शिवशक्ति का सामरस्य विश्व का आन्तर कारण है वह उक्त तर्क से परिच्छिन्न (= सीमित) नहीं किया जा सकता—यह कहते हैं—

वह शक्ति उपादान के रूप में सर्वत्र अनुभूत होती है । जैसे कि

यथा सर्वं सुनिष्पन्नं क्रियाशक्त्या प्रदृश्यते ।
क्षोभ्यक्षोभकभावस्तु प्रत्यक्षो नैव कस्यचित् ॥ ५५ ॥
संक्षुब्धं समवायात्तु कारणं तद्विदुर्बुधाः ।

विभाव्यते स्फुटमनुभूयते । अत्रैव यथेत्यनेन दृष्टान्तः । सर्वमिति घटपटादि । क्षोभ्यक्षोभकभावः शिवशक्त्योः सर्गाद्याभासनोचित आद्यः स्पन्दः । तदेव च समवायादिति सामरस्यात् संक्षुब्धमिति सर्गाद्याभासनौचित्येन स्फुरत् । बुधाः श्रीकण्ठानन्तेशसदाशिवाद्याः । कार्यते स्वशक्त्या आभास्यतेऽनेन विश्वमिति कृत्वा कारणं कर्तृ विदुः समावेशेन साक्षात्कुर्वन्ति । तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'अकामात् स सृजेत् सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
स्वतेजसा वरारोहे व्योम संक्षोभ्य लीलया ॥
उपादानं तु तत्प्रोक्तं संक्षुब्धं समवायतः ।' (११।३-४)

इति । श्रीश्रीकण्ठ्यामपि—

'प्रवर्ततेश्वरात्सर्वम् ।' इति ॥

इहाप्येतदेव—

अकामतः सृजेत् शर्वः शक्त्या सर्वं चराचरम् ॥ ५६ ॥

क्रियाशक्ति के द्वारा निर्मित सब कुछ दिखलायी पड़ता है । लेकिन (शिव शक्ति का) क्षोभ्यक्षोभक भाव किसी को प्रत्यक्ष नहीं होता । समवाय के कारण संक्षुब्ध का प्रत्यक्ष केवल देवता लोग करते हैं ॥ -५४-५६- ॥

विभावित होता है = स्पष्ट अनुभूत होता है । इस विषय में 'यथा सर्वं...' इत्यादि दृष्टान्त दिया गया है । सब = घट पट आदि । क्षोभ्यक्षोभक भावः = सृष्टि आदि के आभासन का जनक शिवशक्ति का प्रथम स्पन्द । वही समवाय = सामरस्य, के कारण, संक्षुब्ध = सृष्टि आदि के आभासन के लिये स्फुरित होता हुआ । बुध = श्रीकण्ठ अनन्तनाथ सदाशिव आदि । विश्व जिसके द्वारा किया जाता है अर्थात् आभासित होता है वह कारण है । जानते हैं = समावेश के माध्यम से प्रत्यक्ष करते हैं । वही स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है—

'हे वरारोहे ! बिना किसी फलेच्छा के वह परमेश्वर स्थावरजंगमरूप समस्त जगत् की सृष्टि करता है । इस क्रम में वह लीला के द्वारा अपने तेज से आकाश को संक्षुब्ध करता है । समवाय के कारण संक्षुब्ध वह, जगत् का उपादान कहा गया है ।' (११-३.४)

श्रीकण्ठीसंहिता में भी कहा गया—

'ईश्वर से सब कुछ प्रवृत्त होता है' ॥

यहाँ भी यही है—

परिपूर्णतया नास्य कामः फलाभिलाषः कश्चिदित्यकामात् शक्त्येति स्वस्वातन्त्र्यादेव, न तु भेदेश्वरवदुपादानाद्यपेक्षया । यथोक्तम्—

'उपादानं तु सा शक्तिः ।' (२१।५४) इति ।

सर्वं चराचरमिति । अचरमिव चरमपि जीवजातं रुद्रक्षेत्रज्ञरूपं सर्वं भगवान् सृजति स्वरूपगोपनावैचित्र्येण भासयति, न त्वनादिसिद्धं तदित्याशयः ॥ ५६ ॥

एतत् प्रकृते योजयति—

एवमुक्तेन विधिना मन्त्राः सर्वे त्रितत्त्वजाः ।
शिवाख्याः शक्तिरूपाश्च तथैवात्मस्वरूपकाः॥ ५७ ॥
त्रिस्वभावाः समुद्दिष्टाः सर्वत्र बलशालिनः ।
भवन्ति सर्वदा सर्वे सर्वगाः सर्वरूपिणः ॥ ५८ ॥

यत उक्तदृशा परमशिव एव स्वभित्तौ स्वशक्त्या विश्वमाभासयति, ततो मन्त्रास्त्रिषु शिवादितत्त्वेषु जायन्ते शिवाद्याख्याः शिवादिस्वभावाश्च तथैव सर्वसामर्थ्यादियुक्ताः न तु यथा मुग्धधियः—

वह परमेश्वर बिना किसी स्वार्थ के समस्त चर अचर जगत् की सृष्टि करता है ॥ -५६ ॥

सर्वथा परिपूर्ण होने से इसके अन्दर कोई कामना = फल को प्राप्त करने की इच्छा, नहीं रहती इसलिये कहा गया 'अकामात्' । शक्ति से = स्वातन्त्र्य से, न कि द्वैतवादियों के ईश्वर की भाँति उपादान आदि की अपेक्षा रखकर, सृष्टि करता है । जैसा कि कहा गया—

'वह शक्ति (विश्व का) उपादान है ।' (ने.तं. २१.५४)

सब चराचर = अचल के समान चल जीवसमूह जो कि रुद्रक्षेत्रज्ञरूप हैं, भगवान् सब का सृजन करते हैं = स्वरूपगोपन के वैचित्र्य के द्वारा आभासित करते हैं न कि यह (चराचरात्मक विश्व) अनादि सिद्ध है ॥ ५६ ॥

इसी को प्रस्तुत से जोड़ते हैं—

इस प्रकार उक्त विधि से सब मन्त्र तीन तत्त्वों से उत्पन्न हैं । वे शिव भी हैं शक्तिरूपी है तथा आत्मस्वरूप भी है (क्योंकि शिव शक्ति और (नर = जीव ये ही तीन तत्त्व हैं) । इसलिये वे त्रिस्वभाव (= शिव शक्ति और नर स्वभाव वाले) कहे गये हैं । बलवान् वे मन्त्र सर्वथा सर्वत्र सर्वगामी सर्वरूपी हैं ॥ ५७-५८ ॥

चूँकि उक्त रीति से परमशिव ही अपने ही ऊपर अपनी शक्ति से विश्व को आभासित करते हैं इसलिये मन्त्र तीनों शिव आदि तत्त्वों में उत्पन्न होते हैं । वे

'एकः शिवोऽविकारी तच्छक्तिश्चाप्यतो न तौ शक्तौ।
बहुधा स्थातुं यद्वा चैतन्यविनाकृतौ विकारित्वात् ॥'

(ना०का० १६)

इति शिवस्वातन्त्र्यमपरामृश्याणवपेक्षत्वमेव मन्त्राणामाहुः ॥ ५८ ॥

एतद् वितत्य स्फुटयति—

शिवो ह्यनादिमान् धाम शाश्वतः प्रथमोऽचलः ।

एतत् प्रागेव व्याकृतप्रायम् ।

स च—

इच्छया च यदा देवि प्रसरत्यविलम्बितः ॥ ५९ ॥

तदा चास्येच्छाख्या—

सा शक्तिः परमा सूक्ष्मा उन्मना शिवरूपिणी ।

मन उत्क्रम्य गताऽनवच्छिन्नस्वप्रकाशस्फुरत्ता ॥

एषैव च—

अस्तित्वमात्रमात्मानं क्षोभ्यं क्षोभयते यदा ॥ ६० ॥

शिव आदि नाम वाले हैं । इसी प्रकार शिव आदि के स्वभाववाले हैं अर्थात् सर्व सामर्थ्य आदि से युक्त हैं न कि जैसा मूढ बुद्धि वाले (= द्वैतवादी) कहते हैं—

'शिव अद्वय और अविकारी है, शक्ति भी वैसी ही है; इसलिये वे दोनों अनेक रूप से स्थित नहीं हो सकते । और यदि वे विकारी हैं तो चैतन्य से रहित हैं ।' (नादकारिका १६)

इस प्रकार शिवस्वातन्त्र्य का परामर्श किये बिना वे लोग मन्त्रों को जीवापेक्ष (= मनुष्यों के द्वारा रचित) मानते हैं ॥ ५८ ॥

इसको विस्तार से स्पष्ट करते हैं—

शिव अनादि तेज हैं जो कि शाश्वत प्रथम और अचल हैं ॥ ५९- ॥

इसकी व्याख्या पहले ही कर दी गयी है ।

हे देवि ! वह जब अपनी इच्छा से शीघ्र प्रसारित होते हैं ॥ -५९ ॥

तब उनकी इच्छा नामक—

परम सूक्ष्म शिवरूपिणी वह शक्ति उन्मना कही जाती है ॥ ६०- ॥

उन्मना का अर्थ है—मन का उत्क्रमण कर चलने वाली अर्थात् अनवच्छिन्न स्वप्रकाश की स्फुरत्ता ॥

और यही—

समनासौ विनिर्दिष्टा शक्तिः सर्वाध्ववर्तिनी।
क्रोडीकरोति या विश्वं संहृत्य सृजते पुनः ॥ ६१ ॥

अस्तित्वमात्रं प्रकाशात्ममहासत्तारूपम्, अतः क्षोभ्यं समस्तसूत्रणासहिष्णु-मात्मानं यदा शक्तिः क्षोभयते शून्यातिशून्यादिधरान्तसमग्रजगदासूत्रणात्मना स्फुरति, तदा परप्रमातृपदावरूढा आसूत्रिताशेषमन्तव्यमननमात्ररूपत्वात् समनेत्युक्ता । अत एव सर्वाध्वनि वर्तते प्रथमोल्लेखकल्पतया स्फुरति, अतश्च विश्वं क्रोडीकरोति । अयं चास्य क्रोडीकारो यदेतत् संहृत्य स्वाभेदात्मना निमज्जनेन शून्याभासतया आभास्य सृजति, इदन्तया प्रथयति, गर्भीकृताशेषविश्व-सृष्टिसंहारप्रपञ्चमहासृष्टिशक्तिरूपतया स्फुरतीत्यर्थः । एतदेव पुनःशब्देन द्योतितं पुनः पुनः संहृत्य सृजतीति यावत् । संहृत्येत्यनेन च शून्यातिशून्यात्मव्यापिनी भूरुक्ता, सृजतीत्यनेन तु शक्तिभूमिः ॥ ६१ ॥

जब अस्तित्वमात्र एवं क्षोभ्य आत्मा को क्षुब्ध करती है तब वही शक्ति सर्वाध्ववर्त्तिनी समना कही जाती है । यही विश्व को अपनी गोद में समाहित कर उसका संहार और सृष्टि करती रहती है ॥ -६०-६१ ॥

अस्तित्वमात्र = प्रकाशात्मक महासत्तारूप । इस कारण क्षोभ्य = समस्त सूत्रणा की सहिष्णु आत्मा, को शक्ति जब क्षुब्ध करती है = शून्याति-शून्य से लेकर पृथ्वीपर्यन्त समस्त जगत् के आसूत्रण (= आभास) के रूप में स्फुरित होती है, तब परप्रमातृपद से अवरुढ (= थोड़ा नीचे स्तर पर उतरने वाली) वह समना कहलाती हैं । चूँकि वह शक्ति समस्त मन्तव्य का आसूत्रण (= अपने अन्दर मनन या परिकल्पना) कर लेती है इसलिये उसको समना कहा जाता है । सर्वाध्ववर्त्तिनी—वह समस्त अध्वाओं में प्रथम उल्लेख के रूप में स्फुरित होती है । फलतः विश्व को अपनी गोद में रख लेती है । इस विश्व का संहार कर अर्थात् अपने से अभिन्न रूप में तिरोधान कर इसे शून्याभास के रूप में प्रकट करती है । तात्पर्य यह है कि वह समस्त विश्व के सृष्टि एवं संहाररूपी प्रपञ्च को अपने में आत्मसात् कर महासृष्टि की शक्ति के रूप में स्फुरित होती है । यही बात श्लोकोक्त 'पुनः' शब्द से संकेतित है, अर्थात् वह बार-बार संहार करती है और फिर सृष्टि करती है । श्लोक में 'संहृत्य' पद के कथन से शून्यातिशून्यरूपा 'व्यापिनी' भूमिका का कथन किया गया है और 'सृजति' पद से 'शक्ति' नामक भूमिका कही गयी है[१] ॥ ६१ ॥

---

१. यौगिक साधनामार्ग में सुषुम्ना के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र नामक आवरण है । इसके ऊपर ऊर्ध्व कुण्डलिनी या 'शक्ति' का स्थान है । समग्र तत्त्व और भुवनों का आधार यही कुण्डलिनी शक्ति है । इसी शक्तितत्त्व में 'समना' भूमि है । ब्रह्मरन्ध्र के अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं और समना की अधिष्ठात्री देवी शक्ति है । शिव इसी समना पर अधिष्ठित होकर पञ्चकृत्य करते है । इस कृत्य में समना करण का काम करती है और शिव (= अनाश्रित शिव) कर्त्ता का ।

यदाह—

कुण्डलाख्या महाशक्तिस्तृतीयाप्युपचर्यते ।

कुण्डलाख्येत्यनेनान्तःशून्यबहिष्कृतपारवश्यात्मताख्यापनेन व्यापिन्यत्र क्रोडीकृतेति दर्शितम् । उपचर्यते सैवेत्थं व्यवह्रियते ॥

या चैषोन्मनाख्या शक्तिः समस्तभावाभावासूत्रणाद् भावाभावसामान्यावभासात्मसमनाव्यापिनीशक्तिरूपतया स्फुरिता, सैव वाच्यवाचकात्मशाक्तरूपं विश्वमवबिभासयिषुः क्रोडीकृतवाच्यस्पन्दवाचकसामान्यनादरूपतया प्रथमं स्पन्दत इत्याह—

ध्वनिरूपो यदा स्फोटस्त्वदृष्टाच्छिवविग्रहात् ॥ ६२ ॥
प्रसरत्यतिवेगेन ध्वनिनाऽऽपूरयन् जगत् ।
स नादो देवदेवेशः प्रोक्तश्चैव सदाशिवः ॥ ६३ ॥

स्फुटत्यभिव्यज्यतेऽस्माद् विश्वः शब्दग्राम इति स्फोटः शब्दब्रह्म, अत एव ध्वनिरूपः शब्दनस्वभावः, अदृष्टादित्यनाकृतेर्द्रष्ट्रेकरूपात् परनादामर्शात्मनः प्रकाशानन्दघनात् शिवस्वरूपादतिवेगेनाव्युच्छिन्नद्रुतनदीघोषवत् प्रसरति । कीदृक् ?

जैसा कि कहते हैं—

कुण्डली नामक तीसरी महाशक्ति भी उपचरित होती है ॥ ६२- ॥

'कुण्डलाख्या' इस कथन से अन्तःशून्य से बहिष्कृत परवशता के बतलाने से 'व्यापिनी' नामक भूमिका अन्तर्भावित हो गयी—यह बतलाया गया ।

उपचरित होती है = वह भी इसी प्रकार व्यवहृत होती है ॥

जो यह उन्मना नामक शक्ति समस्त भाव एवं अभाव का आसूत्रण करने के कारण भाव और अभाव दोनों प्रकार के पदार्थों का आभासरूप समना एवं व्यापिनी शक्ति के रूप में स्फुरित हुई वही वाच्यवाचक वाले शाक्तरूप विश्व को अवभासित करने की इच्छा से वाच्य स्पन्द और वाचक सामान्यनाद को अन्तर्भावित कर पहले स्पन्दन करती है—

यह कहते हैं—

ध्वनिरूप स्फोट जब अदृष्ट शिवशरीर से अत्यन्त वेग के साथ ध्वनि के द्वारा संसार को पूर्णतया पूरित करता हुआ प्रसरण करता है तब वह नाद रूपी देवाधिदेव सदाशिव कहा जाता है ॥ -६२-६३ ॥

जिससे समस्त शब्दराशि स्फुटित = अभिव्यञ्जित होती है वह स्फोट = शब्दब्रह्म है । इसीलिये वह ध्वनिरूप = शब्दनस्वभाव वाला है । अदृष्ट = आकृतिरहित केवल द्रष्टारूप परनादामर्शात्मक प्रकाशानन्दघन, (शिवविग्रह =)

ध्वनिना घण्टानुरणनरूपेण नादान्तेन जगद् विश्वमापूरयन् आमर्शनेन आत्मसात्कुर्वन् । स एव नादभट्टारकोऽकृतकाहन्तेदन्तासामानाधिकरण्यविमर्शात्मकपरचित्प्रकाशरूप इति नादः, सदाशिव इति सामानाधिकरण्योक्तेराशयः । प्रसरतीत्युक्त्या परवाक्शक्तिरेव पारमेश्वरी इयं स्फुरतीत्यादिशति । अत्र च नादान्तोऽप्यनुप्रविष्टः ॥ ६३ ॥

अथ—

ध्वनिरध्वगतो यत्र विश्राम्यत्यनिरोधितः ।
निरोधिनीति विख्याता सर्वदेवनिरोधिका ॥ ६४ ॥

अध्वगतोऽशेषव्यापकोऽनिरोधितोऽनाहतो नादभट्टारको यत्र विश्राम्यति स्वव्याप्तिनिमज्जनेनाधरव्याप्तिमुन्मज्जयति, सा निरोधिकाख्या मन्त्रकला विख्याता । कीदृशी ? सर्वेषां ब्रह्मादिदेवानां निरोधिका ऊर्ध्वव्याप्त्या धारिका यथोक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'निरोधयति या देवान् ब्रह्मादींश्च सुराधिपे ।

शिवस्वरूप अत्यन्त वेग से = अव्युच्छिन्न बहती हुई नदी के घोष के समान प्रसरण करता है । किस प्रकार ?—ध्वनि = घण्टा के अनुरणन रूप नादान्त, के द्वारा विश्व को, आपूरित करता हुआ = आमर्शन के द्वारा आत्मसात् करता हुआ । वही नादभट्टारक जब अहन्ता और इदन्ता के स्वाभाविक सामानाधिकरण्य के विमर्श वाले पर चित्प्रकाशरूप को धारण करता है तब नाद कहलाता है । 'सदाशिव' पद अहन्ता और इदन्ता के सामानाधिकरण्य कथन का तात्पर्य है । 'प्रसरति' कहने से परमेश्वर की परा वाक्शक्ति ही स्फुरित होती है । इस (= सदाशिव तत्त्व) में नादान्त भी अनुप्रविष्ट है ॥ ६३ ॥

इसके बाद—

अध्वा में रहने वाली तथा बिना किसी निरोध के प्रसृत होने वाली ध्वनि जहाँ शान्त हो जाय वह शक्ति या भूमिका निरोधिनी कही गयी है । यह सब देवों की निरोधिका है ॥ ६४ ॥

अध्वा में रहने वाली = पूर्णतया व्यापक, अनिरोधतः = अनाहत अर्थात् बिना किसी आघात के, उत्पन्न होने वाली नाद = ध्वनि, जहाँ विश्रान्त हो जाती है = अपनी व्याप्ति को निमज्जित करती हुई अधर व्याप्ति को उन्मज्जित करती है, वह निरोधिका कही गयी है । इसका दूसरा नाम मन्त्रकला है (क्योंकि वह शब्द एवं अर्थ के सूक्ष्मतम अंश मन्त्र एवं कलातत्त्व का मिश्रित रूप है) । वह कैसी है?—समस्त ब्रह्मा आदि देवताओं की निरोधिका है = ऊर्ध्वव्याप्ति से धारिका है । जैसा कि स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है—

'हे देवताओं की स्वामिनी ! जो ब्रह्मा आदि देवताओं को निरुद्ध करती है वह

निरोधिकेति साख्याता ।' (१०।१२२३) इति ॥ ६४ ॥

परमशिवाभेदाख्यातिरेव ब्रह्मादेर्निरोध इत्याह—

निरुद्धस्य महेशत्वमहिमा न प्रवर्तते ।

अतश्चाभेदाख्यात्यैव तत्रस्थानां नानात्वमित्याह—

असंख्यातास्तु कोट्यो वै मन्त्राणां तत्र संस्थिताः ॥ ६५ ॥

किं च—

लभन्ते तत्प्रविष्टा वै..........

ये तद् निरोधिकापदं प्रविष्टा योगिनः, ते तदेव लभन्ते, न ऊर्ध्वमभेदव्याप्तिम् । तदित्यावृत्त्या योज्यम् ॥

या चेयं ध्वनिमात्रात्मनादान्तव्याप्तिनिरोधिकाख्या मान्त्री कला—

..............स बिन्दुश्चेश्वरः स्मृतः ।

निरोधिका कही गयी है' ॥ ६४ ॥ (१०-१२२३)

परमशिव के साथ अभेद का अज्ञान ही ब्रह्मा आदि का निरोध है—यह कहते हैं—

निरुद्ध (ब्रह्मा आदि देवताओं) की महेशत्व महिमा नहीं होती । (रोधिनी में अवरुद्ध ब्रह्मा आदि वहीं रुक जाते हैं वे शक्ति व्यापिनी समना और उन्मना स्तरों को पार नहीं कर पाते । फलतः वे महेश्वरत्व के समावेशलाभ से वञ्चित रह जाते हैं ।) ॥ ६५- ॥

शिव के साथ अभेद का ज्ञान न होने के ही कारण उस (= रोधिनी) में रहने वालों का नानात्व रहता है—यह कहते हैं—

वहाँ असंख्य करोड़ मन्त्र स्थित रहते हैं ॥ -६५ ॥

जो उस (रोधिनी) में प्रवेश कर जाते हैं वे (उसी में स्थिति) प्राप्त करते हैं ॥ ६६- ॥

जो योगी उस निरोधिका पद में प्रवेश करते हैं वे उसी को प्राप्त करते हैं न कि उससे ऊर्ध्ववर्त्ती अभेदव्याप्ति को । उक्त श्लोक में 'तत्' पद को दो बार पढ़ना चाहिये (एक 'प्रविष्टा' के साथ और दूसरा 'लभन्ते' के साथ) ॥

और जो यह ध्वनिमात्र से लेकर नादान्तपर्यन्त व्याप्त निरोधिका नामक मान्त्री कला है—

वह बिन्दु है और उसे ईश्वर माना गया है ॥ -६६- ॥

परैव शक्तिरिच्छाशक्तिव्याप्त्या समनातः शक्त्यन्तं पदमुन्मील्य ज्ञानशक्ति-व्याप्त्या शक्तिप्राधान्यमुन्मीलयन्ती समस्तवाचकाभेदिनादामर्शमयतां ध्वनिमात्रा-त्मनादान्तव्याप्त्याभासितां निरुध्य समग्रवाच्याभेदप्रकाशरूपां स्फुटेदन्ताहन्तैक्य-विमर्शात्मेश्वररूपबिन्द्वात्मतां गृह्णाति ॥

न च निरोधिकापदाभासनसमनन्तरमेव बिन्द्वात्मतां गृह्णाति, अपि तु मध्ये—

यदा शिवामृतं मूर्ध्नि पतति सृष्टिकारणम् ॥ ६६ ॥
आप्यायस्तु भवेत्तेन सोऽर्धचन्द्र इति स्मृतः।

विमर्शप्रवणनादकलावाच्यसंहारप्रधाना स्वसत्तानिरोधेन निरोधिनीपदं श्रित्वा समस्तवाच्याभेदवेदनात्मबिन्दुदशां सिसृक्षुः प्रथमं किंचिदुन्मज्जद्वाच्यप्रधानामर्ध-चन्द्रदशां श्रयतीति तात्पर्यम् । पदार्थस्तु शिवस्य नादात्मनः सदाशिवनाथस्य संबन्धि अमृतं स्फुटेदन्ताभासात्म सृष्टिवीर्यं स्त्रष्टव्यस्य विश्वसत्तात्मनो विन्दोर्मूर्ध्नि पतति, बिन्दूदयात् प्रथममुन्मिषति यदा, तदा स मन्त्रावयवोऽर्धचन्द्र इत्युच्यते, यतस्तेन आप्यायो भवेत् तद्भूमिकारूढस्य पूर्णचन्द्राकारा स्त्रष्ट्री बिन्द्वात्मा क्रिया-शक्तिदशा उदयते ॥

पराशक्ति इच्छाशक्ति की व्याप्ति के द्वारा समना से लेकर शक्तितत्त्व पर्यन्त पद का उन्मीलन कर ज्ञानशक्ति की व्याप्ति के द्वारा शक्तिप्राधान्य का उन्मीलन करती हुई समस्त वाचकों के अभेदवाले नादामर्शमयता को तथा केवल ध्वनिरूप नादान्त व्याप्ति की आभासता को निरुद्ध कर समग्र वाच्य के अभेदप्रकाशरूप स्फुट इदन्ता और अहन्ता के ऐक्य के विमर्शवाला ईश्वर रूप बिन्दु हो जाती है ॥

वह ज्ञानशक्ति निरोधिका पद के आभासन के बाद ही बिन्दुरूप ग्रहण करती है—ऐसा नहीं है बल्कि मध्य में (वैसा करती है)—

सृष्टि का कारणभूत शिवामृत जब बिन्दु के शिर पर गिरता है और उस (अमृत) से (वह बिन्दु) आप्यायित होता है तब वह बिन्दु अर्धचन्द्र कहा जाता है ॥ ६६-६७- ॥

विमर्शप्रवण जो नाद उसकी कला का वाच्य जो संहार उसकी प्रमुखता वाली (जो ज्ञानशक्ति वह) अपनी सत्ता के निरोध के द्वारा निरोधिनी पद को प्राप्त कर समस्त वाच्य का अभेदरूप से वेदनस्वरूप बिन्दु दशा की सृष्टि करने की इच्छा से पहले थोड़ा उद्‌भूत होते हुए वाच्यप्रधान अर्धचन्द्र दशा को प्राप्त करती है—यह तात्पर्य है । पदों का अर्थ इस प्रकार है—शिव का = नादरूप सदाशिव का, जो अमृत = स्फुट इदन्ताभास वाला सृष्टिवीर्य, जब स्त्रष्टव्यविश्वसत्तात्मक बिन्दु के शिर पर गिरता है = बिन्दु के उदय के कारण सर्वप्रथम उन्मिषित होता है, तब वह मन्त्रावयव अर्धचन्द्र कहा जाता है । उसी से आप्यायन होता है = उस भूमिका पर आरूढ़ पूर्णचन्द्र के आकारवाली सृष्टिकर्त्री बिन्दुरूपा क्रियादशा प्रकट होती है ॥

एष(षां) चार्धेन्दुर्बिन्दुपदादूर्ध्वमारोहताम्—

संहार: सर्वभूतानां............

नादादधोऽवरोहतां तु—

............सृष्टिकारणमेव च ॥ ६७ ॥

तदित्थं बिन्द्वात्मक्रियाशक्तौ स्फुटीभूतायां पृथग्भूतवाच्यवाचकमन्त्रदशा-दर्शनायाह—

मकारो ह्यत्र वै रुद्रो वर्णसङ्घट्ट उत्तम: ।

एष बिन्दु: पृथग्भावमवभासयन् प्रथमं मायाश्रयपुमामर्शिमकाररूपेण भवति । अत्र च रुद्रोऽधिष्ठातेति शेष: । एष च मकार: प्रस्तुतप्रणवापेक्षयाऽकारो-काराभ्याम्, मन्त्रान्तरापेक्षया तु वर्णान्तरेभ्योऽप्युत्तम उत्कृष्टोऽतिशयेन उद्गत ऊर्ध्ववर्ती च वर्णानां सङ्घट्टो विश्रान्तिस्थानम्, पिण्डाक्षरसंबन्धिनो हि वर्णास्तत्त-त्तत्त्ववाचकतां भजमाना यावन्न मायाग्रन्थ्युद्भेदिप्लुतोच्चारमकारध्वनिरूपता-माविष्टा:, तावन्न विश्ववेद्याविभेदिवेदनात्मबिन्दुव्याप्तिमाविशन्ति । प्लुतान्तं च दीर्घ-ह्रस्वतद्वर्णनीयवाच्यसत्ताऽस्तीत्यपि च वर्णसङ्घट्ट: ॥

अर्धचन्द्र बिन्दु पद से ऊपर आरोहरण करने वाले

इन समस्त प्राणियों का संहार (= शिवतत्त्व में विलय) हो जाता है ॥ ६७- ॥

नाद से नीचे उतरने वाले—

सृष्टि के कारण बनते हैं ॥ -६७ ॥

तो इस प्रकार बिन्दुरूपा क्रिया के स्फुट होने पर पृथग्भूत वाच्यवाचक मन्त्रदशा को बतलाने के लिये कहते हैं—

(यह बिन्दु) मकार हो जाता है । यहाँ रुद्र अधिष्ठाता हैं । यह उत्तम वर्णसङ्घट्ट है ॥ ६८- ॥

यह बिन्दु पृथग् भाव (= अस्तित्व) को अवभासित करता हुआ पहले माया के आश्रयभूत पुरुष का आमर्शन करने वाला मकाररूप हो जाता है । यहाँ रुद्र अधिष्ठाता हैं—इतना जोड़ लेना चाहिये । यह मकार प्रस्तुत प्रणव में वर्त्तमान अकार उकार से और मन्त्रान्तर में अपेक्षित दूसरे वर्णों की अपेक्षा उत्तम = उत्कृष्ट = अतिशयेन, उद्गत = ऊर्ध्ववर्त्ती तथा वर्णों का सङ्घट्ट = विश्रान्तिस्थान है । पिण्डाक्षर से सम्बन्धित वर्ण तत्तत् तत्त्वों के वाचक होते हुए जब तक माया ग्रन्थि के उद्भेदक तथा प्लुत उच्चारण वाली मकारध्वनिरूपता को नहीं प्राप्त करते तब तक विश्ववेद्य से अभिन्न वेदनरूपा विन्दुव्याप्ति से आविष्ट नहीं होते । दीर्घ ह्रस्व

इत्थं च पूर्वोक्ता शक्तिर्मायाग्रन्थ्याश्रयमकारात्ममन्त्रावयवरूपतामापन्ना विश्व-जगदात्मतया—

यदा स्थितिं च लभते स्वोन्मुखं सृष्टिकारणम् ॥ ६८ ॥
प्रतिष्ठाख्य उकारस्तु विष्णुः साक्षाद् भवत्यसौ।

स्वोन्मुखमिति स्वत्र संविद्रूपे उन्मुखं कृत्वा प्रमाणप्रधानत्वात् स्थितिदशायाः प्रमाणस्य च ज्ञेयाच्छुरितसंविद्रूपत्वादेवमुक्तम्, अत एव सृष्टेर्मेयप्रधानाया दशायाः कारणम् । प्रमाणरूपसंविदन्तर्वर्तिन एव ह्याभासाः पृथग्विमृश्यमानाः प्रमेयतया सृज्यन्ते । अत्र च—

'मत्स्यवलनसंयोगाद् गलके मीनमाश्रिता ।'

इति श्रीमीनकुलोक्तदृशा पूर्वापरकोट्योर्दोलनेन गलकोटरे कृतपदा संविदुन्मिषन्मेयात्मकोकारामर्शरूपा उकाराख्यो मन्त्रावयव उच्यते । स च प्रतिष्ठायां गर्भीकृताबादिप्रकृत्यन्तत्रयोविंशतितत्त्वायां प्रतिष्ठाकलाख्यायां संख्यानं प्रथा यस्य, अत एव तत्पदाधिष्ठातृस्थितिसंविन्मयविष्णुभट्टारकामर्शित्वात् साक्षाद् विष्णुः । एवं

वर्ण और उनसे वर्णनीय वाच्य सत्ता प्लुतपर्यन्त है—यह भी (दूसरे प्रकार का) वर्णसङ्घट्ट है ॥

इस प्रकार मायाग्रन्थि के आश्रय मकाररूप मन्त्रावयवरूपता को प्राप्त होकर पूर्वोक्त क्रियाशक्ति सम्पूर्ण जगत् के रूप में—

जब स्वोन्मुख रूप में स्थित होती है तब वह सृष्टि का कारण बनती है। तब यह प्रतिष्ठा नामक उकार साक्षाद् विष्णु हो जाता है ॥ -६८-६९- ॥

स्वोन्मुख = अपने में संविद्रूप में उन्मुख कर स्थितिदशा के प्रमाणप्रधान होने के कारण और प्रमाण के ज्ञेय से आच्छुरित संविद्रूप होने से ऐसा कहा गया । इसलिये (वह प्रमाण) सृष्टि = मेयप्रधान दशा, का कारण है । प्रमाणरूप संविद् के भीतर रहने वाले ही आभास जब पृथग् रूप से विमर्श के विषय बनते हैं तब प्रमेय के रूप में उनकी सृष्टि होती है ।

यहाँ—

'मत्स्य के वलन (= इधर-उधर उलटने पलटने) के संयोग से गले में मछली के अधीन हो गये (= गले में मछली का काँटा फँस गया) ।'

इस मीनकुल में उक्त नीति के अनुसार आगे पीछे के सिरों के दोलन (= हिलने डुलने) से गलकोटर में स्थान बनाने वाली संविद् उन्मिषत् मेयात्मक उकारपरामर्शरूपा उकार नामक प्रणव का अवयव कही जाती है । और वह (= उकार) प्रतिष्ठा में = जल से लेकर प्रकृति पर्यन्त २३ तत्त्वों को अपने अन्दर समाहित करने वाली प्रतिष्ठा कला में, संख्यान = विस्तार वाले, अत एव उस पद

तां वदन् मकारकलाया: संहारदशाप्राधान्यं गर्भीकृतपुमादिमायान्ततत्त्वसप्तकं विद्या-कलाव्याप्तिरित्याद्यनुमन्तव्यमिति शिक्षयति ॥

अथ कण्ठादवरुह्य हृत्पद्मप्राप्तायां संविदि—

निवृत्तिस्तु यदा सर्वं निष्पन्नं प्रणवं विभुः ॥ ६९ ॥
अकाराख्यं परं धाम ब्रह्मा स कमलासनः।

पृथ्व्यन्ततत्त्वसर्गनिवृत्तेर्निवृत्तिः । अतश्चावरोहक्रमेणैतदन्तत्वात् प्रणवस्य अकार आ समन्तात् ख्यानं तस्य तदकाराख्यं परं धाम । प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽभेदेन विमृश्यतेऽनेन परं धामेति कृत्वा प्रणवैकदेशोऽप्यकारः—

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तः ।'

इति स्थित्या प्रणवपरधाम सामानाधिकरण्येन निर्दिष्टम् । यच्चैतदकारात्म-रूपम्, तद् ब्रह्मरूपवाचित्वात् सृष्टिप्रधानसंविदामर्शित्वाद् हृत्कमलकर्णिका-रूढत्वाच्च ब्रह्मा कमलासन इति चोच्यते । द्वादशान्तवद् हृदोऽपि पूर्णसंवित्त्वात्

की अधिष्ठात्री स्थिति संविद् वाले विष्णुभट्टारक का आमर्शक होने से साक्षाद् विष्णु हो जाता है । इस प्रकार उस (= प्रतिष्ठाकला) को बतलाते हुए ग्रन्थकार मकारकला के संहारदशाप्राधान्य वाले पुरुष से लेकर मायापर्यन्त सात तत्त्व (= पुरुष, माया और उसके पाँच कञ्चुक) को अपने अन्दर समाहित करने वाले सात तत्त्व की विद्या कला की व्याप्ति होती है—इत्यादि का अनुमान करना चाहिये—यह बतलाते हैं ॥

संविद् जब कण्ठ से उतर कर हृदय कमल को प्राप्त होती है, तब

(पृथिवी पर्यन्त) की निवृत्ति होती है और जब सब कुछ रचित हो जाता है तो विभु (परमेश्वर) अकार नामक पर धाम हो जाता है वही कमलासन ब्रह्मा हो जाता है ॥ ६९-७०- ॥

पृथ्वीपर्यन्त तत्त्वसृष्टि की निवृत्ति होने से यह निवृत्ति कला कहलाती है । इसलिये अवरोह क्रम से इसके (पृथ्वी) के अन्तिम होने से यह प्रणव का अकार है जो कि परम धाम है । (प्रणव शब्द का विग्रह है—) प्रकृष्ट रूप से जिसकी नुति (= स्तुति) की जाती है अर्थात् अभिन्न रूप से जिसका विमर्श होता है वह प्रणव परम धाम है। इसलिये प्रणव का एक देश भी अकार—

'(प्रणव का) प्रदेश (= एक देश) भी ब्रह्म की विश्वरूपता का अतिक्रमण नहीं करता ।'

इस नियम के अनुसार श्लोक में प्रणव परधाम का सामानाधिकरण्येन (= समानविभक्तिक) निर्देश है । (प्रणव का प्रथम वर्ण) जो कि अकाररूप है, ब्रह्मरूप का वाचक होने के कारण, सृष्टिप्रधान संविद् का आमर्शक होने और हृदय

परधामेत्युचितैवोक्तिः ॥

तदित्थम्—

मन्त्रसृष्टिर्भवेदेषा शिवस्य परमात्मनः ॥ ७० ॥

'शिवो ह्यनादिमान् ।' (२१।५९)

इत्यतः प्रभृति

'कुण्डलाख्या महाशक्ति ।' (२१।६२)

इत्यन्तं शिवतत्त्वरूपतया, नादान्ताद् बिन्द्वन्तं शक्तितत्त्वरूपतया, मकाराद-कारान्तमात्मतत्त्वात्मत्वेन मन्त्रसृष्टिरुक्ता ॥ ७० ॥

एवं परोपक्रमपश्यन्तीवाक्प्रधानां प्रणवात्ममहामन्त्रसृष्टिमुक्त्वा मध्यमाप्राधान्येन मातृकासृष्टिमाह—

ततोऽष्टविधभेदेन पञ्चाशद्वर्णरूपिणी ।
ज्ञानशक्तिः परा सूक्ष्मा मातृकां तां विदुर्बुधाः ॥ ७१ ॥

वर्गभेदादष्टधात्वम्, वर्ग्यभेदात्तु पञ्चाशद्रूपत्वम् भेदप्रधानतया चास्या

कमल की कर्णिका पर आरुढ़ होने के कारण कमलासन ब्रह्मा कहा जाता है। द्वादशान्त की भाँति हृदय के भी पूर्ण संविद्रूप होने से उसको परधाम कहना उचित ही है ॥

इस प्रकार—

यह परमात्मा शिव की मन्त्रसृष्टि है ॥ -७० ॥

'शिव अनादिमान् है........।' (ने.तं. २१.५९)

से लेकर

'कुण्डलाख्या महाशक्ति' (ने.तं. २१.६२)

यहाँ तक शिवतत्त्व के रूप में, नादान्त से लेकर बिन्दुपर्यन्त शक्तितत्त्व के रूप में और मकार से लेकर अकार पर्यन्त आत्मतत्त्व के रूप में मन्त्रसृष्टि कही गयी ॥ ७० ॥

इस प्रकार परा (वाक्) से प्रारम्भ कर पश्यन्तीवाक्प्रधाना प्रणवरूप महामन्त्र की सृष्टि का निर्वचन कर मध्यमाप्रधान मातृकासृष्टि को कहते हैं—

इसके बाद आठ प्रकार (= अ,क,च,ट,त,प,य,श वर्गों) के भेद से पचास वर्णरूपिणी परा सूक्ष्मा ज्ञानशक्ति होती है। इसको विद्वान् लोग मातृका कहते हैं ॥ ७१ ॥

वर्ग के भेद से (मातृका के) आठ प्रकार हैं और वर्ग्य के भेद से पचास रूप

वाक्प्रधानता मन्तव्या । एवमपि समग्रवाच्यवाचकक्रोडीकारात् परा पूर्णा वैखरी-जन्यश्रोत्रग्राह्यवर्णवैलक्षण्यात् सूक्ष्मा विश्ववाच्यवाचकसूतिहेतुत्वादज्ञाता माता मातृका । बुधाः—

'मातृकाचक्रसंबोधः ।' (२।७)

इति शिवसूत्रस्थित्या मातृकाज्ञानशालिनः ॥ ७१ ॥

किं चैषा भगवत्यभेदप्रधानतया परावाग्रूपा सती—

सा योनिः सर्वमन्त्राणां सर्वत्रारणिवत् स्थिता ।

तदेवं सृष्टिक्रमस्य प्रस्तुतत्वाद् यद्यपि प्रणवस्य व्याप्तिः प्रातिलोम्येनोक्ता, तथाप्यानुलोम्येन हृत्तो द्वादशान्तं भेददशासंहारक्रमेण

'गृह्णाति प्रणवः सर्वंकलाभिः कलयेच्छिवम् ।' (२२।१४) इति,
'अकारश्च उकारश्च ।' (२२।२१)

इति वक्ष्यमाणस्थित्या तमुच्चार्य द्वादशान्ताद् हृदन्तमुक्तयुक्त्या तत्तत्स्थान-

---

हैं । उसके भेदप्रधान होने से यह (= मातृका) वाक्प्रधान समझी जानी चाहिये । इस प्रकार समस्त वाच्यवाचकों को अपने अन्दर समाविष्ट करने के कारण परा पूर्णा, शरीर से उत्पन्न श्रोत्रग्राह्य वर्ण से विलक्षण होने के कारण सूक्ष्मा, समस्त वाच्यवाचक की उत्पत्ति का कारण होने से अज्ञाता माता = मातृका, होती है । बुध का अर्थ है—

'(प्रसन्न गुरु से) मातृकाचक्र का दिव्य ज्ञान होता है ।'

इस शिवसूत्र के अनुसार मातृकाज्ञानवाले ॥ ७१ ॥

तथा यह भगवती अभेदप्रधाना होने से परावाक्रूपा होती हुई—

अरणि के समान समस्त मन्त्रों की योनि (= कारण) के रूप में स्थित है ॥ ७२- ॥

इस प्रकार सृष्टिक्रम के प्रस्तुत होने से यद्यपि प्रणव की व्याप्ति प्रतिलोम रीति से कही गयी है तथापि अनुलोम क्रम इस प्रकार है—

'प्रणव सबका ग्रहण करता है और कलाओं के द्वारा शिव की रचना करता है।' (ने.तं. २२-१४)

तथा—

'अकार और उकार............ हेय हैं ।' (ने.तं. २२-२१)

इस वक्ष्यमाण स्थिति के द्वारा उसका उच्चारण करे । तत्पश्चात् द्वादशान्त से लेकर हृदयपर्यन्त उक्त युक्ति से तत्तत् स्थान के परिशीलन के साथ अवरोहण करने

परिशीलनेनावरोहेत्: शिवामृतेन विश्वमाप्लाव्याशेषक्रोडीकारिमातृकाप्रसरप्रथमाङ्कुर-कल्पाकारविमर्शादनुत्तरां भूमिं सृष्ट्वा परामृतसेकसंस्कारत आपादितमहायज्ञाहुति-योग्यभावं तदेव विश्वं द्वितीयबीजोच्चारामर्शेन परधाम्नि हुत्वाऽग्नीषोमात्मन्यूर्ध्वाधर-समग्रसृष्टिसंहारसामरस्यसतत्त्वे उन्मनापरमशिवाभेदमये प्रकाशानन्दस्वरूपे स्वधाम्नि तृतीयबीजे स्थित्या विश्राम्येदित्याह—

जुहोति वीर्यमतुलममृतं सृष्टिसंयुतम् ॥ ७२ ॥

पादद्वयेन बीजद्वयवीर्यमत्रासूत्रितम् ॥ ७२ ॥

यत एवम्—

तेनासौ देवदेवेशो ह्यमृतेशः परापरः ।

असाविति इहत्यमन्त्रराजः । परश्च अपरश्च परापरश्चेति तन्त्रेण वैश्वात्म्यमस्योक्तम् ॥

किं च—

मृत्योरुत्तारयेद्यस्मान्मृत्युजित्तेन चोच्यते ॥ ७३ ॥

वाले विश्व को शिवामृत से आप्लावित करे । उसके बाद समस्त विश्व को अपने अन्दर समाहित करने वाली मातृका के विस्तार के प्रथम अङ्कुर के समान अकार के विमर्श के द्वारा अनुत्तर भूमि की सृष्टि करे । फिर पर अमृत के सेकरूपी संस्कार के द्वारा महायज्ञ की आहुति के योग्य उसी विश्व की द्वितीय बीज (= उकार) के उच्चार के आमर्श के द्वारा परधाम में आहुति दे । पुनः अग्नि एवं सोम वाले ऊर्ध्व अधर समग्र सृष्टि-संहार के सामरस्यरूपी = उन्मनारूपी परमशिवाभेदमय प्रकाशानन्दस्वरूप आत्मधाम तृतीय बीज (= म्) स्थिति के साथ विश्राम करे—यह कहते हैं—

(साधक) सृष्टि से युक्त अतुल अमृत वीर्य का हवन करता है ॥-७२॥

उपर्युक्त श्लोकार्द्ध के दो पादों से दो बीजों (= अ, उ) का वीर्य यहाँ बतलाया गया ॥ ७२ ॥

चूँकि ऐसा है—

इस कारण यह देवदेवेश अमृतेश पर, परापर और अपर हैं ॥ ७३-॥

यह = इस पुस्तक में वर्णित मन्त्रराज । पर, अपर और परापर—इस प्रकार तन्त्र[1] के द्वारा इस मन्त्र की विश्वात्मकता कही गयी ॥

और भी—

चूँकि यह मृत्यु से पार कर देता है इसलिये यह मृत्युजित् कहा जाता

---

१. सकृदुच्चरितत्त्वे सति वह्वर्थबोधकत्वम्, तन्त्रत्वम् ।

भरणात् प्रक्रियाण्डानां स भैरव इति स्मृतः ।

प्रक्रियायां पुरतत्त्वादिपरिपाट्यामण्डानि ब्रह्मप्रकृतिमायाशक्त्यण्डानि, तेषां भरणात् स्वात्मसात्कारात् ।

एवमिहत्यमन्त्रनाथस्यामृतेशादिरूपतां निरुच्य प्रकृतानां सर्वमन्त्राणां त्रितत्त्वात्मतां प्रस्तुतां निर्वाहयितुमुपक्रमते—

एवमाद्याः स्मृता मन्त्राः सर्वे ह्यमिततेजसः ॥ ७४ ॥
अधिकारं प्रकुर्वन्ति सर्वस्य जगतः प्रिये ।
मोचयन्ति च संसाराद्योजयन्ति परे शिवे ॥ ७५ ॥
मननत्राणधर्मित्वात् तेन मन्त्रा इति स्मृताः ।

एवंशब्दः प्रोक्तमन्त्रनाथं तद्वीर्यं चामृशति । तेन प्रोक्ता अमृतेशाद्याः प्राङ्निरूपितनीत्या च तद्वीर्यप्रधानाः सर्वे मन्त्राः, अमृतमविनाशि परामृतसारं च तेजो येषाम्, अत एव चित्प्रकाशात्मत्वादधिकारं सृष्ट्यादि जगतः कुर्वन्ति, मुख्यतस्तु पाशमोचनशिवत्वव्यक्त्यात्मानुग्रहकृतोऽतश्च निरुक्तस्थित्या मननत्राण-धर्मयोगाद् मन्त्रा उच्यन्ते ॥

है । सृष्टिप्रक्रिया में वर्त्तमान अण्डों का भरण करने के कारण यह भैरव कहा जाता है ॥ -७३-७४- ॥

प्रक्रिया = पुर तत्त्व आदि की रचना में, अण्ड = ब्रह्माण्ड, प्रकृत्यण्ड, मायाण्ड एवं शाक्ताण्ड, उनके भरण = आत्मसात् करने, के कारण (यह भैरव कहा जाता है) ॥

इस प्रकार यहाँ के मन्त्रनाथ की अमृतेश आदि रूपता को बतलाकर प्रस्तुत सभी मन्त्रों की प्रस्तुत तीन तत्त्वात्मकता को बतलाने का उपक्रम करते हैं—

हे प्रिये ! ऐसे समस्त मन्त्र अमित तेज वाले कहे गये हैं । स्मरण किये जाने पर सम्पूर्ण संसार को अपने अधिकार में कर लेते हैं । (ये मन्त्र साधकों) को संसार से मुक्त कराते और परम शिव से जोड़ देते हैं । इस प्रकार मनन एवं त्राण धर्म वाले होने के कारण वे मन्त्र कहे गये हैं ॥ -७४-७६- ॥

उक्तश्लोक में प्रयुक्त 'एवम्' शब्द पूर्वोक्त मन्त्रनाथ एवं उनके वीर्य को बतलाता है । इसलिये प्रोक्त अमृतेश आदि और पूर्ववर्णित नीति के अनुसार उसी के वीर्य वाले सब मन्त्र, अमृत = अविनाशी, और पर अमृततत्त्वात्मक तेज वाले, अत एव चित्प्रकाशात्मक होने से अधिकार = संसार की सृष्टि आदि, करते हैं किन्तु इनका मुख्य कार्य पाशच्छेद एवं शिवसमावेश रूपी अनुग्रह है । इसलिये निरुक्त स्थिति से मनन एवं त्राण धर्म वाले होने के कारण ये मन्त्र कहे जाते हैं ॥

यत एवम्—

तस्मात् सर्वगता मन्त्राः सर्वदास्ते त्रितत्त्वजाः ॥ ७६ ॥
शिवशक्त्यात्मरूपास्तु नित्यानुग्रहशालिनः ।

क्षेत्रज्ञवदवच्छेदाभावात् सर्वगता व्यापकाः, विज्ञानाकलवत् कर्तृत्वातिरोभूतेः सर्वदाः, नित्यानुग्रहशालिनश्च शिवशक्त्यात्मरूपत्वात् त्रिषु तत्त्वेषु जायन्तेऽभिव्यज्यन्ते ॥

किं च—

शिवशक्तिप्रभावाश्च शिवदाशिवहारकाः ॥ ७७ ॥

निग्रहानुग्रहकृतः शिवदाशिवहारकाश्चेति विशेषणसमासः ॥ ७७ ॥

योगिज्ञानिनां तु—

ज्ञातमात्रा हि फलदा भोगमोक्षप्रदायिनः ।

मन्त्राणां शिवशक्त्यात्मरूपत्वं विभागेन प्रथयति—

चूँकि ऐसा है—

इसलिये वे मन्त्र सर्वव्यापी, सब कुछ देने वाले तथा तीन तत्त्वों में अभिव्यक्त होने वाले हैं । शिव शक्ति और जीव रूपी ये नित्य अनुग्रह करते रहते हैं ॥ -७६-७७- ॥

ये मन्त्र क्षेत्रज्ञ की भाँति अवच्छेद (= सीमा) न रहने से सर्वगत = (सर्व) व्यापक, विज्ञानाकल के समान कर्तृत्व का तिरोधान न होने से सब कुछ देने वाले, नित्य अनुग्रहशाली तथा शिव शक्ति एवं आत्म स्वरूप होने के कारण तीनों तत्त्वों में उत्पन्न होते हैं = अभिव्यक्त होते हैं ॥

तथा—

(वे मन्त्र) शिवशक्ति के प्रभाव वाले, कल्याणकारी एवं अमङ्गलहारी हैं ॥ -७७ ॥

'निग्रहानुग्रहकृतः' तथा 'शिवदाशिवहारकाः' इन दोनों पदों में कर्मधारय समास[१] है ॥ ७७ ॥

(ये मन्त्र) योगियों और ज्ञानियों के लिये—

केवल ज्ञात होने से फलप्रद अर्थात् भोग एवं मोक्ष देते हैं ॥ ७८- ॥

---

१. निग्रहश्चानुग्रहश्च—निग्रहानुग्रहौ, तौ कुर्वन्ति इति निग्रहानुग्रहकृतः । शिवं ददति इति शिवदाः ('आतोऽनुपसर्गेकः' इति कः प्रत्ययः) शिवदाश्च अशिवहारकाश्च शिवदाशिवहारकाः ।

यत्तेषां सर्ववेदित्वं सर्वशक्तित्वमेव च ॥ ७८ ॥
तच्छिवत्वं समाख्यातं.........

सर्वशक्तित्वं वैश्वात्म्यात् ॥

..........शक्तित्वं सर्वकर्तृता ।

शक्यते येनेति शक्तिः स्वातन्त्र्यम् ॥

तदेव स्फुरयति—

सर्वानुग्रहकर्तृत्वं सर्वत्र फलदायकम् ॥ ७९ ॥

सर्वत्र तत्र तत्र तत्त्वादौ फलप्रदत्वमिति भावप्रधानो निर्देशः ॥ ७९ ॥

आत्मत्वं तत्स्वरूपं तु त्रिविधं साधनं स्मृतम् ।
मन्त्रो ध्यानं तथा मुद्रा.........

यत् स्वरूपं यस्य साधनस्य मन्त्रदेवताराधनस्य, तत् प्राणबुद्धिदेहाश्रय-मन्त्रोच्चारध्यानमुद्रोपायत्वात् त्रिविधं मन्त्राणामात्मत्वमणुत्वम् ।

यथोक्तम्—

'उच्चारकरणध्यान ।' (मा०वि० २।२१)

मन्त्रों की शिवशक्त्यात्मरूपता को विभक्त कर दिखलाते हैं—

उन मन्त्रों का जो सर्ववेदित्व और सर्वशक्तित्व है वह शिवत्व कहा गया है ॥ -७८-७९- ॥

(उनकी) सर्वशक्तिता (उनके) विश्वात्मक होने के कारण है ॥

शक्तित्व = सर्वकर्तृता ॥ -७९- ॥

जिसके द्वारा (कोई कार्य) सम्भव हो वह शक्ति = स्वातन्त्र्य है ॥

उसी को स्पष्ट करते हैं—

सर्वानुग्रहकर्त्तृत्व का अर्थ है—सर्वत्र फलदायक ॥ -७९ ॥

सर्वत्र = भिन्न-भिन्न तत्त्वों में, फलप्रद होते हैं ॥ ७९ ॥

आत्मत्व का अर्थ है—उनका स्वरूप । (मन्त्रों की सिद्धि का) साधन तीन प्रकार का कहा गया है—मन्त्र ध्यान एवं मुद्रा ॥ ८०- ॥

जिस साधन = मन्त्रदेवता के आराधन, का जो स्वरूप है वह प्राण बुद्धि एवं देह रूप आश्रय में (क्रमशः) मन्त्रोच्चार, ध्यान एवं मुद्रा रूपी उपाय वाला है अतः मन्त्रों का आत्मत्व = अणुत्व, तीन प्रकार का है । जैसा कि मालिनीविजयतन्त्र में कहा गया—

इत्यादि श्रीपूर्वे ॥

तच्च एतत् त्रिविधम्—

...........साधनं शास्त्रचोदितम् ॥ ८० ॥

एतच्च त्रयं प्रपञ्चतो दर्शयति—

दीक्षामण्डलसंस्कारं यजनं जपनं तथा ।
होमक्रिया तथा लेख्यं ध्यानधारणयोः क्रिया ॥ ८१ ॥
मुद्राबन्धस्तथा योगो यजनं तु क्रियैकता ।

दीक्षा च, मण्डलं च, संस्कारश्चाधिवासाद्यात्मेति समाहारः । लेख्यं यन्त्रम् । एतदन्तो मन्त्रस्य प्रपञ्चः । धारणा ध्यानप्रपञ्चः । मुद्राबन्धश्चित्तैकाग्र्यात्मयोगाय, योगो योजनायै पर्यवस्यतीत्येतद् मुद्राप्रपञ्चत्वेन उक्तम् । क्रियैकता मन्त्रसंधान-नाडीसंधानपरमीकरणरूपा त्रितयस्यापि प्रपञ्चः ॥

इत्थं मन्त्राणां त्रितत्त्वमयत्वमुपपाद्योपसंहरति—

एवं मन्त्राः समाख्याताः सर्वत्रैवाधिकारिणः ॥ ८२ ॥

'उच्चार, करण एवं ध्यान' (२.२१) इत्यादि श्रीपूर्वतन्त्र में ॥

वह यह तीन प्रकार का—

साधन शास्त्रविहित है ॥ -८० ॥

इन तीनों को विस्तार के साथ बतलाते हैं—

दीक्षा, मण्डल, संस्कार, यजन, जप, होम, लेख्य, ध्यान, धारणा, मुद्राबन्धन तथा योग ये साधन हैं । यजन का अर्थ है—क्रिया के साथ एकता ॥ ८१-८२- ॥

दीक्षा च मण्डलं च संस्कारश्च इस प्रकार दीक्षामण्डलसंस्कार में समाहार द्वन्द्व समास है । संस्कार = अधिवास आदि । लेख्य = यन्त्र । यहाँ तक मन्त्र का प्रपञ्च है । धारणा ध्यान का प्रपञ्च है । मुद्रा का बन्ध चित्त की एकाग्रता रूपी योग के लिये होता है । योग योजना में पर्यवसित होता है—यह बात मुद्राप्रपञ्च के रूप में कही गयी है । क्रिया की एकता = मन्त्रसन्धान नाड़ीसन्धान और इनके परमीकरणरूप । यह तीनों (= मन्त्र ध्यान और मुद्राबन्ध) का प्रपञ्च (= विस्तार) है ॥ ८१- ॥

इस प्रकार मन्त्रों की त्रितत्त्वमयता को बतलाकर इस अधिकार का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार मन्त्र सर्वत्र अधिकारी कहे गये हैं ॥ -८२ ॥

तत्त्वत्रयानुसारेण भोगमोक्षयोर्भोगे चेति शिवम् ॥

समुच्चाराद् व्याप्तेः परमपदविश्रान्तिवशतो
ददद् भुक्तिं मुक्तिं द्वयमपि यदद्वैतमसमम् ।
जगत्त्राणान्नेत्रं निखिलमनुचक्रप्रभु परं
त्रितत्त्वात्मैशं तज्जयति परबोधामृतमयम् ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योते एकविंशोऽधिकारः ॥ २१ ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के एकविंश अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २१ ॥

सर्वत्र का अर्थ है—तीन तत्त्वों के अनुसार भोगमोक्ष दोनों और केवल भोग में ॥ ८२ ॥

जो समुच्चार व्याप्ति एवं परमपद में विश्रान्ति के कारण भोग या मोक्ष अथवा दोनों को देने वाला, अद्वैत, अतुलनीय, जगत् का त्राण करने के कारण नेत्र नाम वाला, समस्त मन्त्रचक्र का स्वामी, तीनतत्त्वस्वरूप, परबोधामृतमय, तथा पर है, वह शङ्कर का नेत्र सर्वातिशायी है ।

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के एकविंश अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २१ ॥
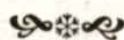
द्वाविंशोऽधिकारः

* नेत्रोद्योतः *

द्वयध्वंसि स्फूर्जत्परतरस्वधासारविसरै-
निर्षिच्याशेषं यत् परशिवहुताशो विसृजति।
प्रकाशानन्दैक्यस्फुरणमयमाभासयति च
स्तुमः शार्वं नेत्रं निखिलमनुनाथं किमपि तत्॥

पूर्वाधिकारोपक्रान्तमपि मध्येऽनन्तप्रमेयव्यामिश्रीभूतं मन्त्रतत्त्वं निगमयितुं श्रीदेव्युवाच—

असंख्यातास्तु कोट्यो वै मन्त्राणाममितौजसाम्।
उक्ता देवेन सर्वज्ञाः सर्वगाः सर्वदा शुभाः॥ १॥

---

* ज्ञानवती *

अमोघान्वै मन्त्रान्नयनजनियुक्तान् सुमहस
अकाराद्युन्मन्यन्तास्तदनु शरवक्त्राङ्कितकलाः।
निराभासां पश्चान्निखिलनिजभासां निरदिश-
ज्जयत्येकं मृत्युञ्जयदमृतनेत्रं पुररिपोः॥

जो द्वैत का नाशक, स्फूर्जित होती हुई परतर शक्ति की वृष्टि के द्वारा समस्त विश्व का निषेचन (= सृष्टि एवं संभरण) करने के बाद पराशिवाग्नि वाला होकर संहार करते हैं, प्रकाश और आनन्द की एकता के स्फुरण से युक्त (इस विश्व को) आभासित करते हैं, समस्त मन्त्रों के नाथ उस शार्व नेत्र की हम, स्तुति करते हैं।

पहले अधिकार में उपक्रम (= प्रारम्भ) किया गया मन्त्रतत्त्व बीच में अनन्त प्रमेय से मिश्रित हो गया। (और पूर्ण रूप से वर्णित नहीं हो सका इसलिये अब उस) मन्त्रतत्त्व का उपसंहार करने के लिये देवी ने कहा—

सर्वाः सर्वेश्वराः शस्ताः सर्वत्रैवाधिकारिकाः ।
तासामेव हि सर्वासां कथमभ्यधिको बली ॥ २ ॥
मन्त्रराट् परमेशानः कथं मृत्युञ्जयः परः ।
संशयो मे समुत्पन्नो हृदि देव वद स्व मे ॥ ३ ॥
पूर्वोक्तमन्त्रसद्भावो हृतो देवेन मे कथम् ।
तदद्य श्रोतुमिच्छामि परं कौतुहलं हि मे ॥ ४ ॥

हे हृदिदेव हृदयेश्वर स्व आत्मन् सर्वा मन्त्रकोट्यः प्राय एतन्मन्त्रन्यूनाधिक-माहात्म्यात् शास्त्रेषु त्वया उक्ताः, ततः कथमयं मन्त्रराजोऽभ्यधिक इत्ययं मे संशयो जातो यतः, तस्माद् वद निर्णयवाक्यं ब्रूहि, यतः पूर्वोक्तमेव मन्त्रसद्भावं बह्वधिकारोक्तं नानाप्रमेयोक्तिशबलीकृतत्वादपहृतमिव सारग्राहिण्या धियाऽधिगन्तु-मिच्छामि । अत्रार्थे सर्वसाररूपेऽतीव मे कौतुकमिति ॥ ४ ॥

देव्या पृष्टो भैरव उवाच—

श्रूयतां संप्रवक्ष्यामि संशयं ते हृदि स्थितम् ।

संप्रवचनं निर्णयः ॥

आपने अत्यन्त तेजस्वी मन्त्रों की असंख्य कोटियाँ बतलायीं । ये मन्त्र सर्वज्ञ, सर्वगामी, सबकुछ देने वाले, शुभ, सर्वेश्वर और सर्वत्र अधिकारी कहे गये हैं । उन सभी कोटियों में (यह) मन्त्रराट् क्यों अधिक और बलवान् है । वह परमेश्वर मृत्युञ्जय कैसे पर (= सर्वोत्कृष्ट) हैं । यह संशय मेरे हृदय में उत्पन्न हो गया । उसका निराकरण मुझे बतलाइये । आपने पूर्वोक्त मन्त्र का सार कैसे अपहृत कर लिया । मैं आज उसको सुनना चाहती हूँ । इस विषय में मेरी अत्यन्त उत्सुकता है ॥ १-४ ॥

हे हृदिदेव ! = हृदयेश्वर ! स्व = समस्त जगत् के आत्मस्वरूप, आपने सब मन्त्रकोटियाँ प्रायः इस मन्त्र के अल्पाधिक माहात्म्य वाली होने के कारण शास्त्रों में बतलायी हैं तो यह मन्त्रराज कैसे अधिक (= सबसे बढ़कर) है? चूँकि यह संशय मेरे मन में उत्पन्न हुआ है इसलिये बतलाइये = निर्णयवाक्य को कहिये । क्योंकि पूर्वोक्त मन्त्र का तत्त्व जो कि अनेक (अवान्तर विषयों से) मिश्रित हो जाने के कारण, अपहृत जैसा हो गया । इसलिये अपनी सारग्राहिणी बुद्धि से उसको जानना चाहती हूँ । इस सर्वसाररूप विषय में मेरा अत्यन्त कौतूहल है ॥ ४ ॥

देवी के द्वारा पूछे जाने पर भैरव ने कहा—

सुनो । जो संशय तुम्हारे हृदय में स्थित है उसका निर्णय मैं बतलाऊँगा ॥ ५- ॥

सम्प्रवचन = निर्णय ॥

तदाह—

मन्त्रकोट्यो ह्यसंख्याता सर्वाः सर्वाधिकारिकाः ॥ ५ ॥
शिवशक्तिप्रभावाश्च सर्वशक्तिसमन्विताः ।
भोगमोक्षप्रदाः सर्वाः स्वशक्तिबलबृंहिताः ॥ ६ ॥

स्वस्य शिवरूपस्य आत्मनो यत् शक्तिबलं स्वातन्त्र्यमाहात्म्यं तेन बृंहिता यद्यपि, तथाप्यस्य मन्त्रनाथस्यास्ति विशेष इत्युपक्रमते वक्तुम्—

किन्तु देवः परः शान्तो ह्यप्रमेयगुणान्वितः ।
शिवः सर्वात्मकः शुद्धो भावग्राह्यो ह्यनुत्तमः ॥ ७ ॥
आश्रयः परमस्तेषां व्यापकः परमेश्वरः ।

देवो द्योतनादिसतत्त्वः, परोऽनुत्तरः, शान्तो द्वैतोपशमात्, अप्रमेया गुणा अभेदसर्वज्ञत्वादयस्तैरन्वितः, सर्वात्मकः क्रोडीकृतद्वैताद्वैतपरमाद्वैतरूपा, शुद्धो विश्वैकात्म्येऽप्यनावृतः, भावग्राह्यश्चिद्घनत्वेन स्वप्रकाशः । तेषामिति मन्त्राणां तेनैव तथा वैचित्र्येणावभासितानामाश्रयः परप्रकाशभित्तिमयः, परम इति यद्यपि प्रोक्तदृशा शक्तिरप्येषामाश्रयस्तथापि प्रकृष्टोऽयं तस्या अपि शक्तेर्विश्रान्तिधामेत्यर्थः, अत एव व्यापकः परमेश्वरस्तत्तन्मन्त्रावभासनतत्संयोजनवियोजनादिस्वतन्त्रः, अत एव न

उसे कहते हैं—

मन्त्रों की कोटियाँ असंख्य हैं । वे सब समस्त अधिकारों वाली हैं (= सब लोग उसके अधिकारी हैं) । वे सब शिवशक्ति के प्रभाववाली, समस्त शक्तियों से युक्त, भोग मोक्ष देने वाली और अपनी शक्ति के बल से संवर्द्धित हैं ॥ -५-६ ॥

(स्वशक्ति बल =) अपने = शिव के, शक्तिबल = स्वातन्त्र्य की महिमा । यद्यपि इससे वृंहित है तथापि मन्त्रनाथ का अपना वैशिष्ट्य है—यह कहने का उपक्रम करते हैं—

किन्तु देव, पर, शान्त, अप्रमेय गुणों से युक्त, कल्याणकारी, सर्वस्वरूप, शुद्ध, भावग्राह्य, अनुत्तम, उन (मन्त्रों) का अन्तिम आश्रय, व्यापक एवं परमेश्वर है ॥ ७-८- ॥

देव = द्योतनशील, पर = अनुत्तर, द्वैतभाव के उपशम के कारण शान्त, अभेद सर्वज्ञत्व आदि अप्रमेय गुणों से युक्त, सर्वात्मक = द्वैत अद्वैत परम अद्वैत को अपने में समाहित करने वाला, शुद्ध = विश्वरूप होने पर भी उससे अनावृत, भावग्राह्य = चिद्घन होने से स्वप्रकाश, उनका = मन्त्रों जो कि उसी वैचित्र्य के साथ अवभासित हैं का, आश्रय = पर प्रकाशभित्तिमय, परम—यद्यपि उक्त नीति के अनुसार शक्ति भी इन मन्त्रों का आश्रय है तथापि यह परमेश्वर प्रकृष्ट हैं क्योंकि वे उस शक्ति के भी विश्रामस्थान हैं । इसीलिये व्यापक परमेश्वर हैं = तत्तत् मन्त्रों के

विद्यतेऽन्यदुत्तमं यस्मात्तादृगयमिहत्यमहासामान्यात्मपूर्वोपक्रान्तसर्ववीर्यसाररूपो मन्त्रनाथ इत्यर्थः । निर्णीतप्रायं चैतत् प्रागेव ॥

अतश्च—

तदिच्छया समुत्पन्नास्तच्छक्त्या संप्रचोदिताः ॥ ८ ॥
भवन्ति सफलाः सर्वे सर्वत्रैवाधिकारिणः ।

तस्य शक्त्या स्वातन्त्र्यस्फुरत्तया सम्यक्प्रचोदिता अनुग्रहादौ नियुक्ताः, अतश्च सर्वत्राधिकारिणो मन्त्राः फलदा भवन्त्येव । एवो भिन्नक्रमः ॥

यद्यपि शिवशक्त्या सर्वे मन्त्रा जनिता नियुक्ताश्च, तथाप्यस्यान्येभ्यो महान् विशेष इति प्रस्तुतं निर्वाहयति—

यदेतत्परमं धाम सर्वेषामालयः शिवः ॥ ९ ॥
अस्मादेव समुत्पन्ना मन्त्राश्चामोघशक्तयः ।

प्रथमाधिकारात् प्रभृति चिदानन्दात्ममहासामान्यं यदेतद् मृत्युजिद्रूपं परं धाम शाक्तम्, तदेव शिवात्मकं विश्वस्याश्रयश्चिद्भित्त्यात्मतां विना कस्याप्यप्रकाशात् ।

अवभासन उनके संयोजन और वियोजन आदि में स्वतन्त्र है । इसलिये अनुत्तम है = उनसे बढ़कर कोई दूसरा उत्तम नहीं है । ऐसे ये मन्त्रनाथ इस ग्रन्थ में वर्णित महासामान्यरूप पूर्वोपक्रान्त समस्तवीर्य के सारभूत हैं । यह पहले कहा जा चुका है ॥

इसलिये—

उसकी इच्छा से उत्पन्न और उसकी शक्ति से प्रेरित समस्त मन्त्र सफल होते हैं और सर्वत्र अधिकारी होते हैं ॥ -८-९- ॥

उसकी स्वातन्त्र्यस्फुरत्ता से भलीभाँति प्रेरित = अनुग्रह आदि कार्यों में नियुक्त, इसलिये सर्वत्र अधिकारी मन्त्र फलप्रद होते ही हैं । उक्त श्लोक में 'एव' भिन्न क्रम वाला है । (उसे 'सर्वत्र' के बाद न पढ़कर 'भवन्ति' के बाद पढ़ना चाहिये) ॥

यद्यपि सारे मन्त्र शिव की शक्ति से उत्पन्न और नियुक्त होते हैं तथापि इस (= मृत्युञ्जय मन्त्र) का अन्य मन्त्रों की अपेक्षा महान् विशेष है—इस प्रस्तुत विषय को बतलाते हैं—

जो यह परमधाम और सबका आलयभूत शिव है इससे उत्पन्न मन्त्र अमोघशक्ति वाले होते हैं ॥ -९-१०- ॥

प्रथम अधिकार से लेकर (यहाँ तक वर्णित) चिदानन्द महासामान्यरूप जो यह मृत्युञ्जयस्वरूप परम शाक्त धाम है वही शिवात्मक = विश्व का आश्रय, है क्योंकि

अस्मादेव, न त्वन्यत एव तदन्यस्याप्रकाशमानत्वेनाभावान्मन्त्राश्चेति चकाराद् मायादिविश्वमस्मादेतदधिष्ठानादेव चामोघशक्तयो मन्त्रा इति भिन्नक्रमोऽपि ॥

युक्तं च तत् यतः—

नित्यो नियामको ह्येषां नेतारं निरुपप्लवः॥ १० ॥
निष्प्रपञ्चो निराभासस्त्रायकस्तारणः शिवः।
त्राणं करोति सर्वेषां तारणं त्रस्तचेतसाम्॥ ११ ॥

नियतं भवः सर्वदिक्कालाक्रान्तिकृत् तदपरामृष्टश्च, एषां मन्त्राणां नियामको नियोक्ता, अरं शीघ्रमिच्छामात्रादेव नेता बहिराभासकः स्वात्मसात्कारकृच्च, अतश्च प्रधानभूतो नायकोऽपि अनुपप्लव इत्याणवादिमलेभ्यो निष्क्रान्तस्ते च निष्क्रान्ता यतः। एवं निष्प्रपञ्चो निराभासश्चेति योज्यम्, प्रपञ्चो जगद्वैचित्र्यम्, आभासाः संकुचिताः प्रकाशाः, त्रायकः सर्वरक्षाकरस्तारणो मोचकः, अतश्च शिवः श्रेयोमयपरमशिवस्वरूपो मृत्युजिन्नाथः। एतदेव त्राणमित्यर्धेन स्फुटीकृतम्। त्राणं रक्षा त्रस्तचेतसां संसारभीतानाम्। एतच्चाक्षरवर्णसारूप्येण नेत्रनाथस्य

चैतन्यरूपी भित्ति (= आधार) के बिना किसी का भी प्रकाश असम्भव है। अमोघ शक्तिवाले मन्त्र इसी से उत्पन्न होते हैं किसी दूसरे से नहीं क्योंकि उससे भिन्न कोई वस्तु प्रकाशित न होने से उसकी = किसी वस्तु की, सत्ता नहीं है। 'मन्त्राश्च' यहाँ पर चकार का तात्पर्य है कि माया तत्त्व से लेकर समस्त विश्व इसी अधिष्ठान से उत्पन्न होता है ॥

यह ठीक भी है क्योंकि—

यह शिव नित्य है; इन (= मन्त्रों) का नियामक है; शीघ्र नेता है, निरुपप्लव, निष्प्रपञ्च, निराभास, रक्षक, संसार से तारक है। यह सबकी रक्षा करता है और संसार से सन्त्रस्त चित्त वालों को संसार से पार लगाता है ॥ -१०-११ ॥

भव (= शिव) नियत = समस्त दिक् काल से परे और उससे अपरामृष्ट है। इन = मन्त्रों, का नियामक = नियोक्ता, है। अरं = शीघ्र इच्छामात्र से, नेता = विश्व का बाहरी रूप में आभासक और पुनः उसको आत्मसात् करने वाला है। इसलिये प्रधानभूत अर्थात् नायक भी है। निरुपप्लव = (उपप्लव =) आणव आदि मल, उनसे रहित है। शिव उन मलों से परे है और वे मल उससे निकले हुए हैं। इसी प्रकार निष्प्रपञ्च एवं निराभास की भी व्याख्या करनी चाहिये। प्रपञ्च का अर्थ है—जगद्वैचित्र्य और आभास का अर्थ है—आ = ईषत् = संकुचित, भास = प्रकाश अर्थात् संकुचित प्रकाश वाला। त्रायक = सबकी रक्षा करने वाला। तारण = मुक्ति दिलाने वाला। इसलिये शिव = कल्याणमय परमशिवस्वरूप, मृत्युञ्जयनाथ। यही त्राण है—यह बात ११ वें श्लोक के उत्तरार्द्ध से स्पष्ट है।

निर्वचनम् ॥ ११ ॥

यदाह—

नयते मोक्षभावं तु तारयेन्महतो भयात् ।
नयनाच्च तथा त्राणान्नेत्रमित्यभिधीयते ॥ १२ ॥

किं च, एतत्—

जीवनं सर्वभूतेषु नेत्रभूतं प्रकीर्तितम् ।

यथा नेत्रं चक्षुर्भावप्रकाशकम् तथेदं चिन्नेत्रमशेषप्रकाशकत्वान्नेत्रभूतमित्युक्तम् अतः सर्वेषां जीवनम् । उक्तं च श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

'ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम् ।' (१।१।४)

इति ॥

तदित्थमयं नाथः—

समस्तमन्त्रजातस्य स्वामिवत् परमेश्वरः ॥ १३ ॥

निर्णीतं चैतत् प्रागेव ॥ १३ ॥

एवं सामान्यव्याप्त्याऽस्य मन्त्रनाथस्यान्यमन्त्रेभ्यो विशेषमुक्त्वाऽक्षरव्याप्त्या-

---

त्राण = रक्षा । त्रस्तचित्तवाले = संसार से डरे हुए । उपर्युक्त वर्णन नेत्रनाथ शब्द के अक्षरों (= ने, त्र) के सारूप्य के द्वारा वर्णित है ॥ ११ ॥

जैसा कि कहते हैं—

मोक्षस्थिति को (नयन =) प्राप्त कराता है और महान् भय से त्राण करता है इसलिये (वह मृत्युञ्जयभट्टारक) नेत्र कहलाता है ॥ १२ ॥

तथा यह—

समस्त प्राणियों में नेत्रभूत अर्थात् जीवन कहा गया है ॥ १३- ॥

जैसे कि नेत्र = चक्षु, भावों (= पदार्थों) का प्रकाशक होता है उसी प्रकार यह चित्‌रूपी नेत्र सबका प्रकाशक होने से नेत्र कहा गया है, इसलिये सबका जीवन है । ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया है—

ज्ञान और क्रिया प्राणियों के जीवन का जीवन है । (१.१.४) ॥

तो इस प्रकार यह नाथ—

समस्त मन्त्रसमूह का स्वामीसदृश परमेश्वर है ॥ -१३ ॥

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है ॥ १३ ॥

इस प्रकार सामान्य व्याप्ति से इस मन्त्रनाथ का अन्य मन्त्रों से वैशिष्ट्य

ऽप्याह—

प्रणवः प्राणिनां प्राणो जीवनं संप्रतिष्ठितम् ।
गृह्णाति प्रणवः सर्वं कलाभिः कलयेच्छिवम् ॥ १४ ॥
षट्प्रकारं महाध्वानं षट्कारणपदस्थितम् ।
जुहोति विद्यया सर्वं जुंकारेण प्रचोदितम् ॥ १५ ॥
स्वरूपं यत् स्वसंवेद्यं सम्यक्संतृप्तिलक्षणम् ।
सर्वामृतपदाधारं सविसर्गं परं शिवम् ॥ १६ ॥
पूर्णं निरन्तरं तेन पूर्णाहुत्या तु पूर्णया ।
स्वोच्चारा या स्वभावस्था स्वस्वरूपा च स्वोदिता॥ १७ ॥
इच्छाज्ञानक्रियारूपा सा चैका शक्तिरुत्तमा ।
तया प्रकुरुते नित्यं शक्तिमान् स शिवः स्मृतः ॥ १८ ॥

प्राणिनां सर्वजीवतां सर्वज्ञेयकार्यज्ञानकरणप्रथमाभ्युपगमकल्पानाहतपरामर्शात्म-सामान्यस्पन्दरूपः प्रणव एव प्राणास्तं विना ज्ञानक्रियाऽघटनात् । एतस्मिन् हि सति तेषां जीवनं प्राणापानादिप्रसरात्म सम्यक् प्रतिष्ठामेति, अन्यथा भस्त्रावायुवद-प्रतिष्ठितमेव स्यात् । तदेवंभूतोऽप्ययमन्तःकृतमशेषं वक्ष्यमाणाकारोकारादि-

---

बतलाकर अक्षर व्याप्ति से भी (वैशिष्ट्य) बतलाते हैं—

प्रणव (= ॐ) ही प्राणियों का प्राण है । (उसके रहने पर) जीवन भली भाँति प्रतिष्ठित है । प्रणव ही कलाओं के साथ सबका ग्रहण करता है । वही शिव की कलना (= विमर्श) करता है । इसके बाद छह कारणपद में स्थित छह प्रकार के समस्त महा अध्वा को जुंकार से प्रेरित कर विद्या के द्वारा परधामरूपी महा अनल में हवन करता है । सम्यक् संतृप्ति वाला, समस्त अमृतपद का आधार और स्वसंवेद्य जो स्वरूप है (= स), वही विसर्ग के साथ होने पर परम शिव हो जाता है । वह परम शिव उस पूर्णाहुति के द्वारा पूर्ण विश्व को निरन्तर आभासित करता रहता है । स्वोच्चारस्वरूपा, स्वभावस्था, परमशिवस्वरूपा, इच्छाज्ञानक्रियारूपा एक शक्ति साधक के अन्दर स्वयं उदित होती है । उसके कारण वह (मन्त्रसाधक) शक्तिमान् शिव माना गया है ॥ १४-१८ ॥

समस्त ज्ञेय कार्य के ज्ञानरूपी कारण के प्रथम अभ्युपगम के समान अनाहत परामर्श वाला सामान्यस्पन्दन रूप प्रणव ही प्राणियों = समस्त जीवों, का प्राण है क्योंकि उसके बिना ज्ञान और क्रिया हो नहीं सकती । और उसके होने पर उन प्राणियों का प्राण अपान आदि का प्रसाररूपी जीवन सम्यक् प्रतिष्ठित होता है । अन्यथा यह प्राण आदि लोहार की भस्त्रा (= भाथी) से निकलने वाले वायु के समान अप्रतिष्ठित (= उपेक्षित) ही रहता । ऐसा यह (= प्रणव) अपने

कलाभिः सह स्वातन्त्र्यात् पृथगाभास्य ताभिरेव गृह्णाति विमर्शयुक्त्या समनान्तमात्मसात्करोति, शिवं च कलयेत् परावाग्वृत्त्या विमृशेत्, अथ च कलयेदेकविंशाधिकारनिरूपितदृशाऽवरोहक्रमेण हृदन्ते क्षिपेत् तत्परामृतसिक्तं विश्वं विदधीत। एवं शिवामृतसेकसरसीकृतपुरतत्त्वादिरूपं षोढाऽध्वानं ब्रह्मादिशिवान्तकारणषट्पदावस्थितं स एव पूर्वोक्तप्रथमाभ्युपगमरूपः प्रणवो मध्यमन्त्राक्षरात्मना विद्यया वेदनप्रधानया शक्त्या प्रचोदितं मध्यधामोर्ध्वारोहावरोहयुक्त्या जुहोति परधाममहानले क्षिपति । ततोऽपि पूर्वनिर्णीतस्वरूपादिशब्दवाच्यं यत् शिवं परमशिवाख्यं चिद्घनं धाम, सविसर्गमिति परस्वातन्त्र्यात्मोन्मनाशक्तिसमरसं तेन तृतीयबीजयुक्त्यवष्टम्भासादितेन शिवामृतरसेन या इच्छादिशक्तित्रयसामरस्यात्मा स्वोदिता स्वप्रकाशा स्वोच्चारा च पराहंविमर्शयुक्त्या स्वस्मिन्नात्मीय एव स्वभावे, न त्विच्छाज्ञानादिशक्त्यात्मनि किंचित्संकुचिते, तिष्ठन्ती स्वस्य आत्मनश्चिन्नाथस्य स्वरूपभूता एकैवोत्तमा शक्तिः पराभट्टारिका सैव, पूर्यते परमशिवतच्छक्तिसामरस्यमापाद्यतेऽनया विश्वमिति व्युत्पत्त्या परिपूर्णा पूर्णाहुतिस्तया, तत् चिदग्नौ हुतं विश्वं निरन्तरं पूर्णं सर्वं सर्वरसात्मपरशक्तितद्वत्सामरस्यात्म कुरुते । तदित्थं

स्वातन्त्र्यवश समस्त अन्तःकरण को वक्ष्यमाण अकार उकार आदि कलाओं के साथ पृथक् आभासित कर उन्हीं कलाओं के साथ (उनका) ग्रहण करता है = विमर्शयुक्ति के द्वारा समनापर्यन्त (उनको) आत्मसात् कर लेता है । और शिव की कलना करता है = परावाक् के रूप में विमर्श करता है । इसके बाद कलना करता है = इक्कीसवें अधिकार में निरूपित रीति से अवरोहक्रम से हृदयपर्यन्त उसका क्षेपण करता हैं अर्थात् उस (प्रणवरूपी) परामृत से सिक्त विश्व की रचना करता है । इस प्रकार पुनः वही पूर्वोक्त प्रथमाभ्युपगमरूप प्रणव ब्रह्मा से लेकर शिव (= ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और अनाश्रित शिव) पर्यन्त छह कारण पदों में स्थित छह प्रकार के (शुद्ध) अध्वा जो कि शिवामृत के सेक से सरस बनाये गये पुर तत्त्व आदि रूपवाला है तथा मन्त्र के मध्यम अक्षर (जुं) रूपी विद्या = वेदनप्रधान शक्ति, के द्वारा प्रेरित होता है, की मध्यधाम (= सुषुम्ना) के ऊर्ध्वारोह और अधः अवरोह की युक्ति से परमधाम रूपी महाअग्नि में आहुति देता है । उसके बाद पूर्वनिर्णीत स्वरूप आदि शब्दों का वाच्य जो शिव = परमशिव नामक चिद्घन धाम है वह सविसर्ग है = पर स्वातन्त्र्यरूपा उन्मना शक्ति से समरस है । तृतीयबीज (= सः) की युक्ति के अवष्टम्भ (= बल) से प्राप्त शिवामृतरस के द्वारा जो इच्छा आदि तीन शक्तियों की सामरस्यरूपा स्वोदिता = स्वप्रकाशा और स्वोच्चारा पर अहंविमर्शयुक्ति के द्वारा अपने स्वभाव में, न कि इच्छा ज्ञान आदि शक्तिवाले कुछ संकुचित रूप में, स्थित होती हुई तथा अपने चिन्नाथ की स्वरूपभूता एक ही उत्तमा पराभट्टारिका शक्ति है वही पूरित होती है = विश्व को परमशिव और उसकी शक्ति की समरसता से युक्त करती है । यही पूर्णाहुति है । उस पूर्णाहुति के द्वारा चिदग्नि में आहुत विश्व को निरन्तर पूर्ण = सर्वरसात्मपरशक्तिसामरस्य वाला बना देता है । इस प्रकार जो मन्त्री

मन्त्रोच्चारयुक्त्या प्राप्तपरधामा यो मन्त्री, स साक्षात् शक्तिमान् शिव एव स्मृत इति व्यवहितसंबन्धाः ॥

'गृह्णाति प्रणवः' इत्युक्तिं स्फुटयति—

उद्गीथाक्षरसंबद्धं तत्त्ववर्णपदात्मकम् ।
भुवनानि कला मन्त्राः कारणानि षडेव तु ॥ १९ ॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्चापीश्वरश्च सदाशिवः ।
शिवश्चेति........

ऊर्ध्वं सर्वत्रादिभूतत्वेन गीयत इत्युद्गीथः प्रणवः, तद्रूपेऽक्षरे विमले धाम्नि, अध्वषट्कं कारणषट्कं च संबद्धमन्तःक्रोडीकृतमवस्थितम् ॥

अतश्च—

......स्वशक्त्या तु षट्त्यागात् सप्तमे लयः ॥ २० ॥

स्वयाऽनपायिन्या परस्फुरत्तात्मना शक्त्या षण्णामध्वनां कारणानां च त्यागात् सप्तमेऽध्वकारणातीते परधाम्नि प्रणवोच्चारणान्ते विश्रमितव्यमित्यर्थः ॥ २० ॥

एतदेव प्रणवकलाप्रदर्शनक्रमेण विभजति—

मन्त्रोच्चारयुक्ति के द्वारा परधाम को प्राप्त होता है वह साक्षात् शक्तिमान शिव माना गया है ॥

'गृह्णाति प्रणवः' इस उक्ति को स्पष्ट करते हैं—

उद्गीथ के अक्षरों से सम्बद्ध मन्त्र वर्ण पद कला तत्त्व और भुवन ये छह अध्वा और ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर सदाशिव और शिव ये छह कारण (ओंकार के) अन्दर स्थित हैं ॥ १९-२०- ॥

जो उत् = ऊपर = सबसे पहले उत्पन्न के रूप में कहा जाता है वह उद्गीथ है । उस अक्षर विमल तेज में छह अध्वा और छह कारण सम्बद्ध हैं = अन्दर स्थित हैं ॥

इसलिये—

अपनी शक्ति के द्वारा उपर्युक्त छहों का त्याग करने से सातवें (धाम) में लय करना चाहिये ॥ -२० ॥

अपनी अनपायिनी परस्फुरत्तारूपा शक्ति के द्वारा छह अध्वाओं और कारणों के त्याग से सातवें = अध्वा और कारणों से परे परधाम, जो कि प्रणवोच्चारण का अन्त है, में विश्राम करना चाहिये ॥

इसी को प्रणवकला के प्रदर्शन के द्वारा विभक्त करते हैं—

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च ।
अर्धचन्द्रो निरोधी च नादो नादान्त एव च ॥ २१ ॥
कौण्डली व्यापिनी शक्तिः समनाश्चेति सामयाः।

कौण्डलीति शक्तिविशेषणम् । इत्येकादश मन्त्रावयवाः प्राङ्निर्णीततत्त्वाः सामया हेया इत्यर्थः । तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् ।' (४।४३२) इति ॥

तदूर्ध्वम्—

निष्कलं चात्मतत्त्वं च शक्तिश्चैव तथोन्मना॥ २२ ॥
साभासं तत्........

समनान्तात् कलनामयाद् निष्क्रान्तम्, तदुच्चारणान्ते निरावरणमप्यनुन्मिषितशिवशक्तिव्याप्तिकं शुद्धमात्मतत्त्वम्, तदेव तु प्रोन्मिषदभेदेन सार्वज्ञ्यादिरूपमुन्मनाशक्त्यात्म । तदेतत् प्रमेयद्वयं परमशिवविश्रान्त्यनासादनात् साभासमत्यणीयःसङ्कोचम् ।

यद् वियत्पर्यन्ताशेषविश्वोत्तीर्णविश्वमयताभासकं तत्—

........निराभासं परतत्त्वमनुत्तमम् ।

अकार, उकार, मकार, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, कुण्डलिनी शक्ति, व्यापिनी और समना ये हेय हैं ॥ २१-२२- ॥

उक्त श्लोक में कौण्डली पद शक्ति का विशेषण है । ये ग्यारह मन्त्रावयव, जिनके तत्त्व पहले बतलाये जा चुके हैं, सामय = हेय हैं । वही बात स्वच्छन्दतन्त्र में कही गयी है—

'हे वरारोहे ! अनन्त पाशजाल समना पर्यन्त है' ॥

उस (= समना) के ऊपर—

निष्कल आत्मतत्त्व और उन्मना शक्ति है । ये दोनों साभास हैं ॥ -२२-२३- ॥

(निष्कल =) कलनामय समनान्त से परे । उसके उच्चारण के बाद शुद्ध आत्मतत्त्व है जो कि आवरणरहित होते हुए भी अनुन्मिषित शिवशक्ति की व्याप्ति वाला है । वही उन्मना शक्ति है जो कि अभेद का उन्मेष होने के कारण सर्वज्ञता आदि गुणों वाली है । ये दोनों प्रमेय (= निष्कल आत्म तत्त्व और उन्मना शक्ति) परमशिव में विश्रान्ति प्राप्त न कर सकने के कारण साभास = अत्यन्त सूक्ष्म संकोच वाले हैं ॥

जो आकाशपर्यन्त समस्त विश्वोत्तीर्णता एवं विश्वमयता का आभासक हैं वह—

निराभासमिति प्राग्वत् ॥

तदित्थं क्रमात् क्रममारोहयुक्त्या—

षट्त्यागात् सप्तमं प्रोक्तं लयमालयमुत्तमम् ॥ २३ ॥

पूर्वोक्ताध्वकारणषट्(क)त्यागात् सप्तमं धाम उत्तमम्, लीयते विचलत्यस्मिन् सर्वमिति कृत्वा लयम्, आलीयते परं साम्यमासादयतीति कृत्वा आलयं च ॥ २३ ॥

लयमित्याद्युक्तिं स्फुटयति—

तत्र सर्वे प्रलीनास्तु तत्समास्तत्प्रसादतः ।
तच्छक्तिबृंहिताः शाक्ताः परिपूर्णा भवन्ति हि ॥ २४ ॥

तच्छक्तिबृंहितत्वादेव शाक्तास्तन्मया एवेत्यर्थः ॥ २४ ॥

तदत्र लये—

क्रमं तेषां प्रवक्ष्यामि........

येन क्रमेण ते कारणाद्याः—

..................लीयन्ते सुरसुन्दरि ।

निराभास अनुत्तम परतत्त्व है ॥ -२३- ॥

तो इस प्रकार एक क्रम से दूसरे क्रम पर आरोहण की युक्ति से—

छह (कारणों एवं अध्वाओं) के त्याग से सप्तम पद कहा गया है जो लय स्थान एवं उत्तम आलय है ॥ -२३ ॥

पूर्वोक्त छह कारणों एवं अध्वाओं के त्याग से (प्राप्त होने वाला) सातवाँ धाम उत्तम है । लय = जिसमें सब कुछ विचलित होता है । आलय = जिसमें (साधक) आलयन अर्थात् परम साम्य को प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

'लयम्' इत्यादि उक्ति को स्पष्ट करते हैं—

उसमें सब लीन हो जाते हैं (फलतः) उसकी कृपा से उसके समान हो जाते हैं । उसकी शक्ति से वृंहित होकर शक्तिमान् एवं परिपूर्ण हो जाते हैं ॥ २४ ॥

उसकी शक्ति से युक्त होने के कारण ही वे शाक्त एवं तन्मय हो जाते हैं ॥ २४ ॥

हे सुरसुन्दरि ! इस लय में उनका क्रम बतला रहा हूँ ॥ २५- ॥

जिस क्रम से वे कारण आदि

तमकारादिवाचकक्रमं वाच्यदेवतातदाश्रयतदधिष्ठातृब्रह्मकलातदधिष्ठेयतत्त्वादि-प्रपञ्चेन सह आदिशति—

अकारं ब्रह्मदैवत्यं हृदयं यावदध्वनि ॥ २५ ॥
कलाष्टकेन संयुक्तं कलयेत् सर्वजन्तुषु ।

अकारविमर्शात्मकं धाम सृष्टिसंवित्स्वरूपं ब्रह्मदेवताकं पादाङ्गुष्ठाद् हृदन्तं यावद् गर्भीकृतानन्तभुवनादिप्रपञ्चपृथ्वीतत्त्वाधिष्ठातृवक्ष्यमाणसद्योजातब्रह्मकलाष्टकेन युक्तं सर्वजन्तुषु कलयेत्—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्येव वसतेऽर्जुन ।[1]
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारुढानि मायया ॥' (भ०गी० १८।६१)

इति स्थित्या तेषां विचित्रां विकल्पाविकल्पसंवित्सृष्टिं कुरुते ॥

सद्योजातकला नामतो निर्दिशति—

सिद्धिर्ऋद्धिर्द्युतिर्लक्ष्मीर्मेधा कान्तिर्धृतिः स्वधा ॥ २६ ॥

लय को प्राप्त होते हैं ॥ -२५- ॥

अकार आदि वाचक के क्रम को, (उनके) वाच्य देवता उन देवताओं का आश्रय, उनके अधिष्ठातृ ब्रह्मा की कला, उसके अधिष्ठेय तत्त्व आदि के प्रपञ्च के साथ, दिखलाते हैं—

अकार के देवता ब्रह्मा हैं । यह अकार (पैर के अंगूठे से लेकर) हृदय पर्यन्त, आठ कलाओं से संयुक्त की समस्त जन्तुओं में रचना करता है ॥ -२५-२६- ॥

अकार विमर्शात्मक तेज है जो कि सृष्टि की संवित् रूप है । उसकी देवता ब्रह्मा हैं । (यह अकार विमर्शात्मक तेज) पैर के अंगूठे से लेकर हृदयपर्यन्त अनन्त भुवन आदि प्रपञ्च और वक्ष्यमाण पृथ्वी तत्त्व के अधिष्ठातृ सद्योजात आदि आठ ब्रह्मकलाओं से युक्त सृष्टि समस्त जन्तुओं में करता है—

'हे अर्जुन ! ईश्वर समस्त प्राणियों के हृदय में रहता है । वह समस्त प्राणियों को माया के द्वारा उसी प्रकार घुमाता रहता है जैसे यन्त्र (= गोल चक्र रहट आदि) पर चढ़ी वस्तुयें घूमती रहती हैं ।' (भ.गी. १८।६१)

इसी रीति से उन (= अनन्त भुवन आदि) की विचित्र विकल्पाविकल्पसंवित् की सृष्टि करता है ॥

सद्योजात की कलाओं का नाम बतलाते हैं—

सिद्धि, ऋद्धि, द्युति, लक्ष्मी, मेधा, कान्ति, धृति और स्वधा ये

---

१. हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

सद्योब्रह्मकला एताः पश्चिमं व्याप्य संस्थिताः ।

पश्चिममिति क्रोडीकृतपृथ्वीव्याप्तिकं वक्त्रम् श्रीसद्योजातस्य स्थितिकारित्वात् तच्छक्तयस्तथोचिताभिधानाः ॥

अथोकारपरामृश्यवाच्यदेवतादिप्रपञ्चं कलानामग्रहणपूर्वं प्रदर्शयति—

रजा रक्षा रतिः पाल्या काम्या तृष्णा मतिः क्रिया ॥ २७ ॥
वृद्धिर्माया च नाडी च भ्रामणी मोहनी तथा ।
वामदेवकला ह्येता वैष्णवांशे व्यवस्थिताः ॥ २८ ॥
कण्ठान्तयावत्तद् व्याप्तमापो व्याप्य स्थितास्त्विमाः ।

श्रीवामदेवस्य सृष्टिकारित्वात् शक्तयः समुचिताभिधानास्त्रयोदशः एताः श्रीस्वच्छन्दे वृद्धिकाया एकैव पठिता मनोन्मनी च त्रयोदशीत्येतावान् भेदो दृश्यते। वैष्णवांशे इति प्रकृत्यन्ततत्त्वाधिष्ठातरि विष्वाख्ये स्थितिसंविदात्मनि भगवदंशे । एतच्च सर्वमुकारेण विमर्शयुक्त्याऽन्तःक्रोडीकृतम् ॥

मकारपरामृश्यं तथैवाह—

सद्योजात ब्रह्मा की कलायें हैं जो पश्चिम (= अन्तिम तत्त्व = पृथ्वी) को व्याप्त कर स्थित हैं ॥ -२६-२७- ॥

पश्चिम = पृथ्वी, को अपने अन्दर समाहित करने वाला वक्त्र (= मुख) क्योंकि श्रीसद्योजात स्थितिकारी हैं । उनकी शक्तियाँ भी उसी नाम वाली हैं ॥

अब उकार की परामृश्य = वाच्य, देवता आदि प्रपञ्च को कलाओं के नाम को बतलाते हुए कहते हैं—

रजा, रक्षा, रति, पाल्या, काम्या, तृष्णा, मति, क्रिया, वृद्धि, माया, नाडी, भ्रामणी और मोहनी, ये वामदेव ब्रह्मा की कलायें हैं जो वैष्णवांश में अवस्थित हैं । ये शरीर में कण्ठपर्यन्त और महाभूतों में जलतत्त्व को व्याप्त कर स्थित हैं ॥ -२७-२९- ॥

श्रीवामदेव के सृष्टिकर्त्ता होने के कारण उनकी रजा आदि कुल तेरह शक्तियाँ हैं । श्रीस्वच्छन्दतन्त्र में वृद्धिकाया नामक एक ही शक्ति पठित होता है । और मनोन्मनी नामक तेरहवीं कला है—यह अन्तर दिखलाई पड़ता है । वैष्णवांश में = जल से लेकर प्रकृतिपर्यन्त के अधिष्ठाता विष्णु नामक स्थितिसंविद्रूप भगवदंश में । यह सब उकार के द्वारा विमर्श युक्ति से (शरीर के) भीतर समाहित किया गया ॥

उसी प्रकार मकारपरामृश्य को कहते हैं—

तमो मोहा क्षुधा निद्रा मृत्युर्माया भया जरा ॥ २९ ॥
अघोरस्य कला ह्येता रौद्रांशे तु व्यवस्थिताः।
ताल्वन्तयावत्तद् व्याप्तं.........

अघोरस्य संहारकत्वात् तत्कालस्तत्समुचितसंज्ञाः । रौद्रांश इति ताल्वन्तव्यापिमायातत्त्वाधिष्ठातुर्मकारकलाविमृश्यस्यास्य संहर्तृसंविदात्मनो भगवदंशस्य रुद्रभट्टारकस्यैता अष्टौ कला इत्यर्थः ॥

एषा च तत्त्वस्थित्या—

..............तैजसी व्याप्तिरुत्तमा ॥ ३० ॥

'कलानां यावती व्याप्तिस्तत्त्वानां तद्वदेव हि' (५।१३)

इति श्रीस्वच्छन्दादिष्टनीत्या विद्याकलाव्याप्तिसारेत्युत्तमपदाशयः ॥ ३० ॥

एतदुपरि भ्रूमध्ये—

निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।
पुरुषस्य कला ह्येता ईश्वरे तु व्यवस्थिताः ॥ ३१ ॥
वाय्यावरणमाश्रित्य बिन्द्वन्तं यावदुज्ज्वलाः।

तमो, मोहा, क्षुधा, निद्रा, मृत्यु, माया, भया, जरा, ये अघोर रुद्र की कलायें हैं जो रौद्रांश में व्यवस्थित है । इनके द्वारा तालुपर्यन्त (शरीरप्रदेश) व्याप्त है ॥ -२९-३०- ॥

अघोर रुद्र के संहारक होने के कारण उनकी कलाओं के नाम ऊपर कहे गये। रौद्रांश में—तालुपर्यन्तव्यापी मायातत्त्व के अधिष्ठाता मकार कला के विमृश्य इस संहारकसंविद्‌रूप भगवदंश रुद्रभट्टारक की ये आठ कलायें हैं ॥

तत्त्वों की स्थिति के अनुसार यह—

उत्तम तैजसी व्याप्ति है ॥ ३० ॥

'जितनी कलाओं की व्याप्ति है तत्त्वों की भी उतनी ही (व्याप्ति) है ॥' (५.१३)

स्वच्छन्दतन्त्र में उक्त इस सिद्धान्त के अनुसार यह विद्याकला की व्याप्ति वाली है—यह (श्लोकोक्त) 'उत्तमा' पद का आशय है ॥ ३० ॥

इसके ऊपर भ्रूमध्य में—

निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और शान्ति ये तत्पुरुष की कलायें हैं जो ईश्वरतत्त्व में व्यवस्थित हैं । ये कलायें वायु आवरण को आवृत कर बिन्दु पर्यन्त रहती हैं तथा उज्ज्वल हैं ॥ ३१-३२- ॥

पुरुषभट्टारकस्य वैश्वात्म्याद् निवृत्त्यादिशान्त्यन्तकलाक्रोडीकारा: । ईश्वर इति विन्दुविमृश्य ईश्वरतत्त्वाधिष्ठातरीश्वरभट्टारक इत्यर्थ: । उज्ज्वला इति सामरस्यापादनाद् दीप्ता: ॥

एषा च दशा कलापञ्चकस्थित्या—

शान्त्यवस्था तु तुर्याख्या.......

अथैतदुपरि ललाटादारभ्य—

................नादन्ते संप्रचक्ष्महे ॥ ३२ ॥

मान्त्रं प्रमेयम् ॥ ३२ ॥

यच्चैतन्नादाख्यं पदम्—

व्याप्तिः सादाशिवी सा तु व्योमाख्या शून्यरूपिणी ।

परव्योमव्याप्त्यात्मेत्यर्थ: ॥

तारा सुतारा तरणी तारयन्ती सुतारिणी ॥ ३३ ॥
द्वादशान्तपदारूढास्तुर्यान्तास्तु कला: स्मृता: ।

तत्पुरुष भट्टारक के विश्वात्मा होने से निवृत्ति से लेकर शान्तापर्यन्त कलाओं का इसमें समावेश है । ईश्वर में = बिन्दु के विमृश्य, ईश्वरतत्त्व के अधिष्ठाता ईश्वरभट्टारक में । उज्ज्वल = सामरस्य को प्राप्त करने के कारण दीप्त ॥

यह दशा पाँच कलाओं की स्थिति से है ।

चतुर्थ अवस्था शान्त्यतीता है ॥ -३२- ॥

इसके ऊपर ललाट से लेकर—

नाद दशा को तुमसे कहता हूँ ॥ -३२ ॥

इसमें समस्त तत्त्व मन्त्रों के प्रमेय होते हैं ॥ ३२ ॥

जो यह नाद नामक पद है—

यह पद सदाशिव के द्वारा व्याप्त है । यह व्याप्ति शून्यरूपिणी है तथा व्योम के नाम से जानी जाती है ॥ ३३- ॥

यह परव्योम की व्याप्तिस्वरूप है ॥

तारा, सुतारा, तरणी, तारयन्ती, सुतारिणी, ये कलायें द्वादशान्त पद पर आरूढ़ हैं । चूँकि ये ईशान की कलायें हैं इसलिये तुर्यातीत मानी गयी *हैं । ये पाँच कलायें (पञ्चकृत्यों की) कारण है ॥ -३३-३४ ॥*

ईशानस्य कला ह्येताः पञ्च वै कारणात्मिकाः ॥ ३४ ॥

हिर्यस्मादर्थे । यत ईशानस्य कला ह्येताः ततस्तुर्यान्तास्तुर्यातीतरूपाः, अतश्च संसारतारकत्वात् ताराद्युचितनाम्न्यः कारणात्मिकाः पञ्चकृत्यकरणे साधकतमाः ॥ ३४ ॥

तदीदृशोऽयम्—

स्थूलस्त्वेवं समाख्यातो ह्यध्वा वै ब्रह्मभूतजः ।

ब्रह्माणि ईशानादीनि, भूतानि व्योमादीनि, तज्जस्तत्प्रपञ्चव्याप्तिरूपः ॥

अथात्रैवान्तर्भूतम्—

सूक्ष्मं चैवमतो वक्ष्ये ह्यध्वानं तु यथास्थितम् ॥ ३५ ॥

तमुपक्रमते वक्तुम्—

यश्चार्धचन्द्रः कथितः प्लावको बिन्दुमूर्धनि ।
तच्छक्त्यमृतमुद्दिष्टं कलायुक्तं महेश्वरि ॥ ३६ ॥

कथित इति—

'यदा शिवामृतं मूर्ध्नि पतति सृष्टिकारणम् ।

श्लोक में 'हि' का अर्थ है—क्योंकि । चूँकि ये कलायें ईशान की हैं इसलिये तुर्यान्त = तुर्यातीतरूप है । और इसीलिये संसार का तारक होने के कारण उनका तारा सुतारा आदि नाम उचित है । कारणात्मिका = पञ्चकृत्यसम्पादन में साधकतम ॥ ३४ ॥

इस प्रकार का यह—

ब्रह्म एवं भूतों से उत्पन्न स्थूल अध्वा कहा गया ॥ ३५- ॥

ब्रह्म = ईशान तत्पुरुष आदि । भूत = आकाश वायु आदि । उनसे उत्पन्न प्रपञ्चव्याप्तिरूप यह संसार ॥

इसी स्थूलप्रपञ्च में अन्तर्भूत—

यथास्थित सूक्ष्म अध्वा को इसके बाद कहूँगा ॥ -३५ ॥

उसको कहने का उपक्रम करते हैं—

बिन्दु के ऊपर जिस प्लावक अर्धचन्द्र का कथन किया गया, हे महेश्वरि ! उसकी शक्ति का अमृत कलाओं से युक्त कहा गया है ॥ ३६ ॥

कहा गया—

'जब सृष्टि का कारणभूत शिवामृत मूर्धा (= शिर) के ऊपर गिरता है तब

आप्यायस्तु भवेत्तेन.......................... ॥' (२१।६६)

इत्यत्र ॥ ३६ ॥

एतत्कला दर्शयति—

ज्योत्स्ना ज्योत्स्नावती चैव सुप्रभा विमला शिवा ।
अर्धचन्द्रकला ह्येताः सर्वज्ञपदसंस्थिताः ॥ ३७ ॥
विद्यावरणसंबद्धा मन्त्रकोटिविभूषिताः ।
क्रियाशक्तिस्वरूपास्तु संस्थिता विमलाः शुभाः ॥ ३८ ॥

सर्वज्ञं यत् पदम्, तत्र संस्थितास्तद्रूपास्तत्प्रसादाश्चेत्यर्थः । अथ च सर्वज्ञताख्यगुणप्रपञ्चरूपा एता अर्धचन्द्रस्य प्रकाशप्राधान्यात् तच्छक्तयोऽपि ज्योत्स्नाद्युचितसंज्ञाः, विद्याभिर्मालामन्त्रैः कृतेनावरणेन परिवृत्य व्यवस्थानेन संबद्धा युक्ताः, मन्त्राः कूटाक्षरादिरूपाः सृष्टिकारित्वात् क्रियाशक्तिरूपास्तेषां कोट्या विभूषिताः, तथापि कार्येणानाबिलीकृतत्वाद् विमलाः, अनुग्रहप्रवणत्वात् शुभाः ॥ ३८ ॥

अथ एतदुपरि—

रुन्धनी रोधनी रौद्री ज्ञानबोधा तमोपहा ।

उससे आप्यायन होता है ।' (ने.तं. २१.६६)

इस श्लोक में (कहा गया) ॥ ३६ ॥

उस चन्द्र की कलाओं को दिखलाते हैं—

ज्योत्स्ना, ज्योत्स्नावती, सुप्रभा, विमला, शिवा और अर्धचन्द्रकला— ये सर्वज्ञ पद पर स्थित हैं । विद्या के आवरण से सम्बद्ध, करोड़ों मन्त्रों से विभूषित, क्रियाशक्ति रूपा ये (= कलायें) विमल तथा शुभ है ॥ -३७-३८ ॥

(सर्वज्ञपदसंस्थिताः =) सर्वज्ञ जो पद उस पर संस्थित = उस रूप वाली उसकी प्रसन्नता वाली । सर्वज्ञता नामक गुण की विस्ताररूपिणी इन कलाओं का ज्योत्स्ना आदि नाम उचित है क्योंकि अर्धचन्द्र के प्रकाशप्रधान होने के कारण उसकी शक्तियाँ भी वैसी ही हैं । विद्याओं = मालामन्त्रों, के द्वारा विहित आवरण से आवृत होकर व्यवस्था से युक्त हैं । मन्त्र जो कि कूट अक्षर रूप वाले हैं, सृष्टिकारी होने से क्रियाशक्तिरूप हैं, (ये कलायें) उन (= मन्त्रों) की कोटि से विभूषित हैं । यद्यपि ये कलायें उक्त गुणों वाली हैं तथापि कार्य के द्वारा आविल = मलिन, न किये जाने के कारण ये विमल हैं और अनुग्रहप्रवण होने से शुभ हैं ॥ ३८ ॥

इसके ऊपर—

निरोधिका कला ह्येता सर्वदेवनिरोधिकाः ॥ ३९ ॥
नित्यतृप्ता महाभागा वामाशक्तिस्वरूपिकाः ।

अनायातपरशक्तिपातानां सर्वेषां ब्रह्मादीनामपि निरोधिका नादादिदशासमावेश-परिपन्थिन्योऽनुरूपरुन्धन्यादिनाम्न्यः, परशक्तिपातपूतान् प्रति तु ज्ञानप्रबोधात्तमो-नाशहेतुत्वाद् ज्ञानबोधाद्याख्या एताः, बुद्धाबुद्धानामध ऊर्ध्वप्रसरणनिरोधित्वा-न्निरोधिका कला नित्यतृप्तिकाख्यगुणव्याप्तिका वामाधिष्ठितत्वात् तत्स्वरूपा एताः शक्तयः ॥

अथ तदूर्ध्वं विमर्शप्राधान्येन परदीप्तिमये नादपदे समुचितसमाख्याः शक्तीराह—

इन्धिका दीपिका चैव रोचिका मोचिका तथा ॥ ४० ॥
ऊर्ध्वगामिन्य इत्येताः कला नादसमुद्भवाः ।
एताः स्वतन्त्रतायुक्ताः सकले निष्कले स्थिताः ॥ ४१ ॥
ज्ञानशक्तिस्वरूपास्तु ज्ञाताः सार्वज्ञ्यदायिकाः ।

ऊर्ध्वगामिनी नादान्तपदस्था शक्तिरशेषशक्तिश्रेणीशोभितत्वाद् बहुवचनेन

रुन्धनी, रोधिनी, रौद्री, ज्ञानबोधा, तमोऽपहा, और निरोधिका ये कलायें सब देवों को (ऊपर जाने से) रोकती हैं । ये महाभागा, नित्य तृप्त, और वामाशक्तिस्वरूपा हैं ॥ ३९-४०- ॥

जिनके ऊपर परशक्तिपात नहीं हुआ है ऐसे समस्त ब्रह्मा आदि की भी निरोधिका तथा नाद आदि ऊर्ध्व दशा को प्राप्त करने में बाधक उनका रुन्धनी आदि नाम उनके रूप एवं कार्य के अनुसार ही है । जो लोग परशक्तिपात से पवित्र हैं उनके प्रति ज्ञानप्रबोध के कारण अज्ञान के नाश का हेतु होने से वे ज्ञानबोधी तमोऽपहा नामवाली भी हैं । ज्ञानी और अज्ञानी जनों के अधः और ऊर्ध्व प्रसरण की निरोधिका होने से ये निरोधिका कला और नित्यतृप्ति नामक गुण से व्याप्त हैं । वामदेव से अधिष्ठित होने के कारण ये रुन्धनी आदि उसी स्वरूप की हैं ॥

अब उसके ऊपर विमर्श की प्रधानता के कारण परदीप्तिमय नाद पद में समुचित समाख्या (= नाम) वाली शक्तियों को बतलाते हैं—

इन्धिका, दीपिका, रोचिका तथा मोचिका—ये ऊर्ध्वगामिनी कलायें नाद से उत्पन्न होती हैं । स्वतन्त्रतायुक्त ये कलायें सकल और निष्कल में स्थित हैं । ये ज्ञानशक्तिस्वरूप है और ज्ञात होने पर सर्वज्ञता प्रदान करने वाली होती हैं ॥ -४०-४२- ॥

ऊर्ध्वगामिनी = नादान्तपद में स्थित । समस्त शक्तिसमूह से शोभित होने के

निर्दिष्टा, नादे नादधाम्नि समुद्भव उल्लासो यासाम्, सकले घोषाद्यष्टविधशब्द-शक्तिमति नादे मोचिकान्ताः, निष्कले तु सुसूक्ष्मध्वनिमात्रात्मनि नादान्ते ऊर्ध्व-गामिनीच्छाशक्तिप्रधानशाक्तदशाप्रवेशव्यापृता तत्प्रवेशप्रदा च शक्तिरिति विभागः । स्वतन्त्रतायुक्ता इत्युक्त्या स्वातन्त्र्यगुणप्रपञ्चतामासां दर्शयति । ज्ञानशक्तिस्वरूपा इति वदन् निरोधिकान्तं क्रियाशक्तेः, नादोर्ध्वं चेच्छा शक्तेर्व्याप्तिरित्यादिशति ॥

अत ऊर्ध्वम्—

सूक्ष्मा चैव सुसूक्ष्मा च ह्यमृतामृतसंभवा ॥ ४२ ॥
व्यापिनी चैव विख्याता शक्तितत्त्वसमाश्रिताः ।
अलुप्तशक्तिसंबन्धाच्चिच्छक्तिसमधिष्ठिताः ॥ ४३ ॥
शक्तितत्त्वे स्थिता ह्येताश्चिन्मात्रा अपि लक्षिताः ।

इच्छाशक्तिप्रधानाया भुवो ज्ञानशक्त्याद्यपेक्षया सूक्ष्मतेति तच्छक्तीनामपि सूक्ष्म-त्वात् तत्प्रकर्षादानन्दस्पर्शप्राधान्यात् तत्प्रदत्वाद् व्याप्तिकृत्वाच्च सूक्ष्माद्याः संज्ञाः । व्यापिनीति विशेषेण ख्याता ब्रह्मबिलोर्ध्वधामनिविष्टशक्तिपदादुपरि त्वक्शेषे स्थिता । शक्तितत्त्वमिति शक्तिव्यापिन्याख्यस्थानद्वयव्यापि, न तु शक्तिस्थानमेव व्यापिन्याः

कारण शक्ति का बहुवचन से निर्देश किया गया है । नाद में = नाद धाम में, जिनका समुद्भव = उल्लास, है वे । सकल में = घोष आदि आठ प्रकार की शक्तियों वाले नाद में, इन्धिका से लेकर मोचिका तक रहती है और निष्कल में अर्थात् केवल सुसूक्ष्म ध्वनि वाले नादान्त में ऊर्ध्वगामिनी इच्छाशक्तिप्रधान शाक्तदशा के प्रवेश से व्यापृत और उस (= शाक्तदशा) में प्रवेश प्रदान करने वाली रहती है—यह विभाग (= अन्वय और स्पष्टार्थ) है । स्वतन्त्रता से युक्त—इस कथन से इन शक्तियों की स्वातन्त्र्यगुणप्रपञ्चता को दिखलाते हैं । ज्ञानशक्तिस्वरूपा—यह कहते हुए क्रियाशक्ति की (व्याप्ति) निरोधिका तक, और इच्छाशक्ति की व्याप्ति नाद के ऊपर तक को बतलाते हैं ॥

इसके ऊपर—

सूक्ष्मा, सुसूक्ष्मा, अमृता, अमृतसम्भवा और व्यापिनी ये शक्तितत्त्व में आश्रित कही गयी हैं । अलुप्तशक्ति के साथ सम्बद्ध होने से ये चित्शक्ति में अधिष्ठित है । शक्तितत्त्व में स्थित ये चिन्मात्र वाली भी कही गयी हैं ॥ -४२-४४- ॥

चूँकि इच्छाशक्तिप्रधान भूमि ज्ञानशक्ति आदि की अपेक्षा सूक्ष्म होती है इसलिये उन (= ज्ञान आदि) शक्तियों के भी सूक्ष्म होने से और उस सूक्ष्मता के प्रकर्ष के कारण आनन्दस्पर्श का प्राधान्य होने से उस (आनन्द) को देने वाला होने से व्याप्तिकर्त्री होने से उनकी सूक्ष्मा आदि संज्ञायें हैं । व्यापिनी विख्याता = विशेषरूप से ख्यात अर्थात् ब्रह्मबिल (= सहस्रार) के ऊर्ध्वधाम में निविष्ट शक्ति पद से ऊपर

शक्तिपदोर्ध्वगशून्यातिशून्याश्रयत्वात् । एताश्च चिच्छक्त्यधिष्ठितत्वादेव चिन्मात्ररूपा अपि लक्षिता महामायाकृततावन्मात्राभेदाख्यातिरूपत्वादीषत्प्रमेयतामिव प्राप्ता-श्चिन्मात्ररूपत्वं ज्ञानशक्त्यतिशय्यनादिबोधत्वम् ॥

अथ व्यापिनीशक्तीर्दर्शयन् शक्तिपदेन सर्वगत्वं व्यनक्ति—

व्यापिनी व्योमरूपा च ह्यनन्ताऽनाथसंज्ञिता ॥ ४४ ॥
अनाश्रिता महेशानि व्यापिन्यास्तु कलाः स्मृताः ।

व्याप्तेरनाकृतित्वात् कालानवच्छेदादनन्यस्वामिकत्वादनन्याश्रयत्वाच्च एवमाख्या एताः, व्यापिन्या इति शून्यातिशून्यदशायाः । आसां च पूर्वनिर्दिष्टचिन्मात्ररूप-तयाऽनादिबोधाख्यगुणप्रपञ्चरूपत्वम् ॥

अथ व्यापिनीपदोर्ध्वं समनाधामनि—

'समना रूपविज्ञानम् ।' (४।३४) (?)

इति श्रीस्वच्छन्दोक्त्या सूचिताः समनाशक्तीर्दर्शयति देवः—

सर्वज्ञा सर्वगा दुर्गा सवना स्पृहणा धृतिः ॥ ४५ ॥

त्वक्शेष में स्थित है । शक्तितत्त्व = शक्ति और व्यापिनी नामक दोनों स्थानों में व्याप्त न कि केवल शक्तिस्थान में क्योंकि व्यापिनी शक्तिपद के ऊपर वर्त्तमान शून्यातिशून्य (= महाशून्य) में स्थित रहती है । ये शक्तियाँ चित् शक्ति के द्वारा अधिष्ठित होने से चिन्मात्ररूपा भी कही गयी हैं । महामाया के द्वारा किये गये उतनी ही मात्रा में अभेदख्यातिरूप होने से ये मानो ईषत् प्रमेय हो जाती हैं । चिन्मात्ररूपता = ज्ञानशक्ति की अतिशायिनी अनादिबोधता ॥

अब व्यापिनी शक्तियों को दिखलाते हुए शक्तिपद के द्वारा उनकी सर्वगामिता को व्यक्त करते हैं—

व्यापिनी व्योमरूपा है । वह अनन्ता और अनाथा कही गयी है । हे महेशानि ! यह अनाश्रिता है । व्यापिनी की कलायें भी (ऐसी) होती हैं ॥ -४४-४५- ॥

व्यापिनी के आकृतिहीन, कालानवच्छिन्न, स्वामिरहित एवं अनन्याश्रया होने से वह (और उसकी कलायें भी) ऐसी कही गयी हैं । व्यापिनी = शून्यातिशून्य दशा । चूँकि ये पूर्व निर्दिष्ट चिन्मात्ररूपा हैं इसलिये ये अनादिबोधनामकगुणप्रपञ्च-रूपा हैं ॥

इसके बाद व्यापिनीपद के ऊपर समना नामक पद में—

'समना रूपविज्ञान है ।' (स्व. तं. ३९४) (?)

इस स्वच्छन्दतन्त्रोक्ति से सूचित समना शक्तियों को भगवान् बतलाते हैं—

समना चेति विख्याता एताः शिवकलाः स्मृताः ।

व्यापिन्यन्तस्य सर्वस्य ज्ञानाद् व्याप्तेर्दुरधिगमत्वात् प्रातःसंध्याविश्रान्तिदत्वात् स्पृहणीयत्वादुक्तविश्वधारणाद् विश्वस्य मननमात्रात्मतापादनादेता एवमाख्याः शिवस्य शिवतत्त्वाधिष्ठायिनः परशिवभट्टारकस्य कलाः शक्तयः ॥

एताश्च—

इच्छाशक्तिमधिष्ठाय इच्छासिद्धिप्रदायिकाः ॥ ४६ ॥
शिवतत्त्वं समाश्रित्य सुसंपूर्णार्णवप्रभाः ।
अनन्तशक्तिसंस्थानाः सूक्ष्माश्चात्यन्तनिर्मलाः ॥ ४७ ॥

एतदन्तत्वादिच्छाशक्तिव्याप्तेरिच्छाशक्तिमधिष्ठायैताः स्थिताः, ततश्च एतत्पदाराधकस्येच्छामात्रेणाभीष्टप्रदा व्यापिन्यन्तस्य विश्वस्य क्रोडीकृतेः सुसंपूर्णार्णवस्येव प्रभा प्रकाशो यासाम्, अतश्चानन्तशक्तिसंस्थानमिव स्थितिर्यासाम्, अनन्तशक्त्याख्यगुणप्रपञ्चरूपाश्च । तदित्थमर्धचन्द्रनिरोधिकानादनादान्तशक्तिव्यापिनीसमनास्थाः शक्तयः सर्वज्ञतातृप्तिस्वतन्त्रतालुप्तशक्त्यनादिबोधानन्तशक्त्याख्यभगवद्गुणषट्कप्रपञ्चमय्य इत्यादिष्टम् । सूक्ष्मा इति धाराधिरूढसौक्ष्म्या, इत्यर्थः,

---

सर्वज्ञा, सर्वगा, दुर्गा, सवना, स्पृहणा, धृति और समना ये शिव की कलायें मानी गयी हैं ॥ -४५-४६- ॥

व्यापिनीपर्यन्त समस्त तत्त्वों के ज्ञान, व्याप्ति के दुरधिगम होने, प्रातः सायं विश्रान्तिप्रद होने, स्पृहणीय होने, उक्त विश्व के धारण एवं विश्व की मननात्मता के आपादन से ये शिव अर्थात् शिवतत्त्व के अधिष्ठाता परशिवभट्टारक की कलायें अर्थात् शक्तियाँ हैं ॥

और ये—

इच्छाशक्ति में अधिष्ठित होकर इच्छासिद्धि को देती हैं । शिव तत्त्व का समाश्रयण कर भली भाँति सम्पूर्ण समुद्र के समान कान्तिवाली (= नीलाभ) हो जाती हैं । ये अनन्त शक्तिसंस्थान वाली सूक्ष्म और अत्यन्त निर्मल हैं ॥ -४६-४७ ॥

यहाँ तक (= समनापर्यन्त) इच्छाशक्ति की व्याप्ति के कारण इच्छाशक्ति को अधिष्ठित कर ये (= सर्वगा आदि) स्थित हैं । इस कारण इस (= समना) पद के आराधक की इच्छामात्र से (उसको) अभीष्ट फल देने वाली हैं । व्यापिनीपर्यन्त विश्व के क्रोडीकार के द्वारा सुसम्पूर्ण अर्णव के समान प्रभा अर्थात् प्रकाश वाली हैं । इसलिये अनन्तशक्तिसंस्थान के समान उनकी स्थिति है । वे अनन्तशक्ति नामक गुणप्रपञ्चरूपा हैं । इस प्रकार अर्धचन्द्र रोधिनी नाद नादान्त शक्ति व्यापिनी एवं समना में स्थित शक्तियाँ भगवान् के सर्वज्ञता तृप्ति अनादिबोध स्वतन्त्रता

अत्यन्तनिर्मला इति नादनादान्तकलापेक्षया शक्तिकलाः, ततोऽपि व्यापिनीकला निर्मला, इमास्तु व्यापिन्यन्तमन्तव्यव्याप्तिप्रशमार्थमननमात्रात्मतया ततोऽपि निर्मला इत्यन्ते नैर्मल्यमापेक्षिकमासाम्, वस्तुतस्त्वेतदन्तस्य पदस्य मननमात्रात्मतापादिताशेषत्वेऽपि मन्त्ररूपशुद्धात्मोन्मनापरमशिवाख्यपरत्रितत्त्वीनिमेषात्मकत्वात् कुतोऽत्यन्तनैर्मल्यम् ॥ ४७ ॥

यदाह—

समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् ।
षट्कारणपदाक्रान्तं स्थूलसूक्ष्मप्रभेदतः ॥ ४८ ॥

समनातः प्रभृत्यख्यात्यासूत्रणादेतदन्तस्याध्वनः पाशजालत्वं षण्णां ब्रह्मादिकारणानां पदैर्विश्रान्तिभिराक्रान्तं युक्तम् । स्थूलत्वं नादान्तानां पाशानाम्, सूक्ष्मत्वं तु शक्त्यादिसमनान्तानामिति ॥ ४८ ॥

उक्तमर्थं स्मारयति—

शक्त्यादिसमनान्तं हि सूक्ष्मविज्ञानगोचरम् ।

प्रकृष्टयोगिगम्यम् ॥

अलुप्तशक्ति अनन्तशक्ति नामक छह गुणों के विस्तार वाली हैं—ऐसा कहा गया । सूक्ष्मा = धारा पर अधिरूढ सूक्ष्मता वाली । अत्यन्तनिर्मल—नाद नादान्त कला की अपेक्षा शक्तिकला निर्मल है उस (शक्ति) की अपेक्षा व्यापिनी कला निर्मल है । ये सब व्यापिनीपर्यन्त मन्तव्यव्याप्ति के प्रशम के लिये मननमात्ररूपा होने से उससे भी निर्मल है । इस प्रकार इनकी निर्मलता आपेक्षिक है । वस्तुतः यद्यपि यहाँ (समना) तक के स्तर पर मनन कार्य समाप्त हो जाता है तो भी मन्त्ररूप शुद्ध आत्मा, उन्मना एवं परमशिव नामक तीन तत्त्वों के निमेष रूप होने से उनकी अत्यन्त निर्मलता कैसे होगी ॥ ४७ ॥

जैसा कि कहा गया—

हे वरारोहे ! अनन्त पाशजाल समना पर्यन्त है । यह स्थूल सूक्ष्म भेद से छह कारणपदों से आक्रान्त है ॥ ४८ ॥

समना से लेकर (पृथिवीपर्यन्त) अख्याति के होने से यहाँ तक का अध्वा पाशजाल है । यह ब्रह्मा आदि छह कारणों के पदों = विश्रान्तियों, से आक्रान्त = युक्त, है । नादपर्यन्त पाश स्थूल हैं और शक्ति से लेकर समनापर्यन्त सूक्ष्म हैं ॥ ४८ ॥

उक्त अर्थ का स्मरण करते हैं—

शक्ति से लेकर समनापर्यन्त पद सूक्ष्मविज्ञान का विषय है ॥ ४९- ॥

अथ प्रशान्तपाशव्याप्तिं परां त्रितत्त्वीस्थितिं दर्शयितुमाह—

तदूर्ध्वे तु परं शान्तमप्रमेयमनामयम् ॥ ४९ ॥
तत्त्वत्रयं परं देवि ज्ञात्वा मोचयते गुरुः।

ज्ञात्वेति समाविश्य । यथोक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'व्यापारं मानसं त्यक्त्वा बोधमात्रेण योजयेत् ।
तदा शिवत्वमभ्येति पशुर्मुक्तो भवार्णवात् ॥'

(४।४३७) इति ॥

त्रीणि तत्त्वानि विभागेन दर्शयति—

तत्रासौ निर्मलो ह्यात्मा स्वशक्त्याधारसंस्थितः ॥ ५० ॥
ज्ञानक्रियासमाविष्टश्चिन्मात्रो निरनुप्लवः ।
सर्वभावपदातीतः सर्वेन्द्रियविवर्जितः ॥ ५१ ॥

तत्रेति समनोर्ध्वे । समनावधिसङ्कोचात्माणवमलसंस्कारान्निष्क्रान्तो निर्मलः, अतश्च स्वशक्त्यात्मन्याधारे सम्यक् स्थितः । शक्तिश्चास्य ज्ञानक्रियात्मेति ज्ञान-क्रियासमाविष्ट इत्यनेनोक्तम् । चिन्मात्रः, न तु चिदानन्दघनस्वतन्त्रपरमशिवात्मा ।

(सूक्ष्मविज्ञानगोचर =) प्रकृष्ट योगी के द्वारा ज्ञेय ॥

इसके बाद जहाँ पाश की व्याप्ति समाप्त हो जाती है ऐसी तीन परतत्त्वों की स्थिति को बतलाते हैं—

हे देवि ! उसके ऊपर अत्यन्त शान्त अप्रमेय अनामय पर तत्त्व को जानकर गुरु (साधक को) मुक्त करा देता है ॥ -४९-५०- ॥

जानकर = समावेश को प्राप्त कर । जैसा कि स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया—

'(गुरु को चाहिये कि वह) मानसिक व्यापार को छोड़कर शिष्य को केवल बोध में नियुक्त करे । तब पशु संसारसागर से मुक्त होकर शिवत्व को प्राप्त करता है ।' (४.४३७) ॥

तीन तत्त्वों को अलग-अलग कर दिखलाते हैं—

इस स्तर पर यह आत्मा निर्मल होकर अपनी शक्तिरूपी आधार में स्थित हो जाता है । ज्ञान एवं क्रिया से समाविष्ट यह चिन्मात्र एवं अनुप्लव से रहित, समस्त भावपद से परे और समस्त इन्द्रियों से रहित हो जाता है ॥ -५०-५१ ॥

वहाँ = समना के ऊपर । समनापर्यन्त वर्तमान संकोचरूप आणवमल के संस्कार से रहित होना ही निर्मल होना है । निर्मल होने के कारण (यह आत्मा) अपनी शक्तिरूपी आधार में सम्यक् स्थित हो जाता है । ज्ञान और क्रिया ही

अनु प्लवते आणवमलानन्तरं प्रसरतीत्यनुप्लवः कार्मो मायीयश्च मलस्ततो निष्क्रान्तः । यतः सर्वभावपदं समनान्तं धाम अतीतः, अतः सर्वैरन्तर्बहीरूपैरिन्द्रियैर्वर्जितस्तदतीतस्तदगोचरः स्वप्रकाशस्वरूपश्च ॥ ५१ ॥

तदित्थमयम्—

निर्मलः स्फटिकाकारः स्वात्मन्यात्मा व्यवस्थितः।

विश्वप्रतिबिम्बक्षमत्वान्निर्मलः स्फटिकाकारः समनान्तातिक्रमात् स्वात्मन्यात्मा व्यवस्थितः ॥

समनान्तपाशोत्तीर्णस्यास्य—

तत्रस्थस्य च सा शक्तिस्तस्यानुग्रहकारिणी॥ ५२ ॥
यावन्न भवते देवि तावदात्मा शिवो न हि।

तत्र शुद्धत्रितत्त्वाद्यपदे स्थितस्यापि, सेत्युन्मनाख्या परा शक्तिः स्वावेशात्मानुग्रहकारिणी यावन्न आविर्भवति, तावद् विश्वोत्तीर्णपदावस्थितोऽप्यसावात्मैव, न तु शिवः । तदुक्तं प्राक्—

इसकी शक्ति हैं यह बात 'ज्ञानक्रियासमाविष्टः' पद से कही गयी । चिन्मात्र न कि चिदानन्दघन स्वतन्त्र परमशिव रूप । 'अनु प्लवते' अर्थात् जो आणवमल के अनु (= बाद में) प्रसरण करता है वह अनुप्लव = मायीय एवं कार्म मल, उनसे रहित । इस कारण सर्वभावपद = समनापर्यन्तधाम, उससे परे है फलतः समस्त आन्तर एवं बाह्य रूप इन्द्रियों से वर्जित = उनसे पर = उनका विषय न बनने वाला और स्वप्रकाशरूप है ॥ ५१ ॥

तो इस प्रकार यह निर्मल एवं स्फटिक के आकार का आत्मा अपने स्व (-रूप) में स्थित रहता है ॥ ५२- ॥

विश्व के प्रतिबिम्बन में सक्षम होने के कारण निर्मल एवं स्फटिक के आकार वाला आत्मा समनापर्यन्त अतिक्रमण करने के कारण स्वात्मा में व्यवस्थित हो जाता है ॥

समनापर्यन्त वर्त्तमान पाश के उस पार पहुँचे—

शुद्धत्रितत्त्व में स्थित इसकी वह शक्ति उसके लिये जब तक अनुग्रह करने वाली नहीं हो जाती हे देवि! तब तक आत्मा शिवत्व को प्राप्त नहीं होता ॥ -५२-५३- ॥

वहाँ = शुद्ध त्रितत्त्व (= आत्मा शक्ति और शिव) स्तर पर स्थित, वह = उन्मना नामक पराशक्ति, जो कि अपने आवेशरूपी अनुग्रह को करने वाली है, जब तक आविर्भूत नहीं होती तब तक विश्वोत्तीर्ण पद पर स्थित होते हुए भी यह

'ये वदन्ति न चैवान्यं विन्दन्ति परमं शिवम् ।
त आत्मोपासकाः शैवे न गच्छन्ति परं पदम् ॥' (८।३०)

इति ॥

युक्तं चैतत्, यतस्तत्पदारूढोऽप्यसौ—

ईषत्प्रसारितः शुद्धः..........

समनान्तपाशप्रशमसंस्कारोत्थपरमशिवाभेदाख्यात्यात्मभिन्नशिवरूपत्वादीषत्प्रसारितः, समनान्तोत्तीर्णत्वाच्च शुद्धः ॥

एतद् दृष्टान्तप्रमुखं घटयति—

..........कमलं वार्करश्मिभिः ॥ ५३ ॥
यावन्नोद्भासितं सर्वं तावदीषत्प्रविस्तरम् ।

दार्ष्टान्तिकेऽर्कस्थानीयः परमशिवः । उद्भासनमुत्कृष्टतया स्वाभेदेन प्रकाशनम् ॥

एवं व्यतिरेकत उक्त्वा, अन्वयतोऽप्याह—

आत्मा ही रहता है शिव नहीं होता । वही पहले कहा गया—

'जो लोग आत्मा को शिव से भिन्न मानते हैं वे परम शिव को नहीं प्राप्त करते । वे आत्मोपासक शैव शास्त्र के अनुसार परमपद को नहीं जाते ।' (८.३०) ॥

यह कथन ठीक भी है क्योंकि उस (= त्रितत्त्व) पद पर आरूढ़ भी यह—

थोड़ा प्रसारित होने पर शुद्ध हो जाता है ॥ -५३- ॥

समनापर्यन्त पाश के शान्त होने वाले संस्कार से उत्पन्न परमशिवाभेद के अज्ञान के कारण आत्मा से भिन्न शिवरूप होने से ईषत् प्रसारित है अर्थात् शिवस्वरूप होने पर भी आत्मा को यह बोध होना चाहिये कि वह शिव से अभिन्न है तभी पूर्ण अहन्ता या पूर्णता होती है तथा समनान्त उत्तीर्ण होने से शुद्ध है ।

इसको दृष्टान्त के साथ घटित करते हैं—

जब तक कमल सूर्य की किरणों से उद्भासित नहीं होता तब तक वह अल्प विकसित कहा जाता है ॥ -५३-५४- ॥

दार्ष्टान्तिक में परम शिव सूर्यस्थानीय है । उद्भासन = उत्कृष्टता के साथ अपने से अभिन्नरूप में प्रकाशन ॥

व्यतिरेक दृष्टि (= दृष्टान्त) से कहकर अन्वय दृष्टि (= दृष्टान्त) से भी कहते हैं—

यथार्करश्मिसंयोगात् कमलं प्रसरेत् क्षणात् ॥ ५४ ॥
शिवशक्त्या तथात्मा वै गृहीतः सर्वतः शिवः ।

संयोगः सर्वत आश्लेषः । गृहीतः स्वसमावेशलम्बितः ॥

एष च—

सार्वज्ञ्यादिगुणैर्युक्तो भवत्येव शिवो यथा ॥ ५५ ॥
निराभासः परं शान्तो ह्यप्रतर्क्यो ह्यनुत्तमः ।

शाम्भवपदसमावेशासादितसर्वज्ञत्वादिगुणः, तत एव व्युत्थानबीजभूतदेहादिसंस्कारागलनात् शिवो यथेत्युक्तम्, देहादिसंस्कारविगलने तु पूर्वोक्तनीत्याऽसावेव परमशिवो निराभास इति गतार्थम् ॥

एतदेव स्फुटयति—

यावन्न पूर्णतां प्राप्तस्तावत् साभास उच्यते ॥ ५६ ॥
यदा तु सर्वभावेन शक्त्यात्मा संप्रसारितः ।
ततः प्रसररूपिण्या गृहीतस्तु परस्तदा ॥ ५७ ॥
शिवो भवति देवेशि ह्यविभागेन सर्वशः ।

जिस प्रकार सूर्य की किरणों के संयोग से कमल एक क्षण में खिल उठता है, उसी प्रकार शिव की शक्ति से गृहीत आत्मा सब प्रकार से शिव हो जाता है ॥ ५४-५५- ॥

संयोग = सब ओर से आश्लेष । गृहीत = अपने समावेश से युक्त ॥

और यह (आत्मा)—

सर्वज्ञता आदि गुणों से (उसी प्रकार) युक्त हो जाता है जैसे शिव । (इस प्रकार वह शिव के समान) निराभास परम शान्त अप्रतर्क्य और अनुत्तम हो जाता है ॥ -५५-५६- ॥

शाम्भव पद में समावेश के कारण सर्वज्ञता आदि गुणों को प्राप्त करने वाला और इसी कारण व्युत्थान के कारणभूत देह आदि संस्कार के विगलित न होने से वह शिवसदृश हो जाता है । देह आदि का संस्कार नष्ट होने पर पूर्वोक्त रीति से यही (आत्मा) निराभास परमशिव हो जाता है—यह तात्पर्य है ॥

इसी तात्पर्य को स्पष्ट करते हैं—

यह आत्मा जब तक पूर्णता को प्राप्त नहीं होता तब तक साभास कहा जाता है । और जब शक्ति के द्वारा सर्वतोभावेन सम्प्रसारित होता है और उसके (= शिव के आश्रयण के) बाद प्रसररूपिणी शक्ति के द्वारा गृहीत होता है तब हे देवेशि ! अविभागेन सब प्रकार से परमशिव हो

सह आभासेन निर्णीतदृशा ईषत्प्रकाशेन वर्तत इति साभासः, तत इति ल्यब्लोपे पञ्चमी, तं शिवमाश्रित्य, तदविभेदभाजा प्रसररूपिण्या विकस्वरयोन्मना-शक्त्या यदा गृहीतः स्वसमावेशेन स्वात्मैक्यं प्राप्तस्तदा सर्वशोऽविभागेन भेददृगुत्थभिन्नशिवताविलक्षणपरमाद्वयदृष्ट्या एक एव परमशिवोऽसौ भवति । यथोक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'तस्मिन् युक्तः परे तत्त्वे सार्वज्ञ्यादिगुणान्वितः ।
शिव एको भवेद् देवि ह्यविभागेन सर्वशः ॥'(४।४०२) इति ॥

तदित्थं मध्यधामारोहावरोहयुक्तः परमशिवावेशरूपामुक्तां पराद्वयात्मताम्—

एवं ज्ञात्वा तु मन्त्राणां मन्त्रत्वं कुरुते सदा ॥ ५८ ॥

एतज्ज्ञानयुक्तस्य मन्त्रा मन्त्रा भवन्तीत्यर्थः ॥

अस्य मन्त्रवीर्यज्ञस्य मन्त्राः—

शक्तिस्थाः शक्तिदाः सर्वे भोगमोक्षफलप्रदाः ।

शक्तिरुन्मना । शक्तिदाः परस्वातन्त्र्योन्मीलिनः, अतश्च यथेच्छं भोगम्,

---

जाता है ॥ -५६-५८- ॥

साभास = पूर्ववर्णित दृष्टि से किञ्चित् प्रकाश के साथ वर्त्तमान । 'ततः' इस पद में 'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च' (पा.सू.वा.का.प्र.) से कर्म अर्थ में पञ्चमी हो गयी है । इस प्रकार ततः का अर्थ है—तं-शिवम्, आश्रित्य । उस शिव से अविभक्त प्रसररूपिणी = विकस्वर उन्मना शक्ति, के द्वारा जब गृहीत = स्वसमावेश के द्वारा स्वात्मैक्य को प्राप्त, करा दिया जाता है तब सर्वशः = भेददृष्टि से उत्पन्न भिन्न शिवता से विलक्षण परमाद्वयदृष्टि से यह एक ही परम शिव हो जाता है । जैसा कि स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया—

'हे देवि (जीवात्मा) उस पर तत्त्व में युक्त होकर सर्वज्ञता आदि गुणों से सुशोभित हुआ, सर्वशः अविभागेन एकमात्र शिव हो जाता है' ॥ (४.४०२)

इस प्रकार सुषुम्ना नाड़ी में आरोह एवं अवरोह से युक्त यह आत्मा परमशिवावेशरूप उक्त परअद्वयरूपता को—

इस प्रकार जानकर सदा मन्त्रों का मन्त्रत्व करता है ॥ -५८ ॥

इस अद्वय ज्ञान से युक्त (साधक) के लिये मन्त्र मन्त्र हो जाते हैं (अर्थात् उसके लिये मनन और त्राण धर्म वाले बन जाते हैं) ॥

मन्त्रवीर्य के ज्ञाता इस (ज्ञानी) के लिये—

सब मन्त्र शक्ति में रहने वाले, शक्ति देने वाले तथा भोग-मोक्ष फलप्रद होते हैं ॥ ५९- ॥

मोक्षम्, द्वयं वा प्रददति ॥

एतद् व्यतिरेकतोऽन्वयतश्च घटयति—

न विन्दति यदा मन्त्री सृष्टिसंहारवर्त्मनी ॥ ५९ ॥
उदयास्तमरूपेण मन्त्रा अल्पफलप्रदाः ।
भोगं मोक्षं न यच्छन्ति जप्ता ध्यातास्तु पूजिताः ॥ ६० ॥
ईषत्फलं प्रयच्छन्ति शिवाज्ञासंप्रचोदिताः ।
यदा तु वेत्ति वै मन्त्री ह्युत्पत्तिस्थितिसंहृतीः ॥ ६१ ॥
उदयास्तमरूपेण मन्त्राणाममितौजसाम् ।
तदा किङ्करतां यान्ति मदाज्ञानुविधायिनः ॥ ६२ ॥
संमुखाश्च भवन्त्येते साधकस्य भवान्तरे ।

(न) विन्दति मध्यधामाप्रवेशे न लभते मन्त्रीत्येतन्नाममात्रमस्य, उक्तस्थित्याऽवरोहारोहक्रमौ सृष्टिसंहारसर्गौ । उदयास्तमरूपेणेत्यत्र यशब्दलोप ऐश्वरः । आरोहक्रमेण उदयधाम हृदयमस्तमयपदं द्वादशान्तः, अवरोहेण विपर्ययः । तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे जपप्रकरणे—

शक्ति = उन्मना । शक्तिप्रद = परम स्वातन्त्र्य के उन्मीलन कर्त्ता । इस कारण ज्ञानी के इच्छा के अनुसार ये भोग या मोक्ष या दोनों को देने वाले होते हैं ॥

व्यतिरेक और अन्वय से इसको घटाते हैं—

यदि मन्त्री (= मन्त्र का साधक) सृष्टि एवं संहार के मार्गों को उदयमय और अस्तमय के रूप में नहीं प्राप्त करता तो उसके लिये मन्त्र अल्पफल देते हैं; भोग और मोक्ष नहीं देते । जप ध्यान और पूजन किये गये भी वे शिव की आज्ञा से प्रेरित होकर अल्प ही फल देते हैं । जब मन्त्री अत्यन्त तेजस्वी मन्त्रों की उत्पत्ति स्थिति और संहार को उदयमय और अस्तमय, रूप से जान लेता है तो मेरी आज्ञा के अनुवर्त्ती वे मन्त्र उसके किङ्कर हो जाते हैं । संसार के मध्य में (अथवा जन्मान्तर में) वे साधक के सम्मुख हो जाते हैं ॥ -५९-६३- ॥

(नहीं) प्राप्त करता = मध्यधाम (= सुषुम्ना) में प्रवेश न होने पर मन्त्री उसको नहीं प्राप्त करता तो मन्त्र उसको नाम मात्र का फल देते हैं । उक्त स्थिति से सृष्टि एवं संहार अवरोह एवं आरोह क्रम वाले हैं । उदयास्तमरूपेण, यहाँ पर 'मय' में यकार का लोप ऐश्वर (= ईश्वरकृत) है (यहाँ 'उदयास्तमय'—ऐसा पाठ होना चाहिये)। आरोह क्रम से उदय धाम हृदय है और द्वादशान्त अस्तमय पद है । अवरोह क्रम में उल्टा हो जाता है अर्थात् (= ऊर्ध्व द्वादशान्त उदय धाम और हृदय अस्तमय हो जाता है) । वही बात स्वच्छन्दतन्त्र के जपप्रकरण में कही

'जपः प्राणसमः कार्यो दिनस्थो मुक्तिकाङ्क्षिभिः ।
संहारः स तु विज्ञेयः शिवधामफलप्रदः ॥
व्योम्नि प्राप्तो यदा नादः पुनरेव निवर्तते ।
शर्वरी सा तु विज्ञेया हृदयं यावदागतः ॥
सृष्टिरेषा समाख्याता सर्वसिद्धिफलोदया ।'
(२।१४०-१४२) इति ।

अल्पफलप्रदत्वादीषत्फलं प्रयच्छन्ति, न तु भोगमोक्षौ । ईषत्फलदाने च शिवाज्ञैवैषां हेतुः । हृद्द्वादशान्तान्तरालं मन्त्राणां स्थितिपदम् । उदयश्च अस्त-मयश्च रूपं च पूर्वापरकोट्यन्तराले समुच्चरद्रूपमिति संहारः । किङ्करतां यथेष्टं कार्यकरणे प्रेर्यत्वम्, भवान्तरे संसारमध्ये तत्तत्तत्त्वभोगभूमौ च साधकस्य संमुखाः समावेशाभिव्यक्तिहेतवो भुक्तभोगस्य मुक्तिदाश्च भवन्ति ॥

एतत् प्रकृते योजयति—

एवं शिवाज्ञयाविष्टाः शिवीभूताः शिवप्रदाः ॥ ६३ ॥
भवन्ति विगतायासा निर्लेपा निरनुप्लवाः ।
मन्त्रस्यास्य प्रभावेण शिवस्य परमात्मनः ॥ ६४ ॥
अमृतेशस्य देवस्य मृत्युजिद्भैरवस्य तु ।

गयी है—

'मुक्ति चाहने वाले प्राण के साथ दिन में जप करें । इस जप को संहार समझना चाहिये जो कि शिवधाम की प्राप्ति कराता है । जब नाद आकाश में प्राप्त होकर पुनः हृदय में लौटता है तो उसे रात्रि समझनी चाहिये । जब प्राण (आकाश से लौटकर) हृदय तक आता है तो यह समस्त सिद्धिरूपी फल को देने वाली रात्रि कही गयी है ।' (२-१४०-१४२)

अल्पफलप्रद होने के कारण वे थोड़ा फल देते हैं न कि भोग और मोक्ष । इनके अल्पफलदान का कारण शिव की आज्ञा है । हृदय से लेकर ऊर्ध्व द्वादशान्त के बीच मन्त्रों की स्थिति रहती है । उदय अस्तमय और रूप का अर्थ है—पूर्वापर कोटि के बीच में उच्चरित होता हुआ, यह संहार है । किङ्करता = यथेष्ट कार्य के करने में प्रेरणा के योग्य होना । भवान्तर में = संसार के मध्य में और तत्तत् भोग भूमि में । साधक के सम्मुख होते हैं = समावेश की अभिव्यक्ति के कारण बनते हैं और भोग को समाप्त किये हुए के लिये मुक्ति देते हैं ॥

इसको प्रस्तुत के साथ जोड़ते हैं—

इस प्रकार शिव की आज्ञा से आविष्ट होने के कारण निर्लेप और उपप्लवरहित होते हुए साधक अमृतेश मृत्युञ्जय भैरव परमात्मा शिव के मन्त्र के प्रभाव से आयासरहित शिवस्वरूप एवं कल्याणप्रद हो

शिवस्य आज्ञा स्फुरत्तात्मा परा शक्तिः, तया वीर्यात्मकैतन्मन्त्रप्रभावात्मना, आविष्टास्तन्मयीभूताः, लेपात् तावन्मात्रसङ्कोचात्माणवमलसंस्काराद् अनुप्लवाच्च भिन्नवेद्यप्रथालक्षणाद् मायीयान्निर्गताः, अतश्च शिवीभूताः । एवमित्युक्तोदयादिक्रमेण विदिततत्त्वाः । विगत आयासो येभ्यस्तथा शिवप्रदा भुक्तिमुक्तिप्रदा भवन्ति । भैरवान्ताः शब्दाः पूर्वमेव निरुक्ताः ॥

तन्त्रार्थं निगमयति—

परापरविभेदं तु यो विन्देतास्य सर्वदा ॥ ६५ ॥
सोऽचिरादमृतेशत्वमाप्नुयान्नात्र संशयः ।

परसूक्ष्मस्थूलध्यानदृशा परं परापरमपरं च विशेषं योऽस्य मन्त्रनाथस्य लभते, असावेतत्तादात्म्यमेवैति ॥

अतश्च—

प्रपन्ना येऽस्य मन्त्रस्य कृतकृत्या भवन्ति ते ॥ ६६ ॥

परजीवन्मुक्त्यासादनात् ॥

किं चैतन्मन्त्राराधनप्रवणः—

जाते हैं ॥ -६३-६५- ॥

शिव की आज्ञा = स्फुरत्ता शक्ति, उस वीर्यात्मक इस मन्त्र के प्रभाव वाली (शक्ति) से आविष्ट = तन्मयीभूत । लेप = उतने संकोचरूप आणव मल, के संस्कार से और अनुप्लव = भिन्नवेद्यप्रथारूप मायीय मल, से रहित, इसलिये शिवस्वरूप हो गये । श्लोक में 'एवम्' कहने का तात्पर्य है—उक्त उदय आदि क्रम से तत्त्व को जानने वाले । (विगतायास का अर्थ है—) जिनसे आयास दूर जा चुका है वे । शिवप्रद = भोग और मोक्ष देने वाले हो जाते हैं । 'शिवस्य' से लेकर 'भैरवस्य' तक के पदों की व्याख्या पहले की जा चुकी है ॥

इस तन्त्र के विषय का उपसंहार करते हैं—

जो व्यक्ति इनके पर, परापर और अपर भेद को सर्वदा प्राप्त किये रहता है वह शीघ्र ही अमृतेश हो जाता है—इसमें सन्देह नहीं ॥ -६५-६६- ॥

पर सूक्ष्म स्थूल इन तीन प्रकार के ध्यान की दृष्टि से इन = मन्त्रनाथ के पर परापर और अपर भेद को जो प्राप्त कर लेता है वह इनके साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है ॥

इसलिये—

जो इस मन्त्र के प्रति प्रपन्न (= एकमात्र शरणागत) होते हैं वे पर

येन येन हि भावेन यद्यत्फलजिगीषया ।
यद्यदाश्रयते भक्त्या तत्तत्फलमवाप्नुयात् ॥ ६७ ॥

येन येनेति द्वैताद्वैतादिरूपेण । यद्यदिति भुक्तिमुक्त्यादि । यद्यदिति श्रीसदाशिवादिदैवतम् ॥

न चात्र मायाप्रमातृदौरात्म्यात् संशयितव्यमित्याह—

सत्यमेतत् समाख्यातं मया तुभ्यं न चान्यथा ।

मया तुभ्यमिति वक्तृप्रष्ट्रोरुचिततां ध्वनति । यदुक्तमन्यत्र—

'संबन्धोऽतीव दुर्घटः ।' इति ॥

तदस्मिन् सर्वस्रोतःसारसंग्रहे महाशास्त्रे त्वया—

यदहं चोदितो देवि सर्वानुग्रहकारणात् ॥ ६८ ॥
गूढप्रश्नेन तत्सर्वं मया ते प्रकटीकृतम् ।

अत्युत्तमत्वाच्चेदम्—

इति संक्षेपतः प्रोक्तं विधानं भुवि दुर्लभम् ॥ ६९ ॥
न चेदं पापशीलानां क्रोधिनां कामिनां तथा ।

जीवन्मुक्ति को प्राप्त करने के कारण कृतकृत्य हो जाते हैं ॥ -६६ ॥

इसके अतिरिक्त इस मन्त्र की आराधना में तत्पर व्यक्ति—

जिस-जिस भाव से जिस-जिस फल को प्राप्त करने की इच्छा से भक्तिपूर्वक जिस-जिस का आश्रयण करता है उस-उस फल को प्राप्त करता है ॥ ६७ ॥

जिस-जिस भाव = द्वैत-अद्वैत रूपी भाव । जिस-जिस फल = भोग मोक्ष आदि । जिस-जिस देवता = सदाशिव आदि ॥

मायाप्रमाता की दुरात्मता (= निम्न मलिन विचार) के कारण इस विषय में संशय नहीं करना चाहिये—यह कहते हैं—

मेरे द्वारा तुमसे यह सत्य कहा गया, अन्यथा नहीं ॥ ६८- ॥

'मया' और 'तुभ्यम्' पदों के द्वारा वक्ता एवं प्रष्ट्री के औचित्य को अभिव्यञ्जित करते हैं । जैसा कि अन्यत्र कहा गया—

(उचित प्रष्टा और प्रतिवक्ता का) सम्बन्ध अत्यन्त दुष्प्राप्य होता है ॥

तो समस्त शास्त्रों (= सम्प्रदायों) के सार के संग्रहरूप इस महाशास्त्र में तुमने—

हे देवि ! समस्त प्राणियों के ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा से जो मैं

गुरुनिन्दापराणां च देवमन्त्रादिदूषिणाम् ॥ ७० ॥
नास्तिकानां शठानां च क्रियाधर्मबहिष्कृताम् ।

शठाः कदभिनिवेशाः । क्रियाधर्माद् भगवत्पूजादेर्बहिर्बाह्यं विषयसेवनादिरूपं कृत् करणं येषाम् ॥

तदित्थमपरीक्षितानायातशक्तिपातानयोग्यान् त्यक्त्वा—

देयमेतत् स्वशिष्याणां स्वपुत्राणां न चान्यथा ॥ ७१ ॥
स्वदीक्षितानां भक्तानां गुरुदेवाग्निपूजिनाम् ।

स्वयं शासितुमर्हाणां शिष्याणां च, न चाध्यापितमन्त्राणाम्, अपि तु स्वयं दीक्षितानां भक्त्यादियुजां स्वपुत्राणामपि तादृशामेवैतद् देयमाराधनाय तत्त्वतः प्रकाशनीयम् ॥

शासनार्हाय, अपि चात्यन्तमनुन्मिषितविवेकाय, असंभवद्वित्ताय वा—

विना समयदीक्षां च न दद्यात्........

गूढ़ प्रश्न (का उत्तर देने) के लिये प्रेरित किया गया वह सब मैंने तुमको स्पष्ट कर दिया ॥ -६८-६९- ॥

अति उत्तम होने के कारण—

पृथ्वी पर दुर्लभ इस विधान को संक्षेप में मेरे द्वारा कहा गया । पापी, क्रोधी, कामी, गुरु की निन्दा करने वाले, देव और मन्त्र आदि में दोष देखने वाले, नास्तिक, दुष्ट, और क्रियाधर्म से बहिष्कृत लोगों के लिये यह नहीं है ॥ -६९-७१- ॥

शठ = निन्दनीय दुराग्रह वाले । क्रियाधर्म = भगवान् या भगवती की पूजा आदि, से (बहिष्कृत =) बाहरी (रूप रसगन्ध आदि) विषय का सेवनरूप कृत्य करने वाले ॥

तो इस प्रकार अपरीक्षित और शक्तिपातरहित अयोग्यों को छोड़कर—

स्वशिष्य, स्वपुत्र, स्वदीक्षित, भक्त एवं गुरु देवता तथा अग्नि के पूजक को यह देना चाहिये । उक्त से भिन्न लोगों को नहीं ॥ -७१-७२-॥

स्वशिष्य = स्वयं अनुशासित होने के योग्य शिष्यों को न कि केवल मन्त्रों को पढ़ाये गये शिष्यों को । स्वयंदीक्षित, भक्ति आदि से युक्त अपने पुत्रों को भी, देना चाहिये = आराधना के लिये प्रकाशित करना चाहिये ॥

शासन के योग्य होते हुए भी जिसका विवेक अत्यन्त सुप्त है तथा जो दरिद्र है उसको—

'ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्या वा वीरवन्दिते ।
नपुंसकाः स्त्रियाः शूद्रा ये चान्येऽपि तदर्थिनः ॥
दीक्षाकाले न मीमांस्या ज्ञानदाने विचारयेत् ।
ज्ञानमूलो गुरुर्यस्मात् सप्तसत्रीप्रवर्तकः ॥'

इति श्रीकामिकोक्तस्थित्योन्मिषच्छिवभक्तये सुपरीक्षितामाल्यवित्ताय अपि वा कृतसमयदीक्षाय तद् विधानं देयमेव, न तु दीक्षां विना जातुचित् । उक्तं च श्रीमालिनीविजये—

'न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शाङ्करे ।'

इत्युपक्रम्य—

'अपि मन्त्राधिकारित्वं मुक्तिश्च शिवदीक्षया ।' (४।६-८) इति ॥

............स्वप्रियेऽपि च ॥ ७२ ॥
सर्वथा नैव दातव्यमित्याज्ञा पारमेश्वरी।

अयोग्याय प्रियपुत्रकलत्राद्याय हेमवस्त्रादिवत् पारमेश्वरं संसारदौर्गत्यहरं परं

बिना समयी दीक्षा के यह विधान नहीं बतलाना चाहिये ॥ -७२- ॥

'हे वीराचारी साधकों के द्वारा वन्दनीये ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, नपुंसक, स्त्री, शूद्र और अन्य लोग जो इस विधान को जानने की इच्छा रखते हैं, दीक्षाकाल में उनकी मीमांसा (= उचितानुचित, योग्यायोग्य का विचार) नहीं करना चाहिये । ज्ञान देने के समय विचार करना चाहिये क्योंकि ज्ञानमूलक गुरु ही सप्तसत्री का प्रवर्तक होता है ।'

श्रीकामिकशास्त्र के इस वचन के अनुसार जिसके अन्दर शिवभक्ति जाग्रत है तथा जिसके वित्त की अमाल्यता (= शुद्धता) सुपरीक्षित है, उस समयी दीक्षासम्पन्न साधक को यह विधान बतलाना चाहिये न कि बिना दीक्षा के किसी को कभी भी देना चाहिये । श्रीमालिनीविजय में कहा भी गया है—

'बिना दीक्षा के शैवशास्त्र में अधिकार नहीं होता ।'

यहाँ से प्रारम्भ कर—

'मन्त्र की प्राप्ति और उसके अनुष्ठान में अधिकार एवं मुक्ति के बिना शिवदीक्षा नहीं होती ।' (४.६-८)

(यहाँ तक कहा गया है) ।

यहाँ तक कि अपने अत्यन्त प्रिय को भी (यदि वह दीक्षित नहीं है तो) यह विधान नहीं बतलाना चाहिये—यह परमेश्वर की आज्ञा है ॥ -७२-७३- ॥

धनं नैव दद्यादित्येषा पारमेश्वर्येव आज्ञेत्याद्युक्त्या सर्वथा समयमिमं पालयेदित्यादिशति ॥

अन्यथा तु दृष्टप्रत्य(वा)यस्तावदित्याह—

आज्ञाभङ्गेन देवेशि देहपातो भवेद्यतः ॥ ७३ ॥

तत आज्ञां पालयेत् ॥ ७३ ॥

अपालयतस्त्वदृष्टप्रत्यवायमप्याह—

ददाति यदि मोहेन स्नेहेन धनलिप्सया ।

यः कदाचित् ॥

असावुल्लङ्घिताज्ञः—

गम्यते नरकं घोरमित्याज्ञा पारमेश्वरी ॥ ७४ ॥

गम्यते नीयते, गमिर्णिजन्तोऽत्र ॥ ७४ ॥

एवमनुल्लङ्घ्या भगवदाज्ञेति कृत्वा—

अयोग्य प्रियपुत्र स्त्री आदि को स्वर्णवस्त्र आदि की भाँति संसार की दुर्गति को दूर करने वाले इस पारमेश्वर परम धन को नहीं देना चाहिये—ऐसी परमेश्वर की ही आज्ञा है—इस कथन से यह निर्देश होता है कि इस नियम का सर्वथा पालन करना चाहिये ॥

अन्यथा करने पर दृष्ट प्रत्यवाय (= मृत्यु या बहुत बड़ा विघ्न) होता है—यह कहते हैं ।

क्योंकि हे देवि । शिवाज्ञा का उल्लङ्घन करने पर मृत्यु हो जाती है ॥ ७३ ॥

इसलिये आज्ञा का पालन करना चाहिये ॥ ७३ ॥

शिव की आज्ञा का पालन न करने वाले को अदृष्टप्रत्यवाय भी होता है—यह कहते हैं—

यदि मोह वश, स्नेह वश या धन प्राप्त करने की इच्छा से कोई कभी इस विधान को बतला देता है तो ॥ ७४- ॥

कभी यदि जो व्यक्ति ॥

इस आज्ञा का उल्लङ्घन करता है—

पारमेश्वरी आज्ञा का उल्लङ्घन करने वाला वह घोर नरक में जाता है—यह परमेश्वर की आज्ञा है ॥ -७४ ॥

गम्यते अर्थात् ले जाता है, गम धातु का णिजन्त रूप है ॥ ७४ ॥

एतस्याः परमेशानि पालनात् सिद्धिमाप्नुयात् ।

आज्ञापालनेनैव परं ज्ञानधनमुपभुञ्जानस्य करतलगताः सिद्धय इति न विस्मयः ॥

यतः—

पालनाच्च भवेद्देवि मृत्युजित् परमेश्वरः ॥ ७५ ॥

श्रीमृत्युजिद्भट्टारकात्मपरमधामसमावेशाभ्यासात् तद्रूप एव भवति योगीन्द्र इति शिवम् ॥

यस्योन्मेषनिमेषयोगिनिखिलोन्मेषादिसंदर्श्यपि
यच्च द्वैतदृगन्धकारशमनं पूर्णाद्वयानन्दितम् ।
यच्चाणून्नयति स्वधाम महतस्त्रासाच्च यत् त्रायते
उद्द्योतात्म समग्रशक्ति शिवयोर्नेत्रं परं तन्नुमः ॥ १ ॥

इस प्रकार भगवान् की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये । इसलिये—

हे परमेश्वरि ! इसके पालन से (साधक) सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ ७५- ॥

परमेश्वर की आज्ञा के पालन से परम ज्ञानधन का उपभोग करने वाले साधक के हाथ में सिद्धियाँ आ जाती हैं—इसमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये ॥

क्योंकि—

हे देवि ! परमेश्वर की आज्ञा का पालन करने से साधक स्वयं मृत्युजित् एवं परमेश्वर स्वरूप हो जाता है ॥ -७५ ॥

इस प्रकार मृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेय श्रीनेत्रतन्त्र के द्वाविंश अधिकार की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदी कृत ज्ञानवती नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २२ ॥

श्रीमृत्युञ्जयभट्टारक रूपी परमधाम के समावेश के अभ्यास से योगीन्द्र परमेश्वररूप हो जाता है ॥

जो उन्मेष निमेष युक्त है; समस्त उन्मेष आदि का सम्यक् द्रष्टा है; जो द्वैतदृष्टिरूपी अन्धकार का शामक तथा पूर्ण अद्वयानन्द वाला है; जो अणुओं को अपने स्थान में ले जाता है तथा महान् त्रास से त्राण करता है, उद्योत-स्वरूप समग्रशक्तिसम्पन्न तथा परम, शिवशिवा के उस नेत्र को हम नमस्कार करते हैं ॥ १ ॥

विश्वाभासनतः सितं निजरुचा रक्तं तदामर्शनात्
तत्सञ्चर्वणतः सितासितमलं तद्ग्रासतश्चासितम् ।
भासा चक्रमयैक्यतश्च न सितं नैवासितं नोभयं
नो रक्तं न च नैतदात्म तदिदं नेत्रं जयत्यैश्वरम् ॥ २ ॥

॥ इति श्रीनेत्रतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित-नेत्रोद्योते द्वाविंशोऽधिकारः ॥ २२ ॥

जो अपनी कान्ति से विश्व का आभासन करने के कारण श्वेत, उस (विश्व) का आमर्शन करने से रक्त, उसके सञ्चर्वण से सितासित (= श्वेत-कृष्ण), उसका ग्रास करने से असित है । भास् के द्वारा और चक्रमय की एकता के कारण जो न सित न असित और न दोनों ही है तथा रक्त भी नहीं है और न एतदात्म (= इस स्वरूप वाला) है वह ईश्वर का नेत्र सबसे बढ़कर है ॥ २ ॥

सकलाकुक्षिजातेन मुरलीधरसूनुना ।
कृता ज्ञानवती व्याख्या राधेश्यामेन वेदिना ॥ १ ॥
वस्विष्वभ्रदृगङ्कसंवत्सरे श्रीवैक्रमे सिद्धिदे,
शुभ्रे कार्त्तिकमासि पञ्चमितिथौ भौमे शुभे वासरे ।
गायत्रीकृपया समाप्तिमगमत् सव्याख्यमेतन्मह-
दध्येतृभ्य असीम शं वितनुतां सन्नेत्रतन्त्रं वरम् ॥ २ ॥
यच्चात्रास्त्यसमीहितं परमतेऽनावश्यकं खेदकृत्
तत्सच्छास्त्रनिषेवणैकनिशितप्रज्ञैरवज्ञायताम् ।
उद्दामोत्कलिकापरागपरमामोदार्थिनः कानने
किं वाञ्छन्ति कठोरकण्टकव्यथां तत्र स्थितां षट्पदाः ॥ ३ ॥
शास्त्राण्यभ्यसितानि नित्यविधयः सौख्येन संराधिताः
काशीहिन्दुसरस्वतीसदनसच्छायाऽपनीतः श्रमः ।
सम्प्रत्यग्निमुखी जगत्प्रसविनी शश्वन्मयाऽन्विष्यते
सर्वं चित्रवदाशु याति सततं वृद्धिं गतेनायुषा ॥ ४ ॥

॥ इस प्रकार श्रीमदमृत्युञ्जयभट्टारकापराभिधेयश्रीनेत्रतन्त्र के द्वाविंश अधिकार की आचार्यवर्य श्रीक्षेमराजविरचित 'नेत्रोद्योत' नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २२ ॥

त्वत्तो नैशतमः प्रशाम्यति जगज्जातप्रबोधं सदा
साफल्यं दधते दृशः सदसती सम्यग् व्यवस्थापिते ।
यत्त्वं सूकरघूकचर्मचटकप्रायैस्तु नो मन्यसे
भास्वद्द्योत स दोष एष विषमस्तेषां दृशस्तादृशः॥ १ ॥

संसाररिपुनिर्माथशूरः शूरसमाश्रयः ।
श्रीरामादिगुरुग्रामस्तथान्तेवासिनोऽपरे ॥ २ ॥

भट्टरक्तिकगर्भेशकेशवाद्या इहार्थनाम् ।
अकार्षुर्मे ततः किंचिदिदमुद्योतितं मया ॥ ३ ॥

गतानुगतिकप्रोक्तभेदव्याख्यातमोऽपनुत् ।
पराद्वैतामृतस्फीतो नेत्रोद्योतोऽयमुत्थितः ॥ ४ ॥

अभिनवगुरुवाणीसन्मधूनां सुपूर्णां
परिणतिमसमां स्वां क्षेमराजो विमृश्य ।
विकसितसुमनःश्रीश्रीमदुच्चोत्पलान्तः-
परिमलसरसानां व्याकरोच्छास्त्रमेतत् ॥ ५ ॥

ग्रस्तोऽयं सकलो भवो विगलिताः कर्माणुमायामलाः
प्राप्तानन्दघना स्थितिः किमपरं लब्धः प्रकाशः परः।
श्रीमन्नेत्रमहेश्वरस्तुतिरसास्वादेन लब्धोदयै-
रस्माभिर्विमले हृदम्बरतले निर्यन्त्रणं स्फी(स्थी)यते॥ ६ ॥

यत्तत्राहुः प्रथयदखिलं वर्तनीं संविधत्ते
यच्चोल्लेखाद्विलिखदखिलं सूत्रसंस्थाः करोति ।
नेत्रद्वन्द्वं तदिह कलयच्छाङ्करं तच्चिदात्म
ज्योतिर्नेत्रं जयति परमानन्दपूर्णं तृतीयम् ॥ ७ ॥

*** समाप्तोऽयं नेत्रोद्द्योताख्यो ग्रन्थः ***

॥ कृतिर्महामाहेश्वरश्रीमदभिनवगुप्तपादपद्मपरागास्वाद-
तत्परश्रीक्षेमराजस्येति शिवम् ॥

तन्त्रशास्त्र के महत्वपूर्ण प्रकाशन :

* **अन्नदाकल्पतन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । एस. एन. खण्डेलवाल
* **एकजटातारासाधनतन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । एस. एन. खण्डेलवाल
* **कुण्डलिनी शक्ति** । अरुणकुमार शर्मा
* **कुलार्णव तन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । परमहंस मिश्र
* **तन्त्रविज्ञान और साधना** । सीताराम चतुर्वेदी
* **तन्त्रसार:** । 'नीर-क्षीर-विवेक' नामक हिन्दी टीका सहित । परमहंस मिश्र । 1-2 भाग
* **तन्त्रालोक** । जयरथकृत संस्कृत टीका एव राधेश्याम चतुर्वेदी कृत हिन्दी टीका सहित
* **त्रिपुरा रहस्यम्** । ज्ञानखण्ड एवं महात्म्खण्ड । हिन्दी टीका सहित । जगदीश चन्द्र मिश्र
* **नीलसरस्वती-तन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । एस. एन. खण्डेलवाल
* **भूतडामरतन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । एस. एन. खण्डेलवाल
* **मन्त्रमहोदधि** । 'नौका' संस्कृत टीका तथा 'अरित्र' हिन्दी टीका सहित । सुधाकर मालवीय
* **रूद्रयामलतन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । सुधाकर मालवीय । 1-2 भाग
* **ललितासहस्रनाम्** । हिन्दी टीका सहित । श्रीभारतभूषण
* **वरिवस्यारहस्यम्** । संस्कृत हिन्दी टीका सहित । श्यामाकान्त द्विवेदी
* **वर्ण-बीज-प्रकाश:** । सरयू प्रसाद द्विवेदी
* **शारदातिलकम्** । हिन्दी टीका सहित । सुधाकर मालवीय । 1-2 भाग
* **सर्वोल्लास-तन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । एस. एन. खण्डेलवाल
* **सिद्धनागार्जुनतन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । एस. एन. खण्डेलवाल
* **सौन्दर्यलहरी** । 'लक्ष्मीधरी' संस्कृत एवं 'सरला' हिन्दी व्याख्या । सुधाकर मालवीय

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी-221001